व्याकरणचन्द्रोदय

द्वितीय खण्ड

(कृत् व तद्धित)

श्री चारुदेव शास्त्री

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

व्याकरणचन्द्रोदय

द्वितीय खण्ड

(कृत् व तद्धित)

श्री चारुदेव शास्त्री
एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०

श्रीगान्धिचरित, अनुवादकला, प्रस्तावतरङ्गिणी, उपसर्गार्थचन्द्रिका,
वाक्यमुक्तावली, शब्दापशब्दविवेक आदि ग्रन्थों के निर्माता,
वाक्यपदीय (प्र० का०) के परिष्कर्ता तथा व्याकरण
महाभाष्य(नवाह्निक)के अनुवादक व विवरणकार

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

© मोतीलाल बनारसीदास
मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ (१) चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
(२) अशोक राजपथ, पटना (विहार)

प्रथम संस्करण
१९७०
मूल्य : रुपए २२.५०

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित तथा श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित।

किञ्चिद् वक्तव्य

जैसा हमने प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखा है—व्याकरण शिष्टभाषा का व्याख्यानमात्र है। शिष्टप्रयोगों की साधुता को कल्पित प्रकृति प्रत्ययादि द्वारा दर्शाना पाणिन्यादि मुनियों को इष्ट है। अमुक प्रयोग जो व्यवहार-सिद्ध है, साधु है, उस का अवयवकल्पना द्वारा अवयवार्थ बताना तथा उत्सर्गापवाद-रूप लक्षणों द्वारा उसे सुग्रह बनाना व्याकरण का प्रयोजन है। व्याकरण अवयवों की कल्पना करता है, अवयवी की नहीं। भाष्य में अनेकत्र 'अनभिधानान्न भवति' यह महाघोष गूंज रहा है। इस का एकमात्र अभिप्राय यह है कि व्याकरण शास्त्र अन्वाख्यान शास्त्र है। इसका सिद्ध व्यवहार्य शब्दों का यथाकथं चित् व्युत्पादन ही साध्य अर्थ है। नव-नव अप्रयुक्त-पूर्व शब्दों का उत्पादन नहीं। अतः जब कभी शिष्ट-प्रयुक्त, लोक-विज्ञात किसी एक शब्द की व्युत्पत्ति सूत्रवार्तिकादि से सिद्ध होती नहीं दीखती तो वैयाकरणों को चिन्ता लग जाती है। वे उस के निराकरण का साहस नहीं कर पाते, अपितु योग-विभाग-कल्पना, गणपाठ-व्यवस्थापन आदि उपायों का आश्रय लेकर उस के समाधान की चेष्टा करते हैं। द्वारादीनाम् (७।३।४) सूत्र के गणपाठ में 'स्व' शब्द पढ़ा है। स्वस्येदं सौवम्। 'व्' से पूर्व ऐजागम करने से यह प्रयोगार्ह रूप सिद्ध होता है। स्वतन्त्रस्य भावः स्वातन्त्र्यम्। यहाँ भी आदि वृद्धि न होकर ऐजागम होने पर सौवतन्त्र्यम् ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है जो कहीं भी देखने को नहीं मिलता। स्वातन्त्र्यम्—यही सार्वत्रिक प्रयोग है। इस की अवहेलना नहीं की जासकती। ज्यों त्यों उपपादना ही करनी चाहिये ऐसा मानते हुए हरदत्त मिश्र आदि स्वागतादीनाम् (७।३।७) के गणपाठ में 'स्वतन्त्र' शब्द पढ़ना चाहिये ऐसा बरबस समाधान करते हैं।

व्याकरण इतना व्यवहार परतन्त्र है कि जो सर्वथा अनुपपन्न व्यवहार है उस का भी प्रत्यादेश नहीं करता, प्रत्युत उस का अभ्युपगम करके उस का व्याख्यान करता है। उदीचां माङो व्यतीहारे (३।४।१९) सूत्र निर्दिष्ट उत्तर भारत के व्यवहार को जो अविचारितरमणीय एवम् नितान्त अक्षोदक्षम है, भी स्वीकार करता है—अपमित्य याचते। यह उदीच्य लोग 'माँग कर बदले में देता है' इस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, जब कि न्याय-प्राप्त प्रयोग याचित्वाऽपमयते होना चाहिये, जो अन्यत्र होता भी है।

व्याकरण के इस स्वरूप व प्रयोजन को बुद्धिस्थ करते हुए व्याकरणशास्त्र का परिशीलन होना चाहिये, अन्यथा गुण-प्रधानभाव के विपर्यास से अनिष्ट-प्रसक्ति होगी और कृतार्थता से प्रच्युति भी।

इस द्वितीय खण्ड में हम ने कृत् व तद्धित प्रत्ययों का निरूपण किया है।

प्रथमखण्डवत् इस खण्ड में भी व्याक्रिया प्रधान है, प्रक्रिया नहीं। स्वतः सिद्ध व्यवहार्य शब्दों की व्याक्रिया (प्रकृति-प्रत्ययादिकल्पना द्वारा व्याख्या) में यत्न है। कृत् प्रकरण को देखिये। नाना लक्ष्यों में तत्तत्कार्य-विशेष को सूत्र-निर्देश पुरःसर दिखाया गया है। एक ही लक्ष्य की निष्पत्ति में जो-जो शास्त्र विहित कार्य होते हैं उन सब को एकसाथ आनुपूर्वी से नहीं दिखाया गया। जैसे निष्ठान्त रूपों में क्रम से निष्ठा-नत्व, इडागम, इडभाव, सम्प्रसारण, कित्त्वाभाव, आदेश आदि एक-एक कार्य को भिन्न-भिन्न लक्ष्यों में क्रमशः दिखाकर सिद्धरूपावलि का विन्यास किया है। ऐसे ही शत्रन्त शानजन्त रूपों की व्याख्या में नाना लक्ष्यों में क्रम से गुणाभाव,गुण, वृद्धि, धात्वादेश, उपधा-कार्य, आ-लोप, ह्रस्व, नुम्, सम्प्रसारण दिखाते हुए सिद्ध रूप दिये हैं। अन्यत्र कर्म-शानजन्त के विषय में भी इसी विधि से कार्य निर्देश किया है। यही सूत्रकार की शैली है। इसी से अष्टाध्यायी की व्याकरणशास्त्र यह अन्वर्थ संज्ञा है।

✓ वैयाकरणों की कुछेक पङ्क्तियों का जो वैतत्येन व्याख्येय हैं पर जिन का व्याख्यान पुरातन विवरणग्रन्थों में अत्यन्त संक्षिप्त है, यहाँ इदम्प्रथमतया विशद वितत व्याख्यान किया है। कृत्यल्युटो बहुलम् (पृ० १४) इस सूत्र की, क-प्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् (पृ० ४२), इस वार्तिक की, धातु-सम्बन्धे प्रत्ययाः (पृ० २२१), वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (पृ० २२२–२२३), इन सूत्रों की, तथा कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते (पृ० २२४) इस परिभाषा की व्याख्या में सूत्रकार के आशय को हस्तामलकवत् विस्पष्ट किया है। कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन, इस असकृद् उद्धृत वचन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

शब्दसाधुत्व-ज्ञान के साथ प्रयोगज्ञान के लिये इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। अतः यहाँ प्राचीन साहित्य से उद्धृत निदर्शन-भूत शिष्ट-वाक्यों की भरमार है। जहाँ काशिकादि वृत्तिग्रन्थों में कर्मण्यण् (३।२।१) के तीन उदाहरण मिलते हैं—कुम्भकारः। नगरकारः। स्वर्णकारः। वहाँ इस ग्रन्थ में इन के अतिरिक्त तीस उदाहरण दिये हैं। करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७) के

उदाहरणों को भी देखिये। आप इन में अभिनवोन्निद्र पङ्कज के सौरभ तथा सौन्दर्य को पायेंगे। गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५।१।१२४) की व्याख्या में साहित्य से उद्धृत नव-नव चेतोहारी उदाहरण–कलाप द्रष्टव्य है। पैंतालीस से अधिक उदाहरण संगृहीत किये हैं जब कि काशिका में तीन–चार ही हैं। अर्श आदिभ्योऽच् (५।२।१२७) सूत्र की वृत्ति में अर्शसः। उरसः। ये दो उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें से उरसः (=उरस्वान्, महोरस्कः) अत्यन्त अप्रसिद्ध है। गण–पठित जटा घटा आदि भी अर्श आद्यजन्त होकर शायद ही कहीं प्रयुक्त हुए हों। पर इस कृति में साहित्य मन्थन करके जो दस–बारह उदाहरण संकलित किये हैं वे अतिप्रसिद्ध हैं और साथ ही अतिरुचिर। आढ्य-सुभग–स्थूल—(३।२।५६) की व्याख्या में दिये हुए रूपं गुणो वयस्त्यागः सुभगंकरणम् इत्यादि उदाहरण कितने सुभग व सार्थक हैं कि पढ़ते ही चित्त रम जाता है। उदाहरणरूप से उद्धृत वाक्यों के अतिरिक्त यहाँ स्थान–स्थान पर अनेक प्रयोगमालायें भी दी गई हैं जिन में प्राधान्येन स्वनिर्मित वाक्यों का संनिवेश हुआ है।

'नियतविषयाः शब्दाः' इस लिये धातूपसर्गयोग में याथाकामी नहीं हो सकती है। कोई एक उपसर्ग किसी एक धातु से युक्त होता है, हरेक उपसर्ग हरेक धातु से नहीं। इस सहचार-व्यभिचार में बहुत कुछ अवधेय है। अतः प्रयोग-सौष्ठव के बोधार्थ निष्ठान्तादि रूपों में उपसर्ग लगाकर रूप दिये गए हैं। जहाँ एक से अधिक उपसर्गों का आसङ्ग देखा जाता है, वहाँ इष्ट क्रम भी दिखा दिया गया है।

उदाहरणों की प्रत्यग्रता तथा रुचिरता के प्रसङ्ग में विद्वानों का णमुल्-प्रकरण में दिये हुए उदाहरणों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये (३।४।२९) की वृत्ति में कन्यादर्शं वरयति—यह उदाहरण दिया गया है और इसे सभी व्याख्याग्रन्थों में निर्विशेष रूप से उद्धृत किया गया है। पर यह कितना भद्दा उदाहरण है! यां यां कन्यां पश्यति तां तां वरयति—ऐसा अर्थ है। ऐसा कौन सा कामी हो सकता है जिस के वरण की इयत्ता ही नहीं। इस कृति में दिये हुए उदाहरण—धनिकदर्शमर्थ-यतेऽर्थमर्थी (न च गणयत्युदारोऽयं कृपणो वेति) को पढ़िये और कहिये कैसा लगता है। इस प्रकरण में दिये हुए अन्य उदाहरणों को देखें। इन सब में ऐसी ही अपूर्वता और रुचिरता पायेंगे।

सूत्रार्थ को समझाने के लिये यहाँ कैसा यत्न किया गया है यह जनपदिनां

जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानवचनानां बहुवचने (४।३।१००) इस तद्धित सूत्र की व्याख्या देखने से सुविदित हो जायगा। समां समां विजायते (५।२।१२) सूत्र में समाम्, समाम् में द्वितीया विभक्ति की उपपत्ति तथा विपूर्वक जन् के अर्थ पर हमारे कथन का भाषा-मर्मज्ञ विमर्श करें। तदर्हम् (५।१।११७) में द्वितीया (तद्) के प्रयोग को हमने अशास्त्रीय बताते हुए इसे व्यवहारानुकूल माना है। इस पर भी दृक्पात करें।

उणादि प्रकरण के उपक्रम में हमने उणादि प्रत्ययों की उपयोगिता-अनुपयोगिता, युक्तता-अयुक्तता का विवेचन किया है, वह विशेष आलोच्य है।

✓ कुछेक अन्य स्थल भी विशेष आलोच्य हैं। लषपतपद (३।२।१५४) सूत्र की व्याख्या में काशिकास्थ उदाहरण—'अपलाषुकं वृषलसङ्गतम्' पर हमारा टिप्पण द्रष्टव्य है। हम इसे अपपाठ समझते हैं। कर्मण उकञ् (५।१।१०३) सूत्र की व्याख्या में वृत्तिकार के 'धनुषोऽन्यत्र न भवति, अनभिधानात्,' इस कथन पर हमारा टिप्पण तथा रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् (५।२।११२) सूत्र की वृत्ति में वृत्तिकार द्वारा इतिकरणो विषयनियमार्थः सर्वत्र संबध्यते, तेनेह न भवति—रजोऽस्मिन्ग्रामे विद्यत इति, जो अर्थाभिधान नियम किया गया है' उस पर हमारा टिप्पण आलोचनीय है।

पर्यभिभ्याम् (५।३।९) के ऊपर दिये हुए 'सर्वोभयार्थाभ्यामेव' इस वार्तिक से जो अर्थ-नियमन किया है, वह हमारी दृष्टि में चिन्त्य है। इस से कई एक शिष्टप्रयोगों के साथ विरोध पड़ता है।

नित्य स्वार्थिक प्रत्ययों का जो भाष्यानुसारी परिगणन किया गया है उसमें आतिशायनिक तरप् तमप् का भी अन्तर्भाव है। हमें इनकी नित्यता युक्त नहीं भासती। इधर भी विशेषज्ञ ध्यान दें।

कृत् प्रकरण की परिपूर्णता तथा परिशोधन के लिये प्रकरणान्त में दिये हुए परिशिष्ट को अवश्य पढ़ें। पुस्तक के अन्त में दिए हुए परिशोधन व परिवर्धन को भी।

✓ आजकल तद्धितप्रत्ययों के अध्ययन के प्रति छात्रों की बड़ी भारी अनास्था है। उपाध्यायों की भी इस विषय की उपेक्षा लोकविदित है। शायद ही देश भर में किसी एक विद्याशाला में तद्धितों का पठन-पाठन होता हो। इससे महान् अनिष्ट हो रहा है। व्याकरण का अध्येता विपुल शब्दराशि के ज्ञान से वञ्चित रह जाता है। अष्टाध्यायीस्थ तद्धित सूत्र संख्या ११०८ है जबकि कृत्-सूत्र संख्या केवल ५३९ है। इसी से आचार्य की दृष्टि में

तद्धितों का कितना गौरव है इसका अनुमान हो सकता है। इस कृति में तद्धितप्रत्ययों का विशद वितत निरूपण कर दिया है और अतिरुचिर प्रचुर उदाहरणों से इसे विस्पष्ट कर दिया है। आशा है विद्यार्थी इसे रोचक पायेंगे और नव उत्साह से इस के अध्ययन में प्रवृत्त होंगे।

यह द्वितीय खण्ड ५०८ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसके प्रणयन में जो मैंने परिश्रम किया है इसके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना। केवल यही विनम्र प्रार्थना है कि विद्वान् अध्यापक इस ग्रन्थ को आमूल-चूल देख जायें इसी से मैं अपने आप को कृतार्थ समझूंगा ।।

यदि तनुरपि तोषो मत्कृतौ नूतनार्थाल्
लसति हृदि बुधानां वाचि निष्ठां गतानाम्।
यदि च भवति बोधः संमतः शब्दशास्त्रे
सुमतियुतबटूनां स्यात्तदा धन्यता मे ।।

३।५४, रूपनगर,
दिल्ली
२० मई, १९७०

निवेदक
विद्वद्विधेय चारुदेवशास्त्री

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ

ओं नमः परमात्मने ।

नमो भगवते पाणिनये । नमः शिष्टेभ्यः ।

प्रकृत्यादिविभागेन शब्दानामनुशिष्यते ।
साधुत्वं येन तच्छास्त्रं वेद्यं व्याकरणाभिधम् ॥१॥

व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न ।
अन्वाख्यानस्मृतिस्तस्मादुक्ता व्याकरणं बुधैः ॥२॥

ऐतदात्म्यमिदं शास्त्रं प्रस्मृत्येदं निरर्गलाः ।
तं तमर्थं विवक्षन्तः शब्दान्नूत्नान्प्रकुर्वते ॥३॥

अर्थेऽर्थे प्रत्ययं शिष्ट्वा शिष्टैर्व्युत्पादितानुत ।
अर्थान्तरेऽननुज्ञाते शब्दान्वामी प्रयुञ्जते ॥४॥

आसतां तावदन्ये येऽर्वाचीनाः साहसप्रियाः ।
भट्ट्याद्यैः सूरिभिश्चापि सम्प्रदायो न रक्षितः ॥५॥

तद्रक्षया प्रणुन्नोहं विनेयप्रणयेन च ।
व्याक्रियां लौकिकानां हि शब्दानां वक्तुमुद्यतः ॥६॥

सूत्राणां वार्तिकानां च सम्प्रदायानुरोधिनी ।
सोपपत्तिरसन्देहा व्याक्रिया प्रकृते स्थिता ॥७॥

पदानां प्रक्रिया लघ्वी बुद्धिवैशद्यकारिणी ।
शैक्षाणामुपकाराय प्रभूताय भविष्यति ॥८॥

इत्थं वाक्यसन्दोहं दर्शं दर्शं बुभुत्सवः ।
प्रयोगनैपुणीं काञ्चिल्लप्स्यन्तेऽन्यत्र दुर्लभाम् ॥९॥

अज्ञानमन्यथाज्ञानं ज्ञानं सांशयिकं तथा ।
भेत्स्यतीयं कृतिः कृत्स्नं तमश्चन्द्रोदयो यथा ॥१०॥

अथ

व्याकरणचन्द्रोदये कृत्-प्रकरणम्

तृतीयाध्यायोक्त अर्थात् धातोः (३।१।९१) इस अधिकार में तृतीयाध्याय की परिसमाप्ति तक जो तिङ्-भिन्न प्रत्यय धातु से विहित किए गए हैं उन्हें कृत् कहते हैं[1]। इस लक्षण के अनुसार धातु से विहित तिङ्-भिन्न प्रत्यय णिच्, सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, यङ्, स्य, तास्, शप्, श्यन् आदि कृत् नहीं हैं, क्योंकि ये ३।१।९१ से पूर्व विहित हैं। शित्-भिन्न कृत् आर्धधातुक प्रत्यय है[2]। कृत् प्रत्यय मुख्यरूप से कर्तृवाचक हैं[3]। 'कृत्' का अर्थ है करने वाला। करोतीति कृत्। निरुक्त में यास्काचार्य इसे **'नामकरण'** यह नाम देते हैं। यह भी अति सुन्दर अन्वर्थ संज्ञा है—नामानि करोतीति नामकरणः। बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्। कृत् प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा है[4], अतः कृदन्तों से परे स्वादि (सु आदि) प्रत्यय लाकर इन्हें सुबन्त पद बनाकर वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है। जो कृदन्त अव्यय हैं उनसे भी सुप् लाकर उसका लुक् कर दिया जाता है[5], जिससे वे भी पद बनकर वाक्य में प्रयोगार्ह हो जाते हैं।

अब हम अष्टाध्यायी के क्रम से कृत् प्रत्ययों का अन्वाख्यान करते हैं।

कृत्य-प्रक्रिया

कृत्य प्रत्यय धातुमात्र से भाव में (अकर्मक धातुओं से) तथा कर्म में

---

१. कृदतिङ् (३।१।९३)।

२. तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४)

३. कर्तरि कृत् (३।४।६७)।

४. कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)।

५. अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)।

(सकर्मक धातुओं से) आते हैं[१]। कृत् होने से इन्हें कर्तृवाचक ही होना चाहिए था। सो यह इसका (कर्तरि कृत् का) अपवाद है। कहीं-कहीं कृत्य प्रत्यय कर्तृवाचक भी होते हैं तथा करणादि कारकों के भी वाचक देखे जाते हैं। ऐसे प्रत्ययों को हम इसी प्रकरण में यथास्थान दिखाएँगे। कृत्य प्रत्यय भी अन्य कृत् प्रत्ययों की तरह आर्धधातुक हैं। वलादि आर्धधातुक होने पर इनसे पूर्व सेट् धातुओं से परे इट् आगम होता है। **भाववाचक कृत्यप्रत्ययान्तों का उत्सर्ग से प्रथमा नपुंसक लिङ्ग एकवचन में प्रयोग होता है और कर्मवाचकों का उनके विशेष्य-भूत कर्म की विभक्ति, लिङ्ग व वचन के अनुसार।** इस अवस्था में कर्म के कृत्य प्रत्यय से उक्त होने से उससे प्रथमा विभक्ति होती है। यह सब आगे दिए हुए उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

तव्यत्, तव्य, अनीयर्—ये कृत्य प्रत्यय धातुमात्र से विहित किए हैं।[२] तव्यत् और तव्य में जो अनुबन्ध भेद (त्) है वह स्वर के लिए है। रूप में कुछ भी भेद नहीं। अनीयर् में र् अनुबन्ध है। प्रयोग में 'अनीय' का ही श्रवण होगा। तव्य और तव्यत् वलादि आर्धधातुक हैं। इनसे पूर्व सेट् धातु से परे इट् होता है। अनीय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं, अजादि है। इन तीनों से पूर्व अपवाद विषय को छोड़कर धातु को गुण होता है—कृ-कर्तव्य, करणीय (गुण)। गम्—गन्तव्य, गमनीय। श्रु—श्रोतव्य, श्रवणीय (गुण)। चि—चेतव्य, चयनीय। भू—भवितव्य, भवनीय। आस्—आसितव्य, आसनीय। एध्—एधितव्य, एधनीय। वृत्—वर्तितव्य, वर्तनीय। वृध्—वर्धितव्य, वर्धनीय। ग्रह्—ग्रहीतव्य, ग्रहणीय। यहाँ इट् को दीर्घ होता है। ब्रू (वच्)—वक्तव्य, वचनीय। अधिइङ्—अध्येतव्य, अध्ययनीय। यहाँ तव्य-अनीय-प्रत्ययान्त रूप, प्रातिपदिक के रूप में दिए गए हैं, सुबन्त रूप में नहीं। ऐसे ही आगे इस प्रकरण में अन्य कृदन्त भी प्रातिपदिक रूप में रखे गए हैं।

वाक्यस्थ उदाहरण—

त्वया कटः कर्तव्यः (करणीयः)। मया ग्रामो गन्तव्यः (गमनीयः)। तेन व्याकरणं श्रोतव्यं (श्रवणीयम्)। देवदत्तेन च्छन्दांस्यध्येतव्यानि (अध्ययनीयानि)। त्वया मया तेन च धर्मः संचेतव्यः (संचयनीयः)। सर्वैरस्माभिः संस्कृतं

---

१. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०)।

२. तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६)।

पठितव्यं (पठनीयम्)। श्रुतिः श्रद्धातव्या (श्रद्धानीया), वेद में श्रद्धा रखनी चाहिए। **कलिर्वर्जितव्या (वर्जनीया)। पितरौ वन्दितव्यौ (वन्दनीयौ)।** अकर्मक धातु—**श्रान्तेन त्वया सम्प्रत्यासितव्यम् (आसनीयम्)।** तू थका हुआ है, तुझे अब बैठना चाहिए। **भूतिकामेन त्वया नित्यमुत्थातव्यम् (उत्थानीयम्)।** समृद्धि चाहते हुए तुझे नित्य उद्यम करना चाहिए। **रामादिवद् वर्तितव्यम् (वर्तनीयम्) न रावणादिवत्। पापाद् उद्विजितव्यम् (उद्वेजनीयम्)।** पाप से डरना चाहिए।

इन उदाहरणों में सकर्मक धातुओं के प्रयोग में कृत्य प्रत्यय से कर्म के उक्त होने से उसमें प्रथमा हुई है। कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया हुई है। कर्म के लिङ्ग वचन के अनुसार ही कृत्यप्रत्ययान्त के लिङ्ग वचन हुए हैं। अकर्मक धातुओं से कृत्य प्रत्यय के भाव-वाचक होने से और इसी लिए कर्ता के अनुक्त होने से उसमें पूर्ववत् तृतीया हुई है। कृत्यप्रत्ययान्त से प्रथमा नपुं० एक० का प्रयोग हुआ है। **ऐसा ही वक्ष्यमाण सभी कृत्य प्रत्ययों के विषय में जानो। का त्वं रोद्धव्यस्य विस्रष्टव्यस्य वा** (शाकुन्तल)। यहाँ रोद्धव्य=रोध। विस्रष्टव्य=विसर्ग, विसर्जन। उभयत्र भाव में 'तव्य' हुआ है। **इत इच्छामो गन्तव्येऽनुमतं त्वया** (रा०)। यहाँ भी गन्तव्य=गमन। **वाङ्मात्रेणापि। यामीति वक्तव्ये कः परिश्रमः** (हरिवं० ३२।३३)। वक्तव्ये=वचने।

तव्यत्—वस् (रहना) से कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय आता है और उसे णित् समझा जाता है[1], जिससे वस् की उपधा को वृद्धि होती है—वसतीति वास्तव्यः।

केलिमर्—केलिमर् (एलिम) प्रत्यय कर्म में होता है[2], न कि कर्म कर्ता में जैसे वृत्तिकार मानते हैं—पच्—पचेलिमा माषाः। पक्तव्याः ऐसा अर्थ है। भिद्—भिदेलिमाः सरलाः। भेत्तव्याः ऐसा अर्थ है। यहाँ प्रत्यय के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ।

यत्—अजन्त धातु से यत् (य) होता है[3]। स्था—स्थेय। हा—हेय। गै (—गा)—गेय। पा—पेय। आकार को ई आदेश होता है। पीछे गुण। चि—चेय। जि—जेय। हि—हेय। प्र के साथ प्रहेय। यत् आर्धधातुक प्रत्यय

---

१. वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च (वा०)।
२. केलिमर उपसंख्यानम् (वा०)।
३. अचो यत् (३।१।९७)।

है। इसके परे रहते धातु के इक् को गुण होता है जैसा कि 'चि' आदि धातुओं में हुआ है और आकारान्त धातुओं के 'आ' को 'ई' होने[१] पर भी। श्रु—श्रव्य। यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय यत् को निमित्त मानकर गुण होकर ओ (गुण) को अवादेश हुआ है। यह अवादेश (और औ को आवादेश भी) वहीं होता है जहाँ 'ओ' (और औ भी) प्रत्यय के कारण बना हो[२]। श्रु—यत्(य)। श्रो—य। श्रव्य। ण्यन्त 'श्रावि' धातु से यत् होने पर तो णिच् का लोप[३] होने पर श्राव्य रूप बनता है। यत् प्रत्यय से तव्यत्, तव्य, अनीयर् का अत्यन्त बाध नहीं होता—स्था—स्थातव्य, स्थानीय। गै (—गा), गातव्य, गानीय। पा—पातव्य, पानीय। चि—चेतव्य, चयनीय इत्यादि रूप भी निर्बाध होंगे। **ऐसे ही अन्य कृत्य प्रत्ययों के साथ तव्यत् आदि का समावेश होगा**[४]।

विवाद-पद-निर्णेता के अर्थ में जब **स्थेय** शब्द का प्रयोग होता है तब यहाँ यत् अधिकरण में जानना चाहिए। तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयः। प्रकाशन-स्थेयाख्ययोश्च (१।३।२३) इस सूत्र में भगवान् पाणिनि इसका प्रयोग करते हैं।

हन्[५] (-वध्)—वध्य (यत्)। पक्ष में ण्यत् होकर घात्य।

अदुपध (ह्रस्व अकार उपधा वाली) पवर्गान्त धातु[६] से (यत्)—शप्—शप्य। लभ्—लभ्य। वक्ष्यमाण ऋहलोर्ण्यत् का अपवाद है।

शक्—शक्य। सह्—सह्य (यत्)। यह भी ऋहलोर्ण्यत् का अपवाद है।

---

१. ईद् यति (६।४।६५)।

२. धातोस्तन्निमित्तस्यैव (६।१।८०)।

३. णेरनिटि (६।४।५१)। अनिडादि (जिसके आदि में इट् न हो) आर्धधातुक परे रहते णिच् का लोप हो जाता है।

४. वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)। असरूप=असमान रूप। अनुबन्ध रहित होने पर जो समान रूप न हो।

५. हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः (वा०)।

६. पोरदुपधात् (३।१।९८)।

समान रूप होने से नित्य बाधक होता है।[1]

गद्—गद्य। मद्—मद्य। चर्—चर्य। यम्—यम्य[2]। सर्वत्र यत्। उपसर्ग होने पर तो यथाप्राप्त ण्यत् होगा—निगाद्य। प्रमाद्य। आचार्य। गुरु अर्थ को छोड़कर अन्यत्र आङ् उपसर्ग होने पर भी आचर्य (यत्) रूप ही होगा[3]। आचर्यो देशः,। यम्—यम्य। उपसर्ग होने पर आयाम्य। पर वार्तिककार के तेन न तत्र भवेद्विनियम्यम्—इस श्लोक वार्तिक में 'विनियम्य' प्रयोग से निपूर्वक यम् से भी यत् प्रत्यय साधु है। **त्वया नियम्या ननु दिव्य चक्षुषा** (किरात)।

अवद्य, पण्य, वर्या (स्त्रीलिङ्ग)—ये यत् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं क्रम से निन्द्य, विक्रेतव्य, स्वेच्छापूर्वक वरणे योग्य—इन अर्थों में[4]—वद् (नञ् पूर्वक)—अवद्यं पापम्। अन्यत्र अनुद्यं गुरु नाम, गुरु का नाम न लेना चाहिए। पण्यः कम्बलः, बिकाऊ कम्बल। अन्यत्र पाण्योऽकामः श्रोत्रियः। यहाँ पाण्यः =स्तुत्यः। येनात्मा पण्यतां नीतः स एवान्विष्यते जनैः। हस्ती हेमसहस्रेण क्रीयते न मृगाधिपः॥ शतेन वर्या कन्या। यहाँ वृङ् से यत् निपातन किया है। ण्यत् प्राप्त था। यहाँ 'शत' शब्द नियतसंख्यापरक नहीं है। कितने भी हों सभी से वह कन्या संभक्तव्य है अर्थात् सभी उसकी चाह कर सकते हैं इसमें कोई निरोध (प्रतिबन्ध, रोक) नहीं। स्त्रीलिङ्ग से अन्यत्र इसी अर्थ में ण्यत् होकर वार्या ऋत्विजः ऐसा प्रयोग होगा। स्त्रीलिङ्ग में भी अर्थान्तर में क्यप् होकर 'वृत्या' ऐसा रूप होगा। वहाँ धातु वृञ् वरणे ली जाती है—वृत्या वृत्या क्षेत्रभक्तिः, खेत को बाड़ से ढाँपना चाहिए।

'वह्य[5]' यह यत्प्रत्ययान्त 'ढोने का साधन' इस अर्थ में निपातन किया

---

१. शकिसहोश्च (३।१।९९)। यत् और ण्यत् सानुबन्ध रूप से असमान रूप हैं। पर अनुबन्ध के कारण जो प्रत्यय भिन्न हैं, वे यदि अनुबन्ध हट जाने के बाद भिन्न न रहें तो वे सरूप अर्थात् समान रूप समझे जाते हैं। यत् तथा ण्यत् अनुबन्ध चले जाने पर समान-रूप हैं, दोनों 'य' ही हैं। अतः यहाँ अपवाद यत् के विषय में उत्सर्ग ण्यत् की पाक्षिकी प्रवृत्ति नहीं होती। यत् ण्यत् का बाधक होता है।

२. गद-मद-चर-यमश्चानुपसर्गे (३।१।१००)।

३. चरेराङि चागुरौ (वा०)।

४. अवद्य-पण्य-वर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु (३।१।१०१)।

५. वह्यं करणम् (३।१।१०२)।

है। वह्य=शकटम्। अन्यत्र ण्यत् होकर 'वाह्य' ऐसा रूप होगा। अर्थ होगा—ढोने योग्य पदार्थ।

'अर्य[1]'—यह स्वामी तथा वैश्य अर्थ में यत् प्रत्ययान्त निपातन किया है। 'ऋ' से ण्यत् प्राप्त था जो अर्थान्तर में होगा—आर्य=श्रेष्ठ। अर्तुं गन्तुम् उपगन्तुं योग्य आर्यः।

उपसर्या[2] (टाबन्त स्त्रीलिङ्ग)—यह यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है जब 'गर्भधारण में प्राप्तकाल (गौ आदि)' अर्थ हो। **उपसर्या गौः**। सूत्र में 'काल्य' शब्द का अर्थ है प्राप्तकाल, जिसका समय आ गया है। प्रजन=गर्भधारण। अर्थान्तर में ण्यत् होकर उपसार्या ऐसा रूप होगा। उपसार्या=उपगन्तव्या। **उपसार्या शरदि मथुरा**, शरद् ऋतु में मथुरा जाना चाहिए। **उपसार्या काशी विद्यार्थैः**, विद्यार्थियों को काशी पहुँचना चाहिए।

अजर्य[3]—यह नञ्-पूर्वक जॄ धातु से यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है जब संगत=मैत्री को विशिष्ट करता हो—अजर्यं नोस्तु सङ्गतम्, हमारी मैत्री अक्षीण रहे। कालिदास 'अजर्य' को जीर्ण न होने वाली मैत्री के अर्थ में प्रयुक्त करता है—मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध (रघु० १८।७)।

यत्, क्यप्—सुबन्त उपपद होने पर वद् धातु से क्यप् होता है और यत् भी[4]—ब्रह्मोद्यम्। ब्रह्म वेदः,तस्य वदनम्। प्रत्यय क्यप् के कित् होने से सम्प्रसारण हुआ। यत्—ब्रह्मवद्य। सत्योद्य=सत्योक्ति। सत्यवद्य। अनुद्य=अनुच्चार्य। क्यप्। यहाँ यत्, क्यप् भाव में विहित हुए हैं। उत्तर सूत्र से 'भावे' यह यहाँ लाया जाता है। **सुखोद्यं नाम कार्यम्**,नाम ऐसा रखना चाहिए जो सुख से उच्चार्य हो। **न वै जातु युष्माकं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेता** (बृ० उ० ३।८।१२)। ऐसा ही हर्षचरित में **ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्वन्** इस वाक्य में प्रयोग है। इन दोनों स्थलों में क्यबन्त शब्द से अर्श आद्यच् प्रत्यय समझना चाहिए। ब्रह्मोद्यं ब्रह्मवदनं यासामस्ति ता ब्रह्मोद्याः। ब्रह्म उद्यते यासु ता ब्रह्मोद्याः, ऐसा अधिकरण में क्यप् मानने पर वृत्तिग्रन्थ से विरोध पड़ता है।

---

१. अर्यः स्वामिवैश्ययोः (३।१।१०३)।
२. उपसर्या काल्या प्रजने (३।१।१०४)।
३. अजर्यं संगतम् (३।१।१०५)।
४. वदः सुपि क्यप् च (३।१।१०६)।

क्यप्—भू से सुबन्त उपपद होने पर भाव में[1]—ब्रह्मभूय। देवभूय। **ब्रह्मभूयं गतः**=ब्रह्मभावं गतः, ब्रह्मीभूत इत्यर्थः। **देवभूयं गतः**=देवत्वं गतः। दोनों का एक ही अर्थ है—स्वर्यातः, मृतः।

हन् से उपसर्ग-भिन्न सुबन्त उपपद होने पर भाव में, हन् के 'न्' को 'त्' भी होता है[2]—ब्रह्महत्या। आत्महत्या। भ्रूणहत्या। केवल 'हत्या' कोई शब्द नहीं है। केवल हन् से अथवा सोपसर्गक हन् से घञ् होकर घात, प्रघात शब्द बनेंगे। ण्यत् प्रत्यय भाव में नहीं होता, अतः वह प्रत्युदाहरण में नहीं दिया।

इण्, स्तु, शास्, वृञ्, दृ(ङ्), जुष्[3] से क्यप्–इण् से इत्य। स्तुत्य। शिष्य। वृत्य। आदृत्य। जुष्य। इण् (इ)से क्यप् होने पर प्रत्यय के कित् होने से ह्रस्व अङ्ग 'इ' को तुक् (त्) आगम हुआ है[4]। ऐसे ही 'स्तु' और वृ, दृ को भी। शास् की उपधा 'आ' को 'इ' और 'इ' होने पर 'स्' को ष्[5]। इनसे तव्य, अनीय होने पर एतव्य (अयनीय)। स्तोतव्य, स्तवनीय। शासितव्य, शासनीय। वरितव्य, वरीतव्य[6], वरणीय। आदर्तव्य, आदरणीय। दृङ् का आङ् उपसर्ग-सहित ही प्रयोग होता है। अवश्यस्तुत्य—यहाँ क्यप् ही होता है, ण्यत् नहीं। इण्-भिन्न 'इ' धातु से यत् निर्बाध होगा—उपेय (उपपूर्वक)। इण् आदि से यथाप्राप्त भाव कर्म दोनों में प्रत्यय होता है। अनुपसर्ग का भी यहाँ नियम नहीं।

आङ् पूर्व अञ्ज् रुधा० से संज्ञा विषय में क्यप्—आज्य (=घृत)। यहाँ बाहुलक से करण में क्यप् होता है—अञ्जन्त्यनेनेति आज्यम्।

ऋदुपध (उपधा में ह्रस्व ऋ वाली) धातुओं से क्यप्[7]—वृत्-वृत्य, प्रपूर्वक प्रवृत्य (=प्रवर्तनीय)। वृध्–वृद्धय। दृश्—दृश्य (=द्रष्टव्य)। गृह् (चुरादि)—गृह्य। कृप्—कल्प्य—यहाँ यथाप्राप्त ण्यत् ही होता है। ऐसे ही चृत्—

---

१. भुवो भावे (३।१।१०७)।
२. हनस्त च (३।१।१०८)।
३. एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् (३।१।१०९)।
४. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।७१)।
५. शास इद् अङ्-हलोः(६।४।३४)। शासि-वसि-घसीनां च(८।३।६०)।
६. वृतो वा (७।२।३८) इट् को विकल्प से दीर्घ।
७. ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः (३।१।११०)।

चर्त्य, विपूर्वक विचर्त्य (=छेत्तव्य) यहाँ भी। क्रृप् के ऋ को गुण होकर 'र्' को 'ल्' हो जाता है।[1]

ण्यत्—पाणि शब्द उपपद होने पर सृज् से[2]—**पाणिसर्ग्या रज्जुः**। रस्सी जो हाथ से बटी जाए। ण्यत् परे होने पर धातु के च्, ज् को कुत्व (कवर्गादेश) होता है। ज् को प्रयत्न-आन्तरतम्य से 'ग्' आदेश होता है। सम् अवपूर्वक सृज् से भी[3]—**समवसर्ग्या रज्जुः**।

क्यप्—खन् के 'न्' को 'ई' भी होता है[4]—खेय। यहाँ 'आद् गुणः' से खकारोत्तरवर्ती 'अ' और 'ई' के स्थान में 'ए' गुण एकादेश हुआ है।

भृञ् से असंज्ञा विषय में[5] क्यप्—**भृत्याः(=भर्तव्याः)कर्मकराः**। नौकरों का भृति(वेतनादि)से भरण करना होता है। संज्ञा में यथाप्राप्त ण्यत् होगा—**भार्यो नाम क्षत्रियः**। सम्पूर्वक भृञ् से क्यप् विकल्प से होता है, पक्ष में ण्यत् भी होगा[6]—संभृत्याः—संभार्याः कर्मकराः। भार्या=वधूः। यहाँ भी संज्ञा में ण्यत् होता है।

मृज् से विकल्प से क्यप्, पक्ष से ण्यत्[7]—परिमृज्य। ण्यत्—परिमार्ग्य। यहाँ 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४)[8] से मृज् को गुण न होकर वृद्धि होती है। ण्यत् के कारण धातु के ज् को कुत्व (ग्) भी।

राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य, अव्यथ्य—ये क्यबन्त निपा-

---

१. क्रृपो रो लः (८।२।१८)।
२. पाणौ सृजेर्ण्यद् वक्तव्यः (वा०)।
३. समवपूर्वाच्च।
४. ई च खनः (३।१।१११)।
५. भृञोऽसंज्ञायाम् (३।१।११२)।
६. समवपूर्वाद् विभाषा (वा०)।
७. मृजेर्विभाषा (३।१।११३)।
८. जहाँ-जहाँ गुण का विषय है वहाँ-वहाँ मृज् को वृद्धि होती है, गुण नहीं। जहाँ गुण का विषय नहीं जैसे मृज् तः, मृष्टः, वहाँ वृद्धि भी नहीं होती। यहाँ तस् अपित् सार्वधातुक है और अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है, अतः गुण का प्रसङ्ग ही नहीं।

तन किए हैं।[1] **राज्ञा सोतव्यः, राजा वा इह सूयते (=अभिषूयते) इति राजसूयः क्रतुः।** यहाँ प्रथम व्युत्पति में कर्म में क्यप्, द्वितीय व्युत्पत्ति में अधिकरण में क्यप् हुआ है। राजा=लतात्मकः सोमः। राजन् शब्द का इस अर्थ में रामायण में प्रयोग मिलता है—**राजा चाभिषुतोऽनघः** (१।१४।६)। ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों में तो इस अर्थ में प्रचुर प्रयोग है। राजानं क्रीणन्ति इत्यादि। **सरति (आकाशे) इति सूर्यः।** कर्ता में क्यप्। मृषोद्यम्=मिथ्या वचनम्। पक्ष में यत् प्राप्त था। नित्य क्यप् निपातन किया है। रोचत इति रुच्यः। कर्ता में क्यप्। कुप्य। गुप् धातु से, संज्ञा विषय में। स्वर्ण और रजत से अन्य धन को कुप्य कहते हैं। यदि यह अर्थ न हो तो ण्यत् होकर गोप्य रूप होगा। **कृष्टे स्वयमेव पच्यन्त इति कृष्टपच्या ओषधयः।** कर्मकर्ता में निपातन है। **अकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे** (श० ब्रा० १।६।१।३)। **न व्यथते इति अव्यथ्यः,** जो विचलित नहीं होता। कर्ता में क्यप्।

पुष्य, सिध्य—ये नक्षत्रवाची क्यबन्त निपातन किए हैं।[2] क्यप् अधिकरण में हुआ है। **पुष्यन्त्यर्था अस्मिन्निति पुष्यः** (नक्षत्र का नाम)। **सिध्यन्त्यर्था अस्मिन्निति सिध्यः** (पुष्य का ही दूसरा नाम)।

विपूय, विनीय, जित्य—यह अर्थ विशेष में क्यबन्त निपातन किए हैं[3]—**विपूयो मुञ्जः,** रस्सी आदि के लिए शोधनीय मुञ्ज। मुञ्ज से अन्यत्र पूञ् से यत् होकर **विपव्यं धान्यम्** ऐसा प्रयोग होगा। **विनीयः कल्कः।** विनीयः=अपनेतव्यः। कल्क नाम पाप, विष्ठा, मल आदि का है। कल्क से अन्यत्र **विनेयः क्रोधः** ऐसा यत् प्रत्यय करके कहेंगे। **जित्यो हलिः=बलेन कृष्टव्यः,** जो बड़े बल से चलाया जाता है। महद् हलं=हलिः। खेत में हल चलाने के पश्चात् जिस बड़े काष्ठ से उसे बराबर किया जाता है उसे हलि कहते हैं ऐसा भट्टोजि दीक्षित मानते हैं, जिसे किसान 'सुहागा' कहते हैं। हलि विषय से अन्यत्र जि धातु से अच् करके **जेयं मनः** ऐसा प्रयोग करेंगे।

ग्रह् से पद के विषय में, अस्वैरी=अस्वतन्त्र, बाह्या (स्त्री०) बाहर होने

---

१. राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य-कृष्टपच्याऽव्यथ्याः (३।१।११४)।
२. पुष्यसिध्यौ नक्षत्रे (३।१।११६)।
३. विपूय-विनीय-जित्या मुञ्ज-कल्क-हलिषु (३।१।११७)।

वाली, पक्ष्य—इन अर्थों में[1]—**अवगृह्यं पदम्,** जिस पद का अवग्रह (=पृथक्-करण (ऽ चिह्न से) होना चाहिए। अन्यत्र तो यथाप्राप्त ण्यत् होगा—विग्राह्य। **विग्राह्योऽरिः,** शत्रु जिससे लड़ाई की जानी चाहिए। **गृह्यका इमे शकुनयः,** बन्धन में आए हुए, अस्वतन्त्र पञ्जरस्थ पक्षी। **नगर-गृह्या सेना।** नगर से बाहिर ठहरी हुई सेना। **ग्राह्याणि ग्राम-चाण्डाल-निकेतनानि।** यहाँ ण्यत् ही होता है, कारण कि सूत्र में 'बाह्या' स्त्रीलिङ्ग पढ़ा है। **वासुदेवगृह्याः। अर्जुनगृह्याः,** वासुदेव के पक्ष के लोग, अर्जुन के पक्ष के लोग। **गुणगृह्या विपश्चितः,** विद्वान् गुण-पक्षपाती होते हैं।

क्यप्, ण्यत्—कृ, वृष्—से विभाषा क्यप्[2]—कृ—कृत्य। पक्ष में ण्यत्—कार्य। ऋकारान्त होने से ण्यत् की प्राप्ति थी। वृष्—वृष्य। वर्ष्य। वृष् से ऋदुपध होने से नित्य क्यप् की प्राप्ति थी, यहाँ विकल्प कर दिया। क्यप् के अभाव में हलन्त-लक्षण ण्यत् हुआ है।

क्यप्—युग्य—यह वाहन अर्थ में क्यप् प्रत्ययान्त निपातन किया है[3]—**युग्यो गौः,** भार ढोने वाला बैल। **युग्योऽश्वः,** सवारी का घोड़ा। सूत्र में 'पत्र' शब्द वाहन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—**पतत्यनेनेति पत्त्रम्।** पत्=जाना।

ण्यत्—अमावस्यत्, अमावास्यत्। अमा(=सह)अव्यय के उपपद रहते वस् (रहना) से ण्यत् होता है तथा विकल्प से वृद्ध्यभाव निपातित किया है[4]—**सह वसतोऽस्मिन्काले सूर्याचन्द्रमसाविति अमावास्या, अमावस्या।** सूत्र में अनुबन्ध-सहित ण्यदन्त रूप दिखाया है।

ण्यत्—ऋकारान्त और हलन्त धातुओं से ण्यत्[5]—कृ—कार्य। हृ—हार्य। स्मृ—स्मार्य। धृ—धार्य। हलन्त—यज्—याज्य। त्यज्—त्याज्य[6]। यहाँ ण्यत् होने पर भी धातु के 'ज्' को कुत्व (ग्) नहीं होता। इसी प्रकार याच्, रुच्, प्रवच्, ऋच्—के चकार को कुत्व (क्) नहीं होता[7]—याच्य।

---

१. पदाऽस्वैरि-बाह्या-पक्ष्येषु च (३।१।११९)।
२. विभाषा कृवृषोः (३।१।१२०)।
३. युग्यं च पत्रे (३।१।१२१)।
४. अमावस्यदन्यतरस्याम् (३।१।१२२)।
५. ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४)।
६. ण्यति प्रतिषेधे त्यजेरुपसंख्यानम् (वा०)।
७. यज-याच-रुचप्रवचर्चश्च (७।३।६६)।

रोच्य । प्रवाच्य । अर्च्य । ऋदुपध होने से ऋच् से क्यप् की प्राप्ति थी, पर कुत्व का ण्यत् परे विधान करने से ण्यत् प्रत्यय शास्त्रकार को अभिमत है। दशरात्र के दशम दिन को **'अविवाक्य'** कहते हैं, जिसमें किसी को किसी से बात नहीं करनी होती। इस अर्थ में वच् के 'च्' को कुत्व (क्) होता है। जब शब्द की संज्ञा न हो तो कुत्व नहीं होता[1]—**वाच्यमाह**= वक्तव्यं ब्रवीति। **अवाच्यमाह**=अवक्तव्यम् (निन्द्यं) ब्रवीति। न कहने योग्य, निन्दा का वचन कहता है। शब्द की संज्ञा होने पर तो ण्यत्प्रत्यय-निमित्तक कुत्व का निषेध नहीं—**एकतिङ् वाक्यम्**, साकाङ्क्ष पद-समुदाय जिसमें एक तिङन्त पद हो उसकी वाक्य संज्ञा है। अवघुषितं वाक्यमाह, शब्द द्वारा प्रकटित अभिप्राय वाले वाक्य को कहता है। पच्—पाक्य। पर आवश्यक =अवश्यम्भाव द्योत्य होने पर कुत्व नहीं होता—अवश्यपाच्य। अवश्य-रेच्य। रिच् खाली करना। अवश्यवाच्य।

प्रयुज्-ण्यत्-प्रयोज्य। नियुज्-ण्यत्-नियोज्य। शक्यार्थ में कुत्वाभाव निपातन किया है[2]। प्रयोक्तुं **शक्यं प्रयोज्यम्। नियोक्तुं शक्यं नियोज्यम्।** अन्यत्र=अर्ह, योग्य आदि अर्थ होने पर कुत्व होगा—प्रयोग्य। नियोग्य।

यदि कहीं अर्ह अर्थ में प्रयोज्य, नियोज्य का प्रयोग हो तो प्रयुज्+णिच्, नियुज्+णिच् से यत्प्रत्ययान्त रूप समझना।

'भोज्य'—यह भक्ष्य अर्थ में कुत्व-रहित साधु है[3]। अनुभवनीय अर्थ में कुत्व होकर 'भोग्य' रूप होगा। **नाना हि भोग्यार्था इन्द्रियाणाम्।**

ण्यत्—विद्—वेद्य। छिद्—छेद्य। भिद्—भेद्य। नुद्—नोद्य। प्रपूर्वक प्रणोद्य। यहाँ सब में धातु के इक् को गुण हो रहा है। अद्—आद्य। वृद्धि। आप्—आप्य। द्विष्—द्वेष्य। पुष्—पोष्य। लिप्—लेप्य। लुप्—लोप्य।

जिस धातु के आदि में कवर्ग हो उसके अन्त्य च्, ज् को कुत्व नहीं होता घित् तथा ण्यत् प्रत्यय परे होने पर[4]—ण्यत्—कूज्—**कूज्यम् भवता। गर्ज्—गर्ज्यं भवता।**

---

१. वचोऽशब्दसंज्ञायाम् (७।३।६७)।
२. प्रयोज्य-नियोज्यौ शक्यार्थे (७।३।६८)।
३. भोज्यं भक्ष्ये (७।३।६९)।
४. न क्वादेः (७।३।५९)।

अज्, व्रज् को भी कुत्व नहीं होता—ण्यत्-व्रज्-परिपूर्वक—परिव्राज्य।[1] आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अज् को भी 'वी' आदेश हो जाने से ण्यत् परे उदाहरण नहीं।

वञ्च् गत्यर्थक को कुत्व नहीं होता[2]—वञ्च्यं (=गन्तव्यं स्थानं) वञ्चन्ति वणिजः। अन्यत्र वङ्क्यं काष्ठम् (=कुटिलीकृतम्)। यहाँ कुत्व होता है।

अवश्यम्भाव द्योत्य होने पर उकारान्त से[3]–अवश्यपाव्य। पूञ्। अवश्य-लाव्य। लू धातु को वृद्धि होकर यादि प्रत्यय निमित्तक औकार को आव् आदेश। यह यत् का अपवाद है। पर अवश्यस्तुत्य में क्यप् ही होगा, ण्यत् नहीं।

आङ्-पूर्वक षुञ् (सोमरस निकालना, सुरा तैयार करना), यु (मिलाना, जुदा करना), वप् (बोना), रप् (बोलना), त्रप् (लज्जित होना), चम् (खाना)[4]—इनसे ण्यत् होता है। पहली दो धातुओं से 'अचो यत्' से यत् की प्राप्ति थी, शेष से 'पोरदुपधात्' से। आसु—आसाव्य। यु—याव्य। **घृतेन संयाव्य ओदनः। तण्डुलेभ्यो वियाव्यास्तुषाः**, चावलों से तुष जुदा करना चाहिए। वप्—**वाप्यानीमानि बीजानि।** यह बीज बोने योग्य हैं। **न त्वया बहु राप्यम्। अनेन दुष्कृतेन त्राप्यं त्वया**, इस दुष्कर्म से तुझे लज्जित होना चाहिए।

भोजनात् प्राक् त्रिराचाम्याः पूता आपः। भोजन से पूर्व तीन बार पवित्र जल से आचमन करना चाहिए। आङ् न होने पर वृद्धि नहीं होगी[5]—**चम्यं त्वया यत्किञ्चिन्मधुरमुदकम्।** वार्तिककार के मत से लप् और दभ् (सौत्र धातु) से भी ण्यत् होता है[6]—**नेदमपलाप्यं त्वया**, तुझे इस बात से इन्कार

१. अजिव्रज्योश्च (७।३।६०)।

२. वञ्चेर्गतौ (७।३।६३)।

३. ण्ये आवश्यके (७।३।६५)।

४. आसु-यु-रपि-त्रपि-चमश्च (३।१।१२६)।

५. नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (७।३।३४)। उदात्तोपदेश मान्त धातु को चिण्, ञित्, णित् कृत् प्रत्यय परे रहते वृद्धि नहीं होती, पर आङ्-पूर्वक चम् को होती है।

६. ण्यत्प्रकरणे लपिदभिभ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०)।

नहीं करना चाहिए। दभ्—**न माननीया दाभ्या मानवेन।** दाभ्याः=हिंस-नीयाः।

आनाय्य—यह दक्षिणाग्नि के अर्थ में ण्यत् प्रत्ययान्त निपातन किया है[1]। यह नित्य प्रज्वलित नहीं रहता, अतः अनित्य है। इसी अभिप्राय से सूत्र में 'अनित्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थान्तर में आनेयो घटादिः ऐसा कहेंगे।

प्रणाय्य—यह असंमति (१. इच्छा-रहित, विरक्त २. अवाञ्छनीय) अर्थ में निपातन किया है[2]—**प्रणाय्योऽन्तेवासी। प्रणाय्यश्चौरः।** 'असंमति' बहुव्रीहि है।

निकाय्य—यह निवास (रहने का स्थान) अर्थ में ण्यत्-प्रत्ययान्त निपातन किया है[3]। **निचीयतेऽस्मिन्धान्यादिकम् इति निकाय्यः।** निकाय्यनिलयालयाः—अमर।

विभज्य—विपूर्वक भज् से हलन्तलक्षण ण्यत् न होकर यत् होता है। विभज्यः=विभक्तव्यः। सूत्रकार का प्रयोग है—द्विवचन-विभज्योपपदे तर-बीयसुनौ। **येऽविभक्ता भ्रातरस्ते समं विभज्या ज्येष्ठापोद्धारेण,** जिन भाइयों का विभाग नहीं हुआ उनका ज्येष्ठ का भाग निकाल कर समान रूप से विभाजन होना चाहिए।

चित्य, अग्निचित्या—ये यकार प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। चित्योऽग्निः। अग्निचित्या=अग्निचयनम्।

कृत्य-प्रत्ययों का प्रयोग—

आचार्य का कृत्य, क्त, खलर्थ (खल् तथा खल्-समानार्थक) प्रत्ययों के प्रयोग के विषय में सूत्र है—तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः (३।४।७०) अर्थात् भाव व कर्म में ही कृत्य, क्त तथा खलर्थ प्रत्यय होते हैं। इस प्रकरण के आदि में हम सामान्य रूप से कृत्य विषयक इस नियम का निर्देश कर चुके हैं। अब यहाँ कुछ विशेष वक्तव्य है। यह नियम कई स्थानों में लागू नहीं होता। कहां इसकी प्रवृत्ति नहीं होती यह शिष्टों के प्रयोगों को देखने से जाना जाता

---

१. आनाय्योऽनित्ये (३।१।१२७)।
२. प्रणाय्योऽसंमतौ (३।१।१२८)।
३. पाय्य-सान्नाय्य-निकाय्य—(३।१।१२९)।

है, अस्मदादियों के प्रयोगों से नहीं। अतः आचार्य इस विषय में दूसरा सूत्र निर्माण करते हैं—कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) अर्थात् कृत्य प्रत्यय तथा ल्युट् जिन अर्थों में विहित किए गए हैं उनसे भिन्न अर्थों में भी देखे जाते हैं[1]। **याप्य** (=निन्द्य, गर्ह्य)—यहाँ अपादान में ण्यन्त यापि से 'अचो यत्' से यत् हुआ है—**याप्यन्तेऽपनीयन्ते गुणा अस्मात्**। याप्ये पाशप् (५।३।४७) सूत्र पर न्यास। **उद्वेजनीय**—यहां अपादान में उद्पूर्वक विज् धातु से अनीयर् हुआ है—**उद्विजन्तेऽस्मादिति उद्वेजनीयः**, जिससे लोग घबराकर परे हटते हैं। **उद्वेजनीयो भूतानां नृशंसः पापकर्मकृत्** (रा० ३।२९।३)। **उद्वेजनीयो भूतानां क्रूरवाग् अर्थदोपि सन्** (का० नी० सा०)। **तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः** (कौ० अ० १।४।१)। **तीक्ष्णदण्डः सर्वेषामुद्वेजनीयो भवति** (चाणक्य सूत्र २।५१)। **दानीयो विप्रः**। यहाँ सम्प्रदान में अनीयर् हुआ है—**दीयतेऽस्मा इति**। **स्नानीयं वस्त्रम्**। यहाँ करण में अनीयर् हुआ है—**स्नात्यनेन इति स्नानीयम्**। **क्रीडत्यनेनेति क्रीडनीयम्**, खिलौना। **क्रीडतः (तस्य) क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणांश्च ह** (भा० १३।४२०६)। **पतनीयं पापम्**। यहाँ भी करण में अनीयर् हुआ है—**पतत्यनेन इति पतनीयं पापम्**। **न कथं चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम्। वृषलः कर्म वा ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः॥** (कृत्यकल्पतरु में उद्धृत नारद वचन)। **हृदयग्रहणीयानि वाक्यानि**। **हृदयलोभनीयानि दर्शनानि**। यहाँ भी करण अर्थ में अनीयर् हुआ है। गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणीयम्। लुभ्यत्यनेनेति लोभनीयम्। शेष षष्ठी के साथ समास है। **न क्रुध्यत्यभिशप्तोपि क्रोधनीयानि वर्जयन्** (रा० २।४१।३)। राम बुरा-भला कहे जाने पर क्रोधजनक वाक्यादि का परिहार करते हुए स्वयम् क्रुद्ध नहीं होते हैं। क्रुध्यत्यनेन इति क्रोधनीयम्। करणेऽनीयर्। **अपत्य—न पतति पिताऽनेन इत्यपत्यम्**। करण में यत् निपातन हुआ है। **स्थेय** (=विवाद पद निर्णेता)। यहाँ अधिकरण में यत् हुआ है—**तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेयः**। **दृश्यो विश्वेश्वरो**

---

१. सूत्र में बहुल ग्रहण से वैयाकरण ऐसा मानते हैं—अन्येपि कृतो यथायथमभिधेयं व्यभिचरन्ति, दूसरे कृत् प्रत्यय भी कहीं-कहीं अपने अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर को कहने लगते हैं—ऋच्यते स्तूयतेऽनयेति ऋक्। यहाँ क्विप् जो कर्ता को कहता है, करण को कह रहा है। ययाऽग्निः समिध्यते सा समित्—यहाँ भी करण में क्विप् हुआ है। पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः। यहाँ कर्ता में विहित ण्वुल् कर्म में हुआ है।

पक्षान्ता उपवस्तव्या: पक्षादयो यष्टव्या: (गो० गृ० १।५।५)।
उपवसनीयमनेनेति उपवस्तव्या: । अधिकरणे तव्य:।

देवः स्नातव्या मणिकर्णिका—यहाँ स्नातव्या में अधिकरण में तव्य प्रत्यय हुआ है। आस्य (मुख)। यहाँ भी अधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय हुआ है—**अस्यतेऽस्मिन्नित्यास्यम्**। शयनीय (शय्या)। यहाँ भी अधिकरण अर्थ में अनीयर् हुआ है—**शेतेऽस्मिन्निति शयनीयम्**। **रमणीया वापी**। **रमतेऽस्याम् इति**। अधिकरण में अनीयर्। **कर्म प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः**। यह कर्ता में अनीयर् हुआ है।

तव्यप्रत्ययान्त का कहीं-कहीं भाव में ल्युडन्त अथवा घञन्त के स्थान में प्रयोग देखा जाता है—**संभावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम्** (किरात० १७।४२)। यहाँ आसितव्यम्=आसनम्, बैठना। **का त्वं विस्रष्टव्यस्य रोद्धव्यस्य वा** (शाकुन्तल १)। यहाँ विस्रष्टव्य=विसर्जन। रोद्धव्य=रोध अथवा रोधन। **यो दुर्जयो देवितव्येन** (=देवनेन=द्यूतेन) संख्ये (भा० ५।८९४)।

भव्य, गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय, जन्य, आप्लाव्य, आपात्य—ये कृत्य-प्रत्ययान्त कर्ता में भी होते हैं और यथाप्राप्त भाव कर्म में भी[1]—भव्यः—भवतीति। **भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः**। **भव्यमिच्छता पुरुषेणाधर्म-भीरुणा भव्यम्** (यत्), कल्याण चाहते हुए पुरुष को अधर्म=पाप से डरना चाहिए। **गेयो माणवकः साम्नाम्**। गेयः=गाता। **गेयानि माणवकेन सामानि**। कर्म में प्रत्यय। **प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य**, गुरु वेद का प्रवक्ता है। **प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः**। कर्म में प्रत्यय। **उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरोः**, शिष्य गुरु का उपस्थाता (सेवा में उपस्थित होने वाला) है। कर्ता में प्रत्यय। **उपस्था-नीयः शिष्येण गुरुः**। कर्म में प्रत्यय। **उपस्थानीयं शिष्येण**। भाव में प्रत्यय। **जायते तद् जन्यं युद्धम्**। **पुण्येन कर्मणा तेन विभूतिमतां कुले जन्यं नाम**, संभावना है कि पुण्य कर्म के द्वारा वह ऐश्वर्य-सम्पन्न कुल में जन्म ले। **आप्लवते ब्रह्मचारी व्रतान्ते इत्याप्लाव्य इत्युच्यते**, व्रत की समाप्ति पर ब्रह्म-चारी स्नान करता है, अतः उसे 'आप्लाव्य' कहते हैं। आपतत्यसाव् **आपात्यः**।

कृत्य प्रत्यय भाव व कर्म के वाचक होते हैं, भाव व कर्म इनका वाच्यार्थ होता है यह सोदाहरण बताया जा चुका है। भाव-कर्म-वाचक होते हुए ही ये कुछेक अर्थों के द्योतक हैं—

१—प्रैष (अपने से निकृष्ट को कार्य में लगाना), अतिसर्ग (कामचारा-

---

१. भव्य-गेय-प्रवचनीयोपस्थानीय-जन्याप्लाव्यापात्या वा (३।४।६८)।

नुज्ञा, इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति देना), प्राप्तकाल (=प्रस्तावसदृश, जिसका समय आ गया है, प्राप्तावसर)–इन अर्थों के द्योत्य, गम्यमान होने पर भी भाव-कर्म में 'कृत्य' प्रत्यय होते हैं (लोट् भी)[1]—**त्वया कटः कर्तव्यः, कृत्यः, कार्यः,** तुझे चटाई बनानी होगी (प्रैष), तुम चाहो तो चटाई बनाओ (नहीं तो कुछ और करो) (अतिसर्ग), तुम्हारे चटाई बनाने का अवसर है। (प्राप्तकालता)।

२—अर्ह (योग्य) कर्ता के वाच्य अथवा गम्य होने पर भी भाव-कर्म में कृत्य होते हैं (और तृच् प्रत्यय भी)[2]—**गुण्यः स कस्य न स्तुत्यः** (=स्तोतुमर्हः)। **भवता वोढव्येयं कन्या,** आप द्वारा यह कन्या विवाह के योग्य है अर्थात् **अर्हति भवान् कन्याम् इमां वोढुम्।** कृत्य के कर्मवाचक होने से योग्य कर्ता गम्यमान है। (तृच् के कर्तृवाचक होने से योग्य कर्ता वाच्य होता है)।

आवश्यक (=अवश्यंभाव) और आधमर्ण्य (अधमर्ण=ऋणी होना) अर्थों के द्योत्य होने पर धातु से णिनि प्रत्यय आता है और कृत्य भी[3]–**आत्ययिकमिदं कार्यमवश्यमद्य निष्पाद्यम्। तस्य महात्मनोऽभिगमनाय संनिहितेन भवता भाव्यम्,** उस महात्मा के स्वागत के लिए आपको अवश्य उपस्थित होना चाहिए। **देवदत्तेन मे शतं देयं** (दातव्यं, दानीयम्), देवदत्त ने मेरे सौ रुपये देने हैं। आवश्यक और आधमर्ण्य दोनों कर्ता की उपाधि (विशेषण) हैं।

शक्यता-विशिष्ट धात्वर्थ में लिङ् होता है और कृत्य भी[4]—**ऋषभतरोऽयम्। नैनेन महानयं भारो वोढव्यः** (वहनीयः, वाह्यः-ण्यत्), भार ढोने में यह बैल मन्द-शक्ति है। इससे इतना बड़ा बोझ नहीं उठाया जा सकेगा। **नावा तार्या नदी नाव्या,** जिस नदी को नौका से पार कर सकते हैं वह 'नाव्या' कहलाती है। **क्षेतुं शक्यं क्षय्यम्। जेतुं शक्यं जय्यम्।**[5] शक्यार्थ से अन्यत्र क्षेयं पापम्। जेयः कामः।

---

१. प्रैषातिसर्ग-प्राप्तकालेषु कृत्याश्च (३।३।१६३)।

२. अर्हे कृत्यतृचश्च (३।३।१६९)।

३. कृत्याश्च (३।३।१७१)। यहाँ पूर्व सूत्र आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः से आवश्यकाधमर्ण्ययोः की अनुवृत्ति आती है।

४. शकि लिङ् च (३।३।१७२)। यहाँ पूर्व सूत्र 'कृत्याश्च' से 'कृत्याः' की अनुवृत्ति आती है।

५. क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे (६।१।८१)। यत् प्रत्यय तो अचो यत् से होता है। पर शक्यार्थ में धातु को गुण होने के पश्चात् 'ए' को 'अय्' निपातन किया है।

क्रय्य—यह क्री धातु से यत् प्रत्यय करके निपातन किया है—क्रये प्रसारितं द्रव्यं क्रय्यम् । **क्रेयं नो धान्यं न च क्रय्यमस्ति**, हमें धान खरीदना है पर खरीदने के लिए प्रसारित नहीं, अर्थात् बिकाऊ नहीं है ।

कृत्य प्रत्यय काल सामान्य में विहित हैं—भवतीति भव्यः । वर्तमान में । कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः । भूतकाल में । देवदत्तेन मे शतमृणं देयम्—यहाँ भविष्यत् अर्थ में कृत्य (यत्) है—शतं दास्यतीत्यर्थः ।

कुल सात कृत्य प्रत्यय हैं । उन्हें पूर्व विद्वानों ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

तव्यं च तव्यतं चानीयरं केलिमरं तथा ।
यतं ण्यतं क्यपं चैव सप्त कृत्यान् प्रचक्षते ।।

प्रसिद्ध-प्रसिद्ध धातुओं के तव्य प्रत्ययान्त रूप—

घ्रा	घ्रातव्य	पा (चुरा० रक्षा करना)	पालयितव्य[1]
ज्ञा	ज्ञातव्य	मा (अदा० समाना, उपसर्ग सहित, मापना)	मातव्य
दा (जुहो०)	दातव्य	माङ् (जुहो० मापना)	मातव्य
दाण् (भ्वा०)	दातव्य	म्ना (अभ्यास करना)	आम्नातव्य[2]
दा(प्)(अदा० काटना)	दातव्य	या	यातव्य
धा	धातव्य	हा (त्यागना)	हातव्य
ध्मा (फूंक मारकर बजाना, अग्नि में फूंक लगाना, तपाना)	ध्मातव्य	हाङ् (जाना)	हातव्य
		स्था	स्थातव्य
पा (पीना)	पातव्य	इ (क्)	अध्येतव्य[3]
पा (रक्षा करना)	पातव्य	इ (ङ्)	अध्येतव्य[4]

१. पातेर्लुग् वक्तव्यः, अर्थात् पा से णिच् परे रहते लुक् (ल्) आगम होता है ।

२. म्ना अभ्यास करना, भ्वा० । (इसका प्रयोग प्रायः आङ्पूर्वक होता है ।

३. इङ् का प्रयोग बिना 'अधि' के होता ही नहीं ।

४. इ (क्) स्मरण करना । इसका प्रयोग भी अधि के बिना नहीं होता ।

इ (ण्)	एतव्य	यु (जोड़ना, जुदा करना)	यवितव्य
चि	चेतव्य	रु (शब्द करना)	रवितव्य
जि	जेतव्य	सु (ञ्) (स्वा०)	(अभि) षोतव्य
मि (ञ्)	(नि) मातव्य	स्तु	स्तोतव्य
श्रि (ञ्)	श्रयितव्य	हु	होतव्य
श्वि (जाना, बढ़ना)	श्वयितव्य	ह्नु	(अप) ह्नोतव्य
हि (स्वा० जाना, बढ़ना)	प्रहेतव्य[1]	ब्रू (वच् आदेश)	वक्तव्य
		भू	भवितव्य
क्री	क्रेतव्य	धूञ्	धवितव्य, धोतव्य
डी	उड्डयितव्य[2]	धू (तुदा०)	धुवितव्य[4]
दी (ङ्) (दिवा० क्षीण होना)	उपदातव्य[3]	पू	पवितव्य
		लू	लवितव्य
नी	नेतव्य	सू (अदा० दिवा०)	सवितव्य, सोतव्य
पी (ङ्)(दिवा० पीना)	निपेतव्य		
शी (ङ्)	शयितव्य	कृ	कर्तव्य
ह्री (जुहो० लज्जित होना)	ह्रेतव्य	जागृ	जागरितव्य
		पृ (ङ्)	व्यापर्तव्य[5]
श्रु	श्रोतव्य		

---

१. 'हि' का प्रयोग लोक में विना 'प्र' के नहीं मिलता। अर्थ भी अन्तर्भूत णिच् मानकर 'भेजना' होता है। वेद में केवल 'हि' का भी प्रयोग मिलता है—नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु (१०।७१।५)।

२. डीङ् प्रायः उद् पूर्वक प्रयुक्त होता है।

३. दीङ् को एज् निमित्त आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ही आत्व हो जाता है। ऐसे ही मिञ् तथा मीञ् को भी। दीङ् का प्रयोग प्रायः उपपूर्वक मिलता है। दीन-क्षीण में बिना उपसर्ग के भी।

४. धू विधूनने तुदादिगण की कुटादि धातुओं में पढ़ी है, सो गुण नहीं हुआ। ऊ को उवङ् हुआ है।

५. पृङ् (तुदा०) का वि आङ् के बिना प्रयोग नहीं होता।

मृ (ङ्)	मर्तव्य	दैं(प्)(भ्वा० शोधना)	अवदातव्य[4]
वृ (ङ्)	वि वरितव्य, वि वरीतव्य[1]	ध्यै (भ्वा० सोचना)	ध्यातव्य
		म्लै (आत्व)	म्लातव्य
वॄ (ञ्)	(आ)वरितव्य आ वरीतव्य[2]	दो (दिवा० काटना)	अवदातव्य
सृ	सर्तव्य	शो (दिवा० तेज करना)	निशातव्य[5]
स्मृ	स्मर्तव्य		
हृ	हर्तव्य	सो (दिवा० समाप्त करना)	अवसातव्य
जॄ	जरितव्य, जरीतव्य	ईक्ष्	ईक्षितव्य
तॄ	तरितव्य,तरीतव्य	चक्ष्	(आ) ख्यातव्य
दे (ङ्) (भ्वा० रक्षा करना)	दातव्य	भक्ष्	भक्षयितव्य
		लिख	लेखितव्य
मे (ङ्)(बदले में देना)	निमातव्य, विनिमातव्य[3]	पच्	पक्तव्य
		व्रश्च् (काटना)	व्रश्चितव्य,व्रष्टव्य
ह्वे (आत्व)	ह्वातव्य	मुच्	मोक्तव्य
गै (आत्व)	गातव्य	रिच्	रेक्तव्य
ग्लै ,,	ग्लातव्य	रुच्	रोचितव्य
त्रै ,,	त्रातव्य	सिच्	सेक्तव्य[6]
		प्रच्छ	प्रष्टव्य[7]

१-२. धात्वर्थ के द्योतक के रूप में यथाक्रम वि और आङ् लगा दिए जाते हैं।

३. मेङ् का प्रयोग 'नि' अथवा विनि के बिना नहीं होता।

४. दैप् शोधने का प्रयोग अव-पूर्वक ही होता है।

५. शो तनूकरणे का 'नि' के बिना विरल प्रयोग है। धातुपाठ में भी तिज निशाने ऐसा पढ़ा है।

६. यहाँ चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व हुआ है।

७. यहाँ व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८।२।३६) से च्छ् के स्थान में ष् हुआ है जो पदान्त में तथा झल् परे रहते होता है।

णिजिर् (निज्) (शुद्ध करना	निर्णेक्तव्य[1]	वृत्	वर्तितव्य
		वृध्	वर्धितव्य
विजिर् (विज्)	उद्विजितव्य[2]	अद्	अत्तव्य
पूज् (चुरा०)	पूजयितव्य	पद्	पत्तव्य
भुज् (रुधा०)	भोक्तव्य	उन्द् (गीला करना)	उन्दितव्य
भ्रस्ज् (तुदा०)	भ्रष्टव्य,	छिद्	छेत्तव्य
	भर्ष्टव्य[3]	क्लिद् (ऊदित्)	क्लेदितव्य,
मस्ज्	मङ्क्तव्य[4]		क्लेत्तव्य
मृज् (अदा० शुद्ध करना	मार्जितव्य[5],	भिद्	भेत्तव्य
	मार्ष्टव्य	नुद्	नोत्तव्य
यज्	यष्टव्य	मुद्	मोदितव्य
युज्	योक्तव्य	रुद्	रोदितव्य
सञ्ज्	सङ्क्तव्य	वद्	वदितव्य
सृज्	स्रष्टव्य[6]	वन्द् (भ्वा०)	वन्दितव्य
स्वञ्ज् (भ्वा० आलिंगन करना)	स्वङ्क्तव्य		

१. निज् (जुहो०) का प्रयोग प्रायः निर् पूर्वक होता है। धातु उपदेश में णकारादि है अतः उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से णत्व होता है।

२. विज इट् (१।२।२) से विज् से परे इडादि प्रत्यय ङित् वत् होता है, अतः गुण नहीं हुआ।

३. भ्रस्ज् की उपधा (स्) और र् के स्थान में रम् (र्) आगम होता है विकल्प से, जिससे उपधा और र् दोनों की निवृत्ति हो जाती है।

४. मस्ज् के अन्त्य वर्ण ज् से पूर्व नुम् (न्) आगम आता है। स् का संयोगादि होने से लोप हो जाता है।

५. मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से मृज् को वृद्धि होती है, यथाप्राप्त गुण नहीं। धातु ऊदित् है अतः इट् विकल्प से होता है।

६. सृजिदृशोर्झल्यमकिति। सृज् तथा दृश् के अन्त्य अच् (ऋ) से परे अम् (अ) आगम होता है किद्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे होने पर।

स्यन्द् (भ्वा०)	स्यन्दितव्य,[1] स्यन्तव्य	रुध्	रोद्धव्य
विद् (जानना)	वेदितव्य	खन्	खनितव्य
विद् (प्राप्त करना)	वेत्तव्य, वेदितव्य[2]	तन्	तनितव्य
विद् (होना)	वेत्तव्य	मन् (दिवा०)	मन्तव्य
विद् (रुधा० विचार करना)	वेत्तव्य	मन् (तनादि)	मनितव्य
बन्ध्	बन्द्धव्य	हन्	हन्तव्य
बुध् (भ्वा० जानना)	बोधितव्य	आप्	आप्तव्य
बुध् (दिवा० जागना, जानना)	बोद्धव्य	कृप्	कल्पितव्य, कल्प्तव्य[4]
युध्	योद्धव्य	क्षिप्	क्षेप्तव्य
रध् (दिवा० सिद्ध होना)	रधितव्य, रद्धव्य[3]	तृप्	तर्पितव्य, तर्प्तव्य, त्रप्तव्य[5]
राध् (दिवा०, स्वा०)	राद्धव्य	दृप्	दर्पितव्य, दर्प्तव्य, द्रप्तव्य
		त्रप् (ऊदित्)	त्रपितव्य, त्रप्तव्य

१, स्यन्द् उपदेश में स्यन्दू है। अतः ऊदित् होने से इट् का विकल्प हुआ है।

२. विद्लृ लाभे (तुदा०) भाष्यकार के मत में अनिट् है और व्याघ्रभूत्यादि के मत में सेट् है।

३. रध्, नश्, तृप्, दृप् आदि सात धातुएँ वेट् हैं। नेटचलिटि रधेः (७।१।६२) रध् से अजादि-प्रत्यय को जो नुम् विधान किया है वह लिट् से अन्यत्र जो इडादि अजादि प्रत्यय है उसे नहीं होता। सो यहाँ इतव्य को नुम् नहीं हुआ।

४. कृपू सामर्थ्ये—यह भ्वा० ऊदित् धातु है। अतः इट् विकल्प से होता है। गुण होकर कृपो रो लः (८।२।१८) से र् को ल् होता है।

५. तृप्-रधादि है, अतः इट् विकल्प से होता है। इट् के अभाव में विकल्प से अम् आगम होता है। अम् (अ) अन्त्य अच् ऋ से परे होता है। तब ऋ को यण् (र्) होता है।

शप्	शप्तव्य	भ्रम् (भ्वा० दिवा०)	भ्रमितव्य
स्वप्	स्वप्तव्य	यम्	यन्तव्य
रभ्	रब्धव्य	रम्	रन्तव्य
लभ्	लब्धव्य	शम्	शमितव्य
लुभ्	लोभितव्य, लोब्धव्य[1]	श्रम्	श्रमितव्य
		दय् (भ्वा० देना, रक्षा करना, दयाकरना)	दयितव्य
क्रम्	क्रमितव्य		
उपक्रम्(प्रारम्भ करना)	उपक्रमितव्य	गुर्(शस्त्र उठाना तुदा०)	गुरितव्य[3]
प्रक्रम् (प्रारम्भ करना)	प्रक्रमितव्य[2]	(अव-सहित)	अवगुरितव्य
क्लम्	क्लमितव्य	स्फुर् (तुदा०)	स्फुरितव्य[4]
गम्	गन्तव्य	दिव् (दिवा०)	देवितव्य
तम्	तमितव्य	दिव् (चुरा० विलाप करना)	परिदेवयितव्य[5]
दम्	दमितव्य		
नम्	नन्तव्य	ष्ठिव् (दिवा० थूकना)	निष्ठेवितव्य[6]

---

१. तीषसहलुभ—तादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है। लुभ् अकर्मक है। धने लुभ्यति कहेंगे, धनं लुभ्यति नहीं।

२. प्रक्रम्, उपक्रम् का अर्थ प्रारम्भ करना भी होता है, जब यह अर्थ हो तब प्रपूर्वक, उपपूर्वक क्रम् आत्मनेपद का निमित्त होता है। यहाँ क्रम् आत्मनेपद का योग्यतया निमित्त है, आत्मनेपद के अभाव से कुर्वद्रूप मुख्य निमित्त नहीं। अतः स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते (७।२।३६) से इट् का प्रतिषेध नहीं होता।

३. गुर् तुदादिगण में कुटादियों के मध्य में पढ़ा है अतः गुण नहीं हुआ। इसका प्रयोग प्रायः अव-पूर्वक होता है।

४. स्फुर् कुटादि है, अतः तव्य प्रत्यय के ङित्वत् होने से गुण नहीं हुआ।

५. चुरादि दिव् परिपूर्वक प्रयुक्त होता है। यह बात तिङन्त, कृदन्त रूपों में समान है—तत्र का परिदेवना।

६. ष्ठिव् प्रायः निपूर्वक प्रयुक्त होता है। इसके आदिभूत 'ष्' को 'स्' नहीं होता।

सिव् (दिवा०)	सेवितव्य	भाष्	भषितव्य
सेव् (भ्वा०)	सेवितव्य	मुष्	मोषितव्य
दंश् (भ्वा०)	दंष्टव्य	रुष्	रोषितव्य,
दृश्	द्रष्टव्य		रोष्टव्य
नश्	नंष्टव्य,	शुष्	शोष्टव्य
	नशितव्य[1]	पूष् (भ्वा०)	पूषितव्य
इष् (तुदा०)	एषितव्य,	कुच् (तुदा०)	संकुचितव्य[4]
	एष्टव्य[2]	कुट् (तुदा०)	कुटितव्य[5]
इष् (दिवा० जाना)	प्रेषितव्य[3]	कुष्	कोषितव्य
रिष्	रेषितव्य, रेष्टव्य	निष्कुष्	निष्कोष्टव्य,
पुष् (दिवा०)	पोष्टव्य		निष्कोषितव्य[6]
पुष् (क्र्या०)	पोषितव्य	कृष्	कर्ष्टव्य,
पुष् (चुरा०)	पोषयितव्य		क्रष्टव्य[7]
भष् (भ्वा० भौंकना)	भषितव्य		

१. मस्जिनशोर्झलि (७।१।६०) से मस्ज्, नश् को झलादि आर्धधातुक परे होने पर नुम् आगम होता है। 'नश्' रधादि है। अतः वेट् है। जब इट् होगा तो प्रत्यय के झलादि न रहने से नुम् नहीं होगा।

२. तीषसहलुभरुषरिषः (७।२।४८) से इट् का विकल्प तादि प्रत्यय परे होने पर। यहाँ इष् तुदादि ली जाती है, दिवादि नहीं।

३. यह इष्(दिवा० जाना)का रूप है। नित्य इट्। इसके पहले प्र उपसर्ग प्रायः लगाया जाता है, अर्थ भेजना, आदेश करना आदि होता है। कई बार 'सम्प्र' दो उपसर्गों का प्रयोग होता है। अर्थ में कुछ भी भेद नहीं होता।

४. कुच् कुटादि है, अतः गुण नहीं हुआ। इसका प्रयोग सम् आदि उपसर्गों के बिना अत्यन्त विरल है।

५. कुट् (टेढ़ा होना) इसी से तुदादि गण का अवान्तर गण कुटादि प्रारम्भ होता है।

६. निरः कुषः (७। ।४६) से निर् पूर्वक कुष् से विकल्प से इट् आता है। वैसे कुष् सेट् है। अतः अकेले कुष् १ नित्य इट् होता है।

७. अनुदात्त ऋदुपध धातु को विकल्प से अम् आगम होता है झलादि अकित् प्रत्यय परे होने पर। अम् के अभाव में यथाप्राप्त गुण होगा। ऐसा ही मृश् में हुआ है।

मृश्	विमर्ष्टव्य,	लिह्	लेढव्य
	विम्रष्टव्य	वह्	वोढव्य
अस् (होना)	भवितव्य	सह् (भ्वा)	सोढव्य,
अस् (दिवा० फेंकना)	असितव्य		सहितव्य
आस्	आसितव्य	सुह् (दिवा० तृप्त होना)	सोहितव्य
वस् (भ्वा० रहना)	वस्तव्य	शुश्रूष	शुश्रूषितव्य
वस् (अदा० ढाँपना)	वसितव्य	जिज्ञास	जिज्ञासितव्य
शास्	शासितव्य	पोपूय	पोपूयितव्य
आङ् शास् (अदा०)	आशासितव्य	लोलूय	लोलूयितव्य
ग्रह्	ग्रहीतव्य	पुत्रीय	पुत्रीयितव्य
रुह्	रोढव्य		

अनीयर्

अनीयर् प्रत्ययान्तों की रूप-रचना के विषय में थोड़ा ही वक्तव्य है। अनीयर् अजादि है वलादि नहीं अतः इट् का प्रसंग ही नहीं। धातुमात्र को इस से पूर्व गुण होता है। कुटादि धातुओं को छोड़कर। णिच् का लोप होता है। कृ—करणीय। हृ—हरणीय। स्तु—स्तवनीय। वृत्—वर्तनीय। कृप्—कल्पनीय। सृज्—सर्जनीय। चुर् णिच्—चोरणीय। मृज्—मार्जनीय (वृद्धि)। रभ्—आरम्भणीय। लभ्—लम्भनीय। अजादि प्रत्यय परे होने पर नुम् आगम होता है, वह अजादि प्रत्यय शप् नहीं होना चाहिए, लिट् सम्बन्धी भी नहीं होना चाहिए।[1]

प्रयोगमाला

१. हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयं प्रदेयं धनं
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम्।

---

१. रभेरशब्लिटोः (७।१।६३)। लभेश्च (७।१।६४)।

नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः
स्थेयं तत्र सितासितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः ॥

महल को छोड़ देना चाहिये, कुञ्जगृह का आश्रयण करना चाहिए, धन देना चाहिए, तीर्थ जल पीना चाहिए, भगवान् विष्णु के चरण कमल को गाना चाहिए, कुश के विछौने पर चिर तक समय बिताना चाहिए, धर्म में मन लगाना चाहिए, गंगा-यमुना के समीप ठहरना चाहिए और अमर ज्योति का ध्यान करना चाहिए।

२. चित्तं साध्यं पालनीयं विचार्यं कार्यमार्यवत् ।
आहार्यं व्यवहार्यं च संचार्यं धार्यमादरात् ॥ (यो० वा० ३।८४।३७)

जो साधनीय है, जो पहले से सिद्ध होने से रक्षणीय है, जो विचार्य है, जो सत्पुरुषों की तरह कर्तव्य है, जो देशान्तर से आनेतव्य है, जो घर में सिद्ध होने से उपयोज्य है जो एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर चलाया जाता है (रथादि), जो धारण करने योग्य (भूषणादि)—यह सब चित्त ही है।

३. सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा (उप०) ।

यह मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है और किसी कर्म से नहीं।

४. रज्जुमावर्तयिष्याम इति विनीयोऽस्मदर्थे कियानपि मुञ्जः ।

हम रस्सी को बाटेंगे, अत हमारे लिए कुछ मुंज शोधिए।

५. अहो गेयस्यास्य रक्तकण्ठता । अहो रागपरिवाहिणी गीतिः ।

इस गायक का कण्ठ कितना सुरीला है। यह गाना कितनी माधुर्य बहा रहा है !

६. सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् । (मनु० ८।१३)

या तो सभा में जाय नहीं, जाय तो ठीक-ठीक कहे।

७. प्रैष्योऽयमस्मिन्कर्मणि सम्प्रेष्यः साधु निर्वाहयिष्यतीति ।

इस नौकर को इस कर्म में लगाना चाहिए ठीक निभाएगा।

८. अत्र प्रवृत्त्यम्, अतश्च निवृत्यमिति नित्यं विविञ्चीत ।

इस कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए, इससे टलना चाहिए। इसका नित्य विवेक करे।

९. श्रव्यश्राव्ययोः को विशेष इति चेद् वेत्थ नूनं शाब्दिकोसि ।

यदि तुम श्रव्य तथा श्राव्य शब्दों की व्युत्पत्ति भेद तथा अर्थभेद को जानते हो, तो सचमुच वैयाकरण हो ।

१०. पर्ययपर्यायशब्दौ प्रविविच्य प्रयोज्यौ ।

पर्यय और पर्याय शब्दों का भेद जानकर प्रयोग करना चाहिए ।

११. इदमभ्युपेयं कदाचिल्लघुप्रयत्नतरा अपि समृध्यन्ति व्यृध्यन्ति चेतरे ।

यह मानना पड़ता है कभी थोड़ा यत्न करने वाले भी समृद्ध हो जाते हैं और दूसरे (अर्थात् बड़ा यत्न करने वाले) व्यृद्ध=दरिद्र रहते हैं ।

१२. प्रकाशेऽवकाशे नोच्चरितव्यम् ।

खुली जगह पर मलत्याग नहीं करना चाहिए ।

१३. बन्धुजन इति स्नेहेन परिष्वङ्क्तव्यो भवति निर्गुणोपि ।

बन्धु चाहे निर्गुण भी हो बन्धु होने से स्नेहपूर्वक आलिंगन के योग्य है ।

१४. नैतावता कालेन महदिदं कर्मापवर्जनीयं भवति ।

इतने समय में यह बड़ा कार्य समाप्त नहीं किया जा सकता ।

१५. इष्टेष्वप्यर्थेषु नातीवासङ्क्तव्यमनपायिनीं निर्वृतिं मार्गता नरेण ।

इष्ट वस्तुओं में भी उसे अत्यन्त आसक्त नहीं होना चाहिए जो शाश्वत आनन्द को चाहता है ।

१६. [1]शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः । (रा० ४।२८।८)

केवड़ के गन्ध वाले वायुओं को अञ्जलियों से पीया जा सकता है ।

१७. वद यत्ते वाच्यम् । तदवधार्य दण्डं त्वयि धारयिष्यामि ।

कहो, जो तुमने कहना है, इसका निश्चय करके तुझे दण्ड दूंगा ।

---

१. शक्य में कर्म में यत् प्रत्यय है, पर इसका नपुं० एक० में प्रयोग बहुत करके देखा जाता है, कर्मवाचक शब्द चाहे किसी अन्य लिंग व वचन में हो । प्रकृत वाक्य में कर्म 'वात' पुं० बहु० में है । शक्यं श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम् इस भाष्य वचन में कर्म क्षुत् स्त्री० एक० है । नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः (गीता १८।११) यहाँ कर्म नपुं० बहु० है । शक्यम अरविन्दसुरभिरविरलमालिङ्गितुं पवनः (शाकुन्तल ३।७)—यहाँ कर्म 'पवन' पुं एक० है । एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता (मालविका ३।२३)

कर्तृ-वाचक-कृत्

ण्वुल्—धातुमात्र से ण्वुल् प्रत्यय आता है[1]। ण्, ल् इत्संज्ञक हैं। 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। प्रत्यय के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा-भूत 'अ' को वृद्धि होती है। आकारान्त धातु को युक् (य्) आगम होता है—कृ—कारक। **करोतीति कारकः**, करने वाला। हृ—हारक। नी—नायक। वृद्धि, आय् आदेश। **नयतीति नायकः**। पू—पावक। **पुनातीति पावकः** =अग्नि। पच्—पाचक। खन्—खान के खोदने वाला। दो—दायक। युक् आगम। आख्या—आख्यायक। कहने वाला। स्त्रीलिङ्ग में आख्यायिका। गै—गायक। **गायतीति गायकः**। धातु को आत्व होकर युक् का आगम। ब्रू—वाचक। ण्वुल् आर्धधातुक है, अतः 'ब्रू' को वच् आदेश हुआ। ण्यन्त स्था (स्थापि)—स्थापक। सिध् (साधि) से साधक। वद् (वादि) से वादक। मुद् (मोदि) से मोदक। **मोदयतीति मोदकः**, लड्डु। ण्यन्त गमि, जनि, भ्रमि, दमि, शमि से क्रम से गमक, जनक, भ्रमक, दमक, शमक—रूप सिद्ध होते हैं। इन सब में तथा इनसे पूर्व निर्दिष्ट ण्यन्त धातुओं के 'णि' का लोप हो जाता है।[2] इन में धातु के 'अ' को वृद्धि नहीं होती[3]—यह विशेष

—यहाँ कर्म 'सा' स्त्री० एक० है। शक्यं मन्दारपुष्पाणि प्राप्तुं कश्यपवंशज (हरि वं० ८६।५५)—यहाँ कर्म मन्दारपुष्प नपुं० बहु० है। ऐसा क्यों हुआ। वामन का सूत्र है—शक्यमिति रूपं कर्माभिधायां लिंगवचनस्यापि सामान्योपक्रमात् (काव्यालंकार० ५।२।२३)। अर्थ यह है कि 'शक्यम्' यह कर्मवाची है। कर्म-विशेष की अनपेक्षा में अर्थात् सामान्योपक्रम में औत्सर्गिक एकवचन ही होगा और लिंग सर्वनाम नपुंसकम् इस वचन के अनुसार पुं० वा स्त्री० न होकर नपुंसक लिंग ही होगा। पश्चात् कर्म विशेष के साथ सम्बन्ध होने पर भी अन्तरङ्गतया आये हुए लिंग और वचन की निवृत्ति नहीं होती।

१. ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३)।

२. णेरनिटि (६।४।५१)।

३. जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च (गणसूत्र) से जन् और अमन्त गम्, दम्, भ्रम्, शम् आदि की मित् संज्ञा है और मित् संज्ञकों को णिच् परे रहते ह्रस्व हो जाता है। गमयतीति गमकः। शमयतीति शमकः। शुद्ध दम्, भ्रम्,

शम्, से ण्वुल् करने कार्य है । **स्यति प्राणान् इति सायकः**, बाण । यहाँ 'सो' से ण्वुल् हुआ है । अव उपसर्ग प्रायिक है, सो यह नहीं भी हुआ ।

हन् णिच्—घातक । **घातयतीति घातकः । हन्तीति घातकः ।** णित् प्रत्यय परे होने पर हन् के 'ह' को कुत्व ='घ' तथा 'न्' को 'त्' आदेश होता है । **भक्षकश्चेन्न विद्येत वधकोपि न विद्यते**—यहाँ वधक में वध् एक स्वतन्त्र प्रकृति मानी जाती है जिसकी उपधा-वृद्धि को जनिवध्योश्च (७।३।३५) से रोका जाता है । अधिइङ्—अध्यायक (पढ़ने वाला) । **युवा स्यात् साधु युवाऽध्यायकः** । तै० उ० २।८ ।। **नाटयतीति नाटकः**=नट, भरत । यह मूलार्थ है । **वधूनाटकसङ्घैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्** (रा० १।५।१८) । कालान्तर में अभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् इत्यादि में बहुलतया कर्म में ण्वुल् स्वीकार करके नाट्य अर्थ में प्रयोग होने लगा । क्लृप् णिच्—कलाक = नापित (का० नी० १३।४७) । **कल्पयति कृन्तति नखान् इति कल्पकः = नापितः ।**

तृच्—तृच् (तृ) वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है । यह भी धातुमात्र से आता है । उदात्त (=सेट्) धातुओं से परे तृच् को इट् आगम होता है ।

कृ—कर्तृ । हृ—हर्तृ । पू—पवितृ । इट् । नी—नेतृ । पच्—पक्तृ । खन्—खनितृ । दा—दातृ । गम्—गन्तृ । जन्—जनितृ । शम्—शमितृ । दम्—दमितृ । गै—गातृ । ब्रू—वक्तृ । वच् आदेश । वादि (= वद् णिच्,- वादयितृ । पाठि (=पठ् णिच्)—पाठयितृ । प्रक्रम् (प्रारम्भ करना)—प्रक्रन्तृ (प्रक्रन्ता) । यहाँ इट् का निषेध वार्तिककार कहते हैं ।[1] केवल क्रम् जो उभयपदी है (क्रामति, क्रमते) से इट् का निषेध नहीं होता—क्रमितृ (क्रमिता) । सम्पूर्वक गम् से सन् प्रत्यय परे रहते इट् होगा–संजिगमिष–तृ । सन्नन्त के अनेकाच् होने से तृच् को इडागम निर्बाध होगा—संजिगमिषिता । प्रपूर्वक अज (जाना, हाँकना)—प्राजितृ, प्रवेतृ (सारथि) । वलादि आर्धधातुक

शम् से ण्वुल् करने पर भी नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानचमेः (७।३।३४) से वृद्धि रुक जाएगी । जन् की भी वृद्धि जनिवध्योश्च (७।३।३५) से रुक जाएगी जिससे जायत इति जनक इस अर्थ में भी 'जनक' रूप सिद्ध होगा । शुद्ध अण्यन्त गम् से ण्वुल् का प्रयोग नहीं मिलता ।

१. क्रमेस्तु कर्तर्यात्मनेपदविषयादसत्यात्मनेपदे कृति प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

-प्रत्यय परे रहते अज् को विकल्प से 'वी' आदेश होता है।[1] 'अज्' यद्यपि उदात्त है, उसका आदेश 'वी' अनुदात्त माना जाता है। अतः 'प्रवेतृ' में इट् नहीं हुआ।

ल्यु, णिनि, अच्—नन्द् आदि, ग्रह् आदि तथा पच् आदि धातुओं से क्रम से ल्यु (=अन), णिनि (इन्), अच् (अ) प्रत्यय आते हैं[2]—नन्द् आदि धातु ओं से ल्यु—**नन्दयतीति नन्दनः**। इन्द्र का उद्यान। वृध् णिच्—वर्धनः। शुभ् णिच्—**शोभनः। शोभयतीति**। रुच् णिच्—रोचन। मद् णिच्–मदन। **मदयतीति मदनः**=काम। सह्—सहन। तप्—तपन=सूर्य। **तपतीति तपनः**। दम्—दमन। **शत्रून् दमयतीति। शत्रुदमनः। कुलं दमयतीति कुल-दमन। जनान् समुद्रस्थदैत्यभेदान् अर्दयतीति जनार्दनः। जनमर्दयतीति वा।** अर्दयति=पीडयति। **मधुसूदनः—मधुं तन्नामानं दैत्यं सूदयति**=**क्षारयति**=नाशयतीति। **विभीषयते इति विभीषणः**। रावण का भ्राता। **संकर्षति यमुनाम् इति संकर्षणः** (बलराम)। **संक्रन्दयति रिपुस्त्रीः संक्रन्दनः**=इन्द्रः। रम्—रमणः। **रमते रमयतीति वा**। दृप् णिच्—**दर्पयति इति दर्पणः। दर्पणे स्वं दृष्ट्वा** दृप्यति स्वाकृतिर्जनः, सुन्दर पुरुष दर्पण में अपनी आकृति को देखकर दृप्त हो जाता है अहो रूपवानस्मि ऐसा कहता है, अतः मुँह देखने के शीशे को दर्पण कहते हैं। लू–लवण। **लुनातीति लवणः**। णत्व निपातन से है। एक असुर का नाम। उत्तररामचरित में कहा भी है। लवणत्रासितः स्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः। पू—पवन। **पवते पुनातीति वा पवनः। श्राम्यतीति श्रमणा। स्त्रीभिक्षु।**

उन्मादनस्तापनश्च शोषणस्स्तम्भनस्तथा।
सम्मोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः॥

यहाँ उन्मादन आदि पाँच कामदेव के नाम ल्यु-प्रत्ययान्त हैं।

णिनि—ग्रह् आदि धातुओं से णिनि (इन्)[3]–**ग्राहिन्** (प्रथमान्त ग्राही)।

---

१. वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते।

२. नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३।१।१३४)।

३. ग्रह् आदि से णिनि विधान करने का प्रयोजन यह है कि इन में ताच्छील्य न होने से ताच्छीलिक णिनि की अप्राप्ति थी, अतः ग्राहिन्, मन्त्रिन्, संमर्दिन्, उत्साहिन्, अयाचिन् आदि के साधुत्व का उपपादन करना आवश्यक था।

उत्सह—उत्साहिन् । स्था—स्थायिन् । मन्त्र्—मन्त्रिन् (मन्त्रयते गुप्तं परिभाषते इति मन्त्री) । संमृद्—संमर्दिन् । संमृद्नातीति संमर्दी । मसूल देने वाला । निवस्—निवासिन् । निवप्—निवापिन् । निवपति= निपृणाति पिण्डान् पितृभ्य इति निवापी । जो पितरों का पिण्ड भरता है वह निवापी होता है । निशो—निशायिन् । निश्यति तीक्ष्णीकरोतीति निशायी । तेज करने वाला । नञ्पूर्वक याच्, व्याहृ, संव्याहृ, व्रज्, वद्, वस्—न याचते इत्ययाची । न व्याहरति भाषत इत्यव्याहारी । न संव्याहरति संभाषते इत्यसंव्याहारी, जो दूसरों के साथ नहीं बोलता । व्रज्, वद्, वस्—अव्राजिन्, अवादिन्, अवासिन् । विशीङ्—विशयी । विसि (ञ्)—विषयी । यहाँ इन दोनों में वृद्धि का अभाव निपातन से है । विषयिन् में षत्व भी निपातन से है । परिनिविभ्यः सेवसितसय—(८।३।७०) से सित (क्तान्त), सय (अच्प्रत्ययान्त) रूपों में ही षत्व विधान किया है । विशयिन् तथा विषयिन् दोनों देश वाचक हैं । अभिपूर्वक भू से भूत अर्थ में णिनि होता है—अभिभूतवान् इत्यभिभावी । अपराध्—अपराधिन् । अपराध्यतीति अपराधी । जो अपराध करता है । उपरुध्—उपरोधिन्, रुकावट डालने वाला । परिभू—परिभाविन्, परिभविन् । यहाँ विकल्प से वृद्धि नहीं होती है ।

अच्—पच् आदि धातुओं से अच् प्रत्यय आता है—

पच्—अच्=पच । **पचतीति पचः** (पाचक, पकाने वाला) । स्त्रीलिङ्ग में **पचा ब्राह्मणी । अपचा ब्राह्मणी**, जो पकाने में अशक्त है । **अपचो जाल्मः**, न पचतीत्याक्रुश्यते, जिसकी न पकाने से निन्दा है । वद्—वद । चल्—चल । पत्—पत । चरट् । देवट् । नदट् । यह अच्प्रत्ययान्त टित् पढ़े हैं जिससे स्त्रीलिङ्ग में चरी, अनुचरी, देवी, नदी, यह ङीबन्त रूप बन जाते हैं । मिष्—मेष । **मिषतीति मेषः** । मिष स्पर्धायाम् । तुदादि । मृ—मर । **न म्रियत इत्यमरः** । दंश्—दंश । **दशतीति दंशः** । (वनमक्षिका) । ध्रु (तुदा० कुटा०)—ध्रुव । **ध्रुवतीति ध्रुवः स्थिरः । आशृणोतीति आश्रवः**=वचने स्थितः, आज्ञाकारी । **जारं बिभर्तीति जारभरा । श्वानं पचतीति श्वपचः** । चण्डाल । **अजं छागं गिरतीति अजगरः** । इन में कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् की प्राप्ति थी । जिससे स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् होता । चर्, चल्, पत्, वद् इनसे अच् प्रत्यय परे रहते विकल्प से द्वित्व होता है और अभ्यास को आक् (आ) आगम होता

ततोऽर्जुनं भिन्नकटेन दन्तिना घनाघनेन (भा० कर्ण० १८।१२)। घनाघनो घातुकः। घनाघनो घातुकदन्तिनोरिति विश्व

है[1]—**चरतीति चरः**, चराचरः। चलाचलः। पतापतः। वदावदः। जो चर् का अर्थ है वही चराचर का। द्वित्व से कुछ भी अर्थान्तर नहीं होता। **चराणामन्नमचराः** (मनु० ५।२६)। वदो वदावदो वक्ता—तीनों अमर कोष में समानार्थक पढ़े हैं। **चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः।** (वैराग्य० ·)। चलाचले=चले। हन् को अच् परे द्वित्व होता है तथा अभ्यास को 'आ' आगम तथा कुत्व (घ)[2] और अभ्यास से उत्तरखण्ड के हन् के 'ह' को अभ्यासाच्च (७।३।५५) से कुत्व। **हन्तीति घनाघनः**। वर्षुकाब्दो घनाघनः (अमर)। मेंह बरसाने वाला बादल। दरिद्रा—दरिद्र। आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ही दरिद्रा के 'आ' का लोप हो जाता है और वह लोप सिद्ध माना जाता है। सो आकारान्त से जो 'ण' प्राप्त था वह नहीं होता, अच् होता है। **रात्रौ चरतीति रात्रिचरः, रात्रिंचर इति वा।** यहाँ भी अच् प्रत्यय है। अच्प्रत्ययान्त उत्तरपद परे होने पर रात्रि को विकल्प से मुम् (=म्) आगम होता है।[3]

लोलू य, पोपू य, मरीमृज् य, सनीस्रंस् य, दनीध्वंस्य, चञ्चुर्य—इन यङन्त धातुओं से अच् होने पर 'यङ्' का लुक् हो जाता है[4]—लोलुवः। पोपुवः। मरीमृजः। सनीस्रंसः। दनीध्वंसः। चञ्चुरः। धात्ववयव 'य' का लोप होने से धातु को गुण न होकर[5] पोपुवः, लोलुवः में 'उ' को उवङ् हुआ है। 'मरीमृजः' में गुण नहीं हुआ। पचादि आकृतिगण है। इसमें शिवशमरिष्टस्य करे (४।४।१४३) ज्ञापक है। **करोतीति करः**। पचाद्यच्। उपसृज्—उपसर्ग। उपसृजति सम्बध्नाति इत्युपसर्गः। न्यङ्कु आदि होने से कुत्व (पदमञ्जरी)। **मेहतीति मेघः। न्यग् रोहतीति न्यग्रोधः**=वटः। यहाँ दोनों स्थलों में न्यङ्क्वादि होने से कुत्व हुआ। **स्वयं वृणुते पतिम् इति स्वयंवरा**। वृङ् से अच्। सुप्सुपा समास। **स्वयंवरा च सा कन्या बन्धुभिः स्थापिता सती** (हरिवंश २।६१।४३)। वस् आच्छादन करना अदा० से—**वसा। वस्ते इति**। शरीर के बीच में स्नेह-द्रव्य। **सर्पतीति सर्पः। युध्यते इति योधः**। कश् से प्रतिष्कश

---

१. चरि-चलि-पति-वदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य (वा०)।
२. हन्तेर्घत्वं च (वा०)।
३. रात्रेः कृति विभाषा (६।३।७२)।
४. यङोऽचि च (७।४।३०)।
५. न धातुलोप आर्धधातुके (१।१।४)।

=वार्तापुरुष, सहाय, अग्रेसर । **ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः ।** मैं आज गाँव में प्रवेश करूँगा, आप मेरे अगुआ बनिए । यहाँ कश् से पचाद्यच् करके सुट् का निपातन किया है । **जातिस्मरः । स्मरतीति स्मरः । जातेः स्मरः=जातिस्मरः । हलधरः । हलस्य धरः ।** अच् । **पयोधरः=पयसां धरः । गङ्गाधरः । गङ्गाया धरः** (शिवः)। **दाशन्ते ददति अस्मै इति दाशः ।** यहाँ अच् कर्ता में न होकर सम्प्रदान में होता है । दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (३।४।७३) से निपातन किया है ।

क—इगुपध (इक् उपधा वाली धातु), ज्ञा, प्री, कॄ से क (अ) प्रत्यय आता है[1]—विक्षिप्—विक्षिप । **विक्षिपतीति विक्षिपः**, फैंकने बिखेरने वाला । विलिख्—विलिख । बुध्—बुध । **बुध्यत इति बुधः ।** कृश्—कृश । **कृश्यतीति कृशः ।** कृश् अकर्मक है । क्षुर्—क्षुर (उस्तरा) । **क्षुरति विलिखति केशान् इति क्षुरः ।** आङ् कुल्—आकुल । **आकोलति[2] एकी भवति इत्याकुलः ।** ध्रुव्—ध्रुव । नि पूर्वक पुण्–निपुण । पुण् शुभ कर्म करना, तुदा० । **निपुणतीति निपुणः ।** विपुल्—विपुल । **विपोलति संहन्यत इति विपुलः ।** मृड्—मृड । **मृडति सुखयतीति मृडः शिवः ।** ईश्—ईश । **ईष्टे इति ईशः । जीवतीति जीवः । अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेताः** (छां० उ०) । जो इसके सम्बन्धी यहाँ जीते हैं और जो मर गए हैं । **जीवपुत्रो ममाचार्यः ।** जो जीता है वह 'जीव' है । **न वै हतं वृत्रं विद्म न जीवम्** (श० ब्रा०) । वृत्र मारा गया है अथवा जीता है, हम नहीं जानते हैं । इन सब में 'क' प्रत्यय के कित् होने से धातु की लघु उपधा को गुण नहीं हुआ । आङ्पूर्वक तुर् जुहोत्यादि छान्दस—**आतोर्ति इति आतुरः**=रुग्ण ।

ज्ञा – ज्ञ । **जानातीति ज्ञः ।** यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय 'क' परे होने पर 'आ' का लोप हो जाता है ।

प्री—प्रिय । **प्रीणातीति प्रियः ।** धातु के 'ई' को इयङ् ।

कॄ—किर । **किरतीति किरः ।** गुणाभाव में धातु के ॠ को इर् । **किरश्चासौ अतश्च किरातः ।** अत् से पचाद्यच् ।

---

१. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३।१।१३५) ।

२. कुल् भ्वादि० प० है । कुल संस्त्याने बन्धुषु च । संस्त्यानं संघातः । बन्धुशब्देन बन्धुव्यापारो लक्ष्यते ।

क—आकारान्त सोपसर्गक धातुओं से[1]—सुग्लै—सुग्ल। **सुष्ठु ग्लायति। क्षीणहर्षो हतोत्साहो भवतीति सुग्लः। सु-म्लै—सुष्ठु म्लायतीति सुम्लः।** यहाँ उपदेश में ही एच् (ऐ) को आ हो जाता है। प्र-स्था—**प्रतिष्ठत इति।** प्रस्थः[2]। वि-स्था—विष्ठा (कुक्षि-मल)। **वितिष्ठत उदरे इति।** 'क' होकर स्त्री० में टाप्। वि-प्रा—विप्र। **विशेषेण प्राति पूरयति कर्माणि इति विप्रः।** प्र-ज्ञा—प्रज्ञः। **प्रजानातीति प्रज्ञः।** इन सबमें क (अ) प्रत्यय के अजादि आर्ध-धातुक होने से धात्वाकार का लोप हुआ है[3]। **नितरां श्यति तनूकरोति व्यापा-रान् इति निशा।** शो। आत्व। स्त्रीत्व में टाप्। निशा का निशा-दृष्ट स्वप्न अर्थ भी है—**यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान्। दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम** (भा० ५।७२५२)।

श—पा, घ्रा, ध्मा, धेट् (धे), दृश्—से श (अ) होता है[4]। 'श' सार्व-धातुक प्रत्यय है। अतः पा को पिब, घ्रा को जिघ्र, ध्मा को धम् आदेश होता है। उच्चैः पिबतीति उत्पिबः। **विशेषेण पिबतीति विपिबः।** संपिबः। **समुद्र इव संपिबः** (अथर्व० ६।१३५।२)। उद् घ्रा—उज्जिघ्र। वि घ्रा—विजिघ्र। विदृश्—विपश्य। उद् दृश्—उत्पश्य। कोई लोग पूर्वसूत्र से 'उपसर्गे' की अनुवृत्ति नहीं करते उनके मत में केवल दृश् से 'पश्य' रूप साधु होगा। मुण्डकोपनिषद् में प्रयोग भी है—**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्।** वार्तिककार संज्ञा में घ्रा धातु से 'श' प्रत्यय का प्रतिषेध चाहते हैं।[5] व्याघ्र—पूर्वसूत्र से 'क'। पर नागेश भट्ट वार्तिक 'घ्रा' को 'जिघ्र' आदेश का ही निषेध करता है प्रत्यय तो संज्ञा में भी 'श' ही होता है ऐसा मानते हैं। विध्मा—विधम। उद् ध्मा—उद्धम। धेट्—**धया कन्या। धयति मातरम् इति। फलानि धूमस्य धयानधोमुखान्** (श्रीहर्ष)।

---

१. आतश्चोपसर्गे (३।१।१३६)।

२. प्रतिष्ठत इति प्रस्थः। वने प्रस्थ इति वनप्रस्थः, स एव वानप्रस्थः। परिमाण-विशेष तथा सानु अर्थ में तो घञर्थ अधिकरण में 'क' होता है—प्रतिष्ठन्तेऽत्रेति।

३. आतो लोप इटि च (६।४।६४)।

४. पा-घ्रा-ध्मा-धेट्-दृशः शः (३।१।१३७)।

५. जिघ्रतेः संज्ञायां प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।

निपूर्वक लिप् से संज्ञा में[1]—**निलिम्पा नाम देवाः।** निलिम्पनिर्झरी=सुरनदी=भागीरथी।

गो आदि शब्द (द्वितीयान्त) उपपद होने पर विद् (प्राप्त करना तुदा०) से संज्ञा में श[2]—**गां विन्दतीति गोविन्दः।** श प्रत्यय के सार्वधातुक होने से विद् को 'नुम्' आगम हुआ[3]। **अरविन्दम्=कमलम्। अरान् चक्राङ्गानीव पत्त्राणि विन्दत इति।**

ण—ज्वल् आदि कस् पर्यन्त भ्वादि धातुओं से विकल्प से ण (अ) होता है।[4] पक्ष में पचाद्यच् होगा—ज्वालः (ण)। उपधावृद्धि। ज्वलः (अच्)। चालः। चलः। यह अच् का अपवाद है। 'ण' उपसर्ग रहित धातु से ही होता है—प्रज्वलः। यहाँ नहीं हुआ। तन् (जो भ्वादि ज्वलादि नहीं) से भी 'ण' प्रत्यय होता है—**अवतनोतीत्यवतानः।**[4] **वमति स्नेहम् इति वामा**=सुन्दरी स्त्री।

ण—श्यैङ्, आकारान्त धातु, व्यध्, आ-स्रु, सं-स्रु, अति-इण्, अव-सो, अव-हृ, लिह्, श्लिष्, श्वस्[5]—इनसे भी ण—अवश्यायः=ओस। **अवश्यायतेऽधः पततीत्यवश्यायः। प्रतिश्यायते प्रतिक्षणं गतिमान् भवतीति प्रतिश्यायः,** नज़ला, ज़ुकाम। यहाँ उपदेशावस्था में ही आत्व (श्या) होकर प्रत्यय के णित् होने से युक् (य्) आगम होता है।[6] आकारान्त—दाय। धाय। **ददातीति दायः।** दाय सम्पत्ति, ऋक्थ अर्थ में तथा सुदाय यौतक अर्थ में कर्म में घञन्त हैं। **दधातीति धायः।** यहाँ भी युक् आगम हुआ है। व्यध्—व्याध। **विध्यतीति व्याधः।** आङ्-स्रु—आस्राव। सम्-स्रु—संस्राव। अति-इण्—

१. नौ लिम्पेः संज्ञायाम् (वा०)।
२. गवादिषु विन्देः संज्ञायाम् (वा०)।
३. शे मुचादीनाम् (७।१।५९)।
४. ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (३।१।१४०)। तनोतेर्णं उपसंख्यानम् (वा०)।
५. श्याद्-व्यधास्रु-संस्र्वतीण्-अवसाऽवहृ-लिह-श्लिष-श्वसश्च (३।१।१४१)।
६. आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३)।

अत्याय । **अत्येति इत्यत्यायः पुरुषः**, अतिक्रम करने वाला । पर अत्ययः= अतिक्रमः । अत्ययनम् अत्ययः । भाव में इकारान्त से अच् । अव-सो— अवसाय । **अवस्यतीत्यवसायः** । समाप्त करने वाला, अथवा निश्चय करने वाला । पर अव-सो से भाव में घञ् होकर भी 'अवसाय' शब्द सिद्ध होता है । अर्थ होता है—अवसान, निश्चय । यहाँ भी कृत्प्रत्यय के ञित् होने से युक् आगम होता है । अव-हृ—**अवहरति निगिलतीत्यवहारो ग्राहः** । लिह्— लेह । लेढीति लेहः । श्लिष्—**श्लिष्यतीति श्लेषः**=सरेश । श्वस्—**श्वसितीति श्वासः** ।

ण—दु और नी से ण (अ) होता है जब इनसे पूर्व उपसर्ग न हो[1]— **दुनोतीति दावः** । वनवह्नि । **नयतीति नायः**=नायकः । उपसर्ग होने पर तो अच् होगा—प्रदवः । प्रणयः । प्रणयः=प्रणायकः । सूत्र में टुदु उपतापे स्वा० का ग्रहण है, अतः भ्वा० 'दु' से तो उपसर्गाभाव में भी अच् ही होगा—**दवः** । वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते ।

ग्रह् से ण् विकल्प से होता है[2] । यह व्यवस्थित विभाषा है, अर्थात् इस विभाषा का विषय नियमित है । जलचर अर्थ में नित्य 'ण' होता है—ग्राह । सूर्य आदि ग्रह (ज्योतिः) के अर्थ में ण नहीं होता—**सूर्यो ग्रहः** । **प्रतिग्राहः पतद्ग्रहः** (पीकदान)—अमर । यहाँ हुआ और नहीं भी हुआ । भू धातु से भी विकल्प से—भावः । **भवः** (**भवतीति**) ।

क—ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय होता है जब इसका कर्ता गेह=घर हो[3]- गृहम् । सम्प्रसारण । घर में होने से (तात्स्थ्यात्) धर्मपत्नी को भी 'गृहाः' कहते हैं । **गृह्णन्ति गृहा दाराः । भवतीति भावः** ।

ष्वुन्—ष्वुन् (अक) प्रत्यय नृत्, खन्, रञ्ज् से आता है जब प्रत्ययान्त शिल्पी को कहे[4]—नर्तक । खानक । रजक (धोबी, रंगरेज) । रञ्ज् के 'न्' का लोप भी होता है । प्रत्यय के षित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में नर्तकी, खानकी, रजकी रूप होंगे ।

---

१. दुन्योरनुपसर्गे (३।१।१४२) ।
२. विभाषा ग्रहः (३।१।१४३) ।
३. गेहे कः (३।१।१४४) ।
४. शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५) ।

थकन्—गै धातु से शिल्पी वाच्य होने पर थकन् (थ) प्रत्यय होता है[1]—**गायतीति गाथकः** । जिसका गाना हुनर है ।

ण्युट्—शिल्पी अर्थ में ण्युट् प्रत्यय (यु=अन) भी होता है[2]—गायन । **जगुर्गेयानि गायनाः** (भारत १।७६०६) ।

हा त्यागना, हा जाना से ण्युट् होता है जब धात्वर्थ का कर्ता व्रीहि अथवा काल हो[3]—हायन व्रीहि=धान्य-विशेष को कहते हैं—**हायना नाम व्रीहयः जहत्युदकमिति** । शतपथ में प्रयोग भी है—**हायनानां चरुं निर्वपति** (५।२।७।६) । किन्हीं के मत में जाङ्गल-देश में उत्पन्न व्रीहि को हायन कहते हैं । **हायनः**=संवत्सरः । **जहाति भावान् इति** । **जिहीत इति वा** ।

वुन्—प्रु, सृ, लू—से समभिहार=साधुकारिता=अच्छी तरह से करना अर्थ की प्रतीति होने पर वुन् (वु=अक) प्रत्यय होता है[4]—प्रवक । सरक । लवक । प्रवते साधु गच्छतीति प्रवकः । प्रुङ् भ्वा० गत्यर्थक है । **सरति साधु सर्पतीति सरकः** । **साधु लुनातीति लवकः** । साधुकारिता अर्थ यदि झलकाना इष्ट न हो तो ण्वुल् होकर प्रावक, सारक, लावक—रूप बनेंगे ।

आशीर्वाद की प्रतीति होने पर धातुमात्र से कर्ता में वुन् होगा[5]—**जीवतात् जीवकः** । **नन्दतात् नन्दकः** । जिसे हम चाहते हैं कि वह जीये उसे 'जीवक' कहेंगे ।

घञ्—पद् जाना, रुज् तोड़ना, विश् प्रवेश करना, स्पृश् छूना—इनसे कर्ता अर्थ में घञ् (अ) प्रत्यय होता है[6]—**पद्यते इति पादः** । **रुजति शरीरम् इति रोगः** । प्रत्यय के घित् होने से कुत्व हुआ । विशतीति वेशः । **स्पृशति तुदति इति स्पर्शो रोगः** ।

सृ धातु से घञ् होता है जब प्रत्ययान्त धात्वर्थ का कर्ता हो—और स्थिर

---

१. गस्थकन् (३।१।१४६) ।
२. ण्युट् च (३।१।१४७) ।
३. हश्च व्रीहिकालयोः (३।१।१४८) ।
४. प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् (३।१।१४९) ।
५. आशिषि च (३।१।१५०) ।
६. पदरुजविशस्पृशो घञ् (३।३।१६) ।

ंश अर्थ हो[1]—चन्दनसारः। खदिरसारः। **सरति कालान्तरम् इति सारः** जो (अंश) कुछ समय तक ठीक रहता है, विकार को प्राप्त नहीं होता।

व्याधि, मत्स्य और बल—इन अर्थों में भी 'सृ' से कर्ता में घञ् होता है[2]—**अतीसारो व्याधिः। शरीरान्तरवस्थितं रुधिरादिद्रव्यमतिशयेन सारयतीति।** सृ का यहाँ अन्तर्भावित ण्यर्थ होकर प्रयोग है। **विसारो मत्स्यः=विविधं सरतीति।** सारो बलम्। सारो बले मज्जनि च स्थिरांशे।

सोपपद कृत्—

अण्—कर्ममात्र (निर्वर्त्य, विकार्य, प्राप्य) के उपपद होने पर धातु से अण् होता है।[3] अण् (अ) णित् है अतः इसके परे रहते धातु के अन्त्य अच् को वृद्धि होती है, उपधा 'अ' को वृद्धि तथा उपधा-इक् को गुण होता है। **कुम्भं करोति इति कुम्भकारः**=कुम्हार। **नगरकार। स्वर्णकार। काण्डलाव।** **काण्डानि लुनातीति काण्डलावः।** शरलाव। **शरान् लुनातीति शरलावः।** अन्त्य अच् को वृद्धि। आवादेश। **वेदम् अधीत इति वेदाध्यायः**=वेदपाठी। **गोमधुपर्कार्हो वेदाध्यायः** (आप० ध० २।८।५)। **पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायं हत्वा** (आप० ध० १।२४।५)। कुम्भकार आदि सब उपपद-समास हैं। अलौकिक विग्रह इस प्रकार होगा—कुम्भ अस् कृ अण्। कृद्योग के कारण कुम्भ से षष्ठी 'अस्' हुआ, द्वितीया 'अम्' नहीं। सुप् प्रत्यय के आने से पहले ही उपपद का कृदन्त के साथ समास हो जाता है।[4] **चर्चापाठः। चर्चां पठतीति।** उपधा 'अ' को वृद्धि। **ज्ञातिप्रायम् अन्नम्—ज्ञातीन् बन्धून् प्रैति गच्छतीति। प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्** (मनु० ३।२६४)। **कर्त्रभिप्रायं क्रियाफलम्—कर्तारमभिप्रैतीति,** जो कर्ता को मिलता है। **कर्णम्=अरित्रं धारयतीति कर्णधारः।** नाविक। कर्ण नाम चप्पू का है। **सूत्रं धारयतीति सूत्रधारः।**

---

१. सृ स्थिरे (३।३।१७)। व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्(वा०)। इन्हें आचार्य ने भावे (३।३।१८), अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३।३।१९) इस अधिकार के सूत्रों से पूर्व पढ़ा है। हमने निरुपपद कर्तृकृत प्रत्ययों के अन्त में रख दिया है, जिससे प्रकरण-विच्छेद नहीं होता।

२. व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्। (वा०)

३. कर्मण्यण् (३।२।१)।

४. गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः।

कं शिरः पालयतीति कपालम्=खोपड़ी। पात्र-खण्ड में इसका उपचार से प्रयोग होता है। **आखून् हन्तीति आखुघातः**, चूहे मारने वाला। **कं शिरः पाटयति दारयति प्रविशत इति कपाटम्** = किवाड़। प्रवेश करते हुए के सिर को फोड़ देता है। इसलिए इसे 'कपाट' कहते हैं। **पाणिग्राहः=पाणि गृह्णातीति**, परिणेता, वर। **उदकं हरतीति उदहारः**, माशकी। यहाँ उदक को 'उद' आदेश विकल्प से होता है। पक्ष में **उदकहार** रूप भी रहेगा। **पारम् आवृणोतीति पारावारः**=समुद्र (जिसका पार छिपा रहता है)। यहाँ आङ्-पूर्वक वृ (ञ्) ढाँपना से अण् हुआ है। **स्थूललक्षः**=बहुदेयदर्शी। (मिताक्षरा)। **स्थूलं लक्षयतीति**। यहाँ उपधा में क् होने से वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं। **शस्त्राणि मार्ष्टीति शस्त्रमार्जः**, शस्त्रों को साफ करने वाला। यहाँ मृज् से अण् हुआ है। गुण के प्रसङ्ग में मृज् को वृद्धि होती है। **शस्त्राण्याजीवति शस्त्राजीवः**, आयुधीय, सैनिक, सिपाही, फौजी। **शृङ्गं प्राधान्यमियर्तीति शृङ्गारः**। अष्ट रसों में मुख्य रस। यहाँ शृङ्ग का अर्थ प्रधानता, मुख्यता है। 'ऋ' से अण् हुआ है। **रङ्गम् अवतरतीति रङ्गावतारः**=नटः। यहाँ रङ्ग =रंगस्थल, रंगमंच। अवपूर्वक तॄ से अण् हुआ है। **ओदनं पचतीति ओदनपाचः**। **अग्निम् इन्धे=अग्निमिन्धः**, अग्नि जलाने वाला। **भ्राष्ट्रम् इन्धे =भ्राष्ट्रमिन्धः**=भाट झोंकने वाला। इन दोनों प्रयोगों में अग्नि तथा भ्राष्ट्र को मुम् (म) आगम भी होता है।[1] **अश्वान् वारयतीति अश्ववारः**=घुड़सवार। **अश्वान् नयतीति अश्वनायः**, घोड़ों को हाँकता है। इसी प्रकार **गा नयतीति गोनायः** (छां० उ० ६।८।३)। **सार्थं वहतीति सार्थवाहः**, काफिले का अगुआ।[2] **रूपं तर्कयत इमि रूपतर्कः**, जवाहरी। **वृषान् मूषकान् दशतीति वृषदंशः**, बिडाल, बिल्ला। उपधा में न्'होने से वृद्धि नहीं हुई। नॄन् शंसतीति नृशंसः=क्रूर, धातुक। धातुओं के अनेकार्थ होने से यहाँ शंस् हिंसार्थक है। **सभां स्तृण्वन्ति सभास्ताराः सभासदः**। स्तृञ् आच्छादने। क्रियार्था क्रिया उपपद

१. भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे मुम् वक्तव्यः।

२. ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं शृणोति—इत्यादि में अण् नहीं होता, व्यवहार न होने से (अनभिधानात्)। गङ्गाधर, भूधर, जलधर, पयोधर आदि में कर्म की अविवक्षा करके शेषषष्ठयन्त का पचाद्यजन्त 'धर' के साथ षष्ठी तत्पुरुष होने से कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

(प्रविचित्ता नदीं राज्ञा...दाहारोऽभागतः (रा० २।६३।२६)।

होने पर धातुमात्र से भविष्यत् अर्थ में अण् होता है जब कर्म उपपद हो[1]—**काण्डलावो याति**=काण्डानि लविष्यामीति याति। यहाँ क्रियार्था क्रिया 'याति' =जाता है, है। धातु लू से अण् हुआ है। 'काण्ड' कर्म उपपद है। लवन (=काटना) क्रिया होने वाली है अतः भविष्यत्कालिका है। इसी प्रकार **यज्ञकारो गमिष्यामि**, यहाँ कृ से अण् हुआ। यज्ञं करिष्यतीति यज्ञकारः। **नास्तमिते समिद्धारो गच्छेत्** (आप० ध० १।४।१५)। सूर्यास्त होने पर समिधा लेने के लिये न जाय। यहाँ समिध् कर्म उपपद होने पर 'हृ' से अण् हुआ। **तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम्** (भा० विराट० १५।५)। सुरां हारयिष्यतीति सुराहारी। अण् होने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् हुआ। (

शील्, कम्, भक्ष्, आ-चर्—से कर्म उपपद होने पर ण प्रत्यय होता है[2]—**मांसशीलः। मांसशीला स्त्री। मांसं शीलयतीति**, मांस भक्षण जिस का शील है। **पुत्रकामः। पुत्रकामा स्त्री।** पुत्रं कामयत इति। **अब्भक्षः।** अप एव भक्षयति, जो जल का ही सेवन करता है। **वायुभक्षः**, जो वायु का ही भक्षण करता है। **कल्याणाचारः। कल्याणाचारा स्त्री। कल्याणमाचरतीति**, जो शुभ आचरण करता है।

ईक्ष् तथा क्षम् से भी वार्तिकानुसार ण होता है[3]—**सुखं प्रतीक्षते इति सुखप्रतीक्षः। सुखप्रतीक्षा स्त्री। बहु क्षमत इति बहुक्षमः पुरुषः। बहुक्षमा स्त्री। मुखप्रेक्षः=मुखं प्रेक्षत इति।** मुख की ओर देखने वाला। **यस्या मम मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमाः सदा** (भा० विराट० २०।१९)।

अण्—ह्वे, वेञ्, माङ्—इन ह्वे, वेञ् से जो उपदेशावस्था में ही आकारान्त बन जाती हैं तथा आकारान्त माङ् से कर्म उपपद होने पर अण् होता है वक्ष्यमाण 'क' नहीं।[4] सो यह 'क' का अपवाद है। **स्वर्गम् आह्वयति=स्वर्गाह्वायः**, जो स्वर्ग को बुलाता है। युक् आगम हुआ। **तन्तून् वयतीति तन्तुवायः**, जुलाहा। **तुन्नं सच्छिद्रं वयतीति तुन्नवायः**=सौचिक, दर्जी। अक्षरार्थ है—जो सच्छिद्र वस्त्र को धागों से बुनता है। प्राचीन काल

१. अण् कर्मणि च (३।३।१२)।
२. शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः (वा०)।
३. ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४. ह्वावामश्च (३।२।२)।

में वस्त्र युगल (चादर तथा शाटी) पहनने से दर्जी का इतना ही काम था। **धान्यं मिमीते इति धान्यमायः**। जो धान को मापता है, तोला।

क—आकारान्त अनुपसर्गक धातुओं से कर्म उपपद होने पर क (=अ)[1]—**गां ददातीति=गोदः। कम्बलं ददातीति कम्बलदः। पार्ष्णि त्रायत इति पार्ष्णित्रम्**। पार्ष्णि एड़ी को कहते हैं और सेना के पृष्ठ भाग को भी। **अङ्गुलिं त्रायत इत्यङ्गुलित्रम्**, अंगुलियों की रक्षा के लिये व्याध आदि जो चर्म हाथ पर पहनते हैं उसे अङ्गुलित्र कहते हैं। **अङ्गं शरीराङ्गं बाहुं दायति शोधयति भूषयतीति यावत्, तद् अङ्गदम्**=बाहुबन्द। यहाँ दैप् शोधने धातु है। एच्—अन्त धातु को उपदेशावस्था में ही 'आ' अन्तादेश हो जाता है। है। **बहु लाति गृह्णाति इति बहुलम्। नारं नरसमूहं द्यति कलहेन इति नारदः**। यहाँ दो अवखण्डने से 'क' हुआ है। अथर्ववेद में **नारं जलं ददाति** इस अर्थ में 'नारद' मेघ का वाचक है। यहाँ 'दा' से 'क' हुआ है। **स्तोकं कायतीति स्तोककः**=चातकः[2]। जो थोड़ा बोलता है। 'स्तोकक' चातक का नाम है। यहाँ 'कै' से क हुआ है। **श्रियं लातीति श्रीलम्। तद्भिन्नमश्लीलम्**। कपिलकादि होने से लत्व। **तस्मादप्यश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते** (श० ब्रा० ३।१।२।१६)। अश्लील=असुन्दर, भद्दा। अतः भद्दे को सुवस्त्राच्छादित देखना चाहते हैं। उपसर्ग होने पर आकारान्त से 'क' नहीं होगा, अण् होगा—**गाः सन्ददातीति गोसन्दायः**। युक् आगम। क्रियार्था क्रिया उपपद होने पर भविष्यत् अर्थ में उपसर्ग न होने पर भी अण् ही होगा—**गोदायो व्रजति**, गा दास्यामीति व्रजति। यहाँ क प्रत्यय करके गोद शब्द का प्रयोग असाधु होगा।[3] जिन आकारान्त धातुओं को सम्प्रसारण होता है उनसे 'क' की प्राप्ति के विषय में 'ड' होता है।[4] ड (=अ) होने से सम्प्रसारण रुक जाता

---

१. आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३)।
२. अथ शारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः (अमर)।
३. कर्मण्यण् से सामान्य-विहित अण् है ही, फिर जो दुबारा अण् विधान किया उसके सामर्थ्य से 'अण् कर्मणि च' ण्वुल् को भी बाधेगा और अण् के अपवाद-भूत 'क' को भी।
४. कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः (वा०)।

है कित् न होने से—**ब्रह्म वेदं जिनाति ग्लपयति क्षीणं करोति इति ब्रह्मज्यः**[1]। आ-ह्वे-**आह्वयते इत्याह्वः**। प्र-ह्वे-**प्रह्वयत इति प्रह्वः** (नम्र)। यहाँ सोपसर्गक ह्वे (ह्वा) से 'क' की प्राप्ति थी, पर धातु सम्प्रसारणी है, अतः 'क' न होकर 'ड' हुआ, जिससे सम्प्रसारण न हुआ।

सुबन्त उपपद होने पर आकारान्त धातुओं से कर्ता में 'क'[2]—**समे तिष्ठतीति समस्थः। विषमे तिष्ठतीति विषमस्थः**, जो संकट में है। **द्वाभ्यां मुखेन नासिकया च पिबतीति द्विपः** (हाथी)। **पादैर्मूलैः पिबतीति पादपः। आतपात् त्रायत इत्यातपत्रम्**(छाता)। **वर्षात् त्रायत इति वर्षत्रम्**(छाता)। **छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्** (रा० २।१०७।१८)। हे भरत, सूर्यातप को रोकने वाला छाता तेरे सिर पर शीतल छाया करे। **पुत् इति नरकस्याख्या, ततः पुतस्त्रायत इति पुत्रः। कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः।** कूट=निश्चल। कूट राशि को भी कहते हैं। **गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः। नद्यां स्नातीति नदीष्णः, कुशलः।** मुख्यार्थ नद्यवगाहनदक्ष, नदीस्नानकुशल था। **ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान्** (रघु० १६।७५)। औपचारिक अर्थ कुशलमात्र (किसी भी विषय में) हो गया—**अतिनदीष्णः कलासु**—(दश० कु०)। **किं किं दधातीति किष्किन्धा**, इस नाम की नगरी। पारस्कर आदि होने से सुट्। पृषोदरादि होने से किम् के म् का लोप।

स्था धातु से भाव में भी 'क' होता है। यह विधि 'सुपि स्थः' सूत्र का योगविभाग सुपि (आतः), स्थश्च करके प्राप्त होती है। **शलभानामुत्थानं शलभोत्थः**—टिड्डी दल का उठना। **आखूनामुत्थानम्=आखूत्थः**। चूहों का निकलना।

तुन्द और शोक कर्म उपपद होने पर क्रम से परिपूर्वक मृज् तथा अपपूर्वक नुद् से 'क' होता है यदि प्रत्ययान्त का अर्थ अलस (सुस्त) और सुखद हो[3]—**तुन्दं परिमार्ष्टि=तुन्दपरिमृजः**। तुन्द नाम तोंद का है। तोंद को पोंछने वाला, अर्थात् सुस्त। **शोकमपनुदतीति शोकापनुदः**, सुख देने वाला।

---

१. ज्या वयोहानौ यहाँ सकर्मक है, अर्थ 'जीर्ण करना' है। वेद में तो यह सर्वत्र सकर्मक है।

२. सुपि स्थः (३।२।४)।

३. तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (३।२।५)।

यदि ऐसा अर्थ न हो तो तुन्दपरिमार्जः (अण्) और शोकापनोदः (अण्) रूप होंगे। शोकापनोदः का अर्थ होगा 'जो शोक को दूर करता है', शोक को दूर करके सुख पहुँचाता है, ऐसा नहीं। संसार असार है इत्यादि उपदेश द्वारा केवल शोक को दूर करता है वह शोकापनोद है।

मूलविभुजादि

वार्तिककार का कहना है कि कुछ मूलविभुज आदि शिष्ट प्रयोग हैं वे भी 'क' प्रत्यय से सिद्ध होते हैं।[1] उनकी सिद्धि सूत्र द्वारा दुर्लभ है—**मूलानि विभुजति रथः=मूलविभुजः**, जो रथ वृक्षों की जड़ों को तोड़ देता है वह 'मूलविभुज' कहलाता है। **कौ पृथिव्यां मोदत इति कुमुदम्।** **कं जलम् अलति भूषयतीति कमलम्।** **नखान् मुञ्चन्ति नखमुचानि धनूंषि**=मुष्टेर्बहिर्भूतानि। **दायम् आदत्ते इति दायादः**=रिक्थहरः=अंशहरः, जो पिता आदि के धन का भागी बनता है। **कलाम् आदत्ते कलादः**, स्वर्णकार,जो सोने में से कला=अंश चुरा लेता है। **महीं धरतीति महीध्रः**=पर्वत। **कुं पृथ्वीं धरतीति कुध्रः**=पर्वत। **गोघ्नः=गावो हन्यन्तेऽस्मै। कृतं हन्ति कृतघ्नः**[2]। **शत्रुं हन्ति शत्रुघ्नः। अपो बिभर्ति अभ्रम्=बादल।** **शिरसि रोहतीति शिरोरुहः**, सिर का बाल। **सरसि रोहतीति सरोरुहम्**=कमल। लोकं **पृणाति पूरयति=लोकम्पृणः**। यहाँ लोक को मुम् (म्) आगम होता है। **काकगुहास्तिलाः। काकान् गूहन्ते इति काकगुहाः**, कौओं को छिपाने वाले। यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)। **स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ। प्रियमाचष्टे इति प्रियाख्यः। यस्मिञ् शतसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ। ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोयमुञ्छेन जीवति** (भाष्य)॥ प्रियाख्य=शुभ वार्ता कहने वाला, अच्छी खबर देने वाला। **सम्पतन्ति च मे शिष्याः प्रवृत्त्याख्याः पुरीमितः** (रा० ६।१२४।१६)।

प्र पूर्वक दा तथा ज्ञा से 'क' प्रत्यय होता है कर्म उपपद होने पर[3]—**सर्वं प्रददातीति सर्वप्रदः। पन्थानं प्रजानातीति पथिप्रज्ञः**, मार्ग जानने वाला। पर गोसम्प्रदायः (गां सम्प्रददातीति) यहाँ 'क' नहीं हुआ, अण् हुआ, कारण कि यहाँ केवल प्र उपसर्ग नहीं है, सम्प्र-दो उपसर्ग हैं।

---

१. कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
२. जो किये हुए (उपकार) को नहीं जानता उसे कृतघ्न कहते हैं।
३. प्रे दाज्ञः (३।२।६)।

सम्पूर्वक ख्याञ् (चक्षिङ् का आदेश) से 'क' प्रत्यय होता है कर्म उपपद होने पर[1]—**गाः संचष्टे इति गोसंख्यः** (गौओं को गिनता है)=गोप=ग्वाला।

टक्—गै (गा), तथा पा (पीना) से टक्[2]—**साम गायतीति सामगः। सुरां पिबतीति सुरापः।** स्त्री सुरापी। प्रत्यय के टित् होने से ङीप्। **सीधुं पिबतीति सीधुपः। स्त्री सीधुपी।** सीधु(पुं० नपुं०)=सुरा। 'पा'से यह प्रत्यय सुरा और सीधु के कर्मरूप उपपद होने पर ही होता है। अन्यत्र नहीं।[3] क्षीरपः। क्षीरपा ब्राह्मणी। 'क' प्रत्यय होने से टाप् हुआ। उपसर्ग होने पर **सामसंगायः**, साम गाने वाला यहाँ अण् हुआ है।

अच्—हृ से अच् हो जब उद्यमन=उत्क्षेपण, उठाना, फैंकना अर्थ न हो[4]—**अंशं हरतीति अंशहरः**=दायाद। **रिक्थं हरतीति रिक्थहरः।** जायदाद का भागी। उद्यमन अर्थ में तो **भारं हरतीति भारहारः**, अण् होगा। **स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।**

उद्यमन अर्थ में भी शक्ति, लाङ्गल, अङ्कुश, यष्टि, तोमर, घट, घटी, धनुष् उपपद होने पर ग्रह् से अच्[5]—शक्तिग्रह। **शक्तिं गृह्णातीति शक्तिग्रहः।** शक्ति=भाला। लाङ्गलग्रह। अङ्कुशग्रह। यष्टिग्रह। तोमरग्रह। घटग्रह। घटीग्रह। धनुर्ग्रह। सूत्र उपपद होने पर धारि धातु के अर्थ में ग्रह् से अच्[5]—**सूत्रं गृह्णाति धारयति इति सूत्रग्रहः।** धारण अर्थ न हो तो अण् होकर **सूत्रग्राह** प्रयोग होगा।

वय की प्रतीति होने पर हृ से अच्[6]—कवचहर। **कवचं हरतीति कवचहरः क्षत्रियकुमारः**, कवच पहनने योग्य शरीरावस्था को प्राप्त हुआ क्षत्रियकुमार। काल-कृत जो शरीर की यौवन आदि अवस्था होती है उसे 'वय' कहते हैं। **अस्थिहरः श्वा।**

---

१. समि ख्यः (३।२।७)।

२. गापोष्टक् (३।२।८)।

३. सुरासीध्वोः पिबतेरिति वक्तव्यम् (वा०)।

४. हरतेरनुद्यमनेऽच् (३।२।९)।

५. अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुःषु ग्रहेरुपसङ्ख्यानम् (वा०)। सूत्रे च धार्यर्थे (वा०)।

६. वयसि च (३।२।१०)।

आङ्पूर्वक हृ से अच्, जब धातुवाच्य क्रिया को कर्ता तच्छील होकर=स्वभाव से, करता है[१]—**पुष्पाण्याहरतीत्येवंशीलः=पुष्पाहरः**, जिसकी पुष्प लाने (कुसुमावचय) में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। ताच्छील्य न हो तो अण् निर्बाध होगा—भारम् आहरतीति भाराहारः। **समिध आहरतीति समिदाहारः। उदकमाहरतीति उदाहारः।** अर्ह् से अच्[२]—**पूजामर्हतीति पूजार्हा ब्राह्मणी। मधुपर्कमर्हतीति मधुपर्कार्ह आचार्यः।** अण् का अपवाद है। अण् होने पर स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् हो जाता है।

स्तम्ब, कर्ण—उपपद होने पर क्रम से रम्, व जप् से अच्[३]—**स्तम्बे गुल्मे रमत इति स्तम्बेरमः**=हाथी। स्तम्ब (पुं०) झाड़ी। **कर्णे जपतीति कर्णेजपः**=सूचक, पिशुन, चुगलखोर। इन प्रयोगों में सप्तमी का अलुक् रहता है। तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे होने पर पूर्व सप्तमी का लुक् नहीं होता, कहीं यथाप्राप्त होता भी है।

अधिकरण उपपद होने पर शीङ् से अच्[४]—**खे शेते इति खशयः।** खुली जगह=अनावृत आकाश में सोने वाला। **गर्ते शेत इति गर्तशयः।** गर्त=गढ़ा।

पार्श्व आदि तृतीयान्त उपपद होने पर भी[५]—**पार्श्वाभ्यां शेत इति पार्श्वशयः**, जो दक्षिण वा वाम पार्श्व से सोता है। **उदरेण शेते उदरशयः**, पेट के बल सोता है। **पृष्ठेन शेते पृष्ठशयः।** जो पीठ के बल सोता है।

कर्तृवाचक उत्तान आदि जब उपपद हो तो शीङ् से अच्[६]—**उत्तानः सन् शेते**, ऊपर को मुँह किए हुए सोता है। **उत्तानशयः शिशुः। अवमूर्धः सन् शेत इत्यवमूर्धशयः**, जो औंधे मुँह सोता है। **उत्तानशया देवा अवमूर्धशया मनुष्याः।**

ड—सप्तम्यन्त गिरि उपपद होने पर शीङ् से ड[७]। यह 'ड' प्रत्यय वेद

१. आङि ताच्छील्ये (३।२।११)।
२. अर्हः (३।२।१२)।
३. स्तम्बकर्णयो रमिजपोः (३।२।१३)।
४. अधिकरणे शेतेः (३।२।१५)।
५. पार्श्वादिषूपसङ्ख्यानम् (वा०)।
६. उत्तानादिषु कर्तृषु (वा०)।
७. गिरौ डश्छन्दसि (वा०)।

में ही देखा जाता है—**गिरौ शेत इति गिरिशः ।** प्रत्यय को डित् करने का यही एक प्रयोजन हो सकता है कि भसंज्ञ न होने पर भी अङ्ग की 'टि' का लोप होता है—गिरिश में 'शी' के 'ई' का लोप हुआ है। वेद से अन्यत्र अच् प्रत्यय होकर गिरिशय ऐसा रूप होना चाहिए। लोक में गिरिश शब्द काव्य-नाटकों में मिलता है—**गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी** (कुमार० १।६०)। वहाँ **गिरिर् अस्त्यस्य इति गिरिशः** इस प्रकार मत्वर्थीय 'श' प्रत्यय से व्युत्पत्ति करनी चाहिए।

ट—अधिकरण उपपद होने पर चर् से ट (अ) प्रत्यय होता है[1]—**कुरुषु चरतीति कुरुचरः । मद्रेषु चरतीति मद्रचरः ।** टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में कुरुचरी, मद्रचरी ऐसे ङीबन्त रूप बनेंगे।

भिक्षा (कर्म), सेना (कर्म) तथा आदाय (ल्यबन्त) के उपपद होने पर चर् से[2]—**भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः ।** चरन् भिक्षामर्जयतीत्यर्थः। **सेनां चरति=सेनाचरः ।** आदायचरः, लेकर चलता है।

पुरस्, अग्रतः, अग्रे—उपपद होने पर सृ से[3]—**पुरः सरतीति पुरःसरः,** जो आगे चलता है, अगुआ। **अग्रतःसरः । अग्रेसरः ।** स्त्रीलिङ्ग में पुरःसरी इत्यादि। सूत्र में 'अग्रे' सप्तम्यन्त पढ़ा है, अतः 'अग्रसर' अनुपपन्न होगा।

'पूर्व' जब कर्तृवाचक उपपद हो तो सृ से[4]—**पूर्वः सन् सरतीति पूर्वसरः** पुरःसरः, अगुआ। **पूर्वं देशं सरतीति पूर्वसारः ।** यहाँ 'पूर्व' कर्मवाची उपपद है, अतः अण् हुआ।

हेतु, ताच्छील्य (=तत्स्वभावता), आनुलोम्य (=अनुकूलता) के द्योत्य होने पर कृ से[5]—हेतु—**शोकं करोतीति शोककरी कन्या,** कन्या जो शोक का हेतु है। **यशस्करी विद्या । कुलंकरं धनम्,** धन कुलीनता का हेतु है। ताच्छील्य—**श्राद्धकरः सुतः । अर्थकरो वणिक् ।** आनुलोम्य—**वचनकरो भृत्यः ।** आज्ञापालन करने से अनुकूल नौकर।

---

१. चरेष्टः (३।२।१६)।
२. भिक्षासेनादायेषु च (३।२।१७)।
३. पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सरतेः (३।२।१८)।
४. पूर्वे कर्तरि (३।२।१९)।
५. कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३।२।२०)।

दिवा (अव्यय), विभा, निशा, प्रभा, भास् आदि उपपद होने पर कृ से[1]—**दिवा** (=दिने) **प्राणिनश्चेष्टायुक्तान् करोति इति दिवाकरः सूर्यः । विभां करोतीति विभाकरः । निशां करोतीति निशाकरः**, चाँद । **प्रभां करोतीति प्रभाकरः**, सूर्य । रामायण (२।११४।१०) में 'प्रभाकर' राम टीकाकार के अनुसार पद्मराग अर्थ में और कतक के अनुसार स्फटिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । **भाः करोतीति भास्करः**, सूर्य । यहाँ सकार निपातन किया है अतः विसर्ग (:) तथा जिह्वामूलीय (≍) नहीं होंगे । कार—**कारकरः** । कार=कर । अन्त—**अन्तकरः** । अनन्त—**अनन्तकरः** । आदि—**आदिकरः** । **बहुकरः**, झाड़ू देने वाला । नान्दी—**नान्दीकरः**, नान्दीपाठ करने वाला । किम्—**किङ्करः** । लिपि—**लिपिकरः**, लेखक, कायस्थ । लिबि (=लिपि)—**लिबिकरः** । बलि—**बलिकरः**, भेंट देने वाला । भक्ति—**भक्तिकरः** । कर्तृ—**कर्तृकरः**, कर्ता को प्रेरित करने वाला । चित्र—**चित्रकरः**, चित्र खेंचने वाला । क्षेत्र—**क्षेत्रकरः, क्षेत्रं करोति कृषति**, खेत पर हल चलाने वाला । एक—**एककरः** । **द्विकरः** । **त्रिकरः** । जङ्घा—**जङ्घाकरः** । बाहु—**बाहुकरः**, बाँह लगाने, जोड़ने वाला । अहन्—**अहस्करः**, सूर्य । यत्—**यत्करः** । तत्—**तत्करः** । धनुष्—**धनुष्करः**, धनुष बनाने वाला । अरुस् (घाव)—**अरुष्करः**, घाव कर देने वाला । अरुस् नपुं० है ।

वार्तिककार का कहना है कि किम्, यत्, तद्, बहु—इनके उपपद होने पर कृ से अच् हो,[2] ट न हो, जिससे स्त्रीलिंग में **किंकरा, तत्करा, बहुकरा** रूप हों । जातिलक्षण ङीष् भी नहीं होगा । हाँ पुंयोग में ङीष् निर्बाध होगा—**किंकरस्य स्त्री=किंकरी । बहुकरस्य स्त्री बहुकरी** ।

कर्म उपपद होने पर जब प्रत्ययान्त से भृति=वेतन प्रतीत हो, तो कृ से ट[3]—**कर्म करोति भृतः सन् इति कर्मकरः** । जो स्वतन्त्र रूप से अपना कर्म

---

१. दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्-काराऽन्तानन्तादि-बहु-नान्दी-किं-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षेत्र-संख्या-जंघा-बाह्व्-अहर्-यत्-तद्-धनुर्-अरुष्षु (३।२।२१) ।

२. कि यत्तदबहुष्वज्विधानम् (वा०) ।

३. कर्मणि भृतौ (३।२।२२) ।

करता है, वह कर्मकार होगा। औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होगा। कर्मकारस्तु तक्रियः (अमर)

अण्—शब्द, श्लोक, कलह, गाथा, वैर, चाटु, सूत्र, मन्त्र पद—इनके उपपद होने पर हेत्वादि की प्रतीति होने पर जो 'ट' प्राप्त होता है वह नहीं होता।[1] उत्सर्ग से प्राप्त अण् होता है—**शब्दं करोतीति शब्दकारः**, ध्वनि करने वाला। **श्लोककारोऽयं न काव्यकारः। अयं कलहकारः कुशं वा काशं वाऽऽलम्ब्य कलहं करोति।** कलह करना इसका स्वभाव है, किसी न किसी तुच्छ सी बात को हेतु बनाकर लड़ता है। **गाथां करोतीति गाथाकारः। वैरकार।** चाटुकार, खुशामद करने वाला। चाटु नपुं०=मधुर स्तुति का वचन। **सूत्रकार। अन्यो हि गणकारः, अन्यश्च सूत्रकारः।** (न्यास)। **मन्त्रकार। पदकार।** संहिता-पाठ को पृथक् पृथक् पदों में विभक्त करने वाला ऋषि। जैसे ऋग्वेद का पदकार शाकल्य ऋषि है।

इन्—स्तम्ब, शकृत् कर्म उपपद होने पर कृ से इन् (इ)[2]—**स्तम्बकरिर्व्रीहिः**, धान जो झाड़ को उत्पन्न करता है। **शकृत्करिर्वत्सः**, बच्चा जो टट्टी करता है। **न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते** (मुद्रा० १।३), धान झाड़ के रूप में उत्पन्न हो, यह बीज बोने वाले के गुणों पर निर्भर नहीं।

दृति, नाथ, इनके कर्मवाची उपपद होने पर हृ से इन् होता है जब हृ का कर्ता पशु हो[3]—**दृतिं हरतीति दृतिहरिः पशुः**, पशु जिसने खाल उठाई हुई है। दृति पुं० है। अन्यत्र उत्सर्ग-प्राप्त अण् होगा—**दृतिहारो मनुष्यः**, जो मशक उठा रहा है। नाथ=नुकेल। **नाथं नासारज्जुं हरतीति नाथहरिः क्रमेलकः**, ऊँट जिसके नुकेल है। नाथहार=जिस मनुष्य के नुकेल है। दास प्रथा की ओर संकेत है।

फलेग्रहि और आत्मम्भरि—ये इन्प्रत्ययान्त निपातन किये हैं।[4] **फलानि गृह्णातीति फलेग्रहिः**, फलवान् वृक्ष आदि। उपचार से **'फलेग्रहिर्यत्नः'** ऐसा भी प्रयोग निर्दोष होगा। **आत्मानं बिभर्तीति आत्मम्भरिः**, केवल अपने आप-

---

१. न शब्द-श्लोक-कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्र-पदेषु (३।२।२३)।
२. स्तम्बशकृतोरिन् (३।२।२४)।
३. हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ (३।२।२५)।
४. फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च (३।२।२६)।

को पुष्ट करने वाला। यहाँ सूत्र में जो 'च' पढ़ा है उससे उदरम्भरि, कुक्षिम्भरि प्रयोग भी संगृहीत हो जाते हैं। **भजन्त्यात्मम्भरित्वं हि दुर्गमेपि न साधवः** (कथा स० सा० २६।२२८)। **विरला एव त्वादृशा जगति जायन्ते येषां परार्थ एव स्वार्थः, आत्मम्भरयस्तु भूरयः,** तेरे जैसे जिनको दूसरों का प्रयोजन ही अपना प्रयोजन है जगत् में विरले ही उत्पन्न होते हैं, अपने आप को पुष्ट करने वाले तो बहुत हैं।

खश्—कर्म उपपद होने पर ण्यन्त एजि धातु से खश् (अ) होता है[1]—**अङ्गम् एजयतीति अङ्गमेजयः। जनमेजयः।** यहाँ उत्तरपद खिदन्त (खित्प्रत्ययान्त) है। अतः पूर्वपद अंग, जन को मुम् (म्) आगम हुआ है।[2]

वार्तिककार के अनुसार वात, शुनी, तिल, शर्ध के उपपद होने पर अज् (फेंकना), धेट् (चूसना, पीना), तुद् (बेंधना), हा (त्यागना) से क्रम से खश् होता है[3]—**वातम् अजतीति वातमजो मृगः,** अत्यन्त शीघ्रगामी मृग जो मानो वायु को फेंकता जाता है। **शुनीं** (कुत्ती को) **धयतीति शुनिन्धयः।** यहाँ ह्रस्व भी होता है।[4] **तिलान् तुदति पीडयति इति तिलन्तुदः,** तेली। **शर्धम्** (=**अपानवायु**) **जहातीति शर्धंजहः। शर्धंजहा माषाः,** माष खाए हुए अपानवायु को छुड़वाते हैं। यहाँ 'हा' ण्यन्त के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। प्रत्यय के खित् होने से सर्वत्र पूर्वपद को मुम् आगम हुआ है।

नासिका, स्तन के कर्मवाची उपपद होने पर ध्मा तथा धेट् से खश्[5]—**नासिकां धमति, धयति वा नासिकन्धमः, नासिकन्धयः।** यहाँ भी पूर्ववत् ह्रस्व हुआ। प्रत्यय के शित् होने से ध्मा को धम् आदेश हुआ। **स्तनं धयतीति स्तनन्धयः** (शिशु)। स्त्रीलिंग में **स्तनन्धयी।** धेट् के टित् होने से ङीप्।

नाडी, मुष्टि से भी[6]—**नाडिन्धमः** (नाडीं धमति), स्वर्णकार। जो धौंकनी धौंकता है। **नाडिन्धयः। मुष्टिन्धमः।** खश् प्रत्यय के शित् होने से

१. एजेः खश् (३।२।२८)।
२. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (६।३।६७)।
३. वात-शुनी-तिल-शर्धेष्वज-धेट्-तुद-जहातीनामुपसंख्यानम् (वा०)।
४. खित्यनव्ययस्य (६।३।६६)।
५. नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः (३।२।२९)।
६. नाडीमुष्टयोश्च (३।२।३०)।

सार्वधातुक हो जाने से ध्मा को धम् आदेश होता है। **मुष्टिन्धयः**, जो मुट्ठी को चूसता है जैसे बच्चा।

कूल कर्म उपपद होने पर उद् पूर्वक रुज्, वह्, से खश्[1]—**कूलमुद्रुजो रथः**, रथ जो किनारे को तोड़ देता है। **कूलम् उद्वहतीति कूलमुद्वहः**।

वह (=स्कन्ध, कन्धा), अभ्र उपपद होने पर लिह् से[2]—**वहं लेढीति वहंलिहो गौः**, बैल जो अपने कन्धे को चाटता है। **अभ्रं लेढीति अभ्रंलिहः प्रासादः**, महल जो बादलों को छू रहा है। खश् शित् अपित् है, अतः ङित्वत् होने से लघूपध गुण नहीं हुआ। लिह् अदादि है, अतः शप् का लुक् हुआ। बैल के कन्धे को 'वह' कहते हैं—**स्कन्धदेशस्त्वस्य वहः**—अमर।

परिमाण-विशेषवाची प्रस्थ आदि के उपपद होने पर पच् से[3]—**प्रस्थंपचा स्थाली**, बटलोई जिसमें एक प्रस्थमात्र चावल पकता है। **द्रोणम्पचः कटाहः**। द्रोणपरिमाणम् ओदनं पचति।

मित, नख कर्मवाची उपपद होने पर[4]—**मितम्पचा ब्राह्मणी**, ब्राह्मणी जो नाप तोल कर पकाती है। 'मितम्पच' शब्द कृपण का पर्याय हो गया है। अतः अमर का पाठ है—**कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः**। **नखंपचा यवागूः**। नखान् पचति, अत्युष्णत्वात्। जो बहुत गरम होने से नाखुनों को पका देती है।

विधु (चन्द्रमा), अरुस् (घाव) कर्मवाची उपपद होने पर तुद् से[5]—**विधुं तुदतीति विधुन्तुदः**, राहु। **अरूंषि व्रणान् तुदतीति अरुन्तुदः**। यहाँ संयोगान्त 'स्' का लोप हो जाता है। मुम् (म्) अरुस् के 'उ' के अनन्तर होता है।

असूर्य, ललाट के उपपद होने पर क्रम से दृश् तथा तप् से[6]—**सूर्यं न पश्यन्ति राजदाराः=असूर्यम्पश्याः**। रानियाँ जो इतना गुप्त रहती हैं कि सूर्य को भी नहीं देखतीं। प्रत्यय के शित् सार्वधातुक होने से दृश् को पश्य्

---

१. उदि कूले रुजिवहोः (३।२।३१)।
२. वहाभ्रे लिहः। (३।२।३२)।
३. परिमाणे पचः (३।२।३३)।
४. मितनखे च (३।२।३४)।
५. विध्वरुषोस्तुदः (३।२।३५)।
६. असूर्य-ललाटयोर्दृशितपोः (३।२।३६)।

आदेश । 'असूर्य' यह असमर्थ समास है, नञ् का क्रिया में अन्वय है। **ललाटं तपतीति ललाटन्तपः सूर्यः**, मध्याह्न का सूर्य जो सीधा मस्तक पर चमकता है।

उग्रम्पश्य, इरम्मद, पाणिन्धम[1]—ये खश् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। **उग्रं पश्यतीति उग्रम्पश्यः=घोरचक्षुः । इरया जलेन माद्यतीति इरम्मदो मेघ-ज्योतिः । पाणयो ध्मायन्त एषु इति पाणिन्धमाः पन्थानः**, ऐसे अन्धकारावृत मार्ग जिनमें सर्प आदि को परे हटाने के लिये तालियाँ बजाई जाती हैं। यहाँ अधिकरण में खश् निपातित हुआ है, कर्ता में प्राप्त था। कुछ लोग पाणि-न्धमाः पाचकाः ऐसा उदाहरण देते हैं और कर्ता में खश् समझते हैं। वृत्ति-कार से उनका विरोध है।

खच्—प्रिय, वश् उपपद होने पर वद् से खच्[2]—**प्रियं वदतीति प्रियं-वदः**, मीठा बोलने वाला। **वशम्** (=आयत्तम्) **वदतीति वशंवदः** । जो अपने को पराधीन, आज्ञाकारी कहता है। गम् से भी सुप् उपपद होने पर—**मित-ङ्गमो हस्ती । मितङ्गम** हाथी को कहते हैं।[3]

विहायसा गच्छतीति विहङ्गमः, पक्षी। यहाँ वार्तिक के अनुसार विहायस् को 'विह' आदेश भी होता है। खच् प्रत्यय यहाँ विकल्प से डित् माना जाता है[4]—**विहंगः । विहंगमः** । डित् होने से 'टि' का लोप हुआ। 'ड' प्रत्यय भी होता है और साथ ही विहायस् को 'विह' आदेश भी[5]—**विहगः** ।

द्विषत् (शत्रु) और पर कर्मवाची उपपद होने पर तापि (तप् णिच्) से खच्[6]। खच् परे रहते धातु को ह्रस्व होता है[7]—**द्विषन्तं तापयतीति द्विष-न्तपः** । संयोगान्त 'त्' का लोप हो जाता है। **परान् शत्रून् तापयतीति परन्तपः** । द्विषत् को 'मुम्' विशेष-विहित है।

वाच् उपपद होने पर यम् धातु से, जब प्रत्ययान्त से व्रतशास्त्र-विहित

---

१. उग्रम्पश्येरम्मद-पाणिन्धमाश्च (३।२।३७)।
२. प्रियवशे वदः खच् (३।२।३८)।
३. खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानम् (वा०)।
४. विहायसो विह च (वा०)। खच्च डिद्वद् वा वक्तव्यः (वा०)।
५. डे च विहायसो विहादेशो वक्तव्यः (वा०)।
६. द्विषत्परयोस्तापेः (३।२।३९)।
७. खचि ह्रस्वः (६।४।९४)।

नियम की प्रतीति हो[1]—**वाचं यच्छतीति वाचंयमो मुनिः**, मुनि जो मौन व्रत रखता है। अतः अमर '**वाचंयमो मुनिः**' इन्हें पर्याय-रूप से पढ़ता है। उपचार से अन्यत्र भी चुपमात्र अर्थ में भी 'वाचंयम' शब्द का प्रयोग होता है। **उपस्थिता देवी, तद्वाचंयमो भव** (विक्रम० ३)। **विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमाः** (भा० वि० ४।४२)। पृथिवी पर विद्वान् दूसरों की उक्तियों की सराहना में मौनी रहते हैं। हाँ **वाग्याम** (अण् प्रत्यय करके) उसे कहेंगे जो किसी कारण-वश वाणी को रोकता है, चुप रहता है। वाचंयम में वाच् के हलन्त होने से मुम् की प्राप्ति न थी, सो वाचंयम-पुरन्दरौ (६।३।६९) इस सूत्र से मुम् निपातन कर दिया है।

पुर् (स्त्री०), सर्व—उपपद होने पर क्रम से दारि (दॄ का ण्यन्त) तथा सह् से[2]—पुरो दारयतीति पुरन्दरः, इन्द्र। मुम् का निपातन बताया जा चुका है। सर्वान् सहते=प्रसहतेऽभिभवतीति **सर्वंसहो राजा**, जो राजा सब को अभिभूत कर लेता है। 'भग' उपपद होने पर भी[3]—भगन्दरो नाम रोगः।

सर्व, कूल, अभ्र, करीष[4]—इनके उपपद होने पर कष् से—सर्वंकष, जो सबको नष्ट कर दे। **सर्वंकषा भागवती भवितव्यतैव**, दैव (होनहार) सब कुछ मलियामेट कर देने वाला है। **कूलंकषा नदी**, नदी जो किनारे को तोड़ फोड़ देती है। **अभ्रंकषः** प्रासादः, महल जो बादलों से रगड़ खाता है। **करीषंकषा वात्या**, आँधी जो ओपलों को तोड़ फोड़ देती है। करीष=सूखा हुआ गोमय।

मेघ, ऋति, भय उपपद होने पर कृ से[5]—**मेघङ्करो वातः। ऋतिं पीडां करोतीति ऋतिंकरः। ऋतिंकरो व्यतिकरः**, दुःखदायक घटना। **भयं करोति**

---

१. वाचि यमो व्रते (३।२।४०)।
२. पूःसर्वयोर्दारि-सहोः (३।२।४१)।
३. भगे च दारेरिति वक्तव्यम् (वा०)।
४. सर्व-कूलाऽभ्र-करीषेषु कषः (३।२।४२)।
५. मेघर्ति-भयेषु कृञः (३।२।४३)।

जनयतीति भयङ्करोऽपचारः । अभय शब्द के उपपद होने पर भी[1]—**अभयं करो राजा** ।

क्षेम, प्रिय, मद्र[2]—इनके उपपद होने पर कृ से खच् हो, तथा अण् भी—**क्षेमंकर । क्षेमकार । प्रियङ्कर । प्रियकार । मद्रंकर । मद्रकार । मद्र =भद्र** । खच्-प्रत्ययान्त से स्त्रीत्व में टाप्—क्षेमंकरा वृत्तिः । अणन्त से ङीप्—क्षेमकारी ।

आशित (=तृप्त) उपपद होने पर भू धातु से, भाव वा करण में[3]—**आशितम्भवः**, तृप्त होना । 'आशित' में कर्ता में 'क्त' है, और तृप्त अर्थ है तथा ऋक् (१०।११७।१) में प्रयोग भी है—**उताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः । न सायम्प्रातराशितः** (मनु० ४।६२) यहाँ भी । करण में—**आशितम्भव ओदनः**, भात, जिससे तृप्त होता है ।

कर्म उपपद होने पर भृ, तृ, वृ, जि, धारि, सह्, तप्, दम्[4]—से, जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो—**विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरा पृथिवी । रथन्तरं साम । पतिंवरा कन्या । पतिं वृणुते इति । शत्रुञ्जयो हस्ती** । हस्ति-विशेष का नाम है । रामायण में प्रयोग भी है—**नागः शत्रुञ्जयो नाम मातुलो यं ददौ मम** (२।३२।१०) । **धनञ्जयः**, अर्जुन । **अरिन्दमो रुद्रः । अरीन् दाम्यतीति । युगं धारयतीति युगन्धरः**=पर्वतविशेष । युगन्धर उदयनमन्त्री यौगन्धरायण का गोत्र-कारक था । **शत्रुं सहः । शत्रुंतपः** । यदि संज्ञा नहीं होगी तो अण् होगा—**विश्वं बिभर्तीति विश्वभारः** ।

सुप् उपपद होने पर गम् से संज्ञा की प्रतीति होने पर[5]**सुतङ्गमो नाम कश्चित्** । गम् से खच् संज्ञा में विहित है पर असंज्ञा में भी देखा जाता है—**आसीनस्त्रिराचामेद् हृदयङ्गमाभिरद्भिः** (आप० ध० १।१६।२), बैठकर हृदय तक पहुँचने वाले जल से तीन बार आचमन करे । भाष्य में भी पाठ है—**त्रिर्हृदयंगमाभिरद्भिरशब्दाभिरुपस्पृशेत्** ।

---

१. उपपदविधौ भयादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति ।
२. क्षेम-प्रिय-मद्रेष्वण् च (३।२।४४) ।
३. आशिते भुवः करण-भावयोः (३।२।४५) ।
४. संज्ञायां भृ-तॄ-वृ-जि-धारि-सहि-तपि-दमः (३।२।४६) ।
५. गमश्च (३।२।४७) ।

ड—अन्त, अत्यन्त, अध्वन्, दूर, पार, सर्व, अनन्त[1]—इनके उपपद होने पर गम् से ड (अ) हो—**अन्तं गच्छतीति अन्तगः**। डित् होने से 'टि' का लोप। **अत्यन्तगः**। **अध्वगः**, यात्री, पथिक। **दूरगः**। **पारगः**। **वेदपारगः**, यहाँ षष्ठी समास होगा। **सर्वगः**। **अनन्तगः**।

'सर्वत्र' तथा 'पन्न'—इनके उपपद होने पर भी[2]—**सर्वत्रगः**। **पन्नगः**, साँप। **पन्नं पतितं यथा स्यात् तथा गच्छति**।

उरस् उपपद होने पर, स् का लोप भी[3]—**उरसा गच्छतीति उरगः**, सांप, जो छाती के बल चलता है।

सु तथा दुर् उपपद होने पर, अधिकरण कारक के अर्थ में (कृत् होने से कर्ता में प्राप्त था)[4]—**सुखं गम्यतेऽत्रेति सुगः समो देशः**। **दुःखं गम्यतेऽत्रेति दुर्गो विषमो देशः**। कर्म कारक के अर्थ में तो **सुगमः पन्थाः**, **दुर्गमः पन्था** (खल् प्रत्ययान्त) ऐसा प्रयोग होगा।

अन्यत्र (जहाँ विहित नहीं) भी गम् से 'ड' देखा जाता है[5]—**ग्रामगः**। **गुरुतल्पगः**। **कर्तृगं फलम्** (कर्तारं गच्छतीति)।

कर्म उपपद होने पर हन् से, आशिस् की प्रतीति होने पर[6]—**शत्रुं वध्यात् इति शत्रुहः**। डित् होने से टि-लोप।

क्लेश, तमस् के उपपद होने पर अपपूर्वक हन् से[7]—**क्लेशमपहन्ति क्लेशापहः पुत्रः**। **तमोऽपहन्ति तमोपहः सूर्यः**। यहाँ आशिस् अर्थ द्योत्य नहीं, अतः पृथक् विधान कर दिया। **अग्नीन्द्वर्कास्तमोपहाः**—अमर। **स्रगियं यदि जीवितापहा**(रघु० ८।४६)। यहाँ 'ड' की प्राप्ति न होने से क्विप् च(३।२।७६) से सार्वकालिक क्विप् हुआ है। ऋन्नेभ्यः (४।१।५) सूत्र से यहाँ ङीप् नहीं हुआ, कारण कि बह्वादिभ्यश्च (४।१।४५) सूत्र के गणपाठ में 'हन्' पढ़ा

---

१. अन्ताऽत्यन्ता-ध्व-दूर-पार-सर्वाऽनन्तेषु डः (३।२।४८)।
२. डप्रकरणे सर्वत्र-पन्नयोरुपसंख्यानम् (वा०)।
३. उरसो लोपश्च (वा०)।
४. सुदुरोरधिकरणे (वा०)।
५. ड-प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यत इति (वा०)।
६. आशिषि हनः (३।२।४९)।
७. अपे क्लेश-तमसोः (३।२।५०)।

है। बहु आदि से वैकल्पिक ङीष् विधान किया है, वह ङीप् को बाधता है। अतः ङीष् के अभाव में ङीप् नहीं होगा। टाप् होगा।

टक्—जाया, पति कर्मवाची उपपद होने पर हन् से, जब प्रत्ययान्त लक्षण-युक्त कर्ता को कहे[1]—**जायां हन्तीति जायाघ्नः** पुरुषः, ऐसा पुरुष जिसका अपनी स्त्री का हन्तृत्व सामुद्रिक रेखाओं से लक्षित है। **पतिघ्नी वृषली**। यहाँ कित् प्रत्यय टक् परे होने पर हन् की उपधा का लोप तथा अव्यवहित पर 'न्' होने से ह् को 'घ्' भी होता है।

जब हन् का कर्ता मनुष्य भिन्न हो तब भी[2]—**जायाघ्नस्तिलकालकः**, पत्नी को मार देने वाला लक्षण काला तिल। **पतिघ्नी पाणिरेखा**। **चौर-घातो हस्ती**—यहाँ अमनुष्यकर्तृक हन् होने पर टक् नहीं होता, औत्सर्गिक अण् होता है।

प्रलम्बघ्न, शत्रुघ्न, कृतघ्न, नैर्ऋतघ्न इत्यादि तो मूलविभुजादि होने से साधु हैं।

टक्—हस्तिन्, कपाट उपपद होने पर हन् से जब शक्ति द्योत्य हो[3]—**हस्तिनं हन्तुं शक्तः=हस्तिघ्नो मनुष्यः। कपाटं हन्तुं शक्तः कपाटघ्नश्चौरः**, चोर जो किवाड़ को तोड़ देता है।

क—'राजघ' ऐसा क प्रत्ययान्त निपातन किया है[4]। **राजानं हन्तीति राजघः**। टि लोप तथा घत्व निपातन किया है।

ख्युन्—अच्व्यन्त पर च्व्यर्थ में प्रयुक्त आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध, प्रिय—इन कर्मवाची उपपदों के होते हुए कृ धातु से करण कारक के अर्थ में ख्युन् (अन) प्रत्यय होता है।[5] खित् होने से मुम् का आगम होगा। यहाँ ख्युन् में 'यु' को अन आदेश होता है जैसे ल्युट् में 'यु' को होता है। 'न्' स्वरार्थ अनुबन्ध है। **अनाढ्यम् अनेन आढ्यं कुर्वन्तीत्याढ्यंकरणो**

---

१. लक्षणे जायापत्योष्टक् (३।२।५२)।

२. अमनुष्यकर्तृके च। (३।२५३)।

३. शक्तौ हस्तिकपाटयोः (३।२।५४)।

४. राजघ उपसंख्यानम् (वा०)।

५. आढ्य-सुभग-स्थूल-पलित-नग्नाऽन्ध-प्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् (३।२।५६)।

मन्त्रः, जिस मन्त्र के द्वारा जो पहले अनाढ्य (=धनहीन) था उसे आढ्य (=धनी) बनाया जाता है उसे 'आढ्यंकरण' कहते हैं। **रूपं गुणो वयस्त्याग इति सुभगंकरणम्** (कामसूत्र)। **सुभगंकरणं दानम्**, दान से कुरूप भी सुरूप बन जाता है। **स्थूलंकरणं घृतम्**। **पलितंकरणी जरा**, बुढ़ापा बालों को सफेद कर देता है। यहाँ वार्तिक के अनुसार स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् होता है। **नग्नंकरणं द्यूतम्**। **अन्धंकरणो मूत्रनिरोधः**, मूत्र को रोकना अन्धा कर देता है। **प्रियंकरणः शब्दप्रयोगः**, साधु शब्द का प्रयोग प्रयोक्ता को प्यारा बना देता है। च्वि प्रत्यय के प्रयोग में ख्युन् नहीं होगा—**आढ्यी कुर्वन्त्यनेन**, वाक्य ही रहेगा। 'अच्वौ' इस प्रतिषेध के सामर्थ्य से ख्युन् के अभाव में ल्युट् भी नहीं होगा, अतः **स्थूलीकरणमौषधम्** ऐसा प्रयोग असाधु ही है। यह वृत्तिकार का मत है। भाष्य का आशय लेते हुए कैयट का कहना है कि ल्युट् इष्ट है।

खिष्णुच्-खुकञ्—आढ्य आदि उपपद होने पर भू से खिष्णुच् (इष्णु) तथा खुकञ् (उक) प्रत्यय होते हैं कर्तृकारक के अर्थ में[1]—**अनाढ्य आढ्यो भवति आढ्यम्भविष्णुः। आढ्यम्भावुकः**। ञित् होने से धातु को वृद्धि। ऐसे ही दूसरे उपपदों के विषय में उदाहरण होते हैं।

क्विन्—उदक-भिन्न सुबन्त उपपद होने पर स्पृश् से क्विन् होता है।[2] क्विप् की तरह क्विन् का सर्वापहारी लोप हो जाता है। क्विन् प्रत्यय जिस धातु से हो उसको कुत्व अन्तादेश होता है[3]—**घृतं स्पृशति घृतस्पृक्। मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक्। जलेन स्पृशति जलस्पृक्**। पर **उदकं स्पृशति उदकस्पर्शः**। अण्।

ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश्, उष्णिह्, सोपपद अञ्च्, युज्, क्रुञ्च्—ये क्विन्प्रत्ययान्त निपातन किये हैं[4]—**ऋतौ यजति ऋतुं वा यजति ऋत्विक्**। क्विन् होने से कुत्व। **धृष्णोतीति दधृक्**=धृष्ट। **सृजन्त्येताम् इति स्रक्। दिशन्त्येताम् इति दिक्**। इन दोनों लक्ष्यों में कर्मकारक में क्विन् हुआ है।

---

१. कर्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ (३।२।५७)।
२. स्पृशोऽनुदके क्विन् (३।२।५८)।
३. क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२)।
४. ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्-दिग्-उष्णिग्-अञ्चु-युजि-क्रुञ्चां च (३।२।५९)।

उष्णिक् छन्दोविशेष का नाम है। उद् पूर्व स्निह् से क्विन्। अञ्च् गति व पूजा अर्थ में पढ़ा है। **प्राङ्**। क्विन् के कित् होने से अनुनासिक लोप, सर्वनाम स्थान परे होने पर नुम्, संयोगान्त लोप और क्विन्प्रत्यय-निमित्तक कुत्व। पूजा अर्थ में भी **प्राङ्**। **प्राञ्चतीति**। पूजा अर्थ में अनुनासिक न् (जो 'च्' के संयोग से ञ् हुआ है) का लोप नहीं होता। संयोगान्त 'च्' का लोप होता है। अनुनासिक लोपाभाव में सर्वनाम स्थान परे होने पर नुम् नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्यङ् आदि रूप होंगे। युज् व क्रुञ्च् केवल से क्विन् होता है—**युङ्**। **क्रुङ्**। सोपपद होने पर तो क्विप् होकर '**अश्वयुक्**' ऐसा रूप होगा।

कञ्, क्विन्—त्यद् आदि सर्वनामों के उपपद होने पर दृश् से कञ् (अ) होता है और क्विन् भी जब दर्शन (देखना) अर्थ न हो[1]—**त्यादृक्**। **त्यादृशः** (कञ्)। **तादृक्**। **तादृशः**। **यादृक्**। **यादृशः**। आलोचन (दर्शन) अर्थ होने पर तो तं **पश्यति तद्दर्शः** (अण्) ऐसा रूप होगा। वस्तुतः त्यादृक् आदि रूढ़ि शब्द हैं, इनमें दर्शन क्रिया कुछ भी नहीं। दृश्, दृश उत्तरपद होने पर सर्वनाम को 'आ' अन्तादेश हो जाता है।[2]

समान व अन्य उपपद होने पर भी कञ् तथा क्विन् होते हैं[3]—**सदृशः**। **सदृक्**। 'समान' को सभाव।

त्यद् आदि उपपद होने पर 'क्स' प्रत्यय भी होता है।[4] 'क्' इत्संज्ञक है। **त्यादृक्षः**। **तादृक्षः**।

क्विप्—सद्, सू, द्विष्, दुह्, द्रुह्, युज्, विद्, भिद्, छिद्, जि, नी, राज्—इनसे उपसर्ग-रूप अथवा अनुपसर्ग रूप सुबन्त उपपद होने पर क्विप् होता है[5]—**द्युसत्=दिवि सीदतीति**। द्युसत्=देव। **शुचिसत्**। **अन्तरिक्षसत्**। क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाता है। **अण्डं सूत इति अण्डसूः**। **प्रसूः=**

---

१. त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च (३।२।६०)।
२. आ सर्वनाम्नः (६।३।९१)।
३. समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४. दृशेः क्सश्च वक्तव्यः (वा०)।
५. सत्-सू-द्विष,-दुह-द्रुह-युज-विद-भिद-छिद-जि-नी-राजामुपसर्गेऽपि क्विप् (३।२।६१)।

जननी। आदादिक 'सू' का ग्रहण है। **मित्रद्विट्।** **मित्रं द्वेष्टीति।** **विशेषेण-द्वेष्टि विद्विट्।** **मित्राय द्रुह्यतीति मित्रध्रुक्। प्रध्रुक्। गां दोग्धीति गोधुक्। प्रधुक्। अश्वं युनक्तीति अश्वयुक्** = सारथि, अश्वारोह। **प्रयुक्। वेदवित्। वेदं वेत्तीति। वेदं विन्ते विचारयतीति वा। प्रवित्। प्रकर्षेण वेत्तीत्यादि। दुर्गभिद्-त्। प्रभित्। संशयच्छिद्। संशयं छिनत्ति। प्रच्छिद्। शत्रुजित्। विजित्। सेनानीः। सेनां नयतीति। ग्रामणीः। अग्रणीः। प्रणीः। प्रणयतीति। विराट्। विशेषेण राजत इति। सम्राट्** यहाँ 'सम्' के म् को 'म्' ही होता है अनुस्वार नहीं।[1]

'क्विप् च (३।२।७६) से सामान्य रूप से क्विप् विहित किया जायगा और अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३।२।१७८) से अन्य धातुओं से भी विधान किया जायगा, सो यह प्रकृत विधान उसका प्रपञ्चमात्र है।

ण्वि—भज् धातु से सुबन्त उपपद होने पर 'ण्वि'।[2] 'ण्वि' का सर्वापहारी लोप हो जाता है। ण् वृद्धि के लिए है—**अंशं भजत इत्यंशभाक्। दोषभाक्। प्रभाक्।** इनमें पदान्त चवर्ग को कवर्ग होता है[3] इस विधि से कुत्व हुआ है।

विट्—'अन्न' से भिन्न उपपद होने पर अद् से[4]—**आमम्** (कच्चा) **अत्तीति आमात्। सस्यम् अत्तीति सस्यात्।** विट् का क्विप् की तरह सर्वापहारी लोप हो जाता है। अन्न उपपद होने पर तो अण् होकर '**अन्नाद**' ऐसा रूप होगा।

कणम् (**कणान्** वा) **अत्तीति कणादः।** यहाँ इस सूत्र से तो विट् होना चाहिए था, क्योंकि 'कण' अन्नवाची शब्द नहीं है। पर इस प्रकरण में असरूप (=असमानरूप) अपवाद प्रत्यय स्त्र्यधिकार को छोड़कर उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है[5] इस विशेष विधान से अण् (उत्सर्ग) भी हो जायगा।

विट्—'क्रव्य' उपपद होने पर भी विट्[6]—**क्रव्यम्=आममांसम् अत्तीति**

---

१. मो राजि समः क्वौ (८।२।२५)।
२. भजो ण्विः (३।२।६२)।
३. चोः कुः (८।२।३०)।
४. अदोऽनन्ने (३।२।६८)।
५. वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)।
६. क्रव्ये च (३।२।६९)।

क्रव्याद्-त्। **क्रव्याद** (अरणन्त) जो प्रयोग मिलता है उसका समाधान यह है कि कृत्त (काटा हुआ), विकृत्त अच्छी तरह काटा हुआ पक्व मांस खाने वाले को क्रव्याद कहते हैं। 'कृत्तविकृत्त' शब्द को पृषोदरादि होने से 'क्रव्य' आदेश होता है और अद् से अण्।

कप्—सुबन्त उपपद होने पर दुह् से कप् प्रत्यय और दुह् के 'ह्' को घ[1]—**कामान् दोग्धि=कामदुधा गौः। कामं कामदुघे धुक्ष्व** (वा० सं० १२।७२)। **अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनाम्** (किरात० ३।६)। प्रत्यय के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ।

मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच्—सुबन्त (चाहे उपसर्ग हो चाहे अनुपसर्ग) उपपद होने पर आकारान्त धातु से मनिन् (मन्), क्वनिप् (वन्), वनिप् (वन्) तथा विच् प्रत्यय होते हैं[2]—यह छान्दस सूत्र है, अतः इसके उदाहरण नहीं दिए जाते। हाँ लोक में अनाकारान्त धातुओं से उपपद होने पर अथवा उपपद न होते हुए भी ये मनिन् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं—मनिन्—**सुशर्मा। सुष्ठु शृणाति हिनस्ति।** शॄ से मनिन्। **अशर्मा—न शृणातीति,** अहिंसक। **अनग्निरनिकेतः स्याद् अशर्मा** (बौधायन ध० सू० २।१०।२५)। क्वनिप्—प्रातरित्वन्, प्रातः जाने वाला। **प्रातरित्वा रथः।** इण् गतौ से क्वनिप्। प्रत्यय के कित् होने से तुक् आगम हुआ। वनिप्—**विजावा**[3], **विजायत** इति। जन् से वनिप्। विट् और वन् (क्वनिप्, वनिप्) परे होने पर धातु के अनुनासिक को 'आ'। **अग्रेगावा अग्रे गच्छतीति।** गम् से वनिप्। अवावा—**अोणतीति।** ओण् (ओणृ अपनयने) से वनिप्। अवादेश। अवावा=चोर। विच्—**रेडसि पर्णं नयेः** (वा० सं० ६।१८)। यहाँ केवल रिष् से विच् हुआ है। विच् का क्विप् की तरह सर्वापहारी लोप हो जाता है। पामन्—पै धातु से मनिन्। **पायति शोषयतीति पामा**=गीली खुजली। सु पूर्वक तॄ से मनिन्—**सुतर्मा। वाग्वै सुतर्मा नौः** (देवराज यज्वा के निघण्टु भाष्य में उद्धृत ब्राह्मणवचन)। **सुष्ठु ददातीति सुदामा।**

क्विप्—सब धातुओं से सोपपद हों अथवा निरुपपद, लोक में तथा वेद

१. दुहः कब्घश्च (३।२।७०)।
२. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५)।
३. विड्वनोरनुनासिकस्यात् (६।४।४१)।

में क्विप् प्रत्यय होता है—**गरं गिरतीति गरगीः**, विषभुक्, विष खाने वाला। **गिरतीति गीः**, वाणी। **पृणातीति पूः। वाहाद् भ्रंशत इति वाहभ्रट्**, वाहन से गिरने वाला। **आर्यान् शास्तीति आर्यशीः**। उपधा को इत्व[1]। शासु अनुशिष्टौ। **आशीः**। आङः शासु इच्छायाम् यहाँ भी उपधा को इत्। **तनुं छादयतीति तनुच्छत्**। छादि चुरादि ण्यन्त को ह्रस्व।[2] **उदकेन श्वयति वर्धत इति उदश्वित्** (नपुं०) लस्सी। **चर्म वस्ते परिधत्त इति चर्मवः** पुरुषः। धातु का अस् होने से दीर्घ नहीं हुआ। **सुष्ठु शृणोतीति सुश्रुत्। सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्** (पा० गृ० २।३।१९), कानों से अच्छा सुनने वाला होऊँ। **प्रताम्यतीति प्रतान्**=क्षीण। **प्रशाम्यतीति प्रशान्**=प्रशान्त। यहाँ क्विप् परे रहते धातु की उपधा को दीर्घ हुआ है। मो नो धातोः (८।२।६४) से धातु के 'म्' को न् भी। **अंगान् गच्छति अंगगत्। कलिंगान् गच्छतीति कलिंगगत्**। यहाँ गमः क्वौ (६।४।४०) से गम् के 'म्' का लोप होता है। क्विप् पित् कृत् प्रत्यय है अतः ह्रस्व (गम् के मकार का लोप होने पर) ग को तुक् (त्) आगम होता है। **उखायाः स्रंसत इत्युखास्रत्** उखा नाम के यज्ञपात्र से गिरने वाला। **पर्णाद् ध्वंसत इति पर्णध्वत्**, पत्ते से गिरने वाला। यहाँ दोनों स्थलों में क्विप् से कित् होने से उपधा अनुनासिक का लोप हुआ है।[3] और स्रंस् तथा ध्वंस् के 'स्' को 'द्' होता है[4]।

णिनि—अजातिवाची सुबन्त उपपद होने पर और ताच्छील्य (तत्स्वभावता) के गम्यमान होने पर धातुमात्र से णिनि प्रत्यय होता है[5]—**उष्णं भोक्तुं शीलमस्य=उष्णभोजी। शीतं भुङ्क्ते इत्येवंशीलः शीतभोजी**। प्रतिपादिक रूप—उष्णभोजिन्, शीतभोजिन् है। **बहु दातुं शीलमस्येति बहुदायी। पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी** (गौ० ध० १।२।२६), गुरु से पहले उठने वाला तथा पीछे सोने वाला (ब्रह्मचारी)। **मन्दम् अकितुं शीलमस्या इति मन्दाकिनी**, स्वर्गङ्गा। **समं सर्वेषु वर्तत इत्येवंशीलः समवर्ती**=यम। **युवमारिणस्तु भवन्ति=युवान एव म्रियन्त इत्येवंशीलाः** (आप० ध०

---

१. क्वौ च शास इत्वं भवतीति वक्तव्यम् (वा०)।
२. (छादेः) इस्मन्-त्रन्-क्विषु च (६।४।९७)।
३. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४)।
४. वसु-स्रंसु-ध्वंस्वनडुहां दः (८।२।७२)।
५. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३।२।७८)।

२।१६।१६)। **सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणीर्गर्भिणीः स्त्रियः** (मनु० ३।११४)। **सुवासिनीः =शोभनं वसितुं शीलं यासां ताः**= नवोढाः (द्वितीया बहु०)। वस् पहनने अर्थ वाली अदादि धातु से णिनि। **न श्चावयत्यात्मानम् इत्यश्चावी क्विप् प्रत्ययः।** जब शील अर्थ न होगा तो णिनि न होगा—उष्णं भुङ्क्ते कदाचित्। यहाँ वाक्य ही रहेगा। यहाँ वृत्तिकार का कहना है कि सूत्र में सुप् से उपसर्ग भिन्न सुप् विवक्षित है, पर यह भाष्य के विरुद्ध है। केवल उपसर्ग उपपद होने पर भी णिनि निर्बाध होगा। ऐसा मानने से ही—**न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः** किरात), **स बभूवोपजीविनाम्** (रघु०), **पतत्यधो धाम विसारि** (माघ)—इत्यादि कवि प्रयोग साधु होंगे। भाष्य में प्रत्यासारिण्यः, उदासारिण्यः ऐसे णिनिप्रत्ययान्त पढ़े हैं। उत्प्रतिभ्यामाङि सर्तेरुपसंख्यानम् यह वृत्तिकार-पठित वार्तिक नहीं पढ़ा। **साधुकारी। साधुदायी**—यहाँ ताच्छील्य न होने पर भी वार्तिककार के अनुसार णिनि हुआ है[1]। ऐसे ही ब्रह्म वदतीति **ब्रह्मवादी** यहाँ भी।[2]

कर्तृवाची उपमान उपपद होने पर धातुमात्र से णिनि[3]—**द्विरद इव गच्छति द्विरदगामी,** हाथी की तरह चलने वाला। **उष्ट्र इव क्रोशति उष्ट्रक्रोशी,** ऊँट की तरह चिल्लाने वाला। **ध्वाङ्क्ष इव रौति ध्वाङ्क्षरावी,** कौए की तरह शोर करने वाला। यहाँ प्रत्यय के णित् होने से धातु को वृद्धि हुई। इन उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि उपपदार्थ-रूप कर्ता प्रत्ययार्थ-रूप कर्ता का उपमान है। णिनि कृत् होने से कर्ता को कहता है।

सुबन्त उपपद होने पर 'व्रत' (शास्त्र नियम) की प्रतीति होने पर धातुमात्र से णिनि[4]—**स्थण्डिले शेत इति व्रतमस्य स्थण्डिलशायी,** फर्श पर सोने वाला, ऐसा उसका व्रत है। खाट पर सोना उसके लिए निषिद्ध है। **अश्राद्धं भुङ्क्ते, तदस्य व्रतम्,** जिसे श्राद्ध से अतिरिक्त ही भोजन करना है। यदि व्रत की प्रतीति न होगी तो णिनि नहीं होगा—**स्थण्डिले शेते देवदत्तः खट्वाऽस्य नास्तीति।** यहाँ वाक्य ही रहेगा। प्रकृत उदाहरणों में व्रत की प्रतीति

---

१. साधुकारिणि च (वा०)।
२. ब्रह्मणि वदः (वा०)।
३. कर्तर्युपमाने (३।२।७९)।
४. व्रते (३।२।८०)।

धातु, उपपद, प्रत्यय—इन तीनों के समुदाय से होती है ।

णिनि—सुबन्त उपपद होने पर धातुमात्र से बहुलतया णिनि प्रत्यय होता है क्रिया की अभीक्ष्णता (=आवृत्ति, बार-बार प्रवृत्ति) गम्यमान होने पर[1]—**कषायम् अभीक्ष्णं पिबन्ति इति कषायपायिणो गान्धाराः**, गान्धार के लोग प्रायः काढ़ा पीते हैं । **क्षीरम् अभीक्ष्णं पिबन्ति इति क्षीरपायिण उशीनराः**, उशीनर देश के लोग बहुत बार दूध पीते हैं । **सौवीरम् अभीक्ष्णं पिबन्ति बाह्लीका इति सौवीरपायिणः** । सौवीर=काँजी । सूत्र में बहुल ग्रहण से कहीं णिनि नहीं भी होता—**कुल्माषानभीक्ष्णं खादतीति कुल्माषखादः** (अण्) ।

सुबन्त उपपद होने पर दिवादि मन् से[2]—**दर्शनीयं मन्यत इति दर्शनीयमानी** । **दर्शनीयमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्तः**, यज्ञदत्त देवदत्त को सुन्दर मानता है । **दर्शनीयमानी अयमस्याः**, यह इस स्त्री को सुन्दर मानता है । यहाँ 'दर्शनीया' को पुंवद्भाव होता है । **दर्शनीयमानिनीयमस्याः**, यहाँ भी ।[3]

णिनि, खश्—यदि मन् (दिवा०) का जो कर्ता वही पण्डितत्वादि विशिष्ट रूप से कर्म हो तो उस कर्म के उपपद होने पर मन् से 'खश्' भी हो और पूर्वप्राप्त णिनि भी[4]—**पण्डितमात्मानं मन्यत इति पण्डितम्मन्यः** (खश्) । मुम् आगम । **पण्डितमानी** (णिनि) । **दर्शनीयमात्मानं मन्यत इति दर्शनीयंमन्यः** । **दर्शनीयमानी** । **शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः** (रा० ३।२१।१७) । **कालीं दुर्गाम् आत्मानं मन्यत इति कालिम्मन्या** । यहाँ पूर्वपद (जो अव्यय भिन्न है) को ह्रस्व हुआ है ।[5] पुंवद्भाव प्राप्त था ।[6] ह्रस्वविधि पर है अतः ह्रस्व हुआ । **दिवामन्या रात्रिः**, रात जो अधिक प्रकाश के कारण अपने को दिन समझती है । यहाँ दिवा के अव्यय होने से न तो मुम् हुआ, और न ही ह्रस्व ।

---

१. बहुलमाभीक्ष्ण्ये (३।२।८१) ।
२. मनः (३।२।८२) ।
३. क्यङ्मानिनोश्च (६।३।३६) ।
४. आत्ममाने खश्च (३।२।८३) ।
५. खित्यनव्ययस्य (६।३।३६) ।
६. स्त्रियाः पुंवत्० (६।३।३४) ।

गाम् आत्मानं मन्यत इति गाम्मन्यः, जो अपने को बैल समझता है। यहाँ 'गो' उपपद है। खिदन्त (खश् प्रत्ययान्त) उत्तरपद 'मन्य' परे होने पर अम् आगम हुआ है यथाप्राप्त मुम् नहीं। यहाँ उपपद इच् प्रत्याहारान्तर्गत ओकारान्त है। 'अम्' के लिए एकाच् इजन्त उपपद चाहिए वैसा ही 'गो'शब्द है। साथ ही इस 'अम्' को द्वितीया विभक्ति अन् माना जाता है।[1] तभी तो 'गो' के ओ को 'आ' हुआ है। इसी प्रकार **स्त्रियमात्मानं मन्यतेऽयं कुमारः केशकः** (केशों के संवारने में लगा हुआ) **इति स्त्रियम्मन्यः, स्त्रीमन्यः।** इयङ् विकल्प से हुआ। **श्रियमात्मानं मन्यते श्रिमन्यं कुलम्।** यहाँ भाष्यकार वचन से 'श्री' को ह्रस्व हुआ है। न मुम् और न अम्।

णिनि—करणवाची सुबन्त उपपद होने पर यज् धातु से भूतकाल में णिनि होता है[2]—**अग्निष्टोमेन इष्टवान् = अग्निष्टोमयाजी,** जो अग्निष्टोम नाम का याग कर चुका है। अग्निष्टोम स्वर्ग-रूप फल की उत्पत्ति में करण माना जाता है। **अग्निष्टोमेन** यजेत स्वर्गकामः=अग्निष्टोमेन यागेन स्वर्गं भावयेत्।

कर्म उपपद होने पर कुत्सा (निन्दा) गम्यमान होने पर[3]—हन् धातु से भूतकाल में—**पितृव्यं** हतवान् **इति** पितृव्यघाती। **मातुलं हतवान् इति मातुलघाती।** प्रत्यय के णित् होने से ह् को घ्।

क्विप्—ब्रह्मन्, भ्रूण (गर्भ), वृत्र—इन कर्मवाची उपपदों के होते हुए हन् धातु से भूतकाल में क्विप् होता है।[4] यह सूत्र नियमार्थ है कारण कि सामान्यतः धातुमात्र से क्विप् का विधान किया जा चुका है। काशिका वृत्ति के अनुसार यहाँ चार प्रकार का नियम इष्ट है। १—ब्रह्मादि ही के उपपद होने पर हन् धातु से, कोई और उपपद होगा, तो नहीं। पुरुषं हतवान्—यहाँ क्विप् नहीं होता। २—ब्रह्मादि उपपद होने पर हन् धातु से ही क्विप् हो किसी अन्य धातु से नहीं। ब्रह्माधीतवान्—यहाँ नहीं होगा। ३—ब्रह्मादि उपपद होने पर हन् धातु से भूतकाल में क्विप् ही हो, कोई दूसरा प्रत्यय न हो। ४—भूतकाल में ही क्विप् हो, वर्तमान, भविष्यत् में नहीं—ब्रह्माणं

---

१. इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च (६।३।६८)।
२. करणे यजः (३।२।८५)।
३. कर्मणि हनः (३।२।८६)। कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम् (वा०)।
४. ब्रह्म-भ्रूण-वृत्रेषु क्विप् (३।२।८७)।

हन्ति हनिष्यति—यहाँ क्विप् नहीं होगा। सूत्र के उदाहरण हैं—**ब्रह्महा** (ब्रह्महाणौ, ब्रह्महाणः), **भ्रूणहा** (गर्भपाती), षडङ्ग-वेद-वित् ब्राह्मण को भी 'भ्रूण' कहते हैं। वृत्रहा (इन्द्र)। **ब्रह्माणं हतवान् इति ब्रह्महा** इत्यादि विग्रह जानो। ब्रह्महणौ ब्रह्महणः

सु, कर्मन्, पाप, मन्त्र, पुण्य[1]—इनके उपपद होने पर कृञ् से क्विप्। यह भी नियमार्थ है। यहाँ तीन प्रकार का नियम है। **सुकृत्=शोभनं कृतवान्। कर्मकृत्। पापकृत्। मन्त्रकृत्। मन्त्रं कृतवान् मन्त्रकृद् ऋषिः। पुण्यकृत्=पुण्यं कृतवान्।** सु आदि ही उपपद हों ऐसा नियम न होने से **शास्त्रकृत्, भाष्यकृत्** ऐसे प्रयोग भी साधु हैं। भूत में ही क्विप् हो ऐसा नियम होने से मन्त्रं करोति करिष्यति वा—यहाँ क्विप् नहीं होगा।

सोम कर्म उपपद होने पर सु (षुञ् अभिषवे) से क्विप्[2]—**सोमसुत्=सोमं सुतवान्**, जिसने सोम रस निकाला है। यह भी नियमार्थ है।

अग्नि कर्म उपपद होने पर चिञ् से[3]। यहाँ भी चार प्रकार का नियम है—**अग्निं चितवान् अग्निचित्।**

कर्म उपपद होने पर चि धातु से कर्मकारक के अर्थ में क्विप् होता है जब धातु, उपपद, प्रत्यय के समुदाय से अग्निविशेष का बोध हो[4]—**श्येन इव चीयत इति श्येनचित्। कङ्कचित्।** अग्नि के लिए इष्टकाओं का जो चयन विशेष उसको यहाँ श्येनचित् कहा है।

इनि—कर्म उपपद होने पर विपूर्वक क्री धातु से इनि (इन्) प्रत्यय होता है जब कर्म कर्ता की कुत्सा का निमित्त हो[5]—**सोमं विक्रीतवान् इति सोमविक्रयी।** सोम का विक्रय शास्त्र-निषिद्ध होने से कर्ता की निन्दा होती है। ऐसे **रसं विक्रीतवान् रसविक्रयी।** यहाँ भी। अन्यत्र धान्यं विक्रीतवान् धान्यं विक्रीणीत इति धान्यविक्रायः। अण्।

---

१. सु-कर्म-पाप-मन्त्र-पुण्येषु कृञः (३।२।८९)।
२. सोमे सुञः (३।२।९०)।
३. अग्नौ चेः (३।२।९१)।
४. कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (३।२।९२)।
५. कर्मणीनि विक्रियः (३।२।९३)।

क्वनिप्—कर्म उपपद होने पर दृश् धातु से भूतकाल में[1]—**शास्त्रं दृष्टवान् इति शास्त्रदृश्वा।** प्रत्यय के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ। **पारदृश्वा। शास्त्रदृश्वा।** शास्त्रदृश्वानौ। शास्त्रदृश्वानः। स्त्रीत्व विवक्षा में **शास्त्रदृश्वरी।** वनो र च (४।१।७) से '**न्**' को र् तथा ङीप् प्रत्यय।

अन्य अनाकारन्त धातुओं से भी क्वनिप् आदि होते हैं ऐसा वचन पहले पढ़ा है तो क्वनिप् सिद्ध ही था। फिर भी क्वनिप् विधान इसलिए किया है कि दूसरा प्रत्यय न हो।

राजन् कर्म उपपद होने पर युध्, कृञ् से भूत में क्वनिप्[2]—**राजानं योधितवान् राजयुध्वा।** यहाँ युध् जो अकर्मक है ण्यर्थ को अन्तर्भावित किए प्रयुक्त हुआ है, अतः सकर्मक होने से कर्म उपपद उपपन्न ही है। **राजानं कृतवान् राजकृत्वा।**

क्वनिप्—सह शब्द उपपद होने पर भी[3]—**सहयुध्वा।**

ड—सप्तम्यन्त उपपद होने पर जन् धातु से ड (अ) प्रत्यय होता है[4]—**सरसि जातं सरसिजं कमलम्।** डित्त्व सामर्थ्य से जो अङ्ग भसंज्ञक न भी हो, उसके 'टि' भाग का लोप हो जाता है, अन्यथा डित् करना व्यर्थ हो जाएगा। **मन्दुरायाम् = अश्वशालायां जातः = मन्दुरजः।** संज्ञा होने से पूर्वपद को ह्रस्व हो गया।

जातिवर्जित पञ्चम्यन्त उपपद होने पर जन् से[5]—**बुद्धेर्जात इति बुद्धिजो भेदः। संस्काराद् जातः = संस्कारजोऽस्य शोभातिशयो न सहजः,** इसकी प्रकृष्ट शोभा परिष्कार से बनी है, स्वाभाविक नहीं। **विश्लेषजं दुःखम्,** वियोग से उत्पन्न हुआ दुख। **दुःखजो निर्वेदः।** दुख से उत्पन्न हुई निराशा। हस्तिनो जातः। अश्वाज्जातः। यहाँ पञ्चम्यन्त के जातिवाचक होने से 'ड' नहीं होगा।

---

१. दृशेः क्वनिप् (३।२।९४)।
२. राजनि युधिकृञः (३।२।९५)।
३. सहे च (३।२।९६)।
४. सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७)।
५. पञ्चम्यामजातौ (३।२।९८)।

उपसर्ग उपपद होने पर संज्ञाविषय में जन् से[1]—**प्रजा**। **प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि** (रघु०)।

अनुपूर्व जन् से ड, कर्म उपपद होने पर[2]—**पुमांसमनुजातः=पुमनुजः**, जो पुत्र के पीछे जन्मा है। **स्त्र्यनुजः, स्त्रियमनुजातः**=जो लड़की के जन्म के पीछे उत्पन्न हुआ है। यहाँ अनुपूर्वक जन् सकर्मक है। **'अनुरुध्य'** आदि ल्यबन्त की कुछ भी अपेक्षा नहीं।

अन्य उपपदों के रहते, अन्य (कर्तृभिन्न) कारकों के अर्थ में और अन्य (जन् से भिन्न) धातुओं से भी ड प्रत्यय देखा जाता है।[3] **न जायत इत्यजः**। यहाँ नञ् उपपद है। **द्विर्जाताः=द्विजाः**। पञ्चम्यन्त जातिवाचक हो तो भी ड प्रत्यय होता है—**ब्राह्मणजो धर्मः**। **क्षत्रियजं युद्धम्**। उपसर्ग उपपद होने पर असंज्ञा में भी—अभिजाः, **परिजाः केशाः**। अभिजाताः। परिजाताः। अनुपूर्वक जन से कर्म उपपद होने पर 'ड' का विधान किया गया है, पर कर्म के अभाव में भी 'ड' देखा जाता है—**अनुजातः=अनुजः**, छोटा भाई। जन् से भिन्न धातु से भी—परितः खाता=**परिखा**। यहाँ परि उपपद होने पर कर्मोपपद के अभाव में भी खन् से ड हुआ।

ङ्वनिप्—सु (षुञ् अभिषवे) से तथा यज् से ङ्वनिप् (वन्) प्रत्यय होता है—**सुत्वा**, जो सोमरस-निष्पादन कर चुका है, अथवा सोमयाग कर चुका है।[4] प्रत्यय के ङित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ। पित् होने से तुक् आगम हुआ है। यज्—**यज्वा** (यज्वानौ, यज्वानः)। यज्वा=इष्टवान्, जो यज्ञ कर चुका है। यदि क्वनिप् होता तो यज् को सम्प्रसारण होता, अतः ङ्वनिप् विधान किया।

अतृन्—जॄ धातु से अतृन् (अत्) प्रत्यय होता है भूतकाल में[5]—अतृन् आर्धधातुक है, अतः श्यन् नहीं हुआ। **जरत्** प्रातिपदिक रूप। **प्रथमा**—जरन् जरन्तौ जरन्तः। उगित् होने से नुम्। संयोगान्त 'त्' का लोप होने पर

---

१. उपसर्गे च संज्ञायाम (३।२।९९)।
२. अनौ कर्मणि (३।२।१००)।
३. अन्येष्वपि दृश्यते (३।२।१०१)।
४. सुयजोर्ङ्वनिप् (३।२।१०३)।
५. जीर्यतेरतृन् (३।२।१०४)।

और उस लोप के असिद्ध होने से सर्वनामस्थान 'सु' परे उपधा-दीर्घ न हुआ।

क्वसु—वेद में लिट् अपरोक्ष भूत में भी होता है और परोक्षभूत में भी। उसे कानच् और क्वसु आदेश विकल्प से होते हैं।[1] ये दोनों आदेश कृत्-प्रत्यय हैं। त्रिमुनि मत के अनुसार ये वेदैकगोचर हैं, यद्यपि कवि निरंकुश होने से लोक में 'क्वसु' का प्रयोग यत्र-तत्र करते देखे जाते हैं—**तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे** (रघु० ५।६१)। **श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते** (रघु० ५।३४)। हाँ आचार्य कुछेक धातुओं से भाषा (=लोक) में भी 'क्वसु' का अभ्यनुज्ञान करते हैं। लोक में भूतसामान्य में लिट् नहीं होता, अतः भूतसामान्य अर्थ में क्वसु आदेश नित्य होता है। सद्—**उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्**। कौत्स पाणिनि के पास (शिष्य रूप से) गया। प्रातिपदिक रूप उपसेदिवस् है। लिट् का आदेश होने से क्वसु परे होने पर सद् को लिट् की तरह अभ्यास आदि कार्य हुआ है। निपूर्वक सद् का **निषेदिवस्** रूप होगा और स्त्रीलिंग में '**निषेदुषी**' होगा। **निषेदुषीमासनबन्धधीरः** (रघु० २।२६)। अनु-वस्—**अनूषिवान्कौत्सः पाणिनिम्**, कौत्स पाणिनि के पास रहा। प्रत्यय के कित् होने से धातु को सम्प्रसारण हुआ। उप-श्रु—**उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम्**, कौत्स ने पास बैठकर पाणिनि से शास्त्र सुना। **चतुरो वेदाञ्शुश्रुवांस इमे ब्राह्मणाः सर्वस्यार्हणामर्हन्ति**, चारों वेदों को पढ़े हुए ये ब्राह्मण सब की पूजा के योग्य हैं।

उपेयिवस् (उप-इण्-क्वसु-इट्), **अनाश्वस्** (नञ्पूर्वक अश्-क्वसु, इडभाव), **अनूचान** (अनुपूर्वक ब्रू अथवा वच् से कानच्, सम्प्रसारण)—ये भूतसामान्य में निपातित किये हैं।[2] दीक्षित के अनुसार उपेयिवस् में उप-ग्रहण अतन्त्र है। अन्य उपसर्ग के होने पर अथवा उपसर्गाभाव में भी क्वसु होगा—**ईयिवस्**। **समीयिवस्**। **अनूचानः=वेदानुवचनं कृतवान्**। 'ऊचान' कोई शब्द नहीं।

गम्, हन्, विद्, विश्—इनसे लिट् के स्थान में वेद में क्वसु विकल्प से होता है और क्वसु को इट् विकल्प से होता है[3]—गम्—**जग्मिवस्**।

---

१. लिटः कानज्वा (३।२।१०६)। क्वसुश्च (३।२।१०७)। भाषायां सदवसश्रुवः (३।२।१०८)।

२. उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च (३।२।१०९)।

३. विभाषा गम-हन-विद-विशाम् (७।२।६८)।

जगन्वस् (म्वोश्च ८।२।६५ से म् को न्)। हन्—**जघ्निवस्**। **जघन्वस्**। विद्—**विविदिवस्**। **विविद्वस्**। विश्—**विविशिवस्**। **विविश्वस्**।

दृश् से भी क्वसु को इट् का विकल्प होता है—**ददृशिवप्**। **ददृश्वस्**।

क्वसु प्रत्यय को इट् के विषय में ऐसा नियम है कि जो धातु द्वित्व करने पर भी एकाच् रह जाए, जो आकारान्त है उससे ही तथा घस् से परे क्वसु को इट् होता है, अन्यत्र कहीं नहीं।[1] क्रादि नियम का अपवाद है। अद्—**आदिवस्**। अश्—**आशिवस्**। ऋ—**आरिवस्**। पच्—**पेचिवस्**। शक्—**शेकिवस्**। आकारान्त—या—**ययिवस्**। पा—**पपिवस्**। स्था—**तस्थिवस्**। दा—**ददिवस्**।। घस्—**जक्षिवस्**। अन्यत्र इट् नहीं होगा—भिद्—**बिभिद्वस्**। छिद्—**चिच्छिद्वस्**।

चूंकि कविलोग शास्त्र का अतिक्रम करके लोक में क्वसु-प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग करते हैं अतः छात्रों के बोधार्थ कुछेक प्रयोग दिए जाते हैं—वच्—**ऊचिवस्** (सम्प्रसारण, इट्)। यज्—**ईजिवस्** (सम्प्रसारण, इट्)। स्तु—**तुष्टुवस्**। कृ—**चकृवस्**। जन्—**जजन्वस्**। खन्—**चखन्वस्**।

कानच्प्रत्ययान्त—पच्—**पेचान**। यज्—**ईजान** (सम्प्रसारण)। कृ—**चक्राण**। स्तु—**तुष्टुवान** (उवङ्)। श्रु—**शुश्रुवाण**। क्वसुप्रत्ययान्त—कॄ—**चिकीर्वस्**। ॠत इद्धातोः (७।१।१००) से इकार (रपर) अन्तादेश। द्वित्व। दीर्घ। शॄ—**शिशीर्वस्**। तॄ—**तितीर्वस्**। स्तॄ—**तिस्तीर्वस्**। कानच्प्रत्ययान्त—**चिकिराण** (धातु के ॠ को इर् हो जाने पर द्वित्व। **शिशिराण**। **तितिराण**। **तिस्तिराण**।

निष्ठा-प्रत्यय—क्त, क्तवतु

इस शास्त्र में क्त (त), क्तवतु (तवत्) प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा है।[2] निष्ठा परिसमाप्ति का नाम है। परिसमाप्ति के वाचक प्रत्ययों को भी निष्ठा कह दिया है। निष्ठान्त शब्द सम्पूर्ण हुई हुई क्रिया को कहता है। क्त, क्तवतु आर्धधातुक प्रत्यय हैं। कित् होने से गुण वृद्धि का निषेध करते हैं। वलादि आर्धधातुक होने से इन्हें इट्-आगम होता है, अपवाद-विषय को

---

१. वस्वेकाजाद्-घसाम् (७।२।६७)।
२. क्त-क्तवतू निष्ठा (१।१।२६)।

छोड़कर। प्रायः ये धात्वर्थ के भूतकालिक होने पर धातु से परे प्रयुक्त होते हैं।[1] 'क्त' प्रायः भाव-कर्म-वाचक है[2] और 'क्तवतु' नित्य ही कर्तृवाचक है। क्तान्त तथा क्तवत्वन्त शब्दों की रूप-रचना में कुछ भी भेद नहीं, केवल क्तवत्वन्त रूपों में 'वत्' मात्र अधिक है।

निष्ठाप्रत्यय-सम्बन्धी विशेष कार्य

निष्ठा-नत्व

भाव व कर्म से अन्यत्र निष्ठा प्रत्यय परे रहते 'क्षि' (भ्वा०-दिवा०) को दीर्घ होता है[3] और तब निष्ठा-त को न हो जाता है[4]—**क्षीणो देवदत्तः**, देवदत्त क्षय (दुर्बलता) को प्राप्त हो चुका है। यहाँ 'क्त' कर्ता को कहता है। भावकर्म में तो दीर्घ न होगा और दीर्घाभाव में निष्ठा-नत्व (निष्ठा-त को न) भी नहीं होगा—**क्षितं कामेन**। यहाँ निष्ठा-प्रत्यय भाव में है। अतः अनुक्त कर्ता 'काम' में तृतीया हुई। **क्षितः कामो मया**। यहाँ निष्ठा-प्रत्यय कर्म में है। अतः कर्म (काम) के उक्त होने से उसमें प्रथमा हुई। क्षि निश्चित ही अकर्मक है अतः इस उदाहरण में ण्यर्थ को अन्तर्भावित करके प्रयोग किया गया है। अधिकरण अर्थ में भी निष्ठा-नत्व होगा—**प्रक्षीणम् इदं देवदत्तस्य**, देवदत्त के क्षय का यह स्थान है=**अत्र देवदत्तेन क्षितम्**।

आक्रोश (शाप) तथा दैन्य (अनुकम्पा) की प्रतीति होने पर क्षि को विकल्प से दीर्घ होता है[5] और जब दीर्घ होता है तब निष्ठा-नत्व भी होता है—**क्षितायुरेधि**। **क्षीणायुरेधि**, तेरी आयु क्षीण हो (शाप)। **क्षीणस्तपस्वी**। **क्षितस्तपस्वी**। बेचारा क्षीण हो गया है (दैन्य, शोक)।

रकारान्त दकारान्त धातु से परे निष्ठा-त को न, तथा पूर्ववर्ती धातु के द् को भी न्[6]—आस्तॄ—**आस्तीर्ण**। विस्तॄ—**विस्तीर्ण**। जॄ—**जीर्ण**। वि कॄ—**विकीर्ण**। नि गॄ—**निगीर्ण** (निगला हुआ)। वि-शॄ—**विशीर्ण**।

---

१. निष्ठा (३।२।१०२)।
२. तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः (३।४।७०)।
३. निष्ठायामण्यदर्थे (६।४।६०)।
४. क्षियो दीर्घात् (८।२।४६)।
५. वाऽऽक्रोश-दैन्ययोः (६।४।६१)।
६. रदाभ्यां निष्ठा-तो नः पूर्वस्य च दः (८।२।४२)।

धातु को इर् अन्तादेश तथा उपधा-दीर्घ ।[1] अव-गुर्—**अवगूर्ण** (उपधा-दीर्घ) । त्वर्—**तूर्ण** (उपधा और व् को (ऊठ्)[2] । ज्वर्—**जूर्ण**=ज्वरित । दकारान्त – खिद्—**खिन्न** । क्षुद्—**क्षुण्ण** । चूर्ण किया हुआ । भिद्—**भिन्न** । पर शकल (टुकड़ा) अर्थ में भित्त (नपुं०) । छिद्—**छिन्न** । स्कन्द्—**स्कन्न** । विस्कन्द्—**विस्कन्न** । यहाँ षत्व नहीं होता ।[3] परिस्कन्द्—**परिस्कन्न** । **परिष्कण्ण** । यहाँ षत्व विकल्प से होता है[4] । स्यन्द्—**स्यन्न** । अभिपूर्वक—**अभिष्यण्ण** ।[5] **अभिष्यण्णाननगुदाः** । (चरक सूत्र १३।५४) । विद् (दिवा०) —**विन्न** । निर्पूर्वक—**निर्विण्ण**[6] । यहाँ वार्तिक के अनुसार निष्ठा **न्** को ण् होकर पूर्व **न्** को भी ष्टुत्व-विधि से णत्व हो जाता है । निर्विण्ण= असन्तुष्ट, विरक्त, निराश । लाभार्थक तुदा० विद्—**विन्न** । पर धन और प्रसिद्ध अर्थ में वित्त ।[7] विद् रुधादि—**विन्न** । **वित्त** । नुद्[8] —**नुन्न** । **नुत्त** । उन्द् गीला करना रुधा०—**उन्न** । **उन्त** । त्रै (त्रा)—त्राण । त्रात । घ्रा—घ्राण । घ्रात । ह्री—ह्रीण । ह्रीत । ह्री से निष्ठा-नत्व प्राप्त ही न था । विशेष रूप से विकल्प विधान किया है ।

संयोगादि आकारान्त यण् वाली धातु से निष्ठा-त को न होता है[9]— निद्रा—**निद्राण**, सुप्त । प्रद्रा—**प्रद्राण**, दरिद्र, क्षीण । श्रा—**श्राण**, पका हुआ । स्त्यै—**स्त्यान** । संपूर्वक—**संस्त्यान** । आङ्श्यै—**आश्यान**, इकट्ठा हुआ हुआ, जमा हुआ हुआ । **आश्यानः कर्दमः**, जमा हुआ (=सूखा हुआ) कीचड़ । प्र्याय्—**प्र्यान** । **प्र्यानश्चन्द्रमाः**, जो चाँद बढ़ रहा है । यहाँ 'प्र' शब्द

---

१. ऋत इद् धातोः (७।१।१००) । हलि च (८।२।७७) ।
२. ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च (६।४।२०) ।
३. वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् (८।३।७३) ।
४. परेश्च (८।३।७४) ।
५. अनु-वि-पर्य्-अभि-निभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु (८।३।७२) ।
६. निर्विण्णस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् (वा०) ।
७. वित्तो भोग-प्रत्यययोः (८।२।५८) ।
८. नुद-विदोन्द-त्रा-घ्रा-ह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५६) ।
९. संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः (८।२।४३) ।

आदि कर्म (=प्रारम्भ) को कहता है। न भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायि-वेपाम् (८।४।३४) से यहाँ णत्व का निषेध हुआ है। ग्लै—**ग्लान**। म्लै—**म्लान**। ज्या—**जीन** (वृद्ध)। सम्प्रसारण[1]। दीर्घ[2]।

ध्यै, ख्या, पॄ, मुर्छा, मद्—इनकी निष्ठा के 'त' को 'न' नहीं होता[3]—**ध्यात**। **पूर्त**। निपूर्वक—**निपूर्त**। **निपूर्ताः पिण्डाः**, पितरों को पिण्ड भरे गए। मुर्छा—**मूर्त**। यहाँ र् से परे छ् का लोप भी होता है।[4] रकारान्त की उपधा को दीर्घ। मुर्छा में 'आ' अनुबन्ध है। मद्—**मत्त**। यह पूर्व सूत्र से अतिप्रसक्त निष्ठा-नत्व का निषेध है।

क्षीर विषय में तथा हविस् विषय में 'श्रा' पकना (ण्यन्त तथा अण्यन्त) का क्तान्त 'शृत' होगा।[5] 'श्रा' को शृ होने से निष्ठा-नत्व की प्राप्ति ही नहीं रहती। **शृतं क्षीरम्**। **शृतं हविः**। पर **श्राणा यवागूः**। 'श्रा' अकर्मक है। **शृतं क्षीरं स्वयमेव**। **शृतं क्षीरं देवदत्तेन**। पर **श्रपिता यवागूर्देवदत्तेन**, देवदत्त से खिचड़ी पकाई गई।

पूञ् जब धातुओं के नानार्थक होने से विनाशार्थक होता है तो इस से परे निष्ठा-त को न होता है[6]—**पूना यवाः**, विनष्टा विकृता इत्यर्थः। अन्यत्र **पूतं धान्यम्**, साफ किया धान।

सि (बाँधना) से निष्ठा-त को 'न' होता है जब 'ग्रास' कर्मकर्ता हो[7]—**सिनो ग्रासः स्वयमेव**, अपने-आप ग्रास बँध गया। शुद्ध कर्म में तो 'नत्व' नहीं होगा—**सितो ग्रासो देवदत्तेन**, देवदत्त ने ग्रास बाँधा। ग्रास विषय से अन्यत्र भी नत्व नहीं होगा—**सिता पाशेन सूकरी**, सूअरी पाश से बाँधी गई।

---

१. ग्रहि-ज्या० (६।१।१६)।
२. हलः (६।४।२)।
३. न ध्या-ख्या-पॄ-मूर्छि-मदाम् (८।२।५७)।
४. राल्लोपः (६।४।२१)। उपधायां च (८।२।७८) से उपधा-भूत रेफ, वकार जो हल्-परक, उनकी उपधा इक् को दीर्घ।
५. शृतं पाके (६।१।२७) व्यवस्थित विभाषा। क्षीरहविषोर्नित्यं शृभावः, अन्यत्र न भवति।
६. पूञो विनाशे इति वक्तव्यम् (वा०)।
७. सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्येति वक्तव्यम् (वा०)।

दु, गु—को दीर्घ भी[१]—आदून (आङ्पूर्वक)। **आदूनः**=आगतः। गु—**गून**। गु पुरीषोत्सर्गे।

क्र्यादि गण में पठित लू आदि २१ धातुओं के निष्ठा-त को 'न'[२] —लू—**लून**। धूञ्—धून। पॄ—**पूर्ण** (ॠ को उर्)। री—**रीण**। ली—**लीन**। ॠ—**ईर्ण**। उद्पूर्वक—**उदीर्ण**। सम्पूर्वक—**समीर्ण**।

जो धातुएँ धातुपाठ में ओदित् पढ़ी हैं उनके निष्ठान्त को 'न' होता है[३]—लस्ज् (ओ लस्जी)—**लग्न**। यहाँ निष्ठा-न के असिद्ध होने से परे त(झल्) ही पड़ा है अतः धातु के 'ज्' को कुत्व हो गया। कुत्व होने पर संयोग के आदि 'स्' का लोप हो गया। लस्ज् तुदा० आत्मनेपदी, लज्जित होना। लज् भी साथ में पढ़ी है, वह भी ओदित् है। विज् (ओविजी)—**उद्विग्न**। प्रायः विज् उद्पूर्वक प्रयुक्त होता है, अकेला नहीं। वेग शब्द में विना उद् के भी प्रयुक्त हुआ है। प्याय् (ओप्यायी)–**पीन**। **आपीन**। आपीन=ऊधस् (लेवटी) का नाम है। यहाँ प्याय् को 'पी' आदेश भी होता है।[४] भुज् तुदा०(भुजो)—**भुग्न**। रुज् तुदा० (रुजो)—**रुग्ण**। हा (ओहाक्)—**हीन**। प्रपूर्वक—**प्रहीण**। व्रश्च् तुदा० (ओ व्रश्च्)—**वृक्ण** (काटा हुआ)। यहाँ सम्प्रसारण भी हुआ ग्रहिज्या—सूत्र में पाठ होने से। षत्व-विधि के लिए निष्ठादेश (त को न) सिद्ध माना जाता है, अतः न के सिद्ध होने से व्रश्च् के 'च्' को ष् न हुआ, 'चोः कुः' से कुत्व हुआ। कुत्व विधि के लिए 'न' असिद्ध है।

दिवादिगण में षूङ् प्राणिप्रसवे इत्यादि धातुओं को ओदित् माना जाता है यद्यपि उनमें 'ओ' अनुबन्ध नहीं है उनसे भी निष्ठा-त को 'न' होता है—षूङ् (सू)—**सून० प्रसून**। दूङ्—**दून**, दुःखी। दीङ्—**दीन**, क्षीण। डीङ्—**डीन**। सेट् होने पर भी इट् नहीं होता। धीङ्—**धीन**, धृत, धारण किया हुआ। मीङ्—**मीन**=मृत। रीङ्—**रीण**=स्रुत, बहा हुआ। लीङ्—**लीन**, लगा हुआ, श्लिष्ट।

---

१. दुग्वोर्दीर्घश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
२. ल्वादिभ्यश्च (८।२।४४)।
३. ओदितश्च (८।४५)।
४. प्यायः पी (६।१।२८)।

श्यैङ् (श्या) के निष्ठा-त को 'न' होता है स्पर्श विषय को छोड़कर[1]—**शीनं घृतम्** (जमा हुआ घी)। **शीनं मेदः**, जमी हुई चर्बी। स्पर्श में नत्व नहीं होगा—**शीतं वर्तते। शीतो वायुः=शीतस्पर्शवान् वायुः**। आङ्पूर्वक श्यैङ्—**आश्यान**। सम्पूर्वक श्यैङ्—**संश्यानो वृश्चिकः**, बिच्छू जो सिकुड़ गया है। यहाँ भी स्पर्शाभाव में निष्ठानत्व प्राप्त ही है। प्रतिपूर्वक श्यैङ्—**प्रतिशीन**, जिसे जुकाम (प्रतिश्याय) हुआ है।

अञ्च् धातु के निष्ठा-त को 'न' होता है यदि अपादान कारक में अन्वय न हो[2]—**समक्नौ शकुनेः पादौ**, पक्षी के पैर जुड़े हुए होते हैं पशुओं की तरह फटे हुए नहीं। **तस्मात्पशवो न्यक्नाः** (तै० ब्रा०)। न्यक्न=झुका हुआ। नि अञ्च्—झुकना, नीचे जाना। अपादान होने पर तो **उदक्तमुदकं कूपात्**, कुएँ से जल निकाला गया, यहाँ निष्ठा-नत्व नहीं हुआ। उदित् होने से क्त्वा में इड् विकल्प और निष्ठा में इण्निषेध। हाँ पूजा-अर्थ में इट् होगा[3] और अनुनासिक का लोप नहीं होगा[4]—**अञ्चित**=पूजित।

दिव् से परे निष्ठा-त को 'न' होता है जब दिव् का अर्थ द्यूत (जुआ खेलना) न हो[5]—आ-दिव्—**आद्यून**=औदरिक, पेट्ट। परि-दिव्—**परिद्यून**=क्षीण (प्रक्रिया सर्वस्व)। यहाँ 'न' होने पर व् को ऊठ् (ऊ) हुआ है।[6] जुआ-अर्थ में दिव्—त=**द्यूत**। ऊठ् यहाँ भी हुआ है झल् (त्) परे होने से। सूत्र में विजिगीषा (जीतने की इच्छा) ऐसा पढ़ा है। अभिप्राय देवन क्रिया से है। जीतने की इच्छा से ही तो पासे आदि फेंके जाते हैं।

निर् पूर्वक 'वा' के निष्ठा-त को 'न' हो जाता है यदि वा धातु के अर्थ का विषय (आश्रय) वात (वायु) न हो[7]—**निर्वाणोऽग्निः**, आग बुझ गई है।

---

१. श्योऽस्पर्शे (८।२।४७)।
२. अञ्चोऽनपादाने (८।२।४८)।
३. अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)।
४. नाञ्चेः पूजायाम् (६।४।३०)।
५. दिवोऽविजिगीषायाम् (८।२।४९)।
६. च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९)।
७. निर्वाणोऽवाते (८।२।५०)।

निर्वाणः प्रदीपः, दिया बुझ गया है। **निर्वाणः प्रदीपो वातेन**। यहाँ भी नत्व होता ही है कारण कि 'वात' यहाँ करण है। 'वा' धातु के अर्थ का अधिकरण नहीं। अधिकरण तो प्रदीप है। **अपरिनिर्वाणो दिवसः** (शाकुन्तल), दिन पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। **निर्वाणो मुनिः**, मुनि शान्त हो गया है, मुक्त हो गया है। यहाँ भी 'वात' वा-धात्वर्थ का अधिकरण नहीं। **त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु** (रा० १।३६।१३)। यहाँ निर्वाण का अर्थ शान्ति, सुख है। **निर्वाणो मुनिवह्न्यादौ निर्वातस्तु गतेऽनिले**—अमर।

इडागम

निष्ठाप्रत्यय क्त, क्तवतु को जहाँ सामान्य शास्त्र से इट्-आगम का निषेध प्राप्त होता है वहाँ किन्हीं लक्ष्यों में विशेष शास्त्र से विधान किया जाता है। ऐसे इडागम को दर्शाना हमें अभिप्रेत है।

निरः कुषः (७।२।४६) से निर्पूर्वक उदात्त (सेट्) धातु कुष् को इट् विकल्प से विधान किया है। जिस धातु को कहीं भी इट् का विकल्प हो उससे निष्ठाप्रत्यय को इट् नहीं हुआ करता[1]। पर शास्त्र ने निर् पूर्वक कुष् से निष्ठाप्रत्यय को इट् विशेष विहित किया है[2]—**निष्कुषित**। बिना निर् के तो इण्निषेध का प्रसंग ही नहीं।

क्लिश्, क्लिशू से विकल्प से इडागम[3]—**क्लिशित**। **क्लिष्ट**। क्लिश सेट् है। क्लिशू से ऊदित् होने से विकल्प से इट् का विधान होने से निष्ठा में अत्यन्त निषेध प्राप्त था।

पूङ्—से। विकल्प से[4]। **पूत**। **पवित**। **सोमोऽतिपूतः**। **सोमोऽतिपवितः**। एकाच् उगन्त होसे से कित् प्रत्यय परे नित्यनिषेध प्राप्त था[5]।

वस् और क्षुध्[6]—से **उषित**। **क्षुधित**। ये दोनों धातुएँ अनुदात्त (अनिट्) हैं। इनसे यहाँ इट् का विशेष विधान कर दिया है।

---

१. यस्य विभाषा (७।२।१५)।
२. इण्निष्ठायाम् (७।२।४७)।
३. क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः (७।२।५०)।
४. पूङश्च (७।२।५१)।
५. श्र्युकः किति (७।२।११)।
६. वसति-क्षुधोरिट् (७।२।५२)

वस निवासे भ्वा० का ग्रहण है। वस आच्छादने अदा० से तो उदात्त होने से इट् नित्यसिद्ध ही है।

पूजार्थक अञ्चु से परे निष्ठा को नित्य इट् होता है।[1] उदित् होने से क्त्वा परे रहते विकल्प होने से निष्ठा में निषेध प्राप्त था। **अञ्चित**=पूजित। **अञ्चिता अस्य गुरवः**। गुरु इससे पूजित हैं। पूजन अर्थ से अन्यत्र इट् न होगा[2]—**उदक्तमुदकं कूपात्**।

विमोहन (आकुलीकरण) अर्थ में लुभ् से इट्[3]—**विलुभिताः केशाः**=पर्याकुला मूर्धजाः, बिखरे हुए बाल। **विलुभितानि पदानि**, अस्थिर पद (क्रम), चरणन्यास। क्त्वा में इड् विकल्प होने से निष्ठा में निषेध प्राप्त था। विमोहन अर्थ को छोड़कर अन्यत्र निषेध होगा—**लुब्धो वृषलः शीतेन**। लुब्धः=पीडितः। गार्ध्य (लालच) अर्थ में भी इट्-निषेध होकर 'लुब्ध' रूप ही होगा।

इडभाव (इट् का अभाव)

शिव (जाना, बढ़ना) तथा ईदित् धातुओं को निष्ठा में इट् नहीं होता।[4] श्वि उदात्त है। ईदित् भी प्रायः उदात्त हैं। श्वि—**शून, शूनवत्**। **उच्छून, उच्छूनवत्**, सूजा हुआ (सम्प्रसारण[5])। ईदित्—दीपी—**दीप्त**। ओलजी—**लग्न**। ओलस्जी—**लग्न**। ओविजी—**विग्न**। उद्पूर्वक—**उद्विग्न**। कृती—**कृत्त**। नृती—**नृत्त**। यती (यत्न करना)—**यत्त**। **उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ** (रा० १।३०।६)। प्रपूर्वक-**प्रयत्त**। सम्पूर्वक-**संयत्त**=युध्यमान, संघर्ष को प्राप्त। जुषी—**जुष्ट**। प्रपूर्वक—**प्रजुष्ट**। **विषयेषु प्रजुष्टानि** (इन्द्रियाणि) **यथा ज्ञानेन नित्यशः** (मनु० २।९६)। प्रजुष्टानि=प्रीतिमन्ति। गुरी—**गूर्ण**। अवपूर्वक—**अवगूर्ण**। पूरी—**पूर्ण**। ञिइन्धी—**इद्ध**। अनुनासिक-लोप। ईशुचिर्—**शुक्त**, रसान्तर को प्राप्त, जो काल-परिवास से खट्टा हो

---

१. अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)।
२. उदितो वा (७।२।५६)। यस्य विभाषा (७।२।१५)।
३. लुभो विमोहने (७।२।५४)।
४. श्वीदितो निष्ठायाम् (७।२।१४)।
५. वचि-स्वपि-यजादीनां किति (६।१।१५)।

गया है । चूरी (जलाना)--**चूर्ण** (भस्मीभूत) । ह्लादी-(प्रसन्न होना)**ह्लन्न** । प्रपूर्वक--**प्रह्लन्न** । दृभी (ग्रन्थन करना)--**दृब्ध** । उच्छी (समाप्ति)--**व्युष्ट** (विपूर्वक)=समाप्त । ऊयी—**ऊत** । आङ्पूर्वक—**ओत** । प्रपूर्वक—**प्रोत** । **प्रोता आपः कर्मण्याः**, निरन्तर बहता हुआ जल यज्ञिय कर्म में साधु होता है। उन्दी—**उन्न** । (गीला) । क्नूयी—**क्नूत** (गीला) । 'य' का लोप[1] । डीङ् (दिवा०) यद्यपि ईदित् नहीं तो भी निष्ठा-नत्व के लिए ओदित् धातुओं के मध्य में पढ़े जाने से इट् होने से अनन्तर निष्ठा 'त' न मिलने से इट् का निषेध हो जाता है—**डीन** । उद्पूर्वक—**उड्डीन** ।

जिस किसी धातु को कहीं विकल्प से इट् विधान किया है, उसे निष्ठा में इट् नहीं होता[2] । उदित् धातुओं को क्त्वा प्रत्यय परे विकल्प से इट् कहा है[3], सो इनसे निष्ठा में इट् नहीं होगा—शमु, दमु, तमु, क्रमु, क्लमु, वृतु, वृधु, शृधु, अञ्चु—इनसे क्रम से **शान्त, दान्त, तान्त, क्रान्त, क्लान्त**, तनु—**तत** । वनु—वत । अनुनासिक लोप । उदित् होने पर भी धावु से इट् विकल्प से होता है—**धौत** (धोया हुआ) । **धावित** (दौड़ा) । पत् को सन्-प्रत्यय परे रहते इड् विकल्प कहा है, तो भी द्वितीया श्रितातीतपतित—(२।१।२४) इस समास सूत्र में 'पतित' पढ़ा होने से निष्ठा में इट् होता ही है । वृत् आदि के **वृत्त,वृद्ध,शृद्ध,अक्त** निष्ठान्त रूप होंगे । अनुनासिकान्त शम् आदियों की उपधा को दीर्घ भी होता[4] है । ऊदित् धातुओं को वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे इट् का विकल्प कहा है[5] सो उनसे भी निष्ठा में इट् का निषेध होगा—गुहू—**गूढ** । व्रश्चू (छेदन करना)—**वृक्ण** । धूञ् को भी ऐसे ही विकल्प कहा है सो धूञ् से निष्ठा में इट् न होकर (वि) **धूत** रूप होगा । रधादि धातुओं को वलादि आर्धधातुक परे इड् विकल्प कहा है[6] सो इनसे निष्ठा में इट् न होगा—नश्—**नष्ट** । तृप्—**तृप्त** । दृप्—**दृप्त** । स्नुह्—**स्नुग्ध, स्नूढ** । स्निह्—**स्निग्ध, स्नीढ** । मुह्—**मुग्ध, मूढ** । चृत्, छृद्, तृद्, नृत्—इनसे सिज्भिन्न

१. लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) ।
२. यस्य विभाषा (७।२।१५) ।
३. उदितो वा (७।२।५६) ।
४. अनुनासिकस्य क्वि-झलोः (६।४।१५) ।
५. स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितो वा (७।२।४४) ।
६. रधादिभ्यश्च (७।२।४५) ।

सादि आर्धधातुक परे इट् का विकल्प कहा है[1] सो निष्ठा में इडभाव रहेगा—**चृत्त, छण्ण, तृण्ण** (काटा हुआ), **नृत्त** ।

आदित् धातु से निष्ठा में इट् नहीं होता[2]—ञिमिदा—**मिन्न** । ञिक्ष्विदा—**क्ष्विण्ण** । ञिष्विदा—**स्विन्न** । सूत्र में जो 'च' पढ़ा है वह अनुक्त-समुच्चय (न कहे हुए धातुओं के संग्रह) के लिये है—आङ् श्वस्—**आश्वस्त** । **वि-श्वस्त** । वम्—**वान्त** । ज्वर्—**जूर्ण** ।

भाव तथा आदिकर्म में यदि निष्ठा प्रत्यय हो तो आदित् धातुओं से विकल्प से इट् नहीं होता[3]—**मिन्नमनेन** (भाव में) । **मेदितमनेन** (भाव में) । **प्रमिन्नः** (=मेदितुमारब्धः) । **प्रमेदितः** (= मेदितुमारब्धः) ।

सौनाग (सुनाग के शिष्य) शक् से कर्म में निष्ठा होने पर विकल्प से इट् करते हैं[4]—**शकितो घटः कर्तुम्** । **शक्तो घटः कर्तुम्** । घड़ा बनाया जा सकता है । वे ही अस् (फैंकना) से भाव में विकल्प से इट् चाहते हैं[5]—**असितमनेन** । **अस्तमनेन** ।

१. क्षुब्ध, २. स्वान्त, ३. ध्वान्त, ४. लग्न, ५. क्लिष्ट, ६. विरिब्ध, ७. फाण्ट, ८. बाढ—ये क्षुभ्, स्वन्, ध्वन्, लगे (लग्), म्लेच्छ, रेभृ (रेभ्), फण्, बाहृ(बाह्)धातुओं से क्रम से निष्ठा में निपातन किए हैं । यदि इनका क्रम से १. मन्थदण्ड, २. मन, ३. अन्धकार, ४. लगा हुआ, ५. अविस्पष्ट, ६. स्वर, ७. जो कषाय जल में डालकर ईषद् उष्ण करते ही विभक्त-रस होकर पेय हो जाता है, ८. भृश (बहुत) अर्थ हो ।[6] अतः इन अर्थों से अन्यत्र **क्षुब्धा गिरिनदी, क्षुब्धा सेना, क्षुब्धः समुद्रः, क्षुब्धं मनः**—ये प्रयोग असाधु ही हैं ।

ञि धृषा, शसु से निष्ठा में इट् नहीं होता यदि वियात, प्रगल्भ, निर्लज्ज, अविनीत, अशिष्ट अर्थ हो[7] —**धृष्ट** । **विशस्त** । आदित् होने से धृष् से तथा

१. सेऽसिचि चृत-छृद-तृद-नृतः (७।२।५७) ।
२. आदितश्च (७।२।१६) ।
३. विभाषा भावादिकर्मणोः (७।२।१७) ।
४. सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन ।
५. अस्यतेर्भावे ।
६. क्षुब्ध-स्वान्त-ध्वान्त-लग्न-म्लिष्ट-विरिब्ध-फाण्ट-बाढानि मन्थ-मन-स्तमः-सक्ताऽविस्पष्ट-स्वराऽनायास-भृशेषु (७।२।१८) ।
७. धृषि-शसी वैयात्ये (७।२।१९) ।

उदित् होने से शस् से इण्निषेध सिद्ध ही था। यहाँ नियम कर दिया है। इसी अर्थ में इट् का निषेध हो, अन्यत्र न हो—**र्धषित। विशसित**=हिंसित। विपूर्वक शस् का 'अंगों को काटते हुए मारना' अर्थ है।

दृह् अथवा दृहि से '**दृढ**' यह निष्ठान्त निपातन किया है जब स्थूल व बलवान् अर्थ हो।[१] दृह् और दृहि दोनों उदात्त हैं। इडभाव का प्रसंग ही न था। यहाँ धातु के 'ह्' का लोप भी निपातन किया है और दृहि (दृन्ह्) के न् का लोप भी।

परिपूर्वक वृह् अथवा वृहि से '**परिवृढ**' यह निष्ठान्त निपातन किया है 'प्रभु' अर्थ में।[२] यहाँ भी 'ह्' का लोप निपातित हुआ है। अन्यत्र 'परि-वृहित' तथा 'परिबृंहित' रूप होगा।

कष् (हिंसायाम्) से निष्ठा में इट् नहीं होता यदि निष्ठान्त का अर्थ 'कृच्छ्र' और 'गहन' हो[3] —**कष्टं व्याकरणम्। ततोपि कष्टतराणि सामानि,** व्याकरण दुःखद, दुरवगम है, साम उससे भी दुःखद हैं। कृच्छ्र दुःख का नाम है। यहाँ दुःख के कारण को 'कृच्छ्र' कहा है। **कष्टानि वनानि,** गहनानि दुष्प्रवेशानि। इन अर्थों से अन्यत्र इट् का निषेध नहीं होगा—**कषितं सुवर्णम्,** सोने को कसौटी पर रगड़ा गया।

घुषिर् (भ्वा०) शब्द करना तथा घुषिर् (चुरा०) विशब्दन (शब्द से अभिप्राय प्रकट करना) से विशब्दन अर्थ से अन्यत्र इट् नहीं होता[४]—**घुष्टा रज्जुः। घुष्टौ पादौ।** बालमनोरमाकार घुष्टा का अर्थ उत्पादिता (बनाई गई, बटी गई) अथवा आयामिता (खेंची गई) ऐसा करते हैं। अन्य व्याख्याकार और कोषकार भी इस विषय में चुप हैं। विशब्दन अर्थ में '**अवघुषितं वाक्य-माह**' यहाँ इट् हुआ है। भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव 'अवघुषितम्' का अर्थ 'अशास्त्रीय' करता है।

सम्, नि, वि-पूर्वक अर्द् (पीडा देना) से इट् नहीं होता[५]—**समर्णः। न्यर्णः। व्यर्णः।** सबका अर्थ 'सम्यक् पीडित' है। इन उपसर्गों के न होने पर '**अर्दित**' ऐसा सेट्क रूप होगा। अर्द् उदात्त है।

---

१. दृढः स्थूल-बलयोः (७।२।२०)।
२. प्रभौ परिवृढः (७।२।२१)।
३. कृच्छ्र-गहनयोः कषः (७।२।२२)।
४. घुषिरविशब्दने (७।२।२३)।
५. अर्देः सन्निविभ्यः (७।२।२४)।

अभिपूर्वक अर्द से इट् नहीं होता जब निष्ठान्त का अर्थ अविदूर (सन्निकृष्ट, समीपवर्ती) हो[1]—**अभ्यर्ण**। **अभ्यर्णा सेना**। अन्यत्र **अभ्यर्दितो वृषलः शीतेन**। अभ्यर्दित=पीडित।

ण्यन्त धातु वृत् से निष्ठा में इडभाव तथा णिलुक् निपातन किया है अध्ययन विषय में[2]—**वृत्तं पारायणं देवदत्तेन**। वृत्तम्=निर्वृत्तम्। यहाँ 'वर्तित' का प्रयोग नहीं करना होगा। अध्ययन-विषय से अन्यत्र **कथंचिद् वर्तिता जीविका विषमस्थेनानेन**—यहाँ 'वर्तित' कहना ही ठीक होगा।

दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, ज्ञप्त—इनमें विकल्प से इट् का अभाव निपातन किया है।[3] ये दम्, शम्, पूरी, दस्, स्पश्, छद्, ज्ञप्—इन ण्यन्त धातुओं के निष्ठान्त रूप हैं। इन सबसे णिलुक् भी निपातन किया है। पक्ष में इट् होने से सेट् निष्ठा परे णि लोप हो जाने से **दमित, शमित, पूरित, दासित, स्पाशित, छादित, ज्ञपित**—रूप होंगे। चुरादि ज्ञप् मित्-संज्ञक होता है अतः ह्रस्व हुआ।[4]

रुष्, अम (रुग्ण होना), त्वर्, संघुष्, आस्वन्—इनसे निष्ठा में विकल्प से इडागम नहीं होता[5]—**रुष्ट**। **रुषित**। तादि प्रत्यय परे इड् विकल्प विधान होने से निष्ठा में नित्य निषेध प्राप्त था। अम्—**अभ्यान्त**। **अभ्यमित** (रोगी)। त्वर्—**तूर्ण**। **त्वरित**। आदित् होने से निष्ठा में प्रतिषेध प्राप्त था। संघुष्—**संघुष्टौ पादौ**। **संघुषितौ पादौ**। अविशब्दन अर्थ में भी पूर्व कहा हुआ प्रतिषेध नहीं होगा, विकल्प होगा, विप्रतिषेधे परं कार्यम्—**संघुष्टौ दम्यौ**। **संघुषितौ दम्यौ**। विशब्दन अर्थ में भी विकल्प होगा—**संघुष्टं वाक्यमाह**। आङ् स्वन्—**आस्वान्तो देवदत्तः**। **आस्वनितो देवदत्तः**। देवदत्त ने शब्द किया है। 'मन' अर्थ में भी पूर्व कहे हुए प्रतिषेध को बाधकर विकल्प होगा—**आस्वान्तम्=मनः**। **आस्वनितम्=मनः**।

लोम-विषयक धात्वर्थ होने पर हृष तुष्टौ, हृषु अलीके, इनसे निष्ठा में

---

१. अभेश्चाविदूर्ये (७।२।२५)।
२. णेरध्ययने वृत्तम् (७।२।२६)।
३. वा दान्त-शान्त-पूर्ण-दस्त-स्पष्ट-छन्न-ज्ञप्ताः (७।२।२७)।
४. ज्ञप मिच्च।
५. रुष्य्-अम-त्वर-संघुषाऽऽस्वनाम् (७।२।२८)।

विकल्प से इट् नहीं होता[1]—**हृषितानि लोमानि। हृष्टानि लोमानि**, रोंगटे खड़े हुए। **हृषितं लोमभिः। हृष्टाः केशाः हृषिताः केशाः। हृष्टं केशैः। हृषितं केशैः। हृष्टो देवदत्तः**=मृषोक्तवान् देवदत्तः (बालमनोरमा)। **हृषितो देवदत्तः**, तुष्ट इत्यर्थः।

विस्मित तथा प्रतिहत अर्थ में इट् विकल्प से न होगा[2]—**हृष्टो देवदत्तः। हृषितो देवदत्तः**, विस्मित इत्यर्थः। **हृष्टा हृषिता वा देवदत्तस्य दन्ताः**, देवदत्त के दाँत प्रतिहत=कुण्ठित हैं, शीत-पीडा आदि से काम नहीं करते।

अपपूर्वक चायृ (पूजा, दर्शन) का '**अपचित**' यह वैकल्पिक निष्ठान्त रूप निपातन किया है।[3] इडभाव तथा धातु को चि-भाव निपातन किया है। धातु सेट् है। पक्ष में यथाप्राप्त '**अपचायित**' भी होगा।

सम्प्रसारण

ज्या वयोहानौ (वृद्ध होना) को 'ग्रहि ज्यावयि— ६।१।१६) से कित् ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण विधान किया है। निष्ठा प्रत्यय कित् है, सो यहाँ 'य्' को सम्प्रसारण 'इ' और पूर्वरूप होकर 'जि' बना। इसे हलः (६।४।२) से दीर्घ होता है और संयोगादि आकारान्त धातु होने से निष्ठा 'त' को न। **जीन**=वृद्ध। ऐसे ही ग्रह् को सम्प्रसारण (ऋ) होकर '**गृहीत**' रूप होगा। ग्रह् से परे इट् को दीर्घ होता है, लिट् में नहीं। वच्—**उक्त**। स्वप्—**सुप्त**। वह्—**ऊढ**। वप्—**उप्त**। यज्—**इष्ट**। वेञ्—**उत**। व्येञ्—**वीत**।

ज्वर्, त्वर् की उपधा तथा 'व्' के स्थान में ऊठ् (ऊ)—**जूर्ण**। **तूर्ण**।

द्रवमूर्ति (काठिन्य प्राप्ति, तरल पदार्थ का घनभाव) तथा स्पर्श अर्थ में श्यैङ् को सम्प्रसारण[4]—**शीनं घृतम्**, जमा हुआ घी। **शीना वसा। शीनं मेदः**, जमी हुई चरबी। **शीतो वायुः**, शीतस्पर्शवाला वायु। **शीतं वर्तते**, ठंडी लगती है।

प्रतिपूर्वक श्यैङ् को द्रवमूर्ति-स्पर्श अर्थों से अन्यत्र भी सम्प्रसारण होता

---

१. हृषेर्लोमसु (७।२।२९)।

२. विस्मित-प्रतिघातयोश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।

३. अपचितश्च (७।२।३०)।

४. द्रवमूर्ति-स्पर्शयोः श्यः (६।१।२४)।

है[1]—**प्रतिशीन । प्रतिशीनो देवदत्तो नक्तं प्रकाशेऽवकाशे सुप्त इति,** देवदत्त को प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया है रात खुली जगह सोया था इसलिए ।

अभि-अव-पूर्वक श्यैङ् को सम्प्रसारण विकल्प से[2]—**अभिशीन । अभिश्यान । अवशीन । अवश्यान ।**

'शिव' को निष्ठा में नित्य ही सम्प्रसारण होता है[3]—**शून** । उद्पूर्वक—**उच्छून । सततरुदितोच्छूननेत्रः,** निरन्तर रोने से जिसकी आँखें सूज गई हैं ।

स्त्यै (ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः) को प्रपूर्वक होने पर सम्प्रसारण होता है[4]—**प्रस्तीत । प्रस्तीम ।** प्रपूर्वक स्त्यै के निष्ठातकार को विकल्प से 'म' हो जाता है ।[5]

कित्त्वाभाव

निष्ठा प्रत्यय क्त, क्तवतु दोनों कित् हैं पर कुछेक स्थलों में इन्हें अकित् माना गया है जिससे क्ङिन्निमित्तक गुणवृद्धि प्रतिषेध नहीं होता ।

शीङ्, स्विद्, मिद्, क्ष्विद्, धृष्—इनसे परे सेट् निष्ठा-प्रत्यय कित् नहीं होता[6]—शीङ्—**शयित** । स्विद्—**स्वेदित** । मिद्—**मेदित** । क्ष्विद्—**क्ष्वेदित** । धृष्—**धर्षित** । शीङ् वर्जित इन धातुओं के आदित् होने से निष्ठा में नित्य इट् निषेध प्राप्त था, भाव तथा आदिकर्म (प्रारम्भ) में यह निषेध विकल्पित कर दिया है । इडभाव पक्ष में **स्विन्न, मिन्न, क्ष्विण्ण, धृष्ट**—रूप होंगे ।

पूङ् से सेट् निष्ठा (तथा क्त्वा) कित् नहीं होता[7]—**पवितः सोमः ।** इट् के अभाव में **पूतः सोमः ।**

मृष् से तितिक्षा अर्थ में निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता[8]—**मर्षित । मर्षितो मेऽपराधो गुरुणा ।** अन्यत्र **अपमृषितं वाक्यमाह,** अविस्पष्टम् ।

---

१. प्रतेश्च (६।१।२५) ।
२. विभाषाऽभ्य् अव-पूर्वस्य (६।१।२६) ।
३. वचि-स्वपि-यजादीनां किति (६।१।१५) । 'शिव' यजादि धातुओं में से एक है ।
४. स्त्यः प्रपूर्वस्य (६।१।२३) ।
५. प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५४) ।
६. निष्ठा शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः (१।२।१९) ।
७. पूङः क्त्वा च (१।२।२२) ।
८. मृषस्तितिक्षायाम् (१।२।२०) ।

उदुपध (ह्रस्व उ उपधा वाली) धातुओं से सेट् निष्ठा प्रत्यय भाव तथा कर्म के वाच्य होने पर विकल्प से कित् नहीं होता[1]—**द्युतितमनेन । द्योतितमनेन । प्रद्युतिता विद्युत्,** बिजली चमकने लगी । **प्रद्योतिता विद्युत् । मुदितं देवदत्तेन । मोदितं देवदत्तेन,** देवदत्त प्रसन्न हुआ । **प्रमुदितो देवदत्तः । प्रमोदितो देवदत्तः,** देवदत्त प्रसन्न हो रहा है ।

कुटादि कुट्, कुच्, स्फुट्, छुर्, स्फुर्, स्फुल् इन सेट् धातुओं से निष्ठा कित् न होगी पर ङित् होगी[2], अतः गुणाभाव रहेगा—**कुटित । कुचित । संकुचित । स्फुटित । छुरित । स्फुरित । स्फुलित ।**

आदेश

कुछेक स्थलों में प्रकृति अथवा प्रत्यय (क्त) को आदेश हो जाता है । उन्हें यहाँ दर्शाते हैं—

प्यायी (प्याय्) को 'पी' आदेश विकल्प से होता है ।[3] यह व्यवस्थित विभाषा है । उपसर्गरहित प्याय् को नित्य 'पी' होता है और उपसर्गसहित को होता ही नहीं—**पीन । पीनमुरः । पीनौ बाहू ।** यहाँ कृत्यचः (८।४।२९) से प्राप्त णत्व का 'न भाभूपू—' (८।४।३४) से निषेध हो जाता है । **प्रप्यान । आप्यान । प्रप्यानश्चन्द्रमाः,** चाँद जो बढ़ना प्रारम्भ हुआ है । आङ्पूर्वक को 'पी' होता ही है जब कुआँ तथा ऊधस् अर्थ हो[4]—**आपीनम् अन्धुः** (कुआँ) । **आपीनमूधः ।**

स्फायी (स्फाय्) को नित्य ही 'स्फी' आदेश होता है[5]—**स्फीत । स्फीतो जनपदः ।** क्तिन् में स्फी भाव नहीं होगा—'स्फाति' ऐसा रूप होगा, न कि स्फीति ।

---

१. उदुपधाद् भावाऽऽदिकर्मणोरन्यतरस्याम् (१।२।२१) ।
२. गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१) । इङ् के आदेश गा से तथा तुदाद्यन्तर्गण कुटादि धातुओं से ञित्-णित्-भिन्न प्रत्यय ङित्वत् होता है ।
३. प्यायः पी (६।१।२८) । व्यवस्थित विभाषा ।
४. आङ्पूर्वस्यान्धूधसोर्भवत्येव ।
५. स्फायः स्फी निष्ठायाम् (६।१।२२) ।

'धा' को 'हि' आदेश होता है[1]—**हित । निहित । आहित । संहित । उपहित । उपाहित । परिहित ।**

दो, सो, मा, स्था—इन्हें इकार अन्तादेश होता है[2]—**दित । सन्दित । मित । स्थित ।** मा, माङ्, मेङ्—तीनों का ग्रहण इष्ट है ।

शो, छो—को विकल्प से इकार अन्तादेश होता है[3]—**शित, शात । छित, छात । शित इषुः । निशित इषुः**=तीक्ष्ण बाण । **शातोदरी**=कृशोदरी । **छातश्छागः**, पतला दुबला बकरा । व्रत विषय में नित्य ही इकार अन्तादेश होता है[4]—**संशितं व्रतम्** =सम्यक् सम्पादितम्, अच्छी तरह पूरा किया गया व्रत । **संशितो ब्राह्मणः**=व्रत-विषयक-यत्नवान् (दीक्षित) ।

घु-संज्ञक 'दा' को दथ् आदेश होता है[5]—**दत्त ।**

ह्लादी (ह्लाद्) को ह्रस्व होता है[6]—**ह्लन्न । प्रह्लन्न ।**

अद् को जग्ध् आदेश होता है[7]—अद्-त=जग्ध् त=जग्ध् ध=**जग्ध । पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः** (कठोप०) ।

घुसंज्ञक धेट् (धे) पीना, चूसना, गै, पा (पीना), हा (त्यागना)—को 'ई' अन्तादेश होता है[8]—धेट्—**धीत । कस्या धन्याया अम्बायाः कुमारेणानेन स्तनौ धीतौ । गै—गीत । भगवद्गीतासूपनिषत्सु वर्णितोऽयमर्थो विस्तरेण,** भगवान् कृष्ण से गाई गई उपनिषदों में यह बात विस्तार से कही गई है । पा—**पीत ।** हा—**हीन । बुद्ध्या हीनः**, त्यक्त इत्यर्थः ।

जन्, सन्, खन्—को 'आ' अन्तादेश होता है[9]—**जात । सात । खात । देवखातबिले गुहा**—अमर ।

---

१. दधाते र्हिः (७।४।४२) ।
२. द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत्ति किति (७।४।४०) ।
३. शाच्छोरन्यतरस्याम् (७।४।४१) ।
४. श्यतेरित्त्वं व्रते नित्यमिति वक्तव्यम् (वा०) ।
५. दो दद्घोः (७।४।४६) ।
६. ह्लादो निष्ठायाम् (६।४।९५) ।
७. अदो जग्धि र्ल्यप्ति किति (२।४।३६) ।
८. घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि (६।४।६६) ।
९. जन-सन-खनां सञ्झलोः (६।४।४२) ।

भाव, कर्म से अन्यत्र 'क्षि' को दीर्घ[1]—क्षीण। **क्षीणो राजा वाहनेन बलेन च।** यहाँ 'क्त' कर्ता अर्थ में है।

आक्रोश (शाप) तथा दैन्य (दुर्गति) अर्थ में 'क्षि' को विकल्प से दीर्घ होता है[2]—**क्षितायुर्भव दुर्बुद्धे। क्षीणायुर्भव दुर्बुद्धे। हा क्षितोऽयं तपस्वी। हा क्षीणोऽयं तपस्वी।**

क्षीर तथा हविस् के विषय में श्रा (पकना, उबलना) तथा श्रप् (श्रा का ण्यन्त) को 'शृ' आदेश होता है[3]—**शृतं पयः। शृतं हविः।** पर **श्राणा यवागूः।**

उपसर्ग-रहित ञिफला (फल्), क्षीब् (मत्त होना), कृश् (दुबला होना) उद्पूर्वक लाघ् के क्रम से **फुल्ल, क्षीब, कृश, उल्लाघ** (जो बीमारी से उठा है) निष्ठान्त रूप निपातन किए हैं।[4] फल् से परे क्त के त को ल। अन्यत्र 'क्त' का लोप हुआ है। **चिरं रुग्णोऽसौ सम्प्रत्युल्लाघः।** उद्पूर्वक तथा सम्पूर्वक फल् से भी **उत्फुल्ल, सम्फुल्ल** क्तान्त रूप बनते हैं। फुल्ल् विकसने से पचाद्यच् करके फुल्ल रूप सिद्ध हो जाता है। पर एवं-व्युत्पन्न फुल्ल शब्द का भूत-कालिक क्रिया को कहने में प्रयोग न हो सकेगा और भाव में भी प्रयोग न बन सकेगा। उपसर्ग-सहित ञिफला आदि के **प्रफुल्त, प्रक्षीबित, प्रकृशित** रूप होंगे।

शुष् से निष्ठा-त को क और पच् से व होता है[5]—**शुष्क। पक्व। कुत्व।** क्षै से परे निष्ठा-त को म[6]—**क्षाम।** आत्व। **क्षुत्क्षामः**, भूख से क्षीण।

अजन्त उपसर्ग से परे दा और दो (आत्व होने पर दा) के 'आ' को 'त्' होता है और यदि उपसर्ग इगन्त हो तो उसके इक् को दीर्घ हो जाता है[7]—**प्रदा—प्रत्त। अवदा—अवत्त। प्रदो—प्रत्त। अवदो—अवत्त। अवत्तम्=अवदान किया गया,** टुकड़ा काटा गया। प्रतिदा—**प्रतीत्त,** लौटाया गया।

---

१. निष्ठायामण्यदर्थे (६।४।६०)।
२. वाऽऽक्रोश-दैन्ययोः (६।४।६१)।
३. क्षीर-हविषोर्नित्यं शृभावः, अन्यत्र न भवति।
४. अनुपसर्गात्फुल्ल-क्षीब-कृशोल्लाघाः (८।२।५५)।
५. शुषः कः (८।२।५१) पचो वः (८।२।५२)।
६. क्षायो मः (८।२।५३)।
७. अच उपसर्गात्तः (७।४।४७)। दस्ति (६।३।१२४)।

अप्रतीत्तमृणम् (अथर्व० ६।११९।१), जो ऋण लौटाया नहीं गया। इसी प्रकार निदा—**नीत्त**। परिदा—**परीत्त**।

पर अवदत्त, विदत्त, (आदि कर्म में) **प्रदत्त, सुदत्त, अनुदत्त, निदत्त**—ये भी इष्ट हैं। यहाँ अव-आदि उपसर्ग नहीं हैं उपसर्ग प्रतिरूपक हैं, ऐसी कल्पना की जाती है।

क्यच्, क्यङ् का विकल्प से लोप आर्धधातुक प्रत्यय (जैसे क्त) परे होने पर[1]—वरिवस् क्यच्=**वरिवस्य**। वरिवस्य क्त=**वरिवसित**। **वरिवस्यित**= पूजित।

निष्ठा-प्रत्यय के प्रयोग का विषय

इस प्रकरण के प्रारम्भ में हम कह आए हैं कि निष्ठा प्रत्यय (क्त) प्रायः भूतकाल की क्रिया को कहने वाली धातु से आता है, पर यह इच्छार्थक, बुद्धयर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से वर्तमान अर्थ में आता है[2]—**सतां मतः**, सज्जनों को इष्ट, प्यारा। **सताम् इष्टः**। **सतां बुद्धः**। **सतामवगतः**। **सतां पूजितः**। **सताम् अर्चितः**। **सताम् अभ्यर्हितः**। **सताम् अञ्चितः** (पूजित)। यहाँ सर्वत्र कर्ता में षष्ठी हुई है। सज्जनों से चाहा हुआ, जाना हुआ, पूजा हुआ अर्थ है।

जिन धातुओं में ञि अनुबन्ध लगा हुआ है अर्थात् जो ञित् हैं, उनसे 'क्त' वर्तमान अर्थ में आता है[3]—ञिधृषा (धृष्)—**धृष्ट**, जो अविनीत है।

यह भी कहा जा चुका है कि 'क्त' यथायोग्य भाव तथा कर्म का वाचक होता है अर्थात् अकर्मक धातुओं से भाव में आता है और सकर्मक धातुओं से कर्म में। पर आदिकर्म=प्रारम्भ में (धातुवाच्य क्रिया के प्रारम्भ के 'प्र' आदि द्वारा द्योत्य होने पर) 'क्त' कर्ता में भी आता है, और यथाप्राप्त भाव, कर्म में भी[4]—**व्याकरणचन्द्रोदयं प्रकृताः स्मः**, हम ने व्याकरणचन्द्रोदय का प्रणयन प्रारम्भ किया है। पक्ष में **व्याकरणचन्द्रोदयः प्रकृतोऽस्माभिः** (कर्म में क्त)। आदिकर्म में निष्ठा-प्रत्यय की अप्राप्ति थी, कारण कि यद्यपि क्रिया का

---

१. क्यस्य विभाषा (६।४।५०)।
२. मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८)।
३. ञीतः क्तः (३।२।१८७)।
४. आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च (३।४।७१)।

आद्य क्षण भूत है, अतीत है, आगे आने वाले क्षणान्तर वर्तमान हैं और निष्ठा का विधान भूत में हुआ है। अत: वार्तिककार यहाँ वार्तिक पढ़ते हैं— आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या । **मासं मातुमारब्धश्चन्द्रमाः=मासप्रमितश्चन्द्रमाः ।**

गत्यर्थक, अकर्मक धातुओं से तथा शिलष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह्, जॄ धातुओं से निष्ठाप्रत्यय क्त कर्ता में भी आता है और यथाप्राप्त भाव व कर्म में भी।[1] शिलष् आदि सोपसर्गक होकर सकर्मक हो जाती हैं। **गतो देवदत्तो ग्रामम् । गतो देवदत्तेन ग्रामः** (कर्म में)। **गतं देवदत्तेन** (भाव में)। **सलिलमवगाढो मुनिजनः** (स्वप्न०) । **अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि ।** अकर्मक धातुओं से—**श्रान्तोऽसि** (कर्ता में)। **श्रान्तं त्वया** (भाव में)। **आसितो भवान् । आसितं भवता । शिशुः शयितः । शयितं शिशुना ।** श्लिष्—**उपश्लिष्टो गुरुं भवान्**, आप गुरु जी के पास गए। **उपश्लिष्टो गुरुर्भवता** (कर्म में)। **उपश्लिष्टं भवता** (कर्म की अविवक्षा में भाव में क्त) । शीङ्—**उपशयितो गुरुं भवान्** (आप गुरु जी के समीप सोये)। **उपशयितो गुरुर्भवता । उपशयितं भवता ।** स्था—**उपस्थितो गुरुं भवान्** (कर्ता में क्त), आप गुरु जी की सेवा में ठहरे। **उपस्थितो गुरुर्भवता । उपस्थितं भवता ।** आस्—**उपासितो गुरुं भवान्**, आप गुरु जी की सेवा में बैठे। **उपासितो गुरुर्भवता । उपासितं भवता ।** वस्—**अनूषितो गुरुं भवान्**, आप ने गुरु जी के समीप वास किया। **अनूषितो गुरुर्भवता । अनूषितं भवता ।** जन्—**अनुजातो माणवको माणविकाम्**, लड़का लड़की के पश्चात् जन्मा। **अनुजाता माणवकेन माणविका । अनुजातं माणवकेन ।** आरुह्—**आरूढो वृक्षं भवान् । आरूढो वृक्षो भवता । आरूढं भवता ।** जॄ— **अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः**, देवदत्त शूद्री के पीछे जीर्ण हो गया। **अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन । अनुजीर्णं देवदत्तेन**, देवदत्त जरा को प्राप्त हो गया।

अनुपूर्वक स्था से भी 'क्त' कर्ता में पाया जाता है—**वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः** (रा० १।७।१२) । यहाँ राजशास्त्रमनुष्ठिताः=राजशास्त्रानुसारिणः, राजशास्त्रार्थमाचरितवन्तः । **धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञा सतां वृत्तमनुष्ठिताः** (मनु० १०।१२७) ।

सूत्र में 'च' पढ़ने से अनुक्त धातुओं से भी कर्ता में 'क्त' देखा गया साधु

---

१. गत्यर्थाऽकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थाऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च ३।४। ७२) ।

'विस्मृत' का भी कर्तरि प्रयोग कविसमादृत है — उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः (रा० ४।२४।१४)। विस्मृतः = विस्मृतवान्। कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् (शा० ५।१) इति कालिदासस्य।

है। वान्त। विरिक्त। **वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्** (मनु० ५।१४४)। आहृत। प्रतिपन्न। **तस्मात्तत्राहृतो भवेत्** (मनु० ७।१५०)। **इति प्रतिपन्नाः प्राच्याः प्रतीच्याश्च पण्डिताः**। वामन का सूत्र भी है—**व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात्**। **योद्धुं व्यवसितः**=योद्धुं निश्चितवान्। **स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा** (भा० सभा० १४।२२)। यहाँ भज् से 'क्त' कर्ता में हुआ है। **अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव हि** (भा० महाप्रा० ३।७)। **यथाऽस्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान्** (भा० आदि० २०२।१०)। यहाँ रञ्ज् से कर्ता में 'क्त' हुआ है। **सुषिरो वै पुरुषः, स तर्ह्येव सर्वो यर्ह्याशितः** (मैत्रायणी सं० ३।६)। निश्चय ही पुरुष खोखला है, वह तभी भरपूर हो जाता है जभी वह खा चुकता है। यहाँ आङ्पूर्वक अश् (खाना) सकर्मक से कर्ता में क्त हुआ है।

क्लीबत्व-विशिष्ट भाव को कहने के लिए कालसामान्य में 'क्त' आता है—विलसित।[1] **विद्युतो विलसितम्**=विलसनम्=विलासः, बिजली का चमकना। **शिशोः शयितम्**=बच्चे का सोना। **उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्** (रघु० २।१८)। यहाँ गत=गमन। **न मे दुर्व्याहृतं** (=दुर्व्याहारः=दुर्भाषितम्)। **किञ्चिन्नापि मे दुरनुष्ठितम्** (दुरनुष्ठितम्=दुरनुष्ठानम्) (रा० ४।३२।३)। **मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्** (भा० ५।)। ज्वलित=ज्वलन।

अकर्मक धातुओं से, गत्यर्थक तथा भोजनार्थक धातुओं से 'क्त' अधिकरण में भी आता है और यथा प्राप्त कर्ता, भाव तथा कर्म में भी[2]—**आसितो देवदत्तः**। **आसितं तेन**। **इदमेषामासितम्**, यह इनके बैठने का स्थान है। अधिकरण में क्त। **यातो देवदत्तो ग्रामम्**। **यातो देवदत्तेन ग्रामः**। **यातं देवदत्तेन** (भाव में)। **इदमेषां यातम्**, यह इनके जाने का स्थान है। **इदमेषां भुक्तम्**, यह इनके भोजन का स्थान है, जहाँ इन्होंने खाया। **आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय** (रा० २।५८।१२), हे सूत, राम कहाँ बैठे, कहाँ सोए, कहाँ खाना खाया, यह कहिए। **रामस्य शयितं भुक्तं जल्पितं हसितं स्थितम्। प्रक्रान्तं च मुहुः पृष्ट्वा हनूमन्तं व्यसर्जयत्** (भट्टि ८।१२५)। यहाँ सर्वत्र अधिकरण में 'क्त' हुआ है।

---

१. नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४)।
२. क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्य-गति-प्रत्यवसानार्थेभ्यः (३।४।७६)।

कृत्य तथा ल्युट् बहुलतया होते हैं यह तो कहा जा चुका है। दूसरे कृत् प्रत्यय भी जिस अर्थ में विहित किए गए हैं उससे अन्यत्र देखे जाते हैं। बहुलग्रहणादन्येपि कृतो यथाप्राप्तमभिधेयं व्यभिचरन्ति। 'क्त' का करण में कहीं भी विधान नहीं किया गया, पर करण में भी होता है। शॄ वायुवर्ण निवृतेषु—इस वार्तिक में 'निवृत' में 'क्त' करण में हुआ है—**निव्रियतेऽनेनेति निवृतं**, निवारणं प्रावरणम्। **भावप्रधानमाख्यातम्**—यहाँ 'आख्यात' में 'क्त' करण में है—आख्यायन्ते क्रिया गुण भावेन वर्तमानानि स्त्रीपुन्नपुंसकान्यनेनेत्याख्यातम्।

क्तान्त रूपावलि
सेट् अजन्त धातुएँ

श्रि (ञ्)	श्रित[1], संश्रित, आश्रित, उपाश्रित, अधिश्रित, उच्छ्रित[2]	ऊर्णु	ऊर्णुत[3], प्रोर्णुत, व्यूर्णुत
		क्षु	क्षुत[4]
शिव	शून, उच्छून	क्ष्णु	क्ष्णुत, संक्ष्णुत
		नु	नुत, प्रणुत
डी (ङ्) दिवा०	डीन, संडीन, उड्डीन	यु	युत, वियुत[5], संयुत
,, भ्वा०	डयित		
शीङ्	शयित, उपशयित, संशयित	रु	रुत, विरुत, आरुत

---

१. श्रिञ् सेट् है, पर इससे कित् प्रत्यय परे रहते इट् का निषेध है।

२. उच्छ्रित=ऊँचा उठाया हुआ जैसे ध्वज, अथवा ऊँचा (उन्नत)।

३. ऊर्णु सेट् है अनेकाच् होने से, पर इट् के निषेध के लिए इसे एकाच् 'नु' मान लिया जाता है। विपूर्वक ऊर्णु का अर्थ खोलना है। ऊर्णु, प्रऊर्णु का ढाँपना है।

४. क्षु, नु, यु, रु, स्नु आदि धातुएँ सेट् हैं पर एकाच् उगन्त होने से कित् प्रत्यय परे रहते इनसे इट् का निषेध है।

५. वियुत=जुदा।

स्नु	स्नुत, प्रस्नुत	सू (षू) तुदा०	सूत, प्रसूत, प्रतिप्रसूत[1]
असू (ञ्)	असूयित	जागृ	जागरित
धू (ञ्)	धूत, विधूत, अवधूत, व्याधूत	वृ (ङ्)	वृत
धू (तुदा० कुटा०)	धूत	वृञ्	वृत, विवृत, संवृत, आवृत
नू	नूत	कॄ	कीर्ण, विकीर्ण, प्रकीर्ण, संकीर्ण, आकीर्ण
पू (ङ्)	पवित, पूत	गॄ	गीर्ण, उद्गीर्ण, संगीर्ण[2]
पूञ्	पूत	जॄ	जीर्ण
भू	भूत, प्रभूत, संभूत, उद्भूत	तॄ	तीर्ण, उत्तीर्ण, अवतीर्ण
लू (ञ्)	लून, विलून, आलून	पॄ	पूर्त, निपूर्त
सू (षूङ्) अदा०	सूत, प्रसूत	स्तॄ	स्तीर्ण, आस्तीर्ण, विस्तीर्ण
सू (षूङ्) दिवा०	सून, प्रसून		

अनिट् अजन्त धातुएँ

दा	दत्त, प्रदत्त, अवदत्त, प्रत्त, अवत्त, प्रतीत्त, परीत्त	द्रा	निद्राण, प्रद्राण[3]

१. प्रतिप्रसूत = निषिद्ध होकर अनुज्ञात ।
२. संगीर्ण = प्रतिज्ञात ।
३. प्रद्राण = दुर्विध = दरिद्र = दुरवस्थ ।

धा	हित, निहित, अभिहित, परिहित, आहित, संहित, अपिहित, पिहित
पा	पीत, प्रपीत, निपीत, आपीत
मा	मित, प्रमित, संमित, परिमित
माङ्	मित, निर्मित, विनिर्मित, उपमित
म्ना	आम्नात, समाम्नात
या	यात, प्रयात, वियात[1], आयात
वा	वात, प्रवात, निवात
स्था	स्थित, आस्थित[2], उदास्थित[3], संस्थित[4], उपस्थित, विष्ठित, अवस्थित
स्ना	स्नात, प्रस्नात, निस्नात, निष्णात[5], प्रतिष्णात[6]
हा (क्)	हीन, प्रहीण, विहीन
हा (ङ्)	हान, उद्धान
इक्	अधीत
इङ्	अधीत, प्राधीत
इण्	प्रतीत, प्रेत, उपेत, समेत, अपीत

१. वियात = धृष्ट ।

२. आस्थित = आश्रित, प्रतिज्ञात ।

३. उदास्थित = उदासीन । उदास्थित = प्रतीहार, द्वारपाल (क्षीर-स्वामी) ।

४. संस्थित = मृत, अवस्थित ।

५. निष्णात = प्रवीण ।

६. प्रतिष्णात = शुद्ध ।

चि	चित, प्रचित, उपचित, अपचित, आचित, संचित	सु (षुञ्)	सुत, अभिषुत, आसुत
जि	जित, विजित, पराजित	स्तु	स्तुत, प्रस्तुत, संस्तुत, अभिष्टुत, उपस्तुत[3]
हि	हित, प्रहित	ब्रू	उक्त, प्रोक्त, अभ्युक्त, अनूक्त
क्री	क्रीत, परिक्रीत[1], विक्रीत, अवक्रीत	ऋ	ऋत, ऋण
दीङ्	दीन, उपदीन	कृ	कृत, प्रकृत, उपकृत, अपकृत, उपाकृत, अनुकृत
नी	नीत, प्रणीत, उपनीत, संनीत[2], आनीत, परिणीत, अवनीत, विनीत, उन्नीत	पृङ्	पृत, व्यापृत
		मृ	मृत
		स्तृ	स्तृत, आस्तृत, विस्तृत
पीङ्	पीत, निपीत	स्वृ	स्वृत

---

१. परिक्रीत=किराया पर लिया हुआ। कुछ नियत समय के लिए वेतन पर नियुक्त।

२. संनीत=मिलाया हुआ।

३. उपस्तुत=स्तुतिद्वारा निमन्त्रित।

हृ	हृत, प्रहृत, आहृत, समाहृत, संहृत, उपहृत, परिहृत
देङ्	दीत
धेट्	धीत, सुधीत
मेङ्	मित, निमित, विनिमित
वेञ्	उत, प्रोत, ओत
व्येञ्	वीत, संवीत, उपवीत, परिवीत, निवीत
ह्वे	हूत, आहूत, उपहूत
कै	कात
गै	गीत, प्रगीत, उपगीत, संगीत
ग्लै	ग्लान, विग्लान
दै (प्)	अवदात
ध्यै	ध्यात, आध्यात[1], प्रध्यात, अनुध्यात[2]
श्रै	श्राण
छो	छित, छात
दो	दित, संदित, अवत्त, प्रत्त
शो	शित, शात, संशित
सो	सित, अवसित, पर्यवसित

सेट् हलन्त धातुएँ

अञ्च्	अञ्चित[3], अक्त
अर्च्	अर्चित, अभ्यर्चित, प्रार्चित

---

१. आध्यात=उत्कण्ठापूर्वक स्मृत।

२. अनुध्यात=अनुकूलतया चिन्तित। जिसका शुभचिन्तन किया गया वह अनुध्यात होता है।

३. अञ्चित=पूजित।

उच्	उचित, समुचित
कुच्	कुचित, संकुचित
याच्	याचित, प्रयाचित, उपयाचित[1]
रुच्	रुचित, विरुचित, प्ररुचित, अभिरुचित
उच्छी	व्युष्ट (विपूर्वक)
मुर्छा (मुर्छ्)	मूर्त
वञ्च् (वञ्चु)	वक्त
वाञ्छ्	वाञ्छित
अज्	अजित, प्राजित, उदजित[2], प्रवीत[3]
अञ्ज्	अक्त, अभ्यक्त[4], व्यक्त
मृज्	मृष्ट, संमृष्ट[5], प्रमृष्ट
लज् लज्जित	लग्न
लस्ज् होना	लग्न
विज्	विग्न, उद्विग्न, संविग्न
कृत् (काटना)	कृत्त, उत्कृत्त, विकृत्त
कृत् (लपेटना, कातना)	कृत्त
चिन्त्	चिन्तित
चृत्	चृत्त
द्युत्	द्युतित, प्रद्युतित, प्रद्योतित
नृत्	नृत्त, प्रनृत्त[6]
यत्	यत्त, प्रयत्त, संयत्त[7]

---

१. उपयाचित=प्रार्थित । नपुं०—इष्टार्थ-प्राप्ति के निमित्त देवता को प्रतिज्ञात उपहार ।

२. उदजित=हाँककर बाहर निकाला हुआ, जैसे गोधन ।

३. प्रवीत । अज् को विकल्प से 'वी' ।

४. अभ्यक्त=अभ्यङ्ग (मालिश) किया हुआ ।

५. संमृष्ट=संमार्जनी (झाड़ू) से साफ किया हुआ ।

६. प्रनृत्त=आरब्धनर्तन । नर्तितुमारब्धः प्रनृत्तः ।

७. संयत्त=संघर्ष को प्राप्त ।

वृत्	वृत्त, संवृत्त, आवृत्त, परिवृत्त, प्रवृत्त, निवृत्त, संनिवृत्त	निन्द्	निन्दित, प्रनिन्दित, प्रणिन्दित[2]
कत्थ्	कत्थित, विकत्थित	मद्	मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त
अर्द्	अर्दित, समर्ण, न्यर्ण, व्यर्ण, अभ्यर्ण[1], अभ्यर्दित	मिद्	मिन्न, प्रमेदित, मेदित
		मुद्	मुदित, मोदित, प्रमुदित, प्रमोदित
		छृद्	छृण्ण
कुर्द्	कूर्दित, उत्कूर्दित	तृद्	तृण्ण, सन्तृण्ण
क्रन्द्	क्रन्दित, आक्रन्दित	रुद्	रुदित, प्ररुदित
क्ष्विद्	क्ष्विण्ण, क्ष्वेदित, प्रक्ष्वेदित	वद्	उदित, समुदित, व्युदित
खुर्द्	खूर्दित	वन्द्	वन्दित, अभिवन्दित
गद्	गदित, निगदित, प्रणिगदित	विद् (जानना)	विदित
		स्पन्द्	स्पन्दित, विस्पन्दित

---

१. अभ्यर्ण=समीप।

२. प्रनिन्दित, प्रणिन्दित—यहाँ 'वा निंसनिक्षनिन्दाम्' (८।४।३३) से विकल्प से णत्व होता है।

स्यन्द् — स्यन्न, अभिस्यन्न, अभिष्यण्ण, निस्यन्न, निष्यण्ण

एज् — एजित, प्रेजित

एध् — एधित, प्रैधित, समेधित

बुध् भ्वा० — बुधित, बोधित, प्रबुधित, प्रबोधित

रध् — रुद्ध

वृध् — वृद्ध, प्रवृद्ध, संवृद्ध, विवृद्ध

सिध् (भ्वा०) — सिधित, प्रसिधित

स्पर्ध् — स्पर्धित

अन् — अनित, प्राणित[1]

पन् — पनित, पनायित

कुप् — कुपित, कोपित, प्रकुपित, प्रकोपित

क्लृप् — क्लृप्त, संक्लृप्त, विक्लृप्त

गुप् — गुप्त, गोपायित[2]

जप् — जपित

जल्प् — जल्पित, विजल्पित

दीप् — दीप्त, प्रदीप्त, संदीप्त, उद्दीप्त

क्षुभ् — क्षुभित, क्षोभित, प्रक्षुभित, प्रक्षोभित

शुभ् — शुभित, शोभित, प्रशुभित, प्रशोभित

अम् — अभ्यान्त[3], अभ्यमित

कम् — कान्त, कामित[4]

---

१. अनितेः (८।४।१९) से प्राणित में णत्व हुआ ।

२. गुप् से स्वार्थिक 'आय' होने पर ।

३. अभ्यान्त, अभ्यमित=रुग्ण ।

४. णिङ् के भावाभाव से दो रूप । आय आदि आर्धधातुक विषय में विकल्प से होते हैं ।

क्रम्	क्रान्त, आक्रान्त, प्रक्रान्त, उत्क्रान्त, अनुक्रान्त, विक्रान्त, पराक्रान्त, निष्क्रान्त
क्लम्	क्लान्त, विक्लान्त
क्षम्	क्षान्त
तम्	तान्त, प्रतान्त, नितान्त, उत्तान्त
दम्	दान्त
दम् णिच्	दान्त, दमित
भ्रम्	भ्रान्त, विभ्रान्त, उद्भ्रान्त[1], संभ्रान्त[2]
वम्	वान्त
शम्	शान्त, प्रशान्त, उपशान्त, निशान्त[3]
शम् णिच्	शान्त, शमित
श्रम्	श्रान्त, विश्रान्त, परिश्रान्त
अय्	अयित
परा अय्	पलायित[4]
प्र अय्	प्लायित
क्नूयी	क्नूत[5]
क्ष्मायी	क्ष्मात
चायृ	अपचित[6], अपचायित
प्यायी	पीन, आपीन, प्रप्यान
ईर् (उद्)	उदीर्ण
ईर् णिच्	उदीरित, समीरित, प्रेरित

---

१. उद्भ्रान्त=उन्मत्त ।

२. संभ्रान्त=त्वरावान् ।

३. निशान्तम्=गृहम् । निशाम्यन्त्यस्मिन्निति । अधिकरण में क्त ।

४. पलायित, प्लायित । यहाँ उपसर्गस्यायतौ (८।२।१९) से उपसर्ग के रेफ को ल होता है । परा, प्र उपसर्ग-पूर्वक अय् का प्रयोग है ।

५. लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से 'य्' का लोप । ऐसे ही क्ष्मात (=विधूत) में जानें । क्नूत=भीगा हुआ ।

६. चायृ का पूजा-अर्थ में अप-पूर्वक ही प्रयोग होता है ।

गुर्	गूर्ण, अवगूर्ण[1], उद्गूर्ण	धुर्वी (धुर्व्)	धूर्ण
गूर्	गूर्ण, अवगूर्ण, उद्गूर्ण	ष्ठिव्	ष्ठ्यूत, निष्ठ्यूत
छुर्	छुरित	सिव्	स्यूत, प्रस्यूत
ज्वर्	जूर्ण, संजूर्ण, अनुजूर्ण	अश् (खाना)	अशित, प्राशित, आशित
त्वर्	त्वरित, तूर्ण	अशू ङ्	अष्ट, समष्ट, अभ्यष्ट
स्फुर्	स्फुरित, विस्फुरित[2], विष्फुरित	भृश् (दिवा० प०)	भृष्ट[3], विभृष्ट
स्वर् (चुरा०)	स्वरित	भ्रंश्	भ्रष्ट, विभ्रष्ट
स्खल्	स्खलित, प्रस्खलित	अक्षू	अष्ट
स्फुल्	स्फुलित, विस्फुलित, विष्फुलित	इष् (तुदा०)	इष्ट, अभीष्ट, प्रतीष्ट[4]
दिव्	द्यूत, आद्यून, परिद्यून	इष् (दिवा० क्र्यादि०)	इषित, प्रेषित
धाव्	धौत, धावित, प्रधावित	उष्	उषित, उपोषित
		एष (एषृ)	एषित, प्रेषित
		कुष्	कुषित, निष्कुषित

१. अवपूर्वक गुर् का अर्थ मारने के लिए शस्त्र उठाना है। अव यहाँ उद् के अर्थ में आ रहा है। यह वैचित्र्य है।

२. यहाँ स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः (८।३।७६) से विकल्प से षत्व होता है।

३. भृश्, भ्रंश्—दोनों उदित हैं। अतः क्त्वा में इट् विकल्प होने से निष्ठा में अत्यन्त निषेध हो गया।

४. प्रतीष्ट=गृहीत।

गवेष (चुरा०)	गवेषित
घृष्	घृष्ट, धर्षित
पुष् क्र्या०	पुषित
पूष भ्वा०	पूषित
प्रुष् (प्रुषु) भ्वा०	प्रुष्ट
प्लुष् भ्वा०	प्लुष्ट
प्लुष् दिवा०	प्लुषित, विप्लुषित
मुष्	मुषित, प्रमुषित
मूष्	मूषित
मृष्	मर्षित, अपमृषित
रिष्	रिष्ट
रुष्	रुष्ट, रुषित
लष्	लषित, अभिलषित, अपलषित[1]
हृष्	हृष्ट, हृषित
अस् (दिवा०)	अस्त, प्रास्त, अभ्यस्त
अस् (होना०)	भूत

आस्	आसित, उपासित, अन्वासित, पर्युपासित
ध्वंस्	ध्वस्त, विध्वस्त, प्रध्वस्त, अपध्वस्त[2]
भास्	भासित, विभासित, उद्भासित, आभासित
वस् (ढाँपना, पहनना)	वसित
शस्	विशस्त[3], विशसित[4]
शंस्	शस्त, प्रशस्त, अभिशस्त[5]
शास् (शासु)	शिष्ट, अनुशिष्ट
श्वस्	विश्वस्त, आश्वस्त
ईह्	ईहित, समीहित
ऊह्	ऊहित, अभ्यूहित, प्रत्यूहित[6]

१. अपलषित = न चाहा हुआ।

२. अपध्वस्त = धिक्कृत।

३. विशस्त = वियात = धृष्ट।

४. विशसित = अंग-अंग काटकर मारा हुआ।

५. अभिशस्त = दूषित।

६. प्रत्यूहित = विघ्नित।

धातु	रूप
गर्ह्	गर्हित, विगर्हित
गुहू	गूढ, निगूढ
ग्रह्	गृहीत, प्रगृहीत[1], संगृहीत, परिगृहीत, अनुगृहीत, विगृहीत
मह्	महित
मुह्	मुग्ध, मूढ
रह् भ्वा०, रह् चुरा०	रहित, रहित, विरहित
वृह् (उखाड़ना, तुदा०)	वृढ
सह्	सोढ, विसोढ[2]
स्निह्	स्निग्ध, स्नीढ

अनिट् हलन्त धातुएँ

धातु	रूप
शक्	शक्त
	शक्त, शकित[3]
पच्	पक्व, विपक्व
मुच्	मुक्त, विमुक्त, आमुक्त[4], प्रमुक्त, प्रतिमुक्त
रिच्	रिक्त, अतिरिक्त, व्यतिरिक्त, विरिक्त
वच् (ब्रू)	उक्त, अभ्युक्त, प्रोक्त[5]
विच्	विक्त, विविक्त, प्रविविक्त
सिच्	सिक्त, प्रसिक्त, उत्सिक्त[6], अभिषिक्त, निषिक्त

१. प्रगृहीत=बद्ध ।

२. सोढः (८।३।११५) से षत्व का निषेध ।

३. सौनागों के मत से कर्म-वाचक 'क्त' को शक् से परे इट्-आगम होता है ।

४. आमुक्त, प्रतिमुक्त का अर्थ 'बद्ध' है । यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्च शुभ्रम् ।

५. प्रोक्त=व्याख्यात ।

६. उत्सिक्त=उबल कर बाहर आ गया, गर्वित ।

प्रच्छ्	पृष्ट, विपृष्ट, आपृष्ट[1], संपृष्ट, परिपृष्ट
त्यज्	त्यक्त, परित्यक्त
निज्	निक्त, निर्णिक्त
भज्	भक्त, विभक्त, आभक्त, संविभक्त
भुज् (खाना, रक्षा करना)	भुक्त, परिभुक्त[2]
भुज् (टेढ़ा चलना)	भुग्न, आभुग्न
भ्रस्ज्	भृष्ट
मस्ज्	मग्न, निमग्न, उन्मग्न[3]
यज्	इष्ट
युज्	युक्त, वियुक्त, विप्रयुक्त, संयुक्त, अनुयुक्त[4], पर्यनुयुक्त, आयुक्त
रञ्ज्	रक्त, विरक्त, अनुरक्त, संरक्त
रुज्	रुग्ण
सञ्ज्	सक्त, प्रसक्त, संसक्त, अनुषक्त, अभिषक्त
सृज्	सृष्ट, विसृष्ट, उत्सृष्ट, संसृष्ट, अतिसृष्ट[5]
स्वञ्ज्	स्वक्त, परिष्वक्त[6], अभिष्वक्त

---

१. आपृष्ट=आमन्त्रित, जिससे जाने आदि की अनुज्ञा माँगी गई है।

२. जो ज्येष्ठ आदि के भोजन करने से पहले खाया गया।

३. उन्मग्न=जल आदि से बाहर निकला हुआ।

४. अनुयुक्त, पर्यनुयुक्त=पूछा गया।

५. अतिसृष्ट=दिया हुआ। कामचार की अनुज्ञा दिया हुआ।

६. परिष्वक्त, अभिष्वक्त=आलिंगित। परिनिविभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्। (८।३।७०) से षत्व हुआ।

अद्	जग्ध	विद् (तुदा०)	वित्त, विन्न
क्षुद्	क्षुण्ण	विद् (दिवा० रुधा०)	विन्न
खिद्	खिन्न	शद्	शन्न
छिद्	छिन्न, आच्छिन्न[1], उच्छिन्न[2], विच्छिन्न	सद्	सन्न, प्रसन्न, निषण्ण, आसन्न, उत्सन्न[6], विषण्ण
तुद्	तुन्न, प्रतुन्न	स्कन्द्	स्कन्न, विस्कन्न, परिस्कन्न, परिष्कण्ण
नुद्	नुन्न, नुत्त, प्रणुन्न	हद्	हन्न
पद्	पन्न, आपन्न[3], विपन्न, व्यापन्न, सम्पन्न, उत्पन्न, उपपन्न	क्रुध्	क्रुद्ध, अभिक्रुद्ध, प्रतिक्रुद्ध
		क्षुध्	क्षुधित
भिद्	भिन्न, प्रभिन्न[4], संभिन्न[5], उद्भिन्न, निर्भिन्न	बन्ध्	बद्ध, अनुबद्ध[7], निर्बद्ध[8]
		बुध् (दिवा०)	बुद्ध, प्रबुद्ध

१. आच्छिन्न=छीना हुआ ।

२. उच्छिन्न=उत्सन्न, नष्ट । वि-उद्-पूर्वक—व्युच्छिन्न ।

३. आपन्न=प्राप्त । आपद्ग्रस्त ।

४. प्रभिन्न (द्विरद), हाथी जिसके कपोलों से मद बह रहा है ।

५. संभिन्न=भिन्न, संयुक्त, संगत ।

६. उत्सन्न=उच्छिन्न, नष्ट ।

७. अनुबद्ध=साथ लगा हुआ, सन्तत, लगातार, जारी ।

८. निर्बद्ध=प्रेरित, साग्रह प्रार्थित ।

युध्	युद्ध, नियुद्ध, आयुद्ध
राध्	राद्ध, संराद्ध, विराद्ध, अपराद्ध
रुध्	रुद्ध, अनुरुद्ध[1], विरुद्ध, उपरुद्ध, अवरुद्ध
साध्	साद्ध
सिध् (दिवा०)	सिद्ध, प्रसिद्ध, संसिद्ध, आसिद्ध[2]
हन्	हत, आहत, प्रहत, विहत, संहत, उद्धत[3], व्याहत[4]
आप्	आप्त, प्राप्त, व्याप्त, पर्याप्त

क्षिप्	क्षिप्त, प्रक्षिप्त, आक्षिप्त, उत्क्षिप्त, संक्षिप्त, विक्षिप्त
तृप्	तृप्त, वितृप्त, सन्तृप्त
दृप्	दृप्त
लिप्	लिप्त, विलिप्त[5], अनुलिप्त
लुप्	लुप्त, विलुप्त
वप्	उप्त
शप्	शप्त
सृप्	सृप्त, विसृप्त, उत्सृप्त, संसृप्त
स्वप्	सुप्त, प्रसुप्त, सुषुप्त

१. अनुरुद्ध=अनुसृत।
२. आसिद्ध=काल-विशेष के लिए अथवा देश-विशेष में रोका हुआ (अपराधी)।
३. उद्धत=ऊपर उठा हुआ, उच्छृंखल।
४. व्याहत=परस्पर-विरोधी (वचन)।
५. विलिप्त=ईषद् लिप्त। जैसे यहाँ—अभ्रविलिप्ती द्यौः।

रभ्	रब्ध, आरब्ध, समारब्ध, प्रारब्ध, संरब्ध[1]	यम्	यत, नियत, प्रयत[8], संयत, आयत, व्यायत
लभ्	लब्ध, उपलब्ध, विप्रलब्ध[2]	रम्	रत, आरत, विरत, उपरत, उपारत
गम्	गत, आगत, विगत, अवगत[3], अधिगत, उपगत[4], परिगत[5]	क्रुश्	क्रुष्ट, आक्रुष्ट[9], उपक्रुष्ट, उत्क्रुष्ट
		दंश्	दष्ट, उपदष्ट
नम्	नत, आनत, प्रणत, परिणत[6], विपरिणत, उपनत[7]	दिश्	दिष्ट, आदिष्ट, उपदिष्ट, सन्दिष्ट, प्रदिष्ट[10], अपदिष्ट[11]

१. संरब्ध=कुपित ।

२. विप्रलब्ध=ठगा गया ।

३. अवगत=विदित ।

४. उपगत=प्राप्त । नपुं०, रसीद ।

५. परिगत=परिवेष्टित, घिरा हुआ, व्याप्त ।

६. परिणत=परिपक्व, परिवृत्त, बदला हुआ ।

७. उपनत=प्राप्त ।

८. प्रयत=पवित्र, पूत ।

९. आक्रुष्ट, उपक्रुष्ट=शप्त, निन्दित, गर्हित ।

१०. प्रदिष्ट=दिया गया ।

११. अपदिष्ट=हेतुरूप में कहा गया ।

दृश्	दृष्ट, सन्दृष्ट, उपदृष्ट	कृष्	कृष्ट, आकृष्ट, अपकृष्ट[7], उत्कृष्ट, निकृष्ट, संनिकृष्ट[8], विप्रकृष्ट[9]
मृश्	मृष्ट, विमृष्ट, संमृष्ट, आमृष्ट[1]	चक्ष्	आख्यात, विख्यात, प्रख्यात
रिश्	रिष्ट	तुष्	तुष्ट, संतुष्ट, परितुष्ट
रुश्	रुष्ट	त्विष्	त्विष्ट
लिश्	लिष्ट, विलिष्ट	दुष्	दुष्ट, प्रदुष्ट, विप्रदुष्ट, निर्दुष्ट
विश्	विष्ट, आविष्ट[2], प्रविष्ट, संविष्ट[3], उपविष्ट, निविष्ट[4], अभिनिविष्ट[5], प्रत्यभिनिविष्ट, निर्विष्ट[6]	द्विष्	द्विष्ट, प्रद्विष्ट, विद्विष्ट
स्पृश्	स्पृष्ट, संस्पृष्ट	पिष्	पिष्ट, संपिष्ट

---

१. आमृष्ट=छीना गया।

२. आविष्ट=व्याप्त।

३. संविष्ट=सोया हुआ।

४. निविष्ट=लगा हुआ, बसा हुआ, विवाह कर गृही बना हुआ।

५. अभिनिविष्ट, प्रत्यभिनिविष्ट=हठी, आग्रही।

६. निर्विष्ट=भुक्त, अनुभूत।

७. अपकृष्ट=जघन्य, घटिया।

८. संनिकृष्ट=समीपवर्ती।

९. विप्रकृष्ट=दूरवर्ती।

पुष् (दिवा०)	पुष्ट, विपुष्ट, सम्पुष्ट	मिह्	मीढ, प्रमीढ
विष् (विष्लृ)	विष्ट, आविष्ट	रुह्	रूढ, आरूढ, विरूढ, अवरूढ[5], संरूढ
शुष्	शुष्क	वह्	ऊढ, उदूढ[6], प्रौढ[7], पर्यूढ, व्यूढ[8], निर्व्यूढ[9]
श्लिष्	श्लिष्ट, आश्लिष्ट, उपश्लिष्ट[1], विश्लिष्ट, संश्लिष्ट, परिश्लिष्ट		
वस्	उषित, उपोषित[2], अध्युषित, अनूषित, पर्युषित[3], प्रोषित[4], विप्रोषित		

प्रयोगमाला

१. सत्कारो नाम सत्कारेण प्रतीष्टः प्रीतिं जनयति । (स्वप्न०)

आदर आदरपूर्वक ग्रहण किया हुआ प्रेम को उत्पन्न करता है ।

---

१. उपश्लिष्ट = पास गया हुआ ।
२. उपोषित = जिसने उपवास किया है ।
३. पर्युषित = बासा ।
४. प्रोषित, विप्रोषित = विदेश गया हुआ ।
५. अवरूढ = अवतीर्ण ।
६. उदूढ = विवाहा हुआ ।
७. प्रौढ़ = बढ़ा हुआ, चतुर ।
८. व्यूढ = विशेष क्रम से रचित ।
९. निर्व्यूढ = निभाया गया ।

२. इदं ब्राह्मण आहृतं सूत्रकारैरनूद्यते ।
यह ब्राह्मण (ग्रन्थ) में पढ़ा है, सूत्रकारों ने इसका अनुवाद किया है ।

३. नृपाणां ककुदस्य ककुत्स्थस्य तनूजः काकुत्स्थ इत्याहतलक्षणोऽभूत् ।
राजाओं में मूर्धन्य ककुत्स्थ का पुत्र काकुत्स्थ इस नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

४. मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास । (छां० उ०१।१०।१)
ओले पड़ने से नष्ट हुए कुरुदेश में अल्पवयस्का पत्नी के साथ चक्र का गोत्रापत्य उषस्ति दुर्गत अवस्था में रहता था ।

५. अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । (गीता ५।१५)
अज्ञान से ज्ञान ढंपा हुआ है, इससे जीव बुद्धि-व्यामोह को प्राप्त होते हैं ।

६. वरिवसिता गुरवः प्रसीदन्ति प्रसादयन्ति च शेमुषीं शिष्यस्य ।
पूजा किए हुए गुरुजन प्रसन्न होते हैं और शिष्य की बुद्धि को विमल करते हैं ।

७. मदोद्धतस्य नृपतेः सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ।। (हितोप० ४।१७) ।
मद-जल बहाने वाले हाथी की तरह मस्ती से उद्धत हुए (अतः एव) विपरीत मार्ग से चलने वाले राजा के नेता निन्दा का पात्र बनते हैं ।

८. उपहूतो बृहस्पतिरुपास्मान् बृहस्पतिर्ह्वयताम् । (अथर्व० १।१।४)
हमने बृहस्पति को अपने पास बुलाया है, बृहस्पति हमें अपने पास बुलाये ।

९. प्रस्नुतस्तनीयं तिष्ठत्यर्जुनी सुकरा ।
इस सुशीला गौ के थनों से दूध टपक रहा है ।

१०. अत्रार्थेऽधीतिनोपि मुह्यन्ति किमङ्ग प्राधीताः ।
इस विषय में (शास्त्र) पढ़े हुए भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं; जिन्होंने अभी पढ़ना प्रारम्भ किया है, वे तो बहुत अधिक ।

११. विशस्त-विशसितयोः को विशेष इति चेद्वेत्थ, नूनं शाब्दिकोऽसि ।
यदि तू विशस्त, विशसित (दोनों शस् के क्तान्त-रूप) में भेद जानता है, निश्चय ही तू वैयाकरण है ।

१२. पिहितापिहिते समानार्थके भवतः । तत्कस्मात्

पिहित, अपिहित दोनों समानार्थक शब्द हैं, यह कैसे ।

१३. विस्तृत-विस्तीर्णयोः समानाभिधेययोरपि भिद्यते व्युत्पत्तिः । तां ब्रूहि यदि शक्नोषि ।

विस्तृत और विस्तीर्ण की, जो समानार्थक हैं, भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति है । उसे कहो, यदि समर्थ हो ।

१४. फलार्थे निमिते वृक्षे यदि फलं न स्यादफलेग्रहिः स्यात् प्रयासः ।

फल की इच्छा से लगाये गये पौधे में यदि फल न आये तो प्रयत्न विफल हो जाए ।

१५. अहो बत वियातेनानेन गुरुचरणा अप्यवज्ञाताः ।

आश्चर्य है, खेद है, इस ढीठ ने गुरुजी की भी अवज्ञा की है ।

१६. स्वपितीति स्वमपीतो भवतीत्युच्यते ।

जो सोता है ऐसा कहा जाता है, वह अपने आपको प्राप्त (अपने आप में लीन) होता है, ऐसा कहा जाता है ।

१७. मन्त्रैरुपस्तुता देवता उपतिष्ठन्ते वेद्यां धिष्ण्येष्वित्याहुः ।

मन्त्रों द्वारा स्तुति से बुलाये हुए देवता वेदी पर अपने-अपने स्थान पर आ जाते हैं, ऐसा कहते हैं ।

१८. यन्नवनीतमित्युच्यते तत्पयसो दध्नो वा सद्य उन्नीतं भवति ।

जो नवनीत (मक्खन) कहलाता है वह दूध वा दही से ताज़ा निकाला हुआ होता है ।

१९. अनेन सोमोऽभिषुतः, अनेन च सुराऽऽसुता ।

इसने सोमरस निकाला, इसने सुरा निकाली ।

२०. स ओतश्च प्रोतश्च विभुः प्रजासु । (वा० सं० ३२।८)

वह विभु परमात्मा जीवमात्र में ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत है ।

२१. अनेन वाणिजेन विनिमितास्तण्डुलैर्माषाः । लाभश्च महाँल्लब्धः ।

इस बनिये ने चावलों के बदले में माष दे दिए और महान् अर्थ-लाभ प्राप्त किया ।

२२. प्रत्तं प्रदत्तम् इत्युभे अपि निष्ठायां साधुनी रूपे । तत्कस्मात् ?

प्रत्त तथा प्रदत्त—ये दोनों निष्ठा में शुद्ध रूप हैं । यह कैसे ?

२३. अप्रहत एष पन्था यमास्थिता वयम् ।

इस मार्ग पर कोई चला नहीं जिसे हमने आश्रित किया है ।

२४. **अहं मौनीति व्याहतं वचः ।**
मैं मौनी हूँ, यह परस्पर-विरुद्ध वचन है ।

२५. **निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ।** (माघ० २।२७)
लक्ष्य से च्युत सायक वाले धनुर्धारी की डींग के समान ।

२६. **व्युष्टा रजनीति प्रस्थेयं नः । विदूरो ह्यध्वा गन्तव्यः ।**
प्रभात हो गया है, हमें चलना चाहिए । हमें लम्बा सफर करना है ।

२७. **केनेयं व्यूर्णुता द्वाः । प्रोर्णुहीमां ससम्भ्रमम् ।**
यह दर्वाजा किसने खोला है ? इसे झटपट बन्द कर दो ।

२८. **यो हि पयसा संनीतं पयो विक्रीणीत स व्यापदं व्यश्नुवीत ।**
जो जल-मिश्रित दूध को बेचेगा वह आपत्ति को प्राप्त होगा ।

२९. **अवधूतसङ्गो यतिरवधूत इत्युच्यत उत्तरपदलोपात् ।**
सब सङ्ग (आसक्ति) त्याग देने से यति को अवधूत कहते हैं । इस शब्द में उत्तरपद 'सङ्ग' का लोप समझना चाहिए ।

३०. **संस्थिते महात्मनि को ध्रियते ध्रियमाणे च तस्मिन् कः सन्तिष्ठते ।**
महात्मा के मरने पर कौन जीयेगा, उसके जीते-जी कौन मरेगा ?

३१. **सम्भिन्नबुद्धिर्नास्तिको भवति । व्यामिश्रा ह्यस्य बुद्धिः पुण्यपापयोः ।**
सम्भिन्नबुद्धि नास्तिक को कहते हैं, कारण कि उसकी पाप-पुण्य में मिली-जुली (व्यवस्थारहित) बुद्धि होती है ।

३२. **पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि ।**
मैं भगवान् पतञ्जलि को साञ्जलि-बन्ध नमस्कार करता हूँ ।

३३. **यद्यपि नद्यां निस्नातोस्मि, तथापि विमलापेऽस्मिञ्जलाशये सिष्णासामि ।**
यद्यपि मैं नदी में खूब स्नान कर चुका हूँ, तो भी इस निर्मल तालाब में स्नान करना चाहता हूँ ।

३४. **व्याकरणे निष्णातस्यास्य क्रमते बुद्धिर्ऋक्षु ।**
व्याकरण में प्रवीण हुए इसकी बुद्धि ऋचाओं में अव्याहत चलती है ।

३५. **निगडसन्दितचरणा इमा बन्द्यः क्व नीयन्ते ?**
पैरों में बेड़ियाँ डाले हुए ये कैदी कहाँ ले जाये जा रहे हैं ?

३६. **हा शीतेन लुब्ध उपरतोऽनावृतकलेवरो वृषलः ।**
शोक है, सरदी से पीड़ित नंगा शूद्र मर गया ।

३७. **अवरुद्धोऽचरत्पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च ।** (भारत)
भेस बदलकर अर्जुन तेरह वर्ष घूमता रहा ।

३८. **सन्ति केचन यागा येषामुत्सन्ना विधयः, तथापि सूत्रकारैर्व्याख्यायन्ते ।**
ऐसे यज्ञ हैं जिनका अनुष्ठान लुप्त हो गया है, पर सूत्रकार उनकी भी व्याख्या करते हैं ।

३९. **चिरं शयितोऽसि शिशो ! सम्प्रति संजिहीष्व ।**
हे बच्चे ! बहुत सोये हो, अब शय्या छोड़िये ।

४०. **असकृत् प्रयुक्तो ममानुजो मद्वचनं नान्वरुध्यतेत्युदास्थितं मया ।**
बहुत बार प्रेरित करने पर भी मेरे छोटे भाई ने मेरा कहना नहीं माना, अतः मैं उदासीन होगया ।

४१. **अशक्यमात्मानमपहर्तुमिति सहसाऽपसृप्तमपसर्पैः ।**
अब अपने स्वरूप को छिपाना कठिन है, अतः गुप्तचर एकदम चले गये ।

४२. **यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुक्था इति, किं तेन कृतं स्यात् ।** (भाष्य)
जो भोजन किए हुए पुरुष को कहे—मत खा, उसने क्या किया ?

४३. **अधिविन्नेयं वराकी स्वमेव निन्दति न पतिं देवताम् ।**
यह बेचारी जिसके होते हुए उसके पति ने एक और विवाह कर लिया है, अपने आपको ही कोसती है, पतिदेवता को नहीं ।

४४. **स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं विषह्यवेदनं भवति ।** (शाकुन्तल)
मित्रों से बाँटे हुए दुःख की वेदना सहने-योग्य हो जाती है ।

४५. **प्रसन्नो ब्राह्मणशेषः, नार्थो विवरणेन ।**
शेष ब्राह्मण सन्दर्भ स्पष्ट है, व्याख्या की अपेक्षा नहीं ।

४६. विवाताहता मग्ना नौरिवास्मि महार्णवे (भा० सौप्ति० १।२६) । मग्ना [illegible] ।

शतृ-शानच्

शतृ (अत्) और शानच् (आन) लट् के स्थान में आदेश विधान किए हैं । लट् के स्थान में होने से धातु-वाच्य क्रिया की वर्तमानकालिकता को कहते हैं । लः परस्मैपदम् (१।४।९९) से लादेश होने से शतृ परस्मैपद प्रत्यय

है और तङानावात्मनेपदम् (१।४।१००) से शानच् आत्मनेपद प्रत्यय है। अतः परस्मैपदी धातुओं से शतृ तथा आत्मनेपदी धातुओं से शानच् प्रत्यय का प्रयोग होता है। धातोः (३।१।९१) इस अधिकार में विहित तिङ्भिन्न प्रत्यय लट् के आदेश रूप में होने से शतृ, शानच् 'कृत्' प्रत्यय हैं और कर्तृवाचक हैं। ये दोनों शित् होने से सार्वधातुक हैं, अतः इनके परे रहते धातु से शप् आदि विकरण आते हैं। अपित् सार्वधातुक होने से ङित्वत् होकर ये गुण के बाधक हैं। हाँ, शब्विकरणक (जिनका शप् विकरण है) धातुओं को शप्-निमित्तक गुण होता है। इस शास्त्र में इनकी 'सत्' संज्ञा भी की है।[1] इनका वाक्य में प्रयोग (प्रायः) अप्रथमान्त (द्वितीयादि-विभक्त्यन्त) पद के साथ समानाधिकरणता में ही आता है, ऐसा सूत्रकार का मत है।[2] 'अप्रथमा' यह पर्युदास है, प्रसज्यप्रतिषेध नहीं। कहीं-कहीं शिष्ट प्रयोगों में इस नियम का व्यभिचार देखा जाता है। इसके लिए कुछ वृत्तिकार नन्वोर्विभाषा (३।२।१२१) से विभाषा की अनुवृत्ति यहाँ लाते हैं और उसे व्यवस्थित विभाषा मानते हैं। पूर्वसूत्र वर्तमाने लट् (३।२।१२३) से लट् की अनुवृत्ति आने पर भी जो इस सूत्र 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) में पुनः लट् ग्रहण किया है वह अधिक विधान के लिये है, जिससे कहीं-कहीं प्रथमान्त के साथ समानाधिकरणता में भी ये प्रयुक्त होते हैं ऐसा काशिकाकार और भट्टोजिदीक्षित मानते हैं—**पचन्तं देवदत्तं पश्य। पचमानं देवदत्तं पश्य। सन् ब्राह्मणः। अस्ति ब्राह्मणः। विद्यते ब्राह्मणः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः** (मनु० २।१५६)। **प्राचीं दिशं निषेवन्तः सदा देवाः सदानवाः** (वामन पु० ४२।२२)। निषेवन्तः=निषेवमाणाः=निषेवन्ते।

माङ् उपपद होने पर आक्रोश (निन्दा, धिक्कार) के गम्यमान होने पर लट् के स्थान में शतृ, शानच् प्रयुक्त होते हैं[3]—**मा जीवन्यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि ज़ीवति** (माघ० २।४५)। मा जीवन्=कुत्सित आक्रुष्टः सन् जीवति, मा जीवतु इत्यर्थः। वाक्यार्थ=धिक् जीवन है उसका जो परतिरस्कार के

---

१. तौ सत् (३।२।१२७)।
२. लटः शतृ-शानचाव्-अप्रथमा-समानाधिकरणे (३।२।१२४) इस सूत्र में आचार्य का मत शब्दोक्त है।
३. माङ्याक्रोश इति वाच्यम् (वा०)।

दुःख से दग्ध हुआ भी जीता है। वर्तमान अर्थ में भी विहित प्रत्यय आक्रोश के कारण यहाँ तात्पर्य में विध्यर्थक हो जाता है।

क्रिया के लक्षण (चिह्न = परिचायक) तथा हेतु (=कारण, फल) अर्थ में वर्तमान धातु से लट् के स्थान में शतृ, शानच् प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं[१]— लक्षण—**शयाना भुञ्जते यवनाः**, यवन लोग लेटे-लेटे खाते हैं, अर्थात् लेटना उनकी भोजन क्रिया का चिह्न, परिचायक है। हेतु—**अर्थान् अर्जयन् वसति देहल्याम्**, धन कमाने के लिए देहली में रहता है। **अधीयानो वसति काश्याम्**, पढ़ने के हेतु काशी में रहता है। **शयानो वर्धते शिशुः**, सोने से (सोने के कारण) बच्चा बढ़ता है। **पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्** (रा० १।१।१००) रामायण पढ़ने से वाक्पति बन जाता है। **ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणी-नाम्** (अथर्व० १।५।४)। ईशाना=ईशत इति हेतोः।

क्रिया के लक्षण को कहने वाली धातु से शतृ, शानच् कहे हैं, न कि द्रव्य और गुण के भी, अतः यः कम्पते सोऽश्वत्थः, जो हिल रहा है वह पीपल है, यहाँ कम्पन द्रव्य अश्वत्थ का लक्षण है, अतः शानच् नहीं हुआ। यदुत्प्ल-वते तल्लघु। यन्निषीदति तद् गुरु। जो ऊपर तैरता है वह लघु (हल्का) है, जो नीचे बैठता है वह गुरु (भारी) है। यहाँ ऊपर तैरना तथा नीचे बैठना गुण का लक्षण है अतः 'प्लु' से शानच् तथा 'निसद्' से शतृ नहीं हुआ।

हन्तीति पलायते। वर्षतीति भवति। पठत्यतो लभते। यहाँ हेतु के 'इति', 'अतः' शब्दों से उक्त हो जाने से शतृ-शानच् की प्राप्ति नहीं।

पूङ् तथा यज् से वर्तमानकालता में शानन् (आन) प्रत्यय आता है[२]— **सोमं पवमानः। यजमानः।**

ताच्छील्य (तत्स्वभावता), वय तथा शक्ति द्योत्य होने पर धातुमात्र से चानश् आन) प्रत्यय है[३]—**कतीह मण्डयमानाः। कतीह कवचं बिभ्राणाः। कतीह कपाटं निघ्नानाः**, यहाँ कितने अलंकरणशील हैं, यहाँ कितने कवच धारण कर रहे हैं, अर्थात् कितने कवच धारण करने योग्य वय वाले हैं। यहाँ

१. लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६)।
२. पूङ्-यजोः शानन् (३।२।१२८)।
३. ताच्छील्य-वयोवचन-शक्तिषु चानश् (३।२।१२९)।

कितने किवाड़ को तोड़ रहे हैं अर्थात् तोड़ने की शक्ति वाले हैं। शानन् आदि प्रत्यय लट् के आदेश नहीं हैं। ये स्वतन्त्र प्रत्यय हैं। 'सोमं पवमानः' आदि में जो कृद्योगलक्षणा षष्ठी का निषेध हुआ है, वह लादेश होने से नहीं, किन्तर्हि सूत्र में तृन् ग्रहण करने से है। तृन् प्रत्याहार है जो शतृ के 'तृ' से लेकर तृन् के 'न्' तक के प्रत्ययों का ग्राहक है। शानन् आदि के लादेश न होने से षष्ठी-निषेध प्राप्त ही न था।

इङ् तथा ण्यन्त धारि धातु से वर्तमानकाल में शतृ प्रत्यय होता है जब धातुवाच्य क्रिया को कर्ता आसानी से करता है[1]—**अधीयन्पारायणम्**, पारायण का आसानी से पाठ करता है। यह शतृ प्रत्यय लादेश नहीं है, अतः आत्मनेपदी इङ् से हो सका। **धारयन् मस्करिव्रतम्**, संन्यासी के व्रत को अनायास धारण कर रहा है। **सान्दीपनेरधीयन्यो धारयन्नखिलाः कलाः। अबोधयत्कुचेलादीन् स विद्यामाधवोऽवतात्॥** सान्दीपनि आचार्य से जो सहज में ही पढ़ रहा है......।

द्विष् से शतृ प्रत्यय आता है जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय का अर्थ 'शत्रु' हो[2]—द्विषत्। **यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ द्विषन्मुरम्। अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत् कार्यद्वयाकुलः॥** (माघ० २।१) मुरं द्विषन्=मुरशत्रुः। यियक्षमाणः =यष्टुमिच्छन्=यज्ञ करना चाहता हुआ।

यज्ञ-सम्बन्धी अभिषव को कहने वाली सुञ् धातु से यजमान के अर्थ में शतृ प्रत्यय होता है[3]—**सर्वे सुन्वन्तः**, सब सोमरस निष्पादन करने वाले यजमान।

अर्ह् धातु से प्रशंसा गम्यमान होने पर शतृ आता है[4]—**अर्हन्निह भवान् विद्याम्**। आप विद्याप्राप्ति के योग्य हैं। **त्वमर्हतां प्राग्रहरः स्मृतोसि नः** (शाकुन्तल ५।१५)। अर्हत=आदरार्ह, पूज्य, संभावित।

विद् (जानना) से शतृ प्रत्यय को वसु (वस्) आदेश विकल्प से होता

---

१. इङ्-धार्योश्शत्रकृच्छ्रिणि (३।२।१३०)।
२. द्विषोऽमित्रे (३।२।१३१)।
३. सुञो यज्ञसंयोगे (३।२।१३२)।
४. अर्हः प्रशंसायाम् (३।२।१३३)।

है[1]—**विदत्**। **विद्वस्**। प्र० एक० **विद्वान्**। **बहु विदन्नपि नाहं वेद्मीति भावयेत्**। **परमार्थं विद्वांसो मुनयः** सद्य एव मुच्यन्ते। परम तत्त्व को जानने वाले एकदम मुक्त हो जाते हैं।

लृट् के स्थान में भी विकल्प से शतृ-शानच् होते हैं[2]—**करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य,** जो करेगा उसे देख। **मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि** (बृ० उ० २।४।१)। **यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि** (छां० उ० ५।११।५)।

रूप-रचना

धातु से शतृ(अत्)तथा शानच् (आन) प्रत्यय आने पर अंग को वही कार्य होता है जो लट् लकार में, कारण कि यहाँ भी प्रत्ययों के कर्तृवाचक सार्वधातुक होने से शप् आदि विकरण होते हैं। यहाँ हम बोध के सौकर्य तथा पर्याप्ति के लिये लडन्त रूपों के साथ साधारण कार्यविशेषों को दर्शाते हैं।

गुणाभाव

जागृ—जाग्रति (लट्)। **जाग्रत्** (शतृ)। यण्। हु—जुह्वति (लट्)। **जुह्वत्** (शतृ)। यण्। इ—यन्ति (लट्)। यत् (शतृ)। यण्। श्रु—शृण्वन्ति (लट्)। **शृण्वत्** (शतृ)। यण्। सु—सुन्वन्ति (लट्)। **सुन्वत्** (शतृ)। यण्। सु—शानच्=**सुन्वान**। कृ—कुर्वते (लट्)। **कुर्वत्**। शतृ। **कुर्वाण** (शानच्)। यण्। स्तु—स्तुवते (लट्)। **स्तुवत्** (शतृ)। **स्तुवान** (शानच्)। उवङ्। ब्रू—ब्रुवन्ति (लट्)। **ब्रुवत्** (शतृ)। **ब्रुवाण** (शानच्)। उवङ्। आप्—आप्नुवन्ति (लट्)। **आप्नुवत्** (शतृ)। साध्—साध्नुवन्ति (लट्)। **साध्नुवत्** (शतृ)। उवङ्। अधि इङ्—अधीयते (लट्)। **अधीयान** (शानच्)। इयङ्।

गुण

मिद्—मेद्यति (लट्)। **मेद्यत्** (शतृ)। शीङ्—शेते। लट्)। **शयान** (शानच्)।

वृद्धि

मृज्—मृजन्ति, मार्जन्ति (लट्)। **मृजत्, मार्जत्** (शतृ)।

---

१. विदेः शतुर्वसुः (७।१।३६)।
२. लृटः सद्वा (३।३।१४)।

धात्वादेश

पा—पिबति (लट्)। **पिबत्** (शतृ)। घ्रा—जिघ्रति (लट्)। **जिघ्रत्** (शतृ)। ध्मा—धमति (लट्)। **धमत्** (शतृ)। स्था—तिष्ठति (लट्)। **तिष्ठत्** (शतृ)। म्ना—मनति, आमनति (लट्)। **मनत्, आमनत्** (शतृ)। दाण्—यच्छति, प्रतियच्छति (लट्)। **यच्छत्, प्रतियच्छत्** (शतृ)। दृश्—पश्यति (लट्)। **पश्यत्** (शतृ)। ऋ - ऋच्छति (लट्)। **ऋच्छत्** (शतृ)। सृ—धावति (लट्)। **धावत्** (शतृ)। शद्—शीयते (लट्)। **शीयमान** (शानच्)[1]। इष्—इच्छति (लट्)। **इच्छत्** (शतृ)। गम्—गच्छति (लट्)। **गच्छत्** (शतृ)[2]। ज्ञा—जानाति (लट्)। **जानत्** (शतृ)। **जानान** (शानच्)। जन्—जायते (लट्)। **जायमान** (शानच्)।[3]

उपधा-कार्य

उपधा 'अ' का लोप[4]—घ्नन्ति। (हन् लट् प्र० पु० बहु०)। **घ्नत्** (शतृ)। 'अ' का लोप होने पर ह् और न् का आनन्तर्य हो जाने से ह् को कुत्व, घ्।[5]

उपधा-न् का लोप[6]—दंश्—दशति (लट्)। **दशत्** (शतृ)। सञ्ज्—सजति (लट्)। **सजत्** (शतृ)। व्यतिषजति। **व्यतिषजत्**। स्वञ्ज्—स्वजते (लट्)। **स्वजमान** (शानच्)। परिष्वजते। **परिष्वजमान**। बन्ध्—बध्नाति (लट्)। **बध्नत्** (शतृ)। उपधा—दीर्घ[7]—शम्—शाम्यति (लट्)। **शाम्यत्** (शतृ)। श्रम्—श्राम्यति (लट्)। **श्राम्यत्** (शतृ)। तम्—ताम्यति (लट्)। **ताम्यत्** (शतृ)। दम्—दाम्यति (लट्)। **दाम्यत्** (शतृ)। भ्रम्—भ्राम्यति (लट्)। **भ्राम्यत्** (शतृ)। क्षम्—क्षाम्यति (लट्)। **क्षाम्यत्** (शतृ)। क्लम्—क्लाम्यति (लट्)। **क्लाम्यत्** (शतृ)। मद्—माद्यति (लट्)। **माद्यत्**

---

१. पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्छ-धौ-शीय-सीदाः (७।३।७८)।

२. इषगमियमां छः (७।३।७७)।

३. ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९)।

४. गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।९८)।

५. होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४)।

६. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४)।

७. शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४)।

(शतृ)। क्रम्—क्रामति। क्राम्यति। (लट्)। **क्रामत्**। **क्राम्यत्** (शतृ)[१]। ष्ठिव्—ष्ठीव्यति। ष्ठीवति (लट्)। **ष्ठीव्यत्**। **ष्ठीवत्**। (शतृ)। क्लम्—क्लामति। क्लाम्यति। (लट्)। **क्लामत्**। **क्लाम्यत्** (शतृ)। आङ् चम्—आचामति (लट्)। **आचामत्** (शतृ)[२]। आङ् न होगा तो उपधा-दीर्घ नहीं होगा—चमति। विचमति। **चमत्**। **विचमत्**।

आ-लोप

श्ना प्रत्यय तथा अभ्यस्त धातु (जिसे द्विर्वचन हुआ है) के 'आ' का लोप[३]—जानते (वे जानते हैं) (लट्)। **जानत्** (शतृ)। **जानान** (शानच्)। दा—ददति। ददते (लट्)। **ददत्** (शतृ)। **ददान** (शानच्)। हा—जहति (लट्)। **जहत्** (शतृ)। हाङ् (जाना)—जिहते (लट्)। **जिहान** (शानच्)।

ह्रस्व

पू—पुनाति—पुनीते (लट्)। **पुनत्** (शतृ)। **पुनान** (शानच्)। लू—लुनाति—लुनीते (लट्)। **लुनत्** (शतृ)। **लुनान** (शानच्)। धूञ्—धुनाति (लट्)। **धुनत्** (शतृ)। **धुनान** (शानच्)। शॄ—शृणाति (लट्)। **शृणत्** (शतृ)[४]।

नुम्

मुच्—मुञ्चति—मुञ्चते (लट्)। **मुञ्चत्** (शतृ)। **मुञ्चमान** (शानच्)। लिप्—लिम्पति—लिम्पते (लट्)। **लिम्पत्** (शतृ)। **लिम्पमान** (शानच्)। लुप्—लुम्पति—लुम्पते (लट्)। **लुम्पत्** (शतृ)। **लुम्पमान** (शानच्)। विद (प्राप्त करना)—विन्दति—विन्दते (लट्)। **विन्दत्** (शतृ)। **विन्दमान** (शानच्)। सिच्—सिञ्चति—सिञ्चते (लट्)। **सिञ्चत्** (शतृ)। **सिञ्चमान** (शानच्)। कृत्—कृन्तति (लट्)। **कृन्तत्** (शतृ)। पिश्—पिंशति (लट्)। **पिंशत्** (शतृ)।[५]

---

१. क्रमः परस्मैपदेषु (७।३।७६)।

२. ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति। आङि चमेरिति वक्तव्यम्।

३. श्नाऽभ्यस्तयोरातः (६।४।११२)।

४. प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०)। क्र्यादिगण के अन्तर्गत पू आदि धातुओं का गण है।

५. शे मुचादीनाम् (७।१।५९)। 'श' विकरण परे रहते मुच् आदि धातुओं को नुम्-आगम होता है। मित् होने से यह आगम अन्त्य अच् से परे होता है, जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है।

सम्प्रसारण

प्रच्छ—पृच्छति (लट्) । **पृच्छत्** (शतृ) । ग्रह्—गृह्णाति—गृह्णीते (लट्) । **गृह्णत्** (शतृ) । **गृह्णान** (शानच्) । व्यध्—विध्यति (लट्) । **विध्यत्** (शतृ) । व्यच्—विचति (लट्) । **विचत्** (शतृ) । व्रश्च्—वृश्चति (लट्) । **वृश्चत्** (शतृ) । ज्या—जिनाति (लट्) । **जिनत्** (शतृ) ।[1]

अदन्त अंग को मुक् (म्) आगम होता है 'आन' परे होने पर, जैसा कि ऊपर दिए उदाहरणों में हुआ है। परम्पराप्राप्त कुछेक शानजन्त प्रयोगों में मुक् नहीं भी होता, उसमें आगमशास्त्र अनित्य होता है, यही समाधि है—**ततः प्रविशति कामयानावस्थो** राजा (शाकुन्तल) । **नृपक्षिश्वापदगणांस्त्रासयानः सुदुर्मतिः** (हरिवं० २।१३।१३) । **अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः** (मनु० ८।३२) । **एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति** (मनु० (४।२५८) । (नारदः) **कण्डयमानः सततं लोकानटति चञ्चलः । घट्टयानो नरेन्द्राणां तन्त्रीवैराणि चैव ह** (हरि० ३२१०) । कण्डयमानः=परितुष्यन् । साहित्य में प्रायः णिङन्त तथा ण्यन्त धातुओं के विषय में ही मुक् आगम की अनित्यता देखी गई है । हाँ, **किंपचान** (=कृपण) में भ्वादि पच् से भी मुक् आगम नहीं हुआ ।

ताच्छीलिक कृत्-प्रत्यय

तृतीयाध्याय द्वितीय पाद के एकसौ पैंतीसवें सूत्र से क्विप्-विधि (३।२। १७५) को अभिव्याप्त करके ताच्छीलिक प्रत्ययों का अधिकार है।[2] जिन्हें हम ताच्छीलिक नाम देते हैं वे न केवल धात्वर्थ के कर्ता के तच्छील (स्वभाव से, फल की अपेक्षा न करके क्रिया को करने वाला) होने पर धातु से आते हैं, तद्धर्मा (क्रिया को अपना शील न होने पर भी कुलाचार ऐसा मानकर करने वाला) और तत्साधुकारी (शील और आचार न होने पर भी प्रशस्त ढंग से करने वाला) होने पर भी आते हैं।

---

१. ग्रहि-ज्या······(६।१।१६) से सम्प्रसारण होता है। अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है अतः श्यन्, श, श्ना प्रत्ययों से पूर्व ग्रह् आदि धातुओं को सम्प्रसारण (यण् के स्थान में क्रम से इ, उ, ऋ, लृ आदेश) होता है।

२. आ क्वेस् तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु (३।२।१३४)।

तृन्—ताच्छील्य आदि में धातुमात्र से तृन्[1]। तृन् और तृच् में स्वर का ही भेद है। रूप दोनों से एक समान बनते हैं। कर्ता के तच्छील होने पर —**वदिता जनापवादान्**, जो स्वभाव से लोक-निन्दक है। **अविता कृष्णः**, कृष्ण रक्षक है, रक्षा करना उसका स्वभाव है। **उद्भावयिता बन्धून् भव, न्यग्भावयिता च शत्रून्**, अपनों को उन्नत करने वाला, शत्रुओं को नीचे करने वाला हो, अर्थात् स्वभाव से जिसकी ऐसी प्रवृत्ति है। कर्ता के तद्धर्मा (=तदाचार) होने पर—**राघवाः पञ्च चूडाः कर्तारो भवन्ति**, रघुकुल के राजकुमार पाँच चोटियाँ रखते हैं, यह उनका कुलाचार है। **मुण्डयितारः श्राविष्ठायना भवन्ति वधूमूढाम्**, श्रविष्ठगोत्रज लोग नव विवाहिता का सिर मूंडते हैं यह उनके कुल की रीति है। **अन्नमपहर्तार आह्वरका भवन्ति श्राद्धे सिद्धे**, जब श्राद्धार्थ भोजन तैयार हो जाता है तब 'अह्वर' देश के लोग उसे उठा ले जाते हैं, यह उनका कुलाचार है। **उन्नेतारस्तौल्वलायना भवन्ति पुत्रे जाते**, तौल्वलि के युवापत्यों का यह कुलधर्म है कि वे उत्पन्न हुए पुत्र को माता से जुदा कर देते हैं। कर्ता के तत्साधुकारी होने पर—**कर्ता कटान्**, चटाइयों को अच्छी तरह से अर्थात् चातुर्य से बनाने वाला। **गन्ता खेटम्**, जो चतुराई से शिकार खेलता है। तृन्नन्त के साथ योग होने से कृद्योग-लक्षणा षष्ठी का निषेध होकर 'जनापवाद' आदि में द्वितीया हुई।

ताच्छील्य आदि अर्थ न होने पर भी ऋत्विक्-विशेषों के नामों की निष्पत्ति तृन्-प्रत्यय से होती है, जब धातु से पूर्व उपसर्ग न हो[2]—हु—तृन्—**होतृ**। पूञ्—**पोतृ**। यहाँ इट् नहीं होता। उपसर्ग होने पर तो तृच् ही होगा—**उद्गातृ** (सामग)। **प्रतिहर्तृ** (उद्गाता का सहायक)। नी—से तृन्—**नेष्टृ**। यहाँ धातु को षुक् (ष्) का आगम भी होता है।[3] नेष्टृ एक सोमयाग-सम्बन्धी ऋत्विक् को कहते हैं जो यजमान की धर्मपत्नी को आगे चलाता है और सुरा तैयार करता है। त्विष् धातु से तृन्, जब प्रत्ययान्त देवता की संज्ञा हो। तृन् परे रहते धातु की उपधा को 'अ' भी होता है[4]—**त्वष्टृ**।

१. तृन् (३।२।१३५)।
२. तृन्विधावृत्विक्षु चानुपसर्गस्य (वा०)।
३. नयतेः षुक् च (वा०)।
४. त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च (वा०)।

क्षद् (जो सौत्र धातु है) से तृन्, जब सारथि अर्थ हो।[1] धातु से इट् नहीं आता है—**क्षत्तृ**। प्र० ए० क्षत्ता। नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः (अमर)।

इष्णुच्—अलंपूर्वक कृ, निरापूर्वक कृ, प्रजन्, उत्पच्, उत्पत्, उन्मद्, रुच्, अप-त्रप्, वृत्, वृध्, सह्, चर्—इनसे तच्छीलादि कर्ता में इष्णुच् (इष्णु) प्रत्यय होता है।[2] यहाँ तीन धातुएँ उत्पूर्व पढ़ी हैं, यह इसलिए कि उपसर्गान्तरयोग में इनसे इष्णुच् नहीं होगा। **'समुत्पतिष्णु'** इत्यादि प्रयोग नहीं बनेंगे। **अलंकरिष्णु**, अलंकरणशील। **निराकरिष्णु**, निराकरण=प्रत्याख्यान स्वभाव वाला। निराकृ के समानार्थक पराकृ से इष्णुच् न होगा। **प्रजनिष्णु**= प्रसवशील। **उत्पचिष्णु**। **उत्पतिष्णु**। **पक्षिणो बाला अप्युत्पतिष्णवो भवन्ति। यल्लघु तदुत्पतिष्णु**, जो हल्का होता है वह ऊपर को उठता है। **अर्थवन्तोऽर्थोष्मणोन्मदिष्णवो भवन्ति**, धनी लोग धन की गर्मी से उन्मत्त हो जाते हैं। **रात्रौ रोचिष्णून्युडूनि किमपि कमनीयानि भवन्ति**, रात को चमकने वाले तारे कितने सुन्दर लगते हैं। **अपत्रपिष्णु**=लज्जाशील। यहाँ भी 'अप' के बिना केवल त्रप् से इष्णुच् नहीं होगा। **अपत्रपिष्णवो भवन्ति कुलयोषितः**। वृत्—**वर्तिष्णु**। वृध्—**वर्धिष्णु**=वर्धनशील। **स्वाध्यायपराणि कुलानि वर्धिष्णूनि भवन्ति**, वेदपाठ-परायण कुल बढ़ा करते हैं। सह्—**सहिष्णु**=सहनशील। **असहिष्णुरियं ते तनूः सूर्यातपम्**, यह तेरा शरीर धूप को सह नहीं सकता। चर्—**चरिष्णु**, गतिशील, जङ्गम। **इह जगत्यां सर्वं चरिष्णिवति तत्त्वम्**।

क्स्नु—ग्लै, जि, स्था—इनसे तथा भू से तच्छीलादि कर्ता के वाच्य होने पर 'क्स्नु' प्रत्यय आता है।[3] यहाँ 'क्स्नु' वस्तुतः गित् प्रत्यय है, ग को चर्त्व हुआ है। अतः 'स्था' को ईकार अन्तादेश नहीं होता। 'क्ङिति च' सूत्र में गकार का भी चर्त्व होने से निर्देश माना जाता है। अतः यहाँ जि को गुण नहीं होगा—**ग्लास्नु**=क्षयशील। ग्लान, ग्लास्नु—इन्हें रोग से क्षीण अर्थ में अमर पढ़ता है। जि—**जिष्णु**। **अर्जुनो जयनशील इति जिष्णुरित्युच्यते**।

---

१. क्षदेश्च नियुक्ते (वा०)।
२. अलंकृञ्-निराकृञ्-प्रजनोत्पचोत्पतोन्मद-रुच्य्-अपत्रप-वृतु-वृधु-सह-चर इष्णुच् (३।२।१३६)।
३. ग्ला-जि-स्थश्च क्स्नुः (३।२।१३९)।

स्था—स्थास्नु, स्थितिशील । **स्थास्नु यशः**, स्थायी यश । भू—**भूष्णु**, होन-हार । **भूष्णु वै सत्यम्** (शतपथ) । 'भू' से इष्णुच् वेद में ही आता है (भुवश्च ३।२।१३८) । अतः भविष्णु, प्रभविष्णु लोक में साधु नहीं हैं ।

क्नु—त्रस्, गृध्, धृष्, क्षिप्—से क्नु[1] । **त्रस्नु**, कातर, डरपोक । **त्रस्नुरिति नायं क्षत्रियः**, डरपोक है, इसलिए यह क्षत्रिय नहीं हो सकता । **स्वार्थे निरपेक्षः परार्थे गृध्नुः कथं स्यात्**, जो अपनी वस्तु के प्रति निरपेक्ष है वह दूसरे के धन का लालची क्योंकर हो सकता है । **धृष्णुरयं जनो मान्यानपि न मानयति । मूढो हि संग्राह्यस्याप्यर्थस्य क्षिप्नुर्भवति ।**[2]

घिनुण्—शम् आदि आठ दिवादिगणी धातुओं से घिनुण् (इन्) होता है ।[3] घकार अगले सूत्रों में कुत्व के लिए है । ण् वृद्धि के लिए है । **शाम्यतीत्येवंशीलः शमी** । तम्—**तमिन्** । दम्—**दमिन्** । **दमनशीलो दमी** । श्रम्—**श्रमिन्** । **सामश्रमी**=सामवेद में श्रम करने वाला । भ्रम्—**भ्रमिन्** । **क्लम्—क्लमिन्** । **क्लान्तः क्लमी** । इन सब में प्रत्यय के णित् होने पर भी वृद्धि नहीं हुई, कारण ये सब उदात्तोपदेश मान्त धातुएँ हैं ।[4] प्रमद्—**प्रमादिन्** । **स्वार्थाद् हीयते प्रमादी । अति प्रहर्षेणाप्युन्मादी भवति मनुष्यः** । यहाँ प्रत्यय के णित् होने से उपधा-वृद्धि हुई । उद्पूर्वक मद् (उन्मद्) से इष्णुच् का विधान विशेषविधि है । यहाँ शमादि गण में होने से सोपसर्गक अथवा निरुपसर्गक मद् से घिनुण् का विधान हुआ है । यह सामान्य विधि है । ताच्छीलिक प्रत्ययों में असरूप अपवाद उत्सर्ग को विकल्प से बाधे, ऐसा नहीं होता । सो यहाँ 'उन्मादिन्' नहीं होना चाहिए । इसका उत्तर यही है कि ताच्छीलिक प्रत्ययों में असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग को नित्य बाधता है, यह वचन भी प्रायिक है, कहीं-कहीं नहीं भी बाधता ।

सम्पूर्वक पृच् मिलाना, रुधा०, अनुपूर्वक रुध् घेरना, रोकना, रुधादि, आङ्पूर्वक यम्, आङ्पूर्वक यस्, यत्न करना, परि-सृ, संसृज्, परिपूर्वक देवृ (देव्) भ्वा० आ०, संज्वर्, परिक्षिप्, परिरट्, परिवद् (निन्दा करना),

---

१. त्रसि-गृधि-धृषि-क्षिपेः क्नुः (३।२।१४०) ।
२. क्षुभ्नादिषु च (८।४।३९) से णत्व-निषेध ।
३. शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् (३।२।१४१) ।
४. नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (७।३।३४) ।

परिदह्, परिमुह्, दुष्, द्विष्, द्रुह्, दुह्, युज्, आङ्पूर्वक क्रीड्, विविच् (विपूर्वक विच्, रुधा०), त्यज्, रज् (=रञ्ज्), भज्, अतिपूर्वक चर्, अपपूर्वक चर्, आङ्पूर्वक मुष् तथा अभिआङ्पूर्वक हन् से[1]—**सम्पृणक्तीत्येवंशीलः सम्पर्की ।** प्रत्यय के घित् होने से कुत्व हुआ ।[2]**अनुरुणद्धीत्येवंशीलः=अनुरोधी,** अनुसरण-शील । **आयन्तुं शीलमस्येति आयामी । विशेषेणायन्तुं शीलमस्येति व्यायामी । व्यायामी पथ्याशी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात्** (आयुर्वेद) । आङ्यस्—**आयासिन् । आयसितुं शीलमस्य इत्यायासी ।** परिसृ—**परिसारिन् । परिसारिणः परीवादा भवन्ति।** संसृज्—**कैवल्यमिच्छन्तः संसर्गिणो न भवन्ति यतयः ।** परिदेव्—**प्रायेण गर्धनाः परिदेविनो भवन्ति,** प्रायः लालची लोग जुआ खेला करते हैं । **आये च व्यये च समं संज्वारिणोऽर्थाः,** क्या आय और क्या व्यय में संसार के पदार्थ एकसमान सन्तापकारी होते हैं । परि-क्षिप्, घेरना—**परिक्षेपिन् । प्रतानिन्यः परिक्षेपिण्यो भवन्ति,** वेलों का स्वभाव है कि ये घेरती हैं । परिरट्—**किमपि कटु परिराटिनो भवन्ति करटाः ।** करट=कौआ । परिवद्—**सा** (वीणा) **तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी** (अमर) । परिवादिनी=सितार । शब्दशक्ति स्वाभाव्य से यहाँ परिपूर्वक वद् का निन्दा अर्थ कुछ भी नहीं। अन्यत्र **परिवादिनः खरयोनिं प्रपद्यन्त इति स्मृतिः,** (गुरु की) निन्दा करने वाले गधे की योनि को प्राप्त होते हैं ऐसा स्मृति कहती है । परिदह्—**अग्निः परिदाही भवति विशेषेण निदाघे ।** परिमुह्—**आकस्मिकेन दुःखोपनिपातेन परिमोही भवति ।** अचानक दुःख के आने से मनुष्य बेसुध हो जाता है। अनुरुध् आदि अचवर्गान्त जो धातुएँ पढ़ी हैं उनके पाठ से ज्ञापित होता है कि सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३।२।७८) सूत्र में सुप् उपसर्ग-भिन्न लिया जाता है, अन्यथा णिनि से ही रूप-सिद्धि हो जाने पर इनका यहाँ पाठ व्यर्थ हो जाता है, ऐसा काशिकाकार मानते हैं । दुष्—**दोषिन् ।** द्विष्—**द्वेषिन् ।** द्रुह्—**द्रोहिन् ।** दुह्—**दोहिन् ।** दोही=दोग्धा=गोप । आङ्क्रीड्—**आक्रीडिनो भवन्ति बालाः ।** वि-विच्—**विवेकिन् ।** कुत्व । **सर्वं दुःखं विवेकिनः** (योगभाष्य) । त्यज्—**त्यागिन् । त्यागिनं न कदर्थयन्ति विषया अपयन्तः ।** विषय

---

१. संपृचाऽनुरुधाऽङ्यमाऽङ्यस-परिसृ-संसृज-परिदेवि-संज्वर-परिक्षिप-परिरट-परिवद-परिदह-परिमुह-दुष-द्विष-द्रुह-दुह-युजाऽऽक्रीड-विविच-त्यज-रज-भजाऽतिचराऽपचराऽऽमुषाऽभ्याहनश्च (३.२।१४२) ।

जाते हुए अर्थात् जुदा होते हुए त्यागशील पुरुष को पीड़ित नहीं करते। युज—**योगिन्**। प्रत्यय के घित् होने से कुत्व। इनमें उपपद न होने से णिनि से सिद्धि दुर्लभ थी, अतः घिनुण् विधान किया। रञ्ज्—**रागिन्**। यहाँ धातु के 'न्' का लोप करके सूत्र में पाठ किया है, अतः घिनुण् प्रत्यय परे रहते भी 'न्' का लोप रहता है। **द्विविधा हि मनुष्या भवन्ति रागिणो विरागाश्च। विरागास्तु विरलाः**। भज्—**भागिन्**। कुत्व। अतिचर—**अतिचरणम् अतिक्रम्य चरणं तच्छीला अतिचारिणः**। अप-चर्—**अपचरणम् अपकृष्टं चरणं तच्छीला अपचारिणः**। अपचारोऽपराधो दोषः। आङ् मुष्—**आमोषिन्**। अभिआङ् हन्—**अभ्याघातिन्**। चारों ओर से प्रहार करने के स्वभाव वाला। अभिघातिन् यह शत्रु-अर्थ में कोष में पढ़ा है। हमारा विचार है कि 'अभ्याघातिन्' का भी यही अर्थ है।

'वि' उपपद होने पर कष्, लष्, कत्थ्, स्रम्भ् से[1]—**विकाषिन्। विकषति हिनस्तीत्येवंशीलो विकाषी**। विलस्—**विलासिन्**। **विलसनशीलो विलासी। हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे** (गीत०)। वि- त्थ्—**विकत्थिन्**, आत्मश्लाघी। **स्वगुणेषु वाचंयमा यथा लोकस्य प्रिया भवन्ति न तथा विकत्थिनः**। विस्रम्भ् (विश्वास करना) से **विस्रम्भिन्। विस्रम्भत इत्येवंशीलः। मित्रं मित्रे विस्रम्भि भवति नाभिशङ्कि।**

लष् से अप तथा वि उपपद होने पर[2]—**अपलाषिन्**, स्वभाव से तृष्णा-रहित। **प्रलापिनो भविष्यन्ति कदा न्वेतेऽपलाषिणः** (भट्टि ७।१२), इस वाक्य में अपपूर्वक लष् का ऐसा ही अर्थ है। विपूर्वक लष् से घिनुण्—**विलाषिन्**। यह विरल प्रयोग है।

प्रपूर्वक लप्, सृ, द्रु, मथ्, वद्, वस् (रहना) से[3]—**प्रलापी मूर्खो भवति**, बकवास करने वाला मूर्ख होता है। प्रपूर्वक लप् का अनर्थक बातें कहना अर्थ है—**प्रलापोऽनर्थकं वचः**—अमर। प्र-सृ—**अमूलाऽपि किंवदन्ती प्रसारिणी भवति**। प्र-द्रु—**प्रद्राविणः प्रद्रवणशीलाः पलायनस्वभावाः**। प्र-मथ्—**प्रमाथिन्**, मसल देने वाला। **चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्** (गीता)। **क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम्** (मालविका०

---

१. वौ कष-लस-कत्थ-स्रम्भः (३।२।१४३)।
२. अपे च लषः (३।२।१४४)।
३. प्रे लप-सृ-द्रु-मथ-वद-वसः। (३।२।१४५)।

३।२)। प्रवद्—**प्रवादिन्**, इधर-उधर की सुनी-सुनाई बातें कहने वाला। प्रवस्—**प्रवासिन्**, जो स्वभाव से देशान्तर में रहता है। प्र शब्द विप्रकर्ष का द्योतक है।

वुञ्—निन्द्, हिंस्, क्लिश्, खाद्, विनाश् (विपूर्वक ण्यन्त नश), परिक्षिप्, परिरट्, परिवादि (परिपूर्वक ण्यन्त वद्), व्याभाष् (वि-आङ्-पूर्वक भाष्) तथा असुञ् (कण्ड्वादि) से तच्छीलादि कर्ता को कहने में वुञ् (अक) प्रत्यय आता है।[1] 'ञ्' वृद्धि के लिए है। **निन्दक**=निन्दनशील। **नास्तिको वेदनिन्दकः**। षष्ठीसमास। यहाँ वाऽसरूप विधि से तृच् करके 'निन्दितृ' शब्द नहीं बना सकते। **हिंसक**=हिंसनशील, घातुक। क्लिश्—**क्लेशक**। **खादक**। **विनाशक**। **विनाशयतीति विनाशकः**। **परिक्षेपक**। **परिराटक**, रटनशील। **परिवादक**=अर्थी, कचहरी में निर्णय के लिये अपनी शिकायत को निवेदन करने वाला। अथवा वीणा को बजाने वाला। इस अर्थ में परिवद् से णिच् प्रत्यय की चरितार्थता स्पष्ट है। **व्याभाषक**, बोलने वाला, सम्बोधन करने वाला। असु—**असूयक**, गुणों में भी दोषारोप करने वाला।

चुरादि दिव परिकूजने अथवा दिवादि दिव् के ण्यन्त रूप से तथा क्रुश् से वुञ् होता है जब उपसर्ग उपपद हो[2]—**आदेवक**। **परिदेवक**। **आक्रोशक**। उपसर्ग न होगा तो ताच्छील्यादि में तृन् निर्बाध होगा—**देवयितृ**। **क्रोष्टृ**।

युच्—चलना अर्थ वाली तथा शब्द करना अर्थ वाली अकर्मक धातुओं से ताच्छील्यादि में युच् (अन) प्रत्यय आता है[3]—**चलन**। **चलनशीलः चलनः**। **चलना स्त्री**, व्यभिचारिणी। **ब्रह्मबन्ध्वां चलनायां नीलः** (गौ० ध० ३।४।२६)। **शब्दन**। **रवण** (रु धातु से)। यदि धातु अकर्मक न होगी तो तृन् निर्बाध होगा—**पठिता विद्याम्**।

अनुदात्तेत् हलादि धातुओं से[4]—**वर्तन**। **वर्धन**। **राजानं कुरु वर्धनम्** (भा० आश्व० १५।३२) **जुगुप्सन**। **मीमांसन**। (उषाः) **सिषासन्ती द्योतना**

---

१. निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाश-परिक्षिप-परिरट-परिवादि-व्याभाषाऽसूयो वुञ् (३।२।१४६)।
२. देवि-क्रुशोश्चोपसर्गे (३।२।१४७)।
३. चलन-शब्दार्थादकर्मकाद् युच् (३।२।१४८)।
४. अनुदात्तेतश्च हलादेः (३।२।१४९)।

शश्वदागात् (ऋ० १।१२३।४)। **अन्यप्रवेशासहनाः संहता नास्य सेवकाः** (राज० ३।१४०)। अकर्मक से ही युच् का विधान है, अतः **वसिता वस्त्रम्**— यहाँ अनुदात्तेत् हलादि वस् (पहरना) से तृन् हुआ। ताच्छीलिकों में परस्पर वाऽसरूप विधि होती भी है, इससे 'विकत्थन' भी साधु होगा।

जु (सौत्र धातु), चङ्क्रम्य (क्रम—यङ्), दन्द्रम्य (द्रम्—यङ्), सृ, गृध्, ज्वल्, शुच्, लष्, पत्, पद् से[1]। **जवन** (वेग से चलने वाला)। **अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता** (श्वेता० ३।१९)। **चङ्क्रमण। चङ्क्रमितुं शीलमस्य= चङ्क्रमणः। यतयश्चङ्क्रमणा भवन्ति न नियतवसतयः**, यति (संन्यासी लोग) घूमते रहते हैं एक जगह नहीं ठहरते। द्रम् गत्यर्थक धातु है। **दन्द्रमण**। यङन्त दन्द्रम्य से युच्। सृ—**सरण**। गृध्—**गर्धन, गृध्नु। गृध्यतीत्येवंशीलो गर्धनः**। गृध् अकर्मक है। **मा गृधः कस्य स्विद् धनम्** (यजुः ४०।१)। यहाँ दो वाक्य हैं मा गृधः (१)। धनं कस्य स्वित् (२)। ज्वल्—**ज्वलन**। 'ज्वलन' अग्नि का नाम है। शुच्—**शोचन**। लष्—**लषण**। ये दोनों विरल प्रयोग हैं। पत्—**पतन**। पद्—**पदन**। ये भी तच्छीलादि कर्ता में अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं।

क्रोधार्थक तथा मण्डनार्थक धातुओं से युच्[2]—**क्रोधन**=सुलभकोप। **रोषण। मण्डन। भूषण**। कुप् से भी—**कोपन**। चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः—अमर।

युच् का निषेध—यकारान्त धातु से युच् नहीं होता।[3] **क्नूयितृ** (क्नूय् से तृन्)। **क्ष्मायितृ** (क्ष्माय् से तृन्)। अनुदात्तेत् हलादि होने से युच् की प्राप्ति थी।

सूद, दीप्, दीक्ष् (अनुदात्तेत् हलादि धातुओं) से युच् न हो।[4] **सूदितृ। दीपितृ। दीक्षितृ**। तृन् हुआ।

उकञ्—लष्, पत्, पद्, स्था, भू, वृष्, हन्, कम्, गम्, शॄ[5]—इनसे तच्छीलादि कर्ता में उकञ् (उक) प्रत्यय होता है। 'ञ्' वृद्धि के लिए पढ़ा है—**अपलाषुकं वृषलसङ्गतम्**, शूद्र की संगति अशोभन है। 'अपलाषुक' का

---

१. जु-चङ्क्रम्य-दन्द्रम्य्-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पदः (३।२।१५०)।
२. क्रुध-मण्डार्थेभ्यश्च (३।२।१५१)।
३. न यः (३।२।१५२)।
४. सूद-दीप-दीक्षश्च (३।२।१५३)।
५. लष-पत-पद-स्था-भू-वृष-हन-कम-गम-शॄभ्य उकञ् (३।२।१५४)।

ऐसा अर्थ पदमञ्जरीकार करते हैं। कर्ता में प्रत्यय होते हुए यह अर्थ कैसे सम्भव हुआ, यह समझ में नहीं आता। अप-लष् का 'न चाहना' अर्थ तो सिद्ध है। 'अपलाषुक' का अर्थ 'न चाहने वाला' होना चाहिए। हमारे विचार में यहाँ **अपलाषुको वृषलसङ्गतम्**, ऐसा पाठ होना चाहिए। उकञ् के योग में कर्म में षष्ठी का निषेध होकर 'वृषलसंगतम्' में द्वितीया हुई है। अभिपूर्व लष् से अभिलाषुक। लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्—अमर। पत्—**प्रपातुका गर्भा भवन्ति**। प्रपातुकाः प्रपतनशीलाः। पद्—**उपपादुकं सत्त्वम्**=स्वयं जन्मा प्राणी अर्थात् देव। **दिव्योपपादुका देवाः** (अमर)। दिव्याश्च ते उपपादुकाश्च ऐसा विग्रह है। उपपूर्वक पद्=संभव होना। स्था—**उपस्थायुका हि शिष्या गुरून् भवन्ति**, शिष्य गुरुओं की सेवा में जाया करते हैं। भू—प्रभू—**प्रभावुकमन्नं भवति**। प्रभावुक=शक्तिशाली। वृष्—**वर्षुकोऽब्दो घनाघनः** (अमर)। **नहि सर्वे पर्जन्याः प्रवर्षुका भवन्ति**। हन्—**वत्सान्घातुको वृकः** (अथर्व० १२। ४.७)। **आघातुकं कापालिकस्य शूलम्**। हिंस्र आघातुकः क्रूरः (अमर)। कम्—**कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति**। गम्—**आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः**, कहते हैं कि राक्षस (जो शाप से राक्षसत्व को प्राप्त हुआ है) वाराणसी में आया करता है (शाप-निर्मोक्ष के लिए)। **किंशारुकं तीक्ष्णमाहुः**, शस्यशूक तीक्ष्ण होता है।

षाकन्—जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट्, वृङ्—से षाकन् (आक)[1]। षित्करण स्त्रीलिङ्ग में ङीष् के लिए है—**जल्पाक**, जल्पनशील। भिक्ष्—**भिक्षाक**, भिक्षु। कुट्ट्—**कुट्टाक**, कूटने वाला। लुण्ट्—**लुण्टाक**, लुटेरा। रुटि लुटि स्तेये भ्वादी। वृङ्—**वराक**, बेचारा। वृङ् का अर्थ यहाँ माँगना है। स्त्रीत्व-विवक्षा में **जल्पाकी, भिक्षाकी** इत्यादि जानें।

इनि—प्रपूर्वक जु (सौत्र धातु) से इनि (इन्) प्रत्यय आता है—**प्रजविन्**। प्रजवी जवन इत्यनर्थान्तरम्।

जि, दृ, क्षि, विश्रि, इण्, वम्, नञ्पूर्वक व्यथ्, अभिपूर्वक अम् (रुग्ण होना), परिभू, प्रसू[2]—**जयिन्**। **दुर्बला अपि संहताः सन्तो जयिनो भवन्ति। जयनशीलो जयी**। दृङ् आदरे—दरिन्। विरलप्रयोग है। क्षि—**क्षयिन्**। क्षयरोग से ग्रस्त। वि-श्रि—**विश्रयिन्**। इण्—**अत्ययिन्**। वम्—**वमिन्। वमनशीलो वमी। वमित्वमपि गर्भलक्षणेष्वन्यतमम्**। नञ्-पूर्वक

---

१. जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन् (३।२।१५५)।

२. जि-दृ-क्षि-विश्रीण्-वमाऽव्यथाऽभ्यम-परिभू-प्रसूभ्यश्च (३।२।१५७)।

व्यथ् से—**अव्यथिन्। सति भयेऽप्यव्यथी तिष्ठति क्षत्रियकुलाङ्कुर एषः।** अभिपूर्व अम्—**अभ्यमी न चिरं जीवति,** जो रोगी रहता है वह चिरजीवी नहीं होता। परि-भू—**परिभविन्। अत्यन्तमप्रियो भवति परिभवी जनः।** प्र-सू—**प्रसविन्। नानाफलानां प्रसवी भवति परिश्रमः।** परिश्रम नाना फलों को उत्पन्न करने वाला होता है। प्रसविनी जननीत्यनर्थान्तरम्। प्रसविनी= माता।

आलुच्—स्पृह, गृह, पत (तीनों चुरादि अदन्त) तथा दय्, निद्रा, तद्-पूर्व द्रा (जहाँ तद् के द् को न् निपातन से होता है), श्रत्पूर्वक धा से तच्छीलादि कर्ता को कहने के लिए आलुच् (आलु) प्रत्यय आता है[1]—**स्पृहयालु। गृहयालु** (ग्रहणशील)। **पतयालु** (पतनशील)। यहाँ 'णि' को अय् आदेश होता है। लोप प्राप्त था। **अपापोऽपि पापसङ्गेन पतयालुर्भवति लोकः,** स्वयं निष्पाप होता हुआ भी मनुष्य पापी की संगति से पतनशील हो जाता है। दय्—**दयालु। अपराद्धेपि शिष्ये दयालवो भवन्ति गुरवः।** निपूर्वक द्रा—**निद्रालु** (जो सो रहा है)। **तन्द्रालु**=तन्द्राशील, अलस। श्रत्-धा—**श्रद्धालु।** 'श्रद्धालु' दोहदवती स्त्री को भी कहते हैं। **श्रद्धालुर्दोहदवती**—अमर। दोहद=गर्भिणी की इच्छा।

वार्तिककार के अनुसार शीङ् से भी आलुच् प्रत्यय आता है—**शयालु।**[2] **शयालु** (सोने वाला, ऊँघने वाला)। **हन्ति नोपशयस्थोपि शयालुर्मृगयुर्मृगान्** (माघ० २।८०)। घात लगाये बैठा हुआ भी ऊँघने वाला शिकारी मृगों को नहीं मार सकता। माघ प्रासाद शोभिभ्यातिशयालुभि: (शिशु० १२।६३) में 'अतिशयालु' शब्द का प्रयोग करता है। यह साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता

रु—दा, धेट्, सि, शद्, सद्—से 'रु'[3]। **दारुर्दानशीलः।** धेट्—**धारु,** चूसने वाला (पीने के स्वभाव वाला) भट्टि का प्रयोग है—**दृग्भ्यां धारू चिरं वत्सं पितरौ तृप्तिमारताम्।** बच्चे को आँखों से पीते हुए अर्थात् सतृष्ण अवलोकन करते हुए माता-पिता तृप्ति को प्राप्त हुए। **वत्सो धारुरिव मातरम्** (अथर्व० ४।१८।२)। **धारुर्वत्सो मातरम्**—काशिका। उ प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध होने से 'वत्सम्' में तथा 'मातरम्' में द्वितीया हुई। सि (बाँधना)—**सेरु।** शद्—**शद्रु।** सद्—**सद्रु। विषद्रुहृदयः**=विषादिचेताः।

---

१. स्पृहि-गृहि-पति-दयि-निद्रा-तन्द्रा-श्रद्धाभ्य आलुच् (३।२।१५८)।
२. आलुचि शीङो ग्रहणं कर्तव्यम् (वा०)।
३. दा-धेट्-सि-शद-सदो रुः (३।२।१५९)।

*/ दम्पत्योर्मन भिदुरो वर्तन्ते दक्षिणोऽनिलः (सुश्रुत० १।६।२४)।
कु इत्यपि शुद्धे कर्तरि कुरच्।

क्मरच्—सृ, घस्, अद्—से क्मरच् (मर) प्रत्यय आता है[1]—**सृमर**। **विसृमर**। विशेषेण सरणशीलं विसृमरम्। **विसृमरं भगवतः पाणिनेर्यशः**। **घस्मर**। **अद्मर**। ये दोनों समानार्थक हैं। **भक्षको घस्मरोऽद्मरः**—अमर। **द्रुपदसुतचमू-घस्मरो द्रौणिरस्मि**—वेणी० (५।३६)। प्रत्यय के कित् होने से 'सृमर' में धातु को गुण नहीं हुआ।

घुरच्—भञ्ज्, भास्, मिद्—से घुरच् (उर) प्रत्यय आता है[2]—**भङ्गुर**। प्रत्यय के घित् होने से धातु के 'ज्' को कुत्व हुआ। भञ्ज् से स्वभाव से ही कर्म-कर्ता में प्रत्यय होता है ऐसा वृत्तिकार मानते हैं। माघ कवि भी भञ्ज् से कर्मकर्ता में प्रत्यय मानता है—**लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराम् अमूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः** (माघ१।३६)। भोजसूत्र भी है—भञ्जेः कर्मकर्तरि। **समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्** (हितोप० ४।६५), इस वाक्य में भी कर्मकर्ता में ही प्रत्यय हुआ है। **रात्रिषु भङ्गुराणि गात्रयन्त्रपञ्जरदारूणि देहिनाम्** (हर्ष० ८ उ०, पृ० २५५)। ऐसे ही यहाँ भी। अन्यत्र भी—**आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः** (हितोप० १।१८८)। पर भामह शुद्ध कर्ता में प्रत्यय मानता है—**मदो जनयति प्रीतिं साऽनङ्गं मानभङ्गुरम्**। भास्—**भासुर**। **विद्याभारभासुरो भूसुरः**। मिद्—**मेदुर**।

कुरच्—विद्, भिद्, छिद्—से कुरच् (उर)[3]। विद्—**विदुर** = वेदनशील विद्वान्। भिद् और छिद् से कर्मकर्ता में प्रत्यय होता है ऐसा काशिकाकार मानते हैं। यद्यपि भाष्य में ऐसा वचन नहीं मिलता। **भिदुरं काष्ठम्** (काशिका), जो लकड़ी इतनी निःसार है कि स्वयं टूट रही है। पर अमर का पाठ है—**भिदुरं पविः**। यहाँ स्पष्ट ही शुद्ध कर्ता में प्रत्यय है। **भिनत्तीत्येवंशीलं भिदुरं वज्रम्**। */ अमरकोष में पाठान्तर 'भिदिर' भी मिलता है। छिद्—**छिदुरा रज्जुः** (काशिका)। पर माघ (६।८) **प्रियतमाय वपुर्गुरुमत्सरच्छिदुरयाऽदुरयाचितमङ्गनाः** में 'छिदुर' शुद्ध कर्ता में प्रयुक्त हुआ है। हर्षचरित में दो स्थलों में काशिका के अनुसार 'छिदुर' का प्रयोग कर्मकर्ता में हुआ है—**सर्वथा लूतातन्तुच्छटाच्छिदुरास्तुच्छाः प्रीतयः प्राणिनाम्** (६।पृ० १९५)। **छिदुरा जीवनबन्धपाशतन्त्रीतन्तवः** (८। पृ० २५५)। रघु०

१. सृ-घस्य्-अदः क्मरच् (३।२।१६०)।
२. भञ्ज-भास-मिदो घुरच् (३।२।१६१)।
३. विदि-भिदि-च्छिदेः कुरच् (३।२।१६२)।

(१६।६२) में भी **संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः** यहाँ कर्मकर्ता में प्रयोग है।

क्वरप्—इण्, नश्, जि, सृ—से क्वरप् (वर)[1]। क्वरबन्त से स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीप् होगा—**इत्वर**, चले जाने वाला, गमनशील। गम् से भी क्वरप् निपातन किया है, साथ ही अनुनासिक लोप भी निपातित किया है।[2] **गत्वर**। गमनशील। **'इत्वरी'** कुलटा का नाम है। **गत्वर्यः सम्पद इत्वर्य इव कुलात्कुलमटन्ति।** नश्—**नश्वर**, विनाशशील। **नेह किञ्चिदनश्वरं समस्ति।** वशादि कृत् परे रहते यहाँ इट् आगम नहीं हुआ।[2] जि—**जित्वर**, जयनशील। सृ—**सृत्वर**। शिवभारत (१४।१०४) में उद्पूर्वक इण् से क्वरप् करके प्रयोग आया है—**अविहतगतिर्दैवोद्रेकाद् उदित्वरविक्रमः**। उदित्वरः=उदयशीलः।

ऊक—'जागृ' से ऊक प्रत्यय होता है[3]—**जागरूक**, जागरणशील, चौकन्ना।

यङन्त यज्, जप्, दंश्—से भी 'ऊक' प्रत्यय होता है[4]—**यायजूक**। **यायज्यते पुनः पुनर्यजत इत्येवंशीलो यायजूकः। गर्हितं जपितुं शीलमस्येति जञ्जपूकः। गर्हितं दंष्टुं शीलमस्येति दन्दशूकः सर्पः। यायजूकं ध्रुवं कालदन्दशूको न खादति। लोकोक्तिजञ्जपूकं च वावदूकं च खादति** (भोज)॥ यङन्त वद् से भी ऊक प्रत्यय शास्त्रकार को अभिमत है। इसमें कुर्वादिगण (४।१।१५१) में वावदूक शब्द का पाठ ज्ञापक है।

र—नम्, कम्प्, स्मि, नञ्पूर्वक जस्, कम्, हिंस्—से 'र'[5] - **नम्र**। **कम्प्र**। **स्मेर**। **अजस्र**। **कम्र**। **हिंस्र**। कम्प्, जस्, कम्, हिंस—ये सेट् धातुएँ हैं पर 'र' वशादि कृत् प्रत्यय है, अतः इट् नहीं हुआ। **अजस्रम्** - सततम् (क्रियाविशेषण)।

उ—सन्नन्त धातु से तथा आङ्पूर्व शंस् और भिक्ष् से[6]—जिज्ञास—**जिज्ञासु**। दिदृक्ष—**दिदृक्षु**। शुश्रूष—**शुश्रूषु**। आङ्पूर्वक शंस्—**आशंसु**। आङः शसि इच्छायाम् भ्वादि आत्मनेपदी धातु है। आशंसत इत्येवंशील **आशंसुः**। भिक्षत इत्येवंशीलो **भिक्षुः**।

---

१. इण्-नश-जि-सर्तिभ्यः क्वरप् (३।२।१६३)।
२. गत्वरश्च (३।२।१६४)। नेड्वशि कृति (७।२।८)।
३. जागुरूकः (३।२।१६५)।
४. यज-जप-दशां यङः (३।२।१६६)।
५. नमि-कम्पि-स्म्य-जस-कम-हिंस-दीपो रः (३।२।१६७)।
६. सनाऽऽशंस-भिक्ष उः (३।२।१६८)।

विद ज्ञाने से उ प्रत्ययान्त 'विन्दु' (=ज्ञाता) निपातन किया है और इष् से इच्छु।[1] यहाँ इष् को इच्छ् भाव निपातन से हुआ है।

नजिङ्—स्वप् और तृष् से[2]—**स्वप्नज्**। प्रथमा एक०—**स्वप्नक्**, निद्रालु, निद्राशील। **तृष्णज्**। प्र० ए० **तृष्णक्**। **लुब्धो भिलाषुकस्तृष्णक्**—भ्रमर। ऋग्वेद (१।८५।११) में **असिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे**—यहाँ तृष्णज् 'तृषित' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ताच्छील्य कुछ भी नहीं।

आरु—शॄ, वन्द्—से आरु।[3] **शरारुः**=धातुकः। शृणातीत्येवंशीलः। हर्षचरित में **'विशरारोर्जटाकलापस्य'** ऐसा प्रयोग आया है। वहाँ उपसर्ग-वशात् धातु अकर्मक हो गई है और अर्थ भी बदल गया है। विशॄ का अर्थ खुलना, बिखरना है। वन्द्—**वन्दारु**=वन्दनशील। **वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम्** (मल्लिनाथ)। हलादि अनुदात्तेत् होने से वन्द् से युच् प्राप्त था।

क्रु क्लुकन् क्रुकन्—भी धातु से तच्छीलादि कर्ता में[4]—**भीरु**। क्रु—यहाँ ककार की इत्संज्ञा है। **भीलुक**। **भीरुक**। यहाँ भी दोनों प्रत्ययों में आद्य ककार इत्संज्ञक है। अतः तीनों प्रयोगों में गुण नहीं हुआ। 'न्' अनु-बन्ध स्वर के लिए है।

वरच्—स्था, ईश्, भास्, पिस्, कस् से वरच् (वर)[5]। **स्थावर**। **ईश्वर**। स्त्रीलिंग में **ईश्वरा**। जो कहीं **'ईश्वरी'** प्रयोग मिलता है उसे औणादिक वरट् प्रत्यय से व्युत्पन्न 'ईश्वर' शब्द से ङीप् करके उपपन्न करते हैं। **भास्वर**। **पेस्वर**। गतिशील। **विकस्वर**=विकसनशील। **स्मितविकस्वर-माननम्**।

यङन्त या से[6]—**यायावर**। याहि याहीति यातीत्येवंशीलो यायावरः।

क्विप्—भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, जु, ग्रावन् कर्म उपपद होते हुए स्तु से तच्छीलादि कर्ता में[7]—**विभ्राजत इति विभ्राट्**, जो स्वभाव से चमकता है। व्रश्चभ्रस्जादि सूत्र से 'ज' को ष्। तब पदान्त ष् को जश्भाव

१. विन्दुरिच्छुः (३।२।१६९)।
२. स्वपि-तृषोर्नजिङ् (३।२।१७२)।
३. शॄ-वन्द्योरारुः (३।२।१७३)।
४. भियः क्रु-क्लुकनौ (३।२।१७४)। क्रुकन्नपि वक्तव्यः (वा०)।
५. स्थेश-भास-पिस-कसो वरच् (३।२।१७५)।
६. यश्च यङः (३।२।१७६)।
७. भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप् (३।२।१७७)।

से ड़। फिर अवसान में वैकल्पिक चर्त्व से ड् को ट्। भ्राः। धूः। धुर्वी हिंसायाम्। 'व्' का लोप और रकारान्त की उपधा को दीर्घ। **धूर्वति हिनस्तीत्येवंशीला धूः। विद्योतत इत्येवंशीला विद्युत्। ऊर्जति इत्यूर्क्। पृणातीति पूः**=नगरी। यहाँ ॠ को उत्व (रपर) होकर 'उ' को दीर्घ होता है। जु—यह सौत्र धातु है। **जवत इति जूः**। दीर्घ भी निपातित किया है। जूः। जुवौ। जुवः। उवङ्। **ग्रावस्तुत्। ग्रावाणं** (सोमाभिषवसाधनमश्मानम्) **स्तौतीत्येवंशीलः**। यहाँ धातु के साथ समास करके क्विप् होता है ऐसा मानते हैं।

और (भ्राज आदि से भिन्न) धातुओं से भी क्विप् देखा जाता है[1]—युज्—युनक्तीत्येवंशीलो **युक्**। भिद्—**भित्**। छिद्—**छित्**। सूत्र में दृश्यते= देखा जाता है, ऐसा जो कहा है वह विध्यन्तर के उपसङ्ग्रह के लिये है। कहीं दीर्घ (जो अप्राप्त था) हो जाता है, कहीं अप्राप्त द्विर्वचन (द्वित्व), कहीं अप्राप्त सम्प्रसारण, कहीं प्राप्त सम्प्रसारण का अभाव। अतः वार्तिककार पढ़ते हैं—क्विब्वचि-प्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रू-जु-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। वच्—**वाक्** (दीर्घ, असम्प्रसारण)। प्रच्छ्—**प्राट्**। **शब्दप्राट्**। **आयतं स्तौति—आयतस्तूः** (दीर्घ)। **कटं प्रवते इति कटप्रूः** (दीर्घ)। प्रुङ् गतौ भ्वादि। **कटप्रूः**=कीट। जु **जवत इति जूः** (दीर्घ)। श्रिञ्—**श्रयति हरिमिति श्रीः**। (दीर्घ)। द्युत्, गम्, हु—इन्हें द्वित्व भी होता है[2]—**दिद्युत्**। अभ्यास को सम्प्रसारण। गम्—**जगत्**। द्वित्व। गमः क्वौ (६।४।४०) से 'म्' का लोप। हु—**जुहूः** (द्वित्व, दीर्घ)।[3] यहाँ करण में कर्तृबुद्धि करके क्विप् हुआ है।

ध्यै धातु से भी ताच्छीलिक क्विप् होता है और सम्प्रसारण भी[4]—**ध्यायतीति धीः**। करणे कर्तृत्वोपचारः।

यहाँ ताच्छीलिक प्रत्यय समाप्त हुए।

यहाँ तृतीयाध्याय द्वितीय पाद के अवशिष्ट सूत्र, जो तच्छीलादि कर्ता में प्रत्यय-विधान नहीं करते, उनकी सोदाहरण व्याख्या की जाती है।

---

१. अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३।२।१७८)।
२. द्युति-गमि-जुहोतीनां द्वे च (वा०)।
३. जुहोतेर्दीर्घश्च (वा०)।
४. ध्यायतेः सम्प्रसारणं च (वा०)।

क्विप्—संज्ञा में तथा धनिक और अधमर्ण के बीच में जो विश्वास के लिए ठहरता है उसे कहने के लिये भू से क्विप् आता है[1]—**विभूर्नाम कश्चित्**। **प्रतिभूः**=लग्नकः, जो धनिक को विश्वास दिलाता है कि आप इस पुरुष को निःशङ्क होकर ऋण दे सकते हैं, यह समय पर लौटा देगा, नहीं तो मैं आप को अपने पास से यह राशि दूँगा। मेरा इसमें पूर्ण उत्तरदायित्व है। यह 'प्रतिभू' का मुख्यार्थ है। गौणार्थ में किसी दूसरी क्रिया में भी जो अपने को जिम्मेवार ठहराता है, वह भी प्रतिभू होता है—**मातृकाग्रन्थगतानां प्रमादानां लेखका न प्रतिभुवः**। मूल हस्तलिखित ग्रन्थों में आये हुए प्रमादों के लिए प्रतिलिपि करने वाले जिम्मेवार नहीं हैं।

डु—वि, प्र, सम्—पूर्वक 'भू' से डु (उ) प्रत्यय होता है, जब प्रत्ययान्त से संज्ञा का बोध न हो[2]—**विभु**। **प्रभु**। **संभु**। **विशेषेण भवति व्याप्नोतीति विभुः। विभुरात्मा भवति। प्रभवति शक्तो भवतीति प्रभुर् ईश्वरः**। डित्व सामर्थ्य से अ-भ-संज्ञक विभू आदि के 'टि' ऊ का लोप।

डुप्रकरण में मितद्रु आदि की सिद्धि के लिए 'डु' प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये[3]—**मितं द्रवतीति मितद्रुः। शतधा द्रवतीति शतद्रुः** (सतलुज नदी)।

ष्ट्रन्—कर्म कारक में धेट् (पीना, चूसना) से अथवा धा से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय होता है[4]—**धयन्त्येतामिति धात्री** (धाय)। **दधति वा एनाम् भैषज्यार्थम् इति**। प्रत्यय के षित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीष्।

दाप् (काटना), नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद, सि, सिच्, मिह्, पत, दंश्, नह्[5]—इनसे करण-कारक में ष्ट्रन् होता है—**दात्यनेन दात्रम्। दात्रेण लुनाति सस्यम्। नयत्यनेन नेत्रम्। शसति हिनस्ति अनेन शस्त्रम्। यु—योत्रम्। युज्—योक्त्रम्** (जोत)। **स्तोत्रम्। तोत्रम्**, प्रतोद, आर। सि—

१. भुवः संज्ञाऽन्तरयोः (३।२।१७९)।
२. वि-प्र-संभ्यो ड्वसंज्ञायाम् (३।२।१८०)।
३. डु-प्रकरणे मित-द्रवादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
४. धः कर्मणि ष्ट्रन् (३।२।१८१)।
५. दाम्-नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे ३।२।१८२)।

सेत्र। सिच्—**सेक्त्र**। मिह्—**मेढ्र**, लिङ्ग। **पतत्र**। पतति (उत्पतति) **अनेन पतत्रम्**=वाहनम्। उड़ने अर्थ में पत्त्र=पक्ष। दंश्—**दंष्ट्रा**=दाढ़। अजादि-गण में पाठ होने से टाप्। अथवा षित्त्व-लक्षण ङीष् अनित्य है, ऐसा समाधान है। नह्—**नद्ध्री** (बद्धी)। जो यहाँ शस् आदि सेट् हैं, उनसे तितुत्रतथ—सूत्रसे इट् का प्रतिषेध होता है।

पू धातु से करण कारक में ष्ट्रन् होता है जब प्रत्ययान्त हल अथवा सूकर का अंग (मुख) हो[1]—पोत्र। **हलस्य पोत्रम्। सूकरस्य पोत्रम्।**

इत्र—ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह्, चर्—इनसे करण-कारक में इत्र[2]—**अरित्र**=चप्पू। **अरित्रं केनिपातकः**—अमर। **लवित्र**, द्रांती। **धुवित्र**=पंखा। **धुवित्रं व्यजनं तद् यद्रचितं मृगचर्मणा**—अमर। सूत्र में धू विधूनने तुदा० कुटा० का ग्रहण है, निरनुबन्धक होने से। अतः गुण नहीं होगा, उवङ् होगा। अमर कोष में उपलभ्यमान पाठ 'धवित्रम्' असाधु ही है। सू (षू प्रेरणे)—**सवित्र**। खन्—**खनित्र**=कुद्दाल। सह्—**सहित्र**। **सहतेऽनेन सहित्रं धैर्यशक्तिः**। चर्—**चरित्र**। **चरति गच्छति अनेन चरित्रः** चरणः पादः। **चरित्रांस्ते शुन्धामि** (वा० सं० ६।१४)।

पूङ् अथवा पूञ् से करण कारक में 'इत्र' होता है जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय संज्ञा हो[3]—**दर्भः पवित्रम्। बर्हिष्पवित्रम्**=बर्हिषा कृतं पवित्रम्। पवित्र=कुशापीड=**प्रदेशिनी**। अंगुलि का वेष्टन। **दर्भपवित्रपाणिराचार्यः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म**। (भाष्य)

तुमुन् (तुम्)

धातुमात्र से भविष्यत्काल में **तुमुन्** प्रत्यय आता है, जब क्रियार्थ क्रिया (दूसरी तुमुन्वाच्य क्रिया के लिए की जाने वाली क्रिया का वाचक) उपपद हो।[4] क्त्वा प्रत्यय की तरह तुमुन् भी अव्यय है।[5] अव्यय कृत् प्रत्यय भाव

---

१. हल-सूकरयोः पुवः (३।२।१८३)।
२. अर्ति-लू-धू-सूखन-सह-चर इत्रः (३।२।१८४)।
३. पुवः संज्ञायाम् (३।२।१८५)।
४. तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् (३।३।१०)।
५. कृन्मेजन्तः (१।१।३९)। जो कृत् प्रत्यय मकारान्त तथा एजन्त हो तदन्त शब्द की अव्यय संज्ञा है। तुमुन् अनुबन्ध-रहित होने पर मकारान्त ही है।

के वाचक होते हैं। अतः पक्तुम् (पच्—तुम्) का अर्थ पचन वा पाक ही है। पक्तुं याति। यहाँ जाने की क्रिया भविष्य में होने वाली पचन क्रिया के लिए हो रही है, अथवा यों कहिये कि जाने का प्रयोजन पाक है। अतः 'याति' उपपद होने पर पच् धातु से तुमुन् हुआ। इस अर्थ को तुमुन् न करके लृट्-लकार से भी कह सकते हैं—पक्ष्यामीति याति (पकाऊँगा इसलिए जाता है)। ऐसे स्थलों में तुमुन् की प्रकृति तथा तिङ् की प्रकृति का एक ही कर्ता होना चाहिए तभी तुमुन् का प्रयोग होगा, ऐसा भट्टोजीदीक्षित मानते हैं और यही न्याय्य है। जैसे—यहाँ पच् धातु का तथा उपपद धातु का एक ही कर्ता है अर्थात् दोनों समानकर्तृक हैं। **भोक्तुं याति**—यहाँ भी भोजन-क्रिया और यानक्रिया दोनों समान-कर्तृक हैं। पर **'ब्राह्मणान् भोक्तुं निमन्त्रयते'** नहीं कह सकते। यहाँ निमन्त्रण का कर्ता कोई देवदत्त आदि है, और भोजनक्रिया के कर्ता ब्राह्मण हैं। यहाँ तुमुन् का प्रयोग न करके ल्युडन्त भोजन शब्द का प्रयोग शास्त्र के अनुकूल होगा तथा भोजन शब्द से तृतीया का प्रयोग व्यवहारानुगत होगा—ब्राह्मणान्भोजनेन निमन्त्रयते।

तुमुन् भाव-वाचक है। अतः **ओदनं भोक्तुं याति**, यहाँ ओदन (कर्म) के अनुक्त होने से इस से द्वितीया हुई। ऐसा ही सर्वत्र जानो। तुमुन्नन्त का वाक्य में क्रिया के कर्ता के रूप में भी प्रयोग होता है। **पुष्करं दुष्करं गन्तुम्** (अस्ति)। **प्रतिकर्तुं प्रकृष्टस्य नावकृष्टेन युज्यते** (रा० ४।१७।४७)।

इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर धातुमात्र से (भाववाचक) तुमुन् होता है, जब दोनों धातु समान-कर्तृक हों।[1] **इच्छति भोक्तुम्, कामयते भोक्तुम्, वाञ्छति भोक्तुम्**। भिन्नकर्तृकता होने पर तुमुन् का प्रयोग नहीं हो सकता—**देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति यज्ञदत्तः। पुत्रस्य (कर्तुः) पठनमिच्छति यज्ञदत्तः।** यहाँ भोजनक्रिया का कर्ता देवदत्त है और इच्छाक्रिया का यज्ञदत्त है। दूसरे वाक्य में तो कर्तृभेद अत्यन्त स्पष्ट है। ओदनं भोक्तुमिच्छति—यहाँ भोजन-क्रिया और एषणक्रिया का एक ही कर्ता है, सो तुमुन् निर्बाध है। ओदन तो भुजिक्रिया का कर्म है। तुमुन् का प्रयोग न करके लिङ् का प्रयोग भी कर सकते हैं—**भुञ्जीयेतीच्छति**=चाहता है कि मैं खाऊँ। **इच्छामि भुञ्जीत**

१. **समानकर्तृकेषु तुमुन्** (३।३।१५८)।

भवान्, मेरी इच्छा है कि आप खाएँ। इच्छन् करोति—यहाँ इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर भी 'क्र' से तुमुन् नहीं होता, कारण कि तुमुन् से कहने का शिष्ट-व्यवहार नहीं है (अनभिधानात्)।

शक्, घृष्, ज्ञा, ग्लै, घट्, रभ्, लभ्, क्रम्, सह्, अर्ह् के तथा अस् (होना) और उसके पर्यायवाची भू, विद् के उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुन् होता है[1]—**शक्नोति भोक्तुम्। धृष्णोति विषमस्थोऽपि सत्यं वदितुम्। जानाति सेवितुम्। ग्लायत्यध्येतुम्। घटतेऽनुपकरणोपि देवान् यष्टुम्।** साधन-हीन होता हुआ भी यज्ञ करने की चेष्टा करता है। **आरभते शास्त्राणि चिन्त-यितुम्। अनारतमुद्युञ्जानोपि पर्याप्तं भोक्तुं न लभते,** निरन्तर उद्योग करता हुआ भी पर्याप्त भोजन प्राप्त नहीं करता। **उल्लाघ इति मन्दमन्दं प्रक्रमते भोक्तुम्,** बीमारी से उठा है, अतः धीरे-धीरे खाने लगा है। **पर्वतमपि भेत्तुं सहते किम्पुनर्भित्तिम्,** पर्वत को भी तोड़ सकता है, दीवार का तो क्या कहना। **अर्हत्ययं सुधीरितोऽपि भूयसीं संमाननाम्। अस्ति भवति विद्यते भोक्तुम्।**

'पूर्णतया समर्थ' इस अर्थ के वाचक 'अलम्' आदि शब्द उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुन् होता हैं[2]—**पर्याप्तोऽयं ग्रन्थमिमं मासेन परिसमापयितुम्। अलम् अयं वीरः शत्रून् काण्डानीव लवितुम्। कुशलो देवदत्तः शास्त्रार्थं सुग्रहीतुम्। पटुरयं बालः शास्त्राणि चिरं धारयितुम्।**

प्रतिषेधार्थक अलम् उपपद होने पर तुमुन् का प्रयोग शास्त्र-विरुद्ध है, कवियों की निरंकुशता मात्र का निदर्शन है—**अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्** (मृच्छकटिक ३)। **अलमात्मानं खेदयितुम्** (वेणी० २।३)

काल, समय, वेला तथा इनके पर्यायवचनों के उपपद होने पर प्राप्त-कालता द्योत्य होने पर धातुमात्र से तुमुन् आता है[3]—**कालोऽयं ते द्वितीयमा-श्रममुपसंक्रमितुम्,** समय आ गया है कि तू द्वितीय आश्रम (गृहस्थाश्रम) में

---

१. शक-घृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहाऽर्हाऽस्त्यर्थेषु तुमुन् (३।४। ६५)।

२. पर्याप्ति-वचनेष्वलमर्थेषु (३।४।६८)।

३. काल-समय-वेलासु तुमुन् (३।३।१६७)।

प्रवेश करे। **वेलेयं पाठशालं गन्तुम्। अनेहाऽयं भोक्तुम्, भुक्त्वा च विश्रमितुम्।**

क्रियार्था क्रिया उपपद होने पर वाऽसरूप विधि से तृच्, इगुपध-लक्षण 'क' आदि प्रत्यय नहीं होते। **कर्ता व्रजति। विक्षिपो व्रजति** ऐसा नहीं कह सकते। **कर्तुं व्रजति। विक्षेप्तुं व्रजति** ऐसा तुमुन् करके कहेंगे।

तुमुन्नन्त-रूप-रचना

तुमुन् (तुम्) वलादि आर्धधातुक कृत् प्रत्यय है। सेट् धातुओं से तुमुन् को इट्-आगम होता है। धातु को गुण होता है। क्त्वान्त तथा निष्ठान्त रूपों की अपेक्षा इसकी रूप-रचना सरल है।

तुमुन्नन्त रूपावलि

सेट् अजन्त धातुएँ

श्रिञ्	श्रयितुम्	धू (कुटा०)	धुवितुम्
श्वि	श्वयितुम्	नू	नवितुम्
डीङ् (दिवा०)	डयितुम्	पूङ् (भ्वा०)	पवितुम्
डीङ् (भ्वा०)	डयितुम्	पूञ् (क्र्या०)	पवितुम्
शीङ्	शयितुम्	भू	भवितुम्
ऊर्णु	ऊर्णवितुम् ऊर्णुवितुम्[1]	लू	लवितुम्
		सू (अदा०)	सोतुम् सवितुम्
क्षु	क्षवितुम्		
क्ष्णु	क्ष्णवितुम्	सू (दिवा०)	सोतुम् सवितुम्
नु	नवितुम्		
यु	यवितुम्	सू (तुदा०)	सवितुम्
रु	रवितुम्	जागृ	जागरितुम्
स्नु	स्नवितुम्	वृङ्	वरितुम् वरीतुम्
असू (कण्ड्वादि)	असूयितुम्		
धू (ञ्)	धवितुम् धोतुम्	वृञ्	वरितुम् वरीतुम्

---

१. विभाषोर्णोः (१।२।३) ऊर्णुञ् से परे इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित्वत् होता है।

कॄ	करितुम्, करीतुम्	तॄ	तरितुम्, तरीतुम्
गॄ	गरितुम्, गरीतुम्	पॄ	परितुम्, परीतुम्
जॄ	जरितुम्, जरीतुम्	स्तॄ	स्तरितुम्, स्तरीतुम्

अनिट् अजन्त धातुएँ

दा (देना)	दातुम्	इण्	एतुम्
दा (प्) (काटना)	दातुम्	चि	चेतुम्
द्रा	द्रातुम्, निद्रातुम्	जि	जेतुम्
		क्षि	क्षेतुम्
धा	धातुम्	हि	प्रहेतुम्
पा (पीना)	पातुम्	क्री	क्रेतुम्
पा (रक्षा करना)	पातुम्	दीङ्	उपदातुम्
मा	मातुम्	नी	नेतुम्
माङ्	निर्मातुम्	पीङ् (दिवा०)	पेतुम्
म्ना	म्नातुम्, आम्नातुम्	सु (षुञ्)	सोतुम्
		स्तु	स्तोतुम्
या	यातुम्	ब्रू	वक्तुम्
वा	वातुम्	कृ	कर्तुम्
स्था	स्थातुम्	पृ	व्यापर्तुम्
स्ना	स्नातुम्	मृ	मर्तुम्
हाक्	हातुम्	स्तृ	स्तर्तुम
हाङ्	हातुम	स्वृ	स्वर्तुम्, स्वरितुम्[1]
इक् (स्मरण करना)	अध्येतुम्		
इङ्	अध्येतुम्	हृ	हर्तुम

१. स्वृ अनिट् है पर स्वरति-सूति—(७।२।४४) से इट् का विकल्प विधान किया है।

देङ् (भ्वा०)	दातुम्[1]	गै	गातुम्
धेट्	धातुम्, अनुधातुम्, सुधातुम्	ग्लै	ग्लातुम्
		दैप्	अवदातुम्
		ध्यै	ध्यातुम्
मेङ्	निमातुम्, विनिमातुम्	श्रै	श्रातुम्
वेञ्	प्रवातुम्	छो	छातुम्
व्येञ्	संव्यातुम्	दो	अवदातुम्
ह्वेञ्	आह्वातुम्	शो	निशातुम्
कै	कातुम्	सो	अवसातुम्

सेट् हलन्त धातुएँ

अञ्च्	अञ्चितुम्	अञ्जू	अङ्क्तुम्, अभ्यङ्क्तुम्, व्यङ्क्तुम्
अर्च्	अर्चितुम्		
उच्	ओचितुम्	मृज् (मृजू)	[2]मार्जितुम्, मार्ष्टुम्
कुच् (कुटादि)	कुचितुम्, संकुचितुम्	लज्	लजितुम्
याच्	याचितुम्	लस्ज्	लज्जितुम्
रुच्	रोचितुम्	विज्	उद्विजितुम्[3]
उच्छ्	उच्छितुम्, व्युच्छितुम्	कृत् (काटना)	कर्तितुम्
		कृत् (लपेटना, कातना)	कर्तितुम्
वाञ्छ्	वाञ्छितुम्	चिन्त्	चिन्तयितुम्
अज्	अजितुम्, प्रवेतुम्	चृत्	चर्तितुम्

---

१. आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४५) से उपदेश में एजन्त धातुओं के एच् को 'आ' हो जाता है।

२. ऊदित् होने से इड्-विकल्प। मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से गुणप्रसंग में वृद्धि।

३. विज इट् (१।२।२)। विज् से परे इडादि प्रत्यय ङित्वत् होता है। अतः गुण न हुआ।

द्युत्	द्योतितुम्
नृत्	नर्तितुम्
यत्	यतितुम्
वृत्	वर्तितुम्
कत्थ्	विकत्थितुम्
अर्द्	अर्दितुम्
कुर्द्	कूर्दितुम्
क्रन्द्	क्रन्दितुम्
क्ष्विद्	क्ष्वेदितुम्
खुर्द्	खूर्दितुम्[1]
गद्	गदितुम्
निन्द्	निन्दितुम्, प्रणिन्दितुम्, प्रनिन्दितुम्
मद्	मदितुम्
मिद्	मेदितुम्
छृद्	छर्दितुम्
तृद्	तर्दितुम्
रुद्	रोदितुम्
वद्	वदितुम्
वन्द्	वन्दितुम्
विद् (जानना)	वेदितुम्
स्पन्द्	स्पन्दितुम्, विस्पन्दितुम्
स्यन्द्	स्यन्तुम्[2], स्यन्दितुम्, निस्यन्तुम्, निष्यन्दितुम्
एज्	एजितुम्, प्रेजितुम्
एध्	एधितुम्, प्रैधितुम्[3]
बुध् (भ्वा०)	बोधितुम्
रध्	रधितुम्, रद्धुम्
वृध्	वर्धितुम्
सिध् (भ्वा०)	सेधितुम्
स्पर्ध्	स्पर्धितुम्
अन्	अनितुम्, प्राणितुम्
पन्	पनितुम्, पनायितुम्
कुप्	कोपितुम्
क्लृप्	कल्पितुम्, कल्प्तुम्
गुप्	गोप्तुम्, गोपितुम्, गोपायितुम्
जप्	जपितुम्
जल्प्	जल्पितुम्
दीप्	दीपितुम्
क्षुभ्	क्षोभितुम्

१. हल्परक उपधा-भूत रेफ (अथवा वकार) की उपधा इक् को दीर्घ।
२. स्यन्द् ऊदित् होने से वेट् है।
३. एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८९) से वृद्धि।

शुभ्	शोभितुम्	गुर् (कुटा०)	अवगुरितुम्
श्रम् (भ्वा०)	अमितुम्, अभ्यमितुम्	गूर् (दिवा०)	अवगूरितुम्
		क्षुर् (तुदा०)	क्षोरितुम्
अम् (चुरा०)	आमयितुम्	छुर् (कुटा०)	छुरितुम्
कम्	कामयितुम्, कमितुम्	ज्वर्	ज्वरितुम्
		त्वर्	त्वरितुम्
क्रम्	क्रमितुम्	स्फुर् (कुटा०)	स्फुरितुम्, निःस्फुरितुम्, निःष्फुरितुम्
क्लम्	क्लमितुम्		
क्षम्	क्षमितुम्, क्षन्तुम्		
		स्वर् (चुरा०)	स्वरयितुम्
तम्	तमितुम्	मिल्	मेलितुम्
दम्	दमितुम्		
दम् णिच्	दमयितुम्	स्खल्	स्खलितुम्
भ्रम्	भ्रमितुम्	स्फुल् (कुटा०)	स्फुलितुम्, निःस्फुलितुम्, निःष्फुलितुम्
वम्	वमितुम्		
शम्	शमितुम्		
शम् णिच्	शमयितुम्	दिव्	देवितुम्
शम् (स्वार्थे णिच्)	निशामयितुम्	दिव् (चुरा०)	परिदेवयितुम्
श्रम्	श्रमितुम्	धाव्	धावितुम्
श्रय्, परा-, प्र-	श्रयितुम्, पलायितुम्, प्लायितुम्	धुर्वी (धुर्व्)	धूर्वितुम्
		ष्ठिव्	निष्ठेवितुम्
क्नूयी	क्नूयितुम्	सिव्	सेवितुम्, प्रसेवितुम्
क्ष्मायी	क्ष्मायितुम्		
चाय्	अपचायितुम्	अश् (खाना)	अशितुम्
प्यायी	प्यायितुम्, आप्यायितुम्	अशूङ्	अशितुम्, अष्टुम्[1], अभ्यष्टुम्, समष्टुम्
ईर्	ईरितुम्, प्रेरितुम्		
ईर् णिच्	ईरयितुम्, प्रेरयितुम्	भृश्	भर्शितुम्

१. अशूङ् ऊदित् होने से वेट् है।

अंश्	अंशितुम्
अक्ष्	अक्षितुम्
	अष्टुम्[1]
इष् (तुदा०)	एषितुम्
	एष्टुम्[2]
इष् (दिवा० क्रया०)	एषितुम्
	प्रेषितुम्
उष्	ओषितुम्
एष् (एषृ)	एषितुम्
	प्रेषितुम्
कुष्	कोषितुम्
	निष्कोषितुम्
	निष्कोष्टुम्[3]
गवेष्	गवेषयितुम्
घृष्	घर्षितुम्
पुष् (क्रया०)	पोषितुम्
पूष् (भ्वा०)	पूषितुम्
प्रुष् (भ्वा०)	प्रोषितुम्
प्लुष् (भ्वा०)	प्लोषितुम्
प्लुष् (दिवा०)	प्लोषितुम्
मृज्	मार्जितुम्
	मार्ष्टुम्
मुष्	मोषितुम्

मूष् (भ्वा०)	मूषितुम्
मृष्	मर्षितुम्
रिष्	रेष्टुम्[4]
	रेषितुम्
रुष्	रोष्टुम्[5]
	रोषितुम्
लष्	लषितुम्
हृष्	हर्षितुम्
अस् (दिवा०)	असितुम्
अस् (भ्वा० आ०)	असितुम्
अस् (होना अदा०)	भवितुम्
आस्	आसितुम्
ध्वंस्	ध्वंसितुम्
भास्	भासितुम्
शस् (भ्वा०)	विशसितुम्
शंस्	शंसितुम्
शास्	शासितुम्
श्वस्	श्वसितुम्
ईह्	ईहितुम्
ऊह्	ऊहितुम्
गर्ह्	गर्हितुम्

---

१. अक्षू ऊदित है ।

२. इष् तुदा० उदात्त (सेट्) है पर तादि प्रत्यय परे इट् का विकल्प होता है ।

३. निरः कुषः (७।२।४६) से निर्पूर्वक कुष् से इड्विकल्प होता है । कुष् सेट् है ।

४. तादि प्रत्यय परे रहते इड्-विकल्प । रिष् सेट् है ।

५. तादि प्रत्यय परे रहते इड्विकल्प । रुष् सेट् है ।

गुह्	गूहितुम्, गोढुम्[1]	स्निह्	स्नेग्धुम्, स्नेढुम्, स्नेहितुम्
ग्रह्	ग्रहीतुम्		
मह् (भ्वा०)	महितुम्		
मह् (चुरा०)	महयितुम्	स्नुह्	स्नोग्धुम्, स्नोढुम्, स्नोहितुम्
मुह्	मोग्धुम्[2], मोढुम्, मोहितुम्		
रह् (भ्वा०)	रहितुम्	सह्	सहितुम्, सोढुम्, विसोढुम्[3]
रह् (चुरा०)	रहयितुम्		
वृह् (तुदा०)	वर्हितुम्, आवर्हितुम्		

अनिट् हलन्त धातुएँ

शक्	शक्तुम्	वच्	वक्तुम्
पच्	पक्तुम्	विच्	विवेक्तुम्
		सिच्	सेक्तुम्, अभिषेक्तुम्
मुच्	मोक्तुम्		
		प्रच्छ्	प्रष्टुम्
रिच्	रेक्तुम्, अतिरेक्तुम्, व्यतिरेक्तुम्	त्यज्	त्यक्तुम्
		निज्	निर्णेक्तुम्[4]

---

१. गुह् की उपधा को गुण के प्रसङ्ग में दीर्घ होता है जब अजादि प्रत्यय परे हो। ऊदुपधाया गोहः (६।४।८९)। गुह् ऊदित् है अतः इट् विकल्प से होता है। इट् के अभाव में प्रत्यय के अजादि न होने से 'गोढुम्' ऐसा रूप हुआ।

२. मुह्, स्नुह्, स्निह् सात रधादि धातुओं में से हैं और रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से रध् आदि धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से होता है।

३. सोढः (८।३।११५) से सोढ-रूप सह् के 'स्' को मूर्धन्य 'ष्' नहीं होता।

४. निज् णोपदेश है। णिजिर् शौचपोषणयोः। अतः उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से उपसर्गस्थ निमित्त(ऋ, र्, ष्) से णोपदेश धातु को 'णत्व' होता है।

भज्	भक्तुम्
	विभक्तुम्
भुज् (टेढ़ा चलना)	भोक्तुम्
	विभोक्तुम्
भुज् (खाना, रक्षा करना)	भोक्तुम्
	उपभोक्तुम्
भ्रस्ज्	भर्ष्टुम्[1]
	भ्रष्टुम्
मस्ज्	मङ्क्तुम्
यज्	यष्टुम्
युज्	योक्तुम्
रञ्ज्	रङ्क्तुम्
	अपरङ्क्तुम्
	विरङ्क्तुम्
रुज्	रोक्तुम्
सञ्ज्	सङ्क्तुम्
	प्रसङ्क्तुम्
	अभिषङ्क्तुम
सृज्	स्रष्टुम्[2]
स्वञ्ज्	स्वङ्क्तुम्
	परिष्वङ्क्तुम्
अद्	अत्तुम्
क्षुद्	क्षोत्तुम्
खिद्	खेत्तुम्
छिद्	छेत्तुम्

तुद्	तोत्तुम्
	प्रतोत्तुम्
नुद्	नोत्तुम्
	प्रणोत्तुम्
पद्	पत्तुम्
भिद्	भेत्तुम्
विद् (तुदा०)	वेत्तुम्
	परिवेत्तुम्
	परिवेदितुम्
विद् (दिवा० रुधा०)	वेत्तुम्
शद्	शत्तुम्
सद्	सत्तुम्
	निषत्तुम्
	प्रसत्तुम्
	विषत्तुम्
स्कन्द्	स्कन्तुम्
स्विद् (दिवा०)	स्वेत्तुम्
हद्	हत्तुम्
क्रुध्	क्रोद्धुम्
क्षुध्	क्षोद्धुम्
बन्ध्	बन्द्धुम्
युध्	योद्धुम्
राध्	राद्धुम्
रुध्	रुद्धुम्
साध्	साद्धुम्

---

१. भ्रस्ज् के र् और उपधा (स्) के स्थान में रम् (र्) आदेश विकल्प से होता है। व्रश्चभ्रस्ज—(८।२।३६) सूत्र से ज् को ष्। संयोग के आदि 'स्' का लोप।

२. सृजि-दृशोर्झल्यमकिति (६।१।५८)। अम् आगम।

सिध् (दिवा०)	सेद्धुम्, प्रसेद्धुम्	रम्	रन्तुम्
हन्	हन्तुम्	क्रुश्	क्रोष्टुम्, आक्रोष्टुम्
आप्	आप्तुम्	दंश्	दंष्टुम्
क्षिप्	क्षेप्तुम्	दिश्	देष्टुम्, उपदेष्टुम्
तृप्	तर्प्तुम्[1], त्रप्तुम्, तर्पितुम्	दृश्	द्रष्टुम्
दृप्	दर्प्तुम्, द्रप्तुम्, दर्पितुम्	मृश्	मर्ष्टुम्, म्रष्टुम्, आमर्ष्टुम्, विमर्ष्टुम्, विम्रष्टुम्
लिप्	लेप्तुम्		
लुप्	लोप्तुम्		
वप्	वप्तुम्	रिश् (तुदा०)	रेष्टुम्
शप्	शप्तुम्	रुश् (तुदा०)	रोष्टुम्
सृप्	सर्प्तुम्, स्रप्तुम्	लिश् (दिवा०)	विलेष्टुम्
स्वप्	स्वप्तुम्	विश्	वेष्टुम्, प्रवेष्टुम्
रभ्	रब्धुम्, आरब्धुम्	स्पृश्	स्पर्ष्टुम्, स्प्रष्टुम्
लभ्	लब्धुम्		
गम्	गन्तुम्	कृष्	कर्ष्टुम्, क्रष्टुम्
नम्	नन्तुम्		
यम्	यन्तुम, नियन्तुम्	चक्ष्	[2]ख्यातुम्, आख्यातुम्

१. अनुदात्त ऋदुपध धातुओं को अम् आगम विकल्प से होता है। तृप्, दृप् रधादि हैं अतः इड्-विकल्प ये अमागम के लिये ही अनुदात्त हैं।

२. चक्ष् को आर्धधातुक परे रहते ख्याञ् आदेश होता है।

रज्यन्त्यस्मिन्निति रङ्गः। अधिकरण में घञ्। अतः नलोप नहीं हुआ। न भाति वासन्ति [illegible] रङ्गयोग इत्यादि: (सुश्रुत० २।१२।८।८) । वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति (भा०

 ५।१२६८) यहाँ राग अर्थ में रङ्ग का प्रयोग अपाणिनीय है।

अनिट् हलन्त धातुएँ

तुष्	तोष्टुम्	श्लिष्	श्लेष्टुम्, आश्लेष्टुम्, परिश्लेष्टुम्
त्विष्	त्वेष्टुम्		
दुष्	दोष्टुम्		
द्विष्	द्वेष्टुम्, विद्वेष्टुम्, प्रद्वेष्टुम्	वस् (रहना) भ्वा०	वस्तुम्
		मिह्	मेढुम्, प्रमेढुम्
पिष्	पेष्टुम्		
विष् (विष्लृ)	वेष्टुम्, विवेष्टुम्	रुह्	रोढुम्, आरोढुम्
शुष्	शोष्टुम्	वह्	वोढुम्[1]

भाव-वाचक तथा कर्तृ-भिन्न कारक-वाचक कृत्

घञ्—धातुमात्र से घञ्[2]। पच्—**पाक**। त्यज्—**त्याग**। पचनं पाकः। **त्यजनं त्यागः**। प्रत्यय घित् है अतः धातु के च्, ज् को कुत्व हुआ[3]। रञ्ज्—**राग**। **रजति रञ्जयति वाऽनेनेति रागः**। यहाँ 'करण' में प्रत्यय है। **रागः=अनुरागः**, यहाँ भाव में प्रत्यय है[4]। **प्रास्यन्ति तं प्रासः**, भाला। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। **प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः**, थैला। यहाँ सिव् धातु से कर्म में प्रत्यय हुआ है। धातु को गुण। **परिह्रियते त्यज्यत इति परीहारः**, गाँव के इर्द-गिर्द की कर-मुक्त भूमि, शामलाट। **धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः** (मनु० ८।२३७)। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। उपसर्ग को बहुलतया दीर्घ। **आहरन्ति तस्माद् रसम् इत्याहारः**। यहाँ आङ्पूर्वक 'हृ' से अपादान में प्रत्यय हुआ है। धातु को ञित्त्वनिमित्तक वृद्धि। **प्रपतन्त्यस्माद् इति प्रपातः=भृगुः**, सीधी खड़ी चट्टान। यहाँ भी अपादान में 'पत्' से प्रत्यय हुआ है

---

१. सहि-वहोरोद् अवर्णस्य (६।३।११२) इस सूत्र से ढ-लोप होने पर सह् तथा वह् धातुओं के 'अ' को 'ओ' होता है।

२. भावे (३।३।१८)। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३।३।१९)।

३. चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२)।

४. घञि च भाव-करणयोः (६।४।२७)। इससे रञ्ज् धातु के 'न्' का लोप होता है।

और ञित्त्व के कारण उपधा-वृद्धि । **प्रसीदत्यत्रेति प्रासादः** । यहाँ अधिकरण में प्रत्यय हुआ है । जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय मनुष्य का नाम न हो, तो बहुलयता उपसर्ग को दीर्घ हो जाता है जैसे यहाँ हुआ ।[1] अर्थान्तर में 'प्रसाद' (विमलता, प्रसन्नता, अनुग्रह)ऐसा भी साधु होगा । **प्रदेश** । **प्रादेश** । यहाँ अर्थ-भेद है । प्रदेश परिमित स्थान को कहते हैं और प्रादेश अंगूठे से तर्जनी तक फैलाये हाथ के मध्य-भाग को । कहीं-कहीं यह उपसर्ग-दीर्घत्व नित्य होता है— **नीशार** । **नीवार** । **नितरां शीर्यतेऽनेन शीतम् इति नीशारः प्रावरणम्** । **विपणनं विपणः**=विक्रयः । भाव में प्रत्यय । यहाँ वृद्धि नहीं हुई । वृद्धि संज्ञापूर्वक विधि है और जो भी संज्ञापूर्वक विधि होती है वह अनित्य होती है, ऐसी परिभाषा है[2] । **'युग'** शब्द भी घञन्त है । यहाँ भी संज्ञापूर्वक विधि होने से वृद्धि नहीं हुई अथवा आचार्य का तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् (४।४।७६) सूत्र में वृद्धि-रहित युग शब्द का प्रयोग वृद्ध्यभाव का ज्ञापक है । **पर्यङ्क्यते चित्रादिभिरिति पर्यङ्कः** । परिपूर्वक अकि लक्षणे से घञ् । यहाँ घञ् संज्ञा में विधान किया है, पर कहीं-कहीं असंज्ञा में भी होता है **को भवता लाभो लब्धः । को भवता दायो दत्तः** ।

स्मरण रहे घञन्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं ।

स्फुर् तथा स्फुल् के एच् को नित्य ही आत्व होता है घञ् परे रहते[3]— **स्फार । स्फाल । विस्फार । विष्फार । विस्फाल । विष्फाल ।**

आगे विधीयमान घञ्, अप्, अच्, क्तिन् आदि यथासम्भव भाव व कर्तृ-भिन्न कारक में होते हैं ।

सब धातुओं से घञ् होता है यदि घञन्त से परिमाण का बोध हो[4]— **एकस्तण्डुलनिचायः**, एक परिमाण विशेष वाला चावलों का ढेर । यहाँ निपूर्वक चि से भाव आदि में घञ् हुआ, इकारान्त होने से अच् की प्राप्ति थी ।

---

१. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (६।३।१२२) ।
२. संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ।
३. स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि (६।१।४७) । इन धातुओं को घञ् परे रहते गुण होने से एच् तो मिल जाता है पर वह औपदेशिक नहीं, अतः आत्व की प्राप्ति नहीं थी ।
४. परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः (३।३।२०) ।

द्वौ शूर्पनिष्पावौ, इतना धान्य जो दो सूपों से साफ किया जाय। **द्वौ कारौ। त्रयः काराः।** कॄ विक्षेपे से घञ्। अप् (आगे कहे जाने वाला प्रत्यय) की प्राप्ति थी।

ण्यन्त दॄ तथा जॄ से कर्ता अर्थ में घञ् होता है और 'णि' का लुक् हो जाता है[1]—**दारयन्ति भ्रातॄन् इति दाराः** (पत्नी, भार्या)। **जरयन्तीति जाराः।** 'दार' नित्य ही पुं० बहु० में प्रयुक्त होता है।

इङ् अध्ययने से भाव आदि में घञ् होता है[2]। आगे कहे जाने वाले अच् का अपवाद है—**अधीयत इत्यध्यायः।** कर्म में प्रत्यय। **उपेत्याधीयते-ऽस्माद् इत्युपाध्यायः।** अपादान में प्रत्यय। यह घञ् स्त्रीत्व विवक्षा में भी होता है (यद्यपि सामान्यतः घञ् पुंस्त्वविशिष्ट भाव में होता है) और घञन्त से पाक्षिक ङीष् होता है[3]—**उपेत्याधीयतेऽस्या इत्युपाध्याया उपाध्यायी वा।** जिसके पास जाकर पढ़ा जाता है।

शॄ से वायु, वर्ण, निवृत (=प्रावरण) अर्थों में करण कारक में घञ्[4]—**शृणात्यनेनेति शारो वायुः। शृणाति चित्रीकरोत्यनेनेति शारः शबलः। निशीर्यते शीतम् अनेनेति नीशारः प्रावरणम्।**

घञ्—उपसर्ग उपपद होने पर 'रु' से[5]—**संराव। विराव।** उपसर्ग न हो तो 'रव' ऐसा आगे कहे जाने वाले 'अप्' प्रत्यय से रूप होगा। स्मरण रहे भाव में घञन्त तथा अबन्त (अप्-अन्त) शब्द पुँल्लिङ्ग होते हैं।

सम् उपपद होने पर यु (मिलाना, जुदा करना), द्रु (पिघलना), दु (दुःख देना) से घञ्[6]—**संयाव। सन्द्राव। सन्दाव।** सम् न होगा तो यथाप्राप्त अप् होकर यव, द्रव, दव ऐसे रूप होंगे। 'संयाव' एक प्रकार की गेहूँ की बनी चपाती का नाम है। सन्दाव=सन्ताप।

---

१. दार-जारौ कर्तरि णिलुक् च (वा०)।
२. इङश्च (३।३।२१)।
३. अपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा ङीष् (वा०)।
४. शॄ वायु-वर्ण-निवृतेषु (वा०)।
५. उपसर्गे रुवः (३।३।२२)।
६. समि यु-द्रु-दुवः (३।३।२३)।

श्रि, नी, भू से घञ् जब उपसर्ग उपपद न हो[1]—श्रि—**श्राय**। नी—**नाय**। भू—**भाव**। उपसर्ग उपपद होने पर यथाप्राप्त अच् अप् प्रत्यय होकर **प्रश्रय, प्रणय, प्रभव** रूप होंगे। **प्रभाव** शब्द में प्रपूर्वक 'भू' से घञ् नहीं हो सकता, अतः यह घञन्त 'भाव' का प्रादि समास है। **राज्ञां नयः (नीतिः)**—यहाँ सूत्र से प्राप्त घञ् क्यों नहीं हुआ ? इसलिए कि 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) यहाँ 'बहुल' ग्रहण से घञ् न होकर अच् हुआ है।

वि उपसर्ग उपपद होने पर क्षु और श्रु से[2]—**विक्षाव**। **विश्राव**। अन्यत्र अप्-प्रत्यय होकर क्षव, **श्रव** रूप होंगे। क्षु खांसना से क्षव, विक्षाव=खाँसी। श्रु से श्रव=श्रवण। विश्राव=विश्रुति=प्रसिद्धि। **विश्रावस्तु प्रविख्यातिः**—अमर।

अव, उद् पूर्वक 'नी' से घञ्[3]—**अवनाय**=निपातन। **उन्नाय**=उद्-ग्रहण। उन्नयः पदार्थानाम्—ऐसा प्रयोग देखा जाता है, यह कैसे उपपन्न होता है ? कृत्यल्युटो बहुलम्—यहाँ बहुल-ग्रहण से घञ् रूप अपवाद की अप्रवृत्ति रही।

प्र पूर्वक द्रु, स्तु, स्रु से[4]—**प्रद्राव**। **प्रस्ताव** (अवसर)। **प्रस्राव** (पेशाब, बहना)। उपसर्ग न होने पर अप् होकर **द्रव, स्तव, स्रव**—रूप होंगे। प्रद्राव और द्रव दोनों समानार्थक हैं। ऐसे ही प्रस्राव और स्रव भी। पर प्रस्ताव और स्तव भिन्नार्थक हैं। 'प्रस्ताव' अवसर को कहते हैं और 'स्तव' स्तुति को।

निर्-पूर्वक पू से तथा अभि-पूर्वक लू से[5]—**निष्पाव**। **अभिलाव**। उपसर्ग न होने पर अप् होकर **पव, लव**—रूप होंगे। निर् तथा अभि धात्वर्थ की परिपूर्णता को कहते हैं। पव=पवित्र करना अथवा जिससे पवित्र किया जाय। लव=कटाई (भाव में प्रत्यय)। लव=अंश (कर्म में प्रत्यय)। **लव-लेशकणाणवः**—अमर।

---

१. श्रि-णी-भुवोऽनुपसर्गे (३।३।२४)।
२. वौ क्षु-श्रुवः (३।३।२५)।
३. अवोदोर्नियः (३।३।२६)।
४. प्रे द्रु-स्तु-स्रुवः (३।३।२७)।
५. निरभ्योः पू-ल्वोः (३।३।२८)।

उद् तथा निपूर्वक गॄ से[1]—**उद्गारः समुद्रस्य** (समुद्र के जलों का ऊपर उठना, ज्वार-भाटा)। **मदोद्गारः** (मदजल का बाहर निकालना)। **सौजन्योद्गारः**, सुजनता का शब्दादि द्वारा प्रकाश। निगार=निगरण=निगलना। उद् न होने पर अप् होकर 'गर' रूप होगा जो 'विष' अर्थ में रूढ है।

उद् तथा निपूर्वक कॄ से घञ्, यदि धात्वर्थ का विषय धान्य हो[2]—**उत्कारो धान्यस्य। निकारो धान्यस्य।** दोनों समानार्थक हैं। उत्क्षेपण ऊपर को फैंकना अर्थ है—**उत्कारश्च निकारश्च द्वौ धान्योत्क्षेपणार्थकौ**—अमर।

यज्ञ-विषयक प्रयोग में सम्पूर्वक 'स्तु' से[3]—**संस्ताव।** जिस भूमि में सामग लोग एकत्र होकर साम गाते हैं उसे 'संस्ताव' कहते हैं। अमर का पाठ भी है—**स संस्तावः क्रतुषु या स्तुतिभूमिर्द्विजन्मनाम्।** यज्ञविषय प्र अन्यत्र अप् होकर **'संस्तव'** (=परिचय) रूप होगा।

घञ्—प्रपूर्वक स्तॄ से घञ्, यदि यज्ञविषयक प्रयोग न हो[4]—**शङ्ख-प्रस्तार। छन्दःप्रस्तार।** प्रस्तार=फैलाव। 'प्रस्तर' यहाँ अयज्ञ-विषय में भी घञ् नहीं हुआ, अप् हुआ है। इसमें कृत् प्रत्ययों का बाहुलक से प्रयोग कारण है।

विपूर्वक स्तॄ से घञ्, प्रथन (फैलाव) अर्थ में, यदि वह प्रथन शब्द-विषयक न हो[5]—**विस्तारो नद्याः**, नदी की चौड़ाई। **कियानस्यागारस्य विस्तारः**, इस कमरे की चौड़ाई कितनी है? अन्यत्र अप्—**विस्तरो वचसाम्। अलमतिविस्तरेण।**

विपूर्वक स्तॄ से, जब घञन्त छन्द (वृत्त) का नाम हो[6]—**विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः। विष्टारबृहतीछन्दः।**

उद्-पूर्वक ग्रह् से[7]—**उद्ग्राह**=ऊपर उठाना।

---

१. उन्न्यो र्ग्रः (३।३।२९)।
२. कॄ धान्ये (३।३।३०)।
३. यज्ञे समि स्तुवः (३।३।३१)।
४. प्रे स्त्रोऽयज्ञे (३।३।३२)।
५. प्रथने वावशब्दे (=वौ अशब्दे) (३।३।३३)।
६. छन्दोनाम्नि च (३।३।३४)।
७. उदि ग्रहः (३।३।३५)।

सम्पूर्वक ग्रह् से, जब धात्वर्थ मुष्टि-विषयक हो[1]—**अहो मल्लस्य संग्राहः,** मल्ल (पहलवान) का मुट्ठी बाँधना आश्चर्य है। सम्-पूर्वक ग्रह् जोड़ना, इकट्ठा करना आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। मुष्टि विषय से अन्यत्र अप् होकर 'सङ्ग्रहः' रूप होगा। **धनसङ्ग्रहः। उक्तार्थसङ्ग्रहः**=कहे हुए अर्थ का संक्षेप। **तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्** (कठ उ० १।२।१५)।

परिपूर्वक नी तथा निपूर्वक इण् से घञ्, यदि क्रम से द्यूत-विषयक और अभ्रेष विषयक प्रयोग हो[2]। किसी पदार्थ का दुर्व्यवहार, अपप्रयोग, या अतिक्रम न करना, किन्तु जैसे चाहिए वैसे करना 'अभ्रेष' कहलाता है। परिनी—**परिणायः शाराणाम्,** पासों का घुमाना। अन्यत्र **परिणय** (अच् प्रत्यय)=विवाह। इस कर्म में भी घुमाना (परितो नयनम्) होता है। **वेदिं परितो नयनं वरेण वध्वाः परिणयः।** नि-इण्—**न्यायः। यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोपि सहायताम्** (अ० रा० १।४)। अन्यत्र निपूर्वक इण् से निर्बाध अच् होगा—**न्ययं गतः पापः।** न्यय=विनाश।

परिपूर्वक इण् से, जब अनुपात्यय (क्रमप्राप्त का अतिक्रम न करना, परिपाटी, बारी) अर्थ हो[3]—**भुक्ता ब्राह्मणाः, एष पर्यायो राजन्यानाम्,** ब्राह्मण खा चुके हैं, अब क्षत्रियों की बारी है। अन्यत्र **कालस्य पर्ययः** (अच् प्रत्यय)=काल का व्यतीत होना।

वि-उप-पूर्वक शीङ् से, जब पर्याय (क्रम) का बोध हो[4]—**विशयिता गुरवो भवता, इदानीं मम विशायः। उपशयिताः पितृचरणास्त्वया, सम्प्रति ममोपशायः,** तुम पूज्य पिताजी के समीप (उनकी देखभाल के लिए) सो चुके, अब मेरी बारी है। अन्यत्र अच् होकर **विशय** (=संशय, सन्देह) तथा **उपशय** (=घात) रूप होंगे। **विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति** (निरुक्त ३।१)। (समासादि) वृत्तियां (रचनाएँ) सन्देह वाली होती हैं। **हन्ति नोपशयस्थोपि शयालुर्मृगयुर्मृगान्** (माघ० २।८०)। घात लगाए बैठा हुआ ऊँघने वाला शिकारी मृगों को नहीं मार सकता।

---

१. समि मुष्टौ (३।३।३६)।
२. परि-न्योर्नीणोर्द्यूताऽभ्रेषयोः (३।३।३७)।
३. परावनुपात्यय इणः (३।३।३८)।
४. व्युपयोः शेतेः पर्याये (३।३।३९)।

'हाथ से चुनना' इस अर्थ की प्रतीति होने पर, अर्थात् अभीष्ट पुष्पादि पदार्थों के हाथ की पहुँच में होने पर, 'चि' से घञ् होता है, यदि चुनना चोरी से न किया गया हो[1]—**कुसुमावचायः। पुष्पप्रचायः**। दूरस्थित पुष्पादिकों के चुनने में घञ् नहीं होगा—**वृक्षशिखरे फलप्रचयं करोति। फलप्रचयश्चौर्येण**—यहाँ भी घञ् नहीं हुआ। कवियों की कृतियों में अवचाय के स्थान में अवचय का प्रयोग देखा जाता है और अवतर के स्थान में अवतार शब्द का प्रयोग भी बहुधा मिलता है। इस व्यत्यास पर 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' का कर्ता वामन लिखता है—**अवतरावचायशब्दयोर्दीर्घव्यत्यासो बालानाम्**। (५।२।४०)। माघ यथास्थान अवचाय शब्द का प्रयोग करता है—**अविरतकुसुमावचायखेदात्** (शिशु० ७।७१)। काव्यप्रकाश में भी अवचाय शब्द का स्थान में प्रयोग है—**अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः**।

आदेय (जिसका आदान=चयन करना है) की प्रत्यासत्ति (समीपता) होने पर भी उद्पूर्वक 'चि' से घञ् नहीं होता[2]—**उच्चयः पुष्पाणाम्**। यहाँ अच् हुआ।

घञ्—'चि' से निवास, चिति (=चयन), शरीर तथा उपसमाधान (=राशीकरण, ढेर लगाना) अर्थों में घञ् होता है और धातु के आदि च् को क् आदेश भी होता है[3]—**निकाय**=निवास-स्थान। **काशीनिकायः**=**काशी निकायोऽस्य**, काशीवासी। **देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः** (मनु० १।३६)। देवनिकाया=देववेश्मानि (कुल्लूक)। 'चिति' में कर्म में क्तिन् है—चीयत इति। **आकायः — आचीयन्तेऽस्मिन्निष्टका इति**। अधिकरण में घञ्। अग्निस्थलविशेष। **आकायमग्निं चिन्वीत**=चयनेन निष्पादयेत्, ऐसा अर्थ है। **कायः शरीरम्**। चीयतेऽस्थ्यादिकमस्मिन्निति। यहाँ भी अधिकरण में प्रत्यय है। **गोमयनिकायः**, गोबर का ढेर। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। **गोमयानां निकेचायः**, गोबर का बार-बार ढेर लगाना। धातु के आदि को कादेश कहा है सो यहाँ यङ्लुगन्त धातु के आदि को कादेश हुआ

१. हस्तादाने चेरस्तेये (३।३।४०)।
२. उच्चयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।
३. निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः (३।३।४१)।

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् इति ततोऽपि प्रत्ययप्राप्तेः।

है, अभ्यास से उत्तर 'च्' को नहीं। इन अर्थों को छोड़कर अन्यत्र अच् होकर **चय, निचय** आदि रूप होंगे।

चि धातु से सङ्घ वाच्य होने पर घञ् होता है, जहाँ औत्तराधर्य एक-दूसरे के ऊपर-नीचे होना—यह अर्थ न हो।[1] प्राणियों के समुदाय को संघ कहते हैं—**ब्राह्मणानां निकायः** (=सङ्घः), **ब्राह्मणनिकायः**। **वैयाकरण-निकाये भाष्यकार इति प्रथते भगवान् पतञ्जलिः**। पर औत्तराधर्य होने से प्राणिसमूह होते हुए भी **'सूकरनिचय'** ऐसा ही अच्प्रत्ययान्त प्रयोग होगा। **'प्रमाणसमुच्चय'** आदि में सङ्घ अर्थ न होने से घञ् का प्रसङ्ग ही नहीं।

णच्—कर्म-व्यतिहार (=परस्परं करणम्, आपस में एक-सी क्रिया करना) गम्यमान होने पर धातुमात्र से णच् प्रत्यय होता है जब स्त्रीलिङ्ग वाच्य हो।[2] यह प्रत्यय भाव में ही होता है। णच्-प्रत्ययान्त का स्वतन्त्रतया प्रयोग नहीं होता। इससे परे अञ् तद्धित स्वार्थ में किया जाता है, तब यह प्रयोगार्ह होता है। **व्यावक्रोशी**, परस्पर अवक्रोशन=निन्दा। **व्यावहासी**, परस्पर हँसना। यहाँ णच् होकर स्वार्थिक अञ् (तद्धित) हुआ। तब अञन्त होने से स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय हुआ। स्त्रीत्व वाच्य न होगा तो **व्यतिपाक** (आपस में पकाना)—यहाँ घञ् निर्बाध होगा। कहीं-कहीं बाधक (जैसे ण्यन्त से युच् प्रत्यय) विषय में भी बाहुलकात् णच् हो जाता है—**व्यावचोरी**, एक-दूसरे की चोरी। **व्यावचर्ची**, परस्पर पुनःपाठ। कहीं स्त्रीत्व में भी णच् नहीं होता— व्यतीहा, व्यतीक्षा।

इनुण्—अभिविधि=अभिव्याप्ति गम्यमान होने पर धातुमात्र से भाव में इनुण् (इन्) प्रत्यय है।[3] इनुणन्त का स्वतन्त्रतया प्रयोग नहीं होता। इससे स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय अण् किया जाता है, तब यह प्रयोगार्ह होता है—**सांराविणं वर्तते**, चारों ओर शोर हो रहा है। यहाँ 'रु' धातु है। सम् शब्द अभिविधि का द्योतक है। अणन्त 'सांराविण' स्वभावतः नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। संराविन् (इनुणन्त) से अण् परे होने पर 'टि' का लोप नहीं हुआ, कारण कि अनपत्यार्थक अण् परे होने पर इन्नन्त प्रकृत्या=अपने स्वरूप में, अवस्थित रहता है।[4] इसी प्रकार **सान्द्राविणं वर्तते**, चारों ओर

---

१. सङ्घे चानौत्तराधर्ये (३।३।४२)।
२. कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् (३।३।४३)।
३. अभिविधौ भाव इनुण् (३।३।४४)।
४. इनण्यनपत्ये (६।४।१६४)।

भगदड़ हो रही है। यहाँ 'द्रु' धातु है। सम् अभिविधि का द्योतक है।

घञ्—अव, नि-पूर्वक ग्रह् से, आक्रोश=शाप गम्यमान होने पर[1]—**अवग्राहो हन्त ते वृषल भूयात्,** हे शूद्र, तुझे विघ्न उपस्थित हो। **निग्राहस्ते पाप भूयात्,** हे दुष्ट, तुझे दण्ड हो। आक्रोश न होने पर **अवग्रहः पदस्य** (पद का विभाग)—यहाँ अप् हुआ। **निग्रहश्चोरस्य,** चोर का पकड़ना, अथवा चोर को दण्ड।

प्र-पूर्वक ग्रह् से, लिप्सा (=प्राप्ति की इच्छा) की प्रतीति होने पर[2]—**पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुः पिण्डार्थी,** भोजन की चाह से भिक्षु पात्र लिये विचरता है। **स्रुवप्रग्राहेण चरति द्विजो दक्षिणार्थी।** लिप्सा की प्रतीति न हो तो अप् प्रत्यय होकर **'प्रग्रह'** ऐसा रूप होगा—**प्रग्रहो देवदत्तस्य,** देवदत्त का बांधे जाना। भाव में प्रत्यय। प्रग्रह कैदी (वन्दी) का भी नाम है—**प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम्**—अमर। इस अर्थ में कर्म में अप्-प्रत्यय समझना चाहिए। रामायण (२।८२।१) में **तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां सभाम्**—ऐसा पाठ है। वहाँ बाहर से आए हुए अतिथियों का जहाँ सभाजन (स्वागत) किया जाता है उस सभा को 'प्रग्रहा' कहा है। यहाँ 'प्रग्रह' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने से अबन्त (अप्-अन्त) नहीं हो सकता—ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण कि 'घञजबन्ताः पुंसि' यह नियम भाव में अप् के लिए है।

परिपूर्वक ग्रह् से, यदि प्रत्ययान्त का प्रयोग यज्ञ-विषय में हो[3]—**उत्तरः परिग्राहः। अधरः परिग्राहः।** परिग्राह=वेदी के चारों ओर बाड़ लगाना।

निपूर्वक वृङ् अथवा वृञ् से, यदि प्रत्ययान्त धान्य का वाचक हो[4]—**नीवारा नाम व्रीहयः।** उपसर्ग को दीर्घ हुआ है। धान्य से अन्यत्र **निवरा कन्या,** ऐसे अप् प्रत्यय करके कहेंगे। **निश्चितं व्रियत इति निवरा।** कर्म में अप्।

उद्-पूर्वक श्रिञ् यु, पू, द्रु से[5]—श्रि—**उच्छ्राय** (उन्नति, ऊँचाई)। यु—**उद्याव। पू—उत्पाव। द्रु—उद्द्राव। पतनान्ताः समुच्छ्रयाः** (रा० २।१०५।१६)

---

१. आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः (३।३।४५)।
२. प्रे लिप्सायाम् (३।३।४६)।
३. परौ यज्ञे (३।३।४७)।
४. नौ वृ धान्ये (३।३।४८)।
५. उदि श्रयति-यौति-पू-द्रुवः (३।३।४९)।

यहाँ अच् कैसे हो गया ? अगले सूत्र में जो 'विभाषा' पढ़ा है उसका इस सूत्र में सिंहावलोकित न्याय (=सिंह का पीछे की ओर देखना इस ढंग) से सम्बन्ध हो जाने से पक्ष में अच् हो जायगा।

आङ्पूर्वक रु तथा प्लु से घञ् विकल्प से[1]। पक्ष में यथाप्राप्त अप् होगा—**आरावः। आरवः। आप्लावः। आप्लवः**। स्नान। आङ्पूर्वक प्लु का नहाना अर्थ है—**स्नातक आप्लुतो व्रती**—अमर।

अव पूर्वक ग्रह् से घञ् विकल्प से। पक्ष में यथाप्राप्त अप्, जब वर्ष-प्रतिबन्ध=अनावृष्टि अर्थ हो[2]—**वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम्** (रघु० १।६२)। **वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्** (कुमार० ५।६१)। इस अर्थ में घञन्त 'अवग्राह' का प्रयोग विरल है।

प्र-पूर्वक ग्रह् से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्रप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त तुलासूत्र को कहे[3]—**तुलाप्रग्राहेण चरति वणिगन्यो वा**, तुलासूत्र से व्यवहार करता है बनिया अथवा कोई और। 'तुलाप्रग्रहेण' ऐसा भी कह सकते हैं।

रश्मि=बागडोर अर्थ में भी प्र-पूर्वक ग्रह् से विकल्प को घञ्[4]—**प्रगृह्यतेऽश्वादिरेभिरिति प्रग्राहाः प्रग्रहा वा**। यहाँ करण में प्रत्यय है। इस अर्थ में वस्तुगत बहुत्व को लेकर प्रग्रह, प्रग्राह, रश्मि का बहुवचन में प्रयोग होता है। इसी अर्थ में 'अभीषु' शब्द का भी बहुवचन में प्रयोग होता है—**प्रगृह्यन्तामभीषवो यावदवतरामि** (शाकुन्तल)।

प्रपूर्वक वृञ् से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्राप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त आच्छादन-विशेष का नाम हो[5]—**प्रावार** (घञ्)। **प्रवर** (अप्)। पूर्वत्र 'उपसर्गस्य घञि…' से उपसर्ग को दीर्घ भी होता है।

परि-पूर्वक भू से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्राप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त अवज्ञान=तिरस्कार का अभिधायक हो[6]—**परिभाव। परिभव। परिभवो-**

---

१. विभाषाऽऽङिरुप्लुवोः (३।३।५०)।
२. अवे ग्रहो वर्ष-प्रतिबन्धे (३।३।५१)।
३. प्रे वणिजाम् (३।३।५२)।
४. रश्मौ च (३।३।५३)।
५. वृणोतेराच्छादने (३।३।५४)।
६. परौ भुवोऽवज्ञाने (३।३।५५)।

पहारिणोऽनर्थाः । घञन्त परिभाव के उपसर्ग को दीर्घ करके 'परीभाव' भी कह सकते हैं—**अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया**—अमर ।

अच्—कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) तक (इससे पहले-पहले) भावे और अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् की अनुवृत्ति आती है ।

इकारान्त धातु से भाव में तथा यथासम्भव कर्तृ-भिन्न कारक में अच्-प्रत्यय आता है[1]—इण्—**अय** । शुभ दैव । वि-पूर्वक—व्यय (खर्च, नाश) । आङ्पूर्वक—**आय** । प्र-आङ् पूर्वक—**प्राय** । अदन्त 'प्राय' का अर्थ भूमा=बाहुल्य है और सर्वस्वत्यागपूर्वक अनशन द्वारा मरना भी अर्थ है—**प्रायेण-कृतकृत्यत्वान्मृत्योरुद्विजते जनः** । **प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव** (रघु० ८।९४) । **चय** । जि—**जय**, जीत । भाव में प्रत्यय । **जयोऽश्वः** । **जयत्यनेनेति जयः** । करण में प्रत्यय । **ततो जयमुदीरयेत्** इस भारत-वाक्य में भी 'जय' में करण में प्रत्यय है । क्षि—**क्षय**, हानि, नाश । भाव में प्रत्यय । **विषं पीत्वा क्षयं गतः**—इस द्व्यर्थक वाक्य में 'जल पीकर घर गया' यह भी अर्थ है । यहाँ 'क्षय' में अधिकरण में अच् हुआ है—**क्षियति निवसत्यत्रेति क्षयः** । क्षि निवासगत्योः । स्मरण रहे, भाव-आदि में अच्-प्रत्ययान्त पुँल्लिग होता है ।

भी, वृष् आदि से नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव में क्त, ल्युट् न होकर अच् होता है, ऐसा वार्तिककार कहते हैं[2]—**भयम्** । **वर्षम्** । **वृषभो वर्षणात्** इस भाष्य-प्रयोग से ल्युट् भी होता है ।

अप्—ऋकारान्त तथा उकारान्त धातुओं से भाव आदि में अप् होता है[3] । यह धातुमात्र से विहित घञ् का अपवाद है । यहाँ सूत्र में 'उ' को तपर (त् से परे भी 'तपर' होता है) नहीं पढ़ा है, केवल उच्चारण-सौकर्य के लिए 'उ' से पूर्व 'दृ' पढ़ा है । ऋकारान्त—कॄ—कर । **किरत्यनेनेति करः**=हस्तः । शॄ—**शृणात्यनेन शरः** । गॄ—**गीर्यते निगीर्यत इति गरः** (विष) । विस्तॄ—**विस्तीर्यत इति विष्टरः**, आसन । उकारान्त—स्तु—**स्तवनं स्तवः** (भाव में प्रत्यय) । **स्तूयतेऽनेनेति वा**, स्तोत्र । पू—**पव** । लू—लव (कटाई, अंश) । **नूयते स्तूयते इति नवः**, नया । कर्म में प्रत्यय । अदादि नु

१. एरच् (३।३।५६) ।
२. अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम् (वा०) ।
३. ऋदोरप् (३।३।५७) ।

अथवा तुदादि नू। प्रपूर्वक सृ से अप् होकर 'प्रसर' निष्पन्न होता है। इसमें बहुल-ग्रहण कारण है। अथवा दीक्षित के अनुसार **प्रसर, अवसर** आदि में 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण'(३।३।११८)से'घ'हुआ है, अप् नहीं। **परिसरन्त्यत्रेति परिसरः**, पर्यन्त-भूः, इर्द-गिर्द की भूमि। यहाँ भी 'घ' प्रत्यय हुआ है।

अप्—ग्रह्, वृङ्, दृ, निस्पूर्वक चि, गम् से भाव आदि में[1]—**ग्रहणं ग्रहः, गृह्यत इति वा। व्रियत इति वरः।** कन्या जिसे पति-रूप में चुनती है उसे 'वर' कहते हैं। **तपोभिरिष्यते यस्तु देवेभ्यः स वरो मतः**, तपस्या द्वारा देवताओं से जिस पदार्थ की चाह की जाती है, उसे 'वर' कहते हैं। दृ—दर=दराड़। प्रदर=स्त्रीरोग-विशेष=अति रजःस्रुति। निस् चि–**निश्चय**। यहाँ अप् अच् का अपवाद है। गम्—**गम। आगम।** वश (अदा०, चाहना), तथा रण् (भ्वा०,शब्द करना) से भी वार्तिक के अनुसार अप् होता है[2]—वश=इच्छा। यही मुख्यार्थ है—**व्रात्य यस्ते वशः**, हे व्रात्य, जो तेरी **इच्छा**। **यथा वशम्**=यथेच्छम्। **किञ्चित्स्ववशात् क्रियते किंचित्परवशात्**। आयत्त तथा आयत्तता—ये 'वश' के औपचारिक अर्थ हैं—**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्** (मनु० ४।१६०)। वश् से भाव में घञ् प्राप्त था, सो उसका यह अपवाद है। **रणन्त्यस्मिन् योद्धार इति रणः**। अधिकरण में अप्।

क—घञ् के अर्थ में वार्तिककार स्था, स्ना, पा, व्यध्, हन्, युध्—इन धातुओं से क (अ) प्रत्यय का विधान करते हैं[3]—**प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः**=सानु, पर्वत के ऊपर की समतल भूमि। प्रतिष्ठन्ते=चलन्ति, गतागतं कुर्वन्ति, संचरन्ति। अधिकरण में क। **प्रस्नान्त्यस्मिन्निति प्रस्नः**, नहाने के लिए पानी का भरा टब। **प्रपिबन्त्यस्याम् इति प्रपा**, पानीयशालिका, प्याऊ। **आविध्यन्ति तेनेत्याविधः**, मोची का टेकुआ। करण में प्रत्यय। **विहन्यन्तेऽस्मिन्निति विघ्नः**। अधिकरण में प्रत्यय। यहाँ 'क' परे रहते धातु की उपधा का लोप। लोप होने पर ह् और न् का आनन्तर्य होने से 'ह्' को घ्। **आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम्**, हथियार।

अन्यत्र भी शिष्टों के प्रयोगों में घञर्थ में 'क' देखा जाता है—**उपाख्य**।

---

१. ग्रह्-वृ-दृ-निश्चि-गमश्च (३।३।५८)।
२. वशि-रण्योरुपसंख्यानम् (वा०)।
३. घञर्थे क-विधानं स्था-स्ना-पा-व्यधि-हनि-युध्यर्थम् (वा०)।

उपाख्यायते प्रत्यक्षत उपलभ्यत इत्युपाख्यः। उपाख्य से भिन्न अनुपाख्य= अनुमेय। सूत्रकार का प्रयोग भी है—द्वितीये चानुपाख्ये (६।३।८०)। **स्रुघ्नः स्रुचोऽस्मिन्हन्यन्ते इति** (कैयट)। **आढ्य**—यहाँ भी आङ्पूर्वक ध्यै से 'क' प्रत्यय हुआ है और पृषोदरादि होने से ध् को ढ्। **आध्यायन्ति तम् इत्याढ्यः**। अर्थी अथवा दरिद्र लोग जिसका उत्सुकतापूर्वक स्मरण करते हैं। आढ्य= धनी।

अप्—उपसर्गपूर्वक अद् से अप्[1]—**विघस**। **प्रघस**। घञ् तथा अप् परे रहते अद् को घस्लृ (घस्) आदेश होता है। विघस भोजन-शेष को कहते हैं। ब्राह्मण, अतिथि-आदि के भोजन करने के पश्चात् जो अन्न बचे उसे विघस कहते हैं। मनु का वचन भी है—**विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः। विघसो भुक्तशेषं स्याद् यज्ञशिष्टमथामृतम्** (४।२८५)॥ उपसर्ग के अभाव में 'घास' ऐसा घञन्त रूप होगा।

ण—निपूर्वक अद् से 'ण' प्रत्यय होता है और अप् भी[2]—न्याद (ण)। णान्त का स्वभाव से पुंल्लिग में प्रयोग होता है—**न्यादः**। **निघस** (अप्)।

अप्—व्यध् तथा जप् से भाव आदि में अप्, जब उपसर्ग न हो[3]—**व्यध**। **जप**। उपसर्ग होने पर तो घञ् होगा—**आव्याध**। **उपजाप** (काना-फूसी)। आ समन्ताद् व्यधनम्=आव्याधः। उपेत्य जपनं कर्णे कथनम् उपजापः।

स्वन्, हस् से विकल्प से अप्, जब उपसर्ग न हो[4]—**स्वन** (अप्)। **स्वान** =शब्द (घञ्)। हस (अप्)। **हास** (घञ्)। उपसर्ग होने पर तो नित्य घञ् होगा—**प्रस्वान**। **प्रहास**। **उपहास**। **परिहास**। यहाँ सर्वत्र भाव में प्रत्यय है। **स्मरण रहे, भाव-घञन्त नित्य पुंल्लिङ्ग होते हैं।**

सम्, उप, नि, वि—इन उपसर्गों के उपपद होने पर और उपसर्गाभाव में भी यम् धातु से विकल्प से अप् आता है, पक्ष में औत्सर्गिक घञ् भी[5]—

---

१. उपसर्गेऽदः (३।३।५९)।
२. नौ ण च (३।३।६०)।
३. व्यध-जपोरनुपसर्गे (३।३।६१)।
४. स्वन-हसोर्वा (३।३।६२)।
५. यमः समुप-नि-विषु च (३।३।६३)।

संयम । संयाम । यम । याम । उपयम (स्वीकार, विवाह) । **उपयाम । नियम । नियाम । वियम । वियाम ।** सोपसर्गक घञन्तों का साहित्य में प्रयोग विरल है । **शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।** 'याम' का प्रहर (पहर) अर्थ भी है—त्रियामा=यामिनी=रात्रि ।

'नि' उपपद होने पर गद्, नद्, पठ्, स्वन् से विकल्प से अप् ।[1] पक्ष में घञ्—**निगद । निगाद** (घञ्) । **एतन्निगदव्याख्यातम्**, यह पाठ से ही व्याख्यात है । व्याख्या की अपेक्षा नहीं । **निनद । निनाद । निपठ । निपाठ । निस्वन । निस्वान ।** उपसर्गाभाव में बाहुलक[2] से गद् से अच् होकर 'गद'(वाक्य, भाषण) । नद्, पठ्, स्वन् से घञ् होकर **नाद, पाठ, स्वान**—ये रूप होंगे ।

निपूर्वक क्वण् से विकल्प से अप्, तथा उपसर्गाभाव में भी । वीणा-विषयक प्रयोग में 'नि' से अतिरिक्त कोई और उपसर्ग होने पर भी—अप् विकल्प से[3]—**निक्वण । निक्वाण** (घञ्) । **क्वण । क्वाण** (घञ्) । **प्रक्वणः प्रक्वाणो वा वीणायाः । कल्याणप्रक्वणा वीणा ।**

उपसर्गाभाव में मद् से अप्, अन्यत्र यथाप्राप्त घञ्[4]—**मद । विद्यामद । कुलमद । प्रमाद । प्रमादोऽनवधानता**—(अमर) **उन्माद**, पागलपन । **उन्मादश्चित्तविभ्रमः**—अमर ।

प्रमद, सम्मद, दोनों हर्ष-अर्थ में अप्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं ।[5] सोपसर्गक मद् से अप् की प्राप्ति नहीं थी । **कन्यानां प्रमदः । कोकिलानां सम्मदः ।**

सम्, उद्पूर्वक अज् (=गति, क्षेपण) से अप्, यदि धात्वर्थ का विषय पशु हो[6]—सम्पूर्वक अज् समुदाय अर्थ को कहता है और उद्पूर्वक प्रेरण

---

१. नौ गद-नद-पठ-स्वनः (३।३।६४) ।
२. कृत्यल्युटो बहुलम् । यहाँ बहुल-ग्रहण से दूसरे कृत्-प्रत्यय भी अपने अभिधेय को छोड़ जाते हैं, इस से यां पचाद्यच् कर्म में हुआ है ।
३. क्वणो वीणायां च (३।३।६५) ।
४. मदोऽनुपसर्गे (३।३।६७) ।
५. प्रमद-संमदौ हर्षे (३।३।६८) ।
६. समुदोरजः पशुषु (३।३।६९) ।

(हाँककर निकालना) को । **समजः पशूनाम् । उदजः पशूनाम्** । अन्यत्र **समाजो ब्राह्मणानाम्**, ब्राह्मणों का समुदाय । **उदाजः क्षत्रियाणाम्**, योद्धाओं का (सेनानी द्वारा) युद्धार्थ ले जाया जाना, अथवा प्रयाण । **तस्माद्राजा संग्रामं जित्वोदाजमुदजते** (मै० सं० १।१०।१६) ।

'ग्लह' यह अप्-प्रत्ययान्त निपातन किया है जब धात्वर्थ का विषय अक्ष (पासा) हो[1]—**अक्षस्य ग्लहः** । ग्रह से अप् तो पहले से सिद्ध है, अक्ष विषय में लत्व के लिए निपातन किया है ।

प्रजन (गर्भाधान) विषय में सृ धातु से अप्[2] । घञ् का अपवाद । **गवामुपसरः** । स्त्रीगवीषु पुंगवानां गर्भाधानाय प्रथममुपसरणमुपसरः, अर्थात् गौ पर बैल का गर्भाधान के लिए पहली बार चढ़ना ।

नि, अभि, उप, वि—इन उपसर्गों के उपपद होने पर ह्वेञ् से अप् और धातु को सम्प्रसारण[3]—**निहव । अभिहव । उपहव । विहव** । अन्यत्र घञ् होकर **'प्रह्वाय'** रूप होगा ।

आङ्पूर्वक ह्वेञ् से अप्, तथा धातु को सम्प्रसारण, जब प्रत्ययान्त युद्ध का वाचक हो[4]—आहूयन्तेऽस्मिन्निति **आहवः** । युद्ध अर्थ न होगा तो **आह्वाय** (बुलाना) यह घञन्त रूप होगा । धातु को आत्व होकर कृत्-प्रत्यय के ञित् होने से युक्-आगम ।

निपान (कुएँ के समीप पशुओं के लिए जलाधार) अर्थ में अप्-प्रत्ययान्त **'आहाव'** शब्द का निपातन किया है[5] । यहाँ धातु को सम्प्रसारण तथा वृद्धि भी निपातित की है ।

अनुपसर्गक ह्वेञ् से अप् तथा सम्प्रसारण, भाव अभिधेय होने पर[6]—**हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्** (ऋग्० ६।४७।११) । हव=पुकार ।

---

१. अक्षेषु ग्लहः (३।३।७०) ।
२. प्रजने सर्तेः (३।३।७१) ।
३. ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युप-विषु च (३।३।७२) ।
४. आङि युद्धे (३।३।७३) ।
५. निपानमाहावः (३।३।७४) ।
६. भावेऽनुपसर्गस्य (३।३।७५) ।

उपसर्ग-रहित हन् से भाव में अप् और साथ ही हन् को 'वध' आदेश[1]—**तालस्य पतनं काकस्य च वधः। वधश्चोराणाम्। वधो दस्यूनाम्।** घञ् का निषेध नहीं है—**घात। विघात। प्रघात। संघात।**

मूर्ति (काठिन्य) अभिधेय होने पर हन् से अप्-प्रत्ययान्त **'घन'** शब्द निपातन किया है।[2] धातु के ह को घ भी निपातन से ही होता है, किसी शास्त्र से प्राप्त नहीं है—**दधिघनः**, दही की कठिनावस्था। घन पुं० अप्-प्रत्ययान्त होने से। **घनं दधि**—यहाँ धर्म (मूर्त्ति, काठिन्य)-वाची शब्द धर्मी (काठिन्य वाले पदार्थ) को कह रहा है। ऐसा अभिधान व्यवहारानुकूल है।

अन्तर्घन अथवा अन्तर्घण[3]—यह बाहीक जनपद में देश-विशेष का नाम है। अप्-प्रत्ययान्त निपातन किया है। जयमंगला टीका के अनुसार भट्टि (७।६२) में प्रयुक्त अन्तर्घण का अर्थ 'बाहरी द्वार को लाँघकर भीतरी खुली जगह' है।

घर के एकदेश (एक भाग) अर्थ में अप्-प्रत्ययान्त **प्रघण, प्रघाण** निपातन किये हैं[4]। बाहर के दर्वाज़े के साथ के कमरे को प्रघण अथवा प्रघाण कहते हैं—**प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके**—अमर।

उद्-पूर्वक हन् से अप्-प्रत्यय करके 'उद्घन' यह निपातित किया है जब अत्याधान (ऊपर धरना) हो[5]—**उद्घन। यस्मिन्काष्ठे स्थापयित्वाऽन्यानि काष्ठानि तक्ष्यन्ते स उद्घनः**, जिस लकड़ी पर रखकर दूसरी लकड़ियाँ काटी अथवा छीली जाती हैं उसे 'उद्घन' कहते हैं।

अप-पूर्व हन् से **'अपघन'** यह अप् प्रत्ययान्त निपातन किया है शरीरांग अर्थ में[6]। वृत्ति के अनुसार 'अपघन' जिस किसी अङ्ग को नहीं कहते, किन्तु हाथ-पाँव को ही। अमर तो **अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः** ऐसे 'अपघन' को अंगमात्र का पर्याय पढ़ता है। कवि भी अंग-सामान्य में 'अपघन' का प्रयोग करते हैं।

---

१. हनश्च वधः (३।३।७६)।
२. मूर्तौ घनः (३।३।७७)।
३. अन्तर्घनो देशे (३।३।७८)।
४. अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च (३।३।७९)।
५. उद्घनोऽत्याधानम् (३।३।८०)।
६. अपघनोऽङ्गम् (३।३।८१)।

अयस्, वि, द्रु—इनके उपपद होने पर हन् से करण कारक में अप्-प्रत्यय होता है और साथ ही हन् को घन् आदेश हो जाता है[1]—**अयो हन्यतेऽनेनेति अयोघनः**, हथौड़ा। **विहन्यतेनेनेति विघनः**। द्रुः=द्रुमो हन्यतेऽनेनेति **द्रुघनः**। कुछ लोग णत्व करके **'द्रुघण'** ऐसा पढ़ते हैं। वह भी ग्राह्य है। द्रुघन अथवा द्रुघण लवित्र (कुल्हाड़ी) आदि को कहते हैं।

परिपूर्वक हन् से करण में अप्, हन् को 'घ'-आदेश[2]—**परिहण्यतेऽनेनेति परिघः**=अर्गल। 'परेश्च घाङ्कयोः' (८।२।२२) से लत्व होकर 'पलिघ' भी साधु होगा। **नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति** (शाकुन्तल)।

उप-पूर्वक हन् से अप् करके 'आश्रय' अर्थ में 'उपघ्न' निपातन किया है।[3] वृत्ति के अनुसार सूत्र में आश्रय शब्द का सामीप्य लक्ष्यार्थ है। **पर्वतोपघ्नः**। **ग्रामोपघ्नः**। ग्राम के समीप की भूमि। कवि कालिदास तो मुख्य आश्रय अर्थ में 'उपघ्न' का प्रयोग करता है—**छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ**··· (रघु० १४।१)। आश्रयभूत वृक्ष के कट जाने से दो वेलें।

सम्-पूर्वक हन् से अप् प्रत्यय करके 'सङ्घ' निपातन किया है और उद्-पूर्वक हन् से 'उद्घ' (=प्रशस्त)[4]। **'संघ'** प्राणिसमूह को कहता है, ऐसा वैयाकरण मानते हैं पर कवि लोग पर-वचन-निरपेक्ष होकर चलते हैं, वे जड़ वस्तुओं के समूह में भी 'संघ' का प्रयोग करते देखे जाते हैं—**संङ्घचारिणोऽनर्थाः** (स्वप्न०)। विपत्तियाँ एक साथ आती हैं। 'उद्घ' शब्द का प्रायः समास के उत्तरपद के रूप में प्रयोग होता है, वाक्य में स्वतन्त्रतया नहीं। पर वृत्तिकार **'उद्घो मनुष्यः'** ऐसा उदाहरण देते हैं। क्षीरस्वामी भी 'उद्घ' के साथ नित्य समास नहीं मानते उद्घोऽसमासेऽपि। उद्घन्यत उत्कृष्टो ज्ञायत इत्युद्घः। हन्तेर्गत्यर्थस्य ज्ञानेर्थे प्रवृत्तेः।

निपूर्वक हन् से अप्-प्रत्यय करके निमित (=समन्तात् मित, चारों ओर समान-परिमाण, जिसका घेरा और ऊँचाई बराबर है) अर्थ में निपातित किया है[5]—**निघा वृक्षाः** = समानारोहपरिणाहाः। **निघाः शालयः**।

---

१. करणेऽयो-वि-द्रुषु (३।३।८२)।
२. परौ घः (३।३।८४)।
३. उपघ्न आश्रये (३।३।८५)।
४. सङ्घोद्घौ गण-प्रशंसयोः (३।३।८६)।
५. निघो निमितम् (३।३।८७)।

क्त्रि—'डु' इत्संज्ञक धातु से भाव-आदि में 'क्त्रि' प्रत्यय होता है[1], पर इस का (क्त्रि-प्रत्ययान्त का) स्वतन्त्रतया वाक्य में प्रयोग नहीं होता है। इससे स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय 'मप्' करके इसको प्रयोगार्ह बनाया जाता है—डुपचष् पाके—**पक्त्रिमम्**=पाकेन निर्वृत्तम्, पकाया हुआ। डुकृञ्—**कृत्रिमम्**=क्रियया निर्वृत्तम्=बनावटी। डुवप्—वापेन निर्वृत्तम्=**उप्त्रिमम्**=बोने से उपजा हुआ।

अथुच्—'टु' इत्संज्ञक धातु से भाव-आदि में अथुच् (अथु)[2]—टुवेपृ—**वेपथु**=कम्प। टुओश्वि—**श्वयथु**=शोथ। टुक्षु—**क्षवथु**=खाँसी। अथुचप्रत्ययान्त स्वभाव से पुंल्लिग होते हैं।

नङ्—यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ्, रक्ष्—से भाव-आदि में[3]—यज् न=यज्ञ (चवर्ग के योग से 'न्' को 'ञ्')। **याच्ञा**। यहाँ भी **न्** को ञ्। याच् से नङ् स्वभावतः स्त्रीत्व का वाचक होता है, अतः टाप् हुआ। **यत्न**। विच्छ्—न=विश्न=गति। यहाँ प्रत्यय के ङित् होने से 'च्छ्' को 'श्' हुआ[4]। प्रच्छ्—न=प्रश्न। यहाँ भी 'श्' हुआ। सम्प्रसारण प्राप्त था, पर नहीं होता। इसमें आचार्य का 'प्रश्ने चासन्नकाले' (३।२।११७) इस सूत्र में प्रश्न शब्द का प्रयोग ज्ञापक है। नङ् प्रत्ययान्त पुंल्लिग होते हैं, याच्ञा को छोड़कर।

नन्—स्वप् से भाव में[5]—**स्वप्न**। स्वप्न पुंल्लिग है।

कि—उपसर्ग उपपद होने पर घु-संज्ञक धातुओं से भाव-आदि में कि[6]। दा, दाण्, देङ्, दो, धा, धेट्—ये घुसंज्ञक हैं। प्रत्यय को कित् किया है ताकि धातु के 'आ' का लोप हो सके। **प्रदि** (उपदा, उपहार, भेंट) **उपाधि**। आङ्दा—**आदि**। **प्रधि**=नेमि। **निधि**। **सन्निधि**। **उपधि**, कपट। **आधि**, मानसी व्यथा। **व्याधि**, शरीर का रोग। **अन्तर्धि**, छिपना। कि-विधि के

---

१. ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८)।
२. ट्वितोऽथुच् (३।३।८९)।
३. यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् (३।३।९०)।
४. च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९)।
५. स्वपो नन् (३।३।९१)।
६. उपसर्गे घोः किः (३।३।९२)।

लिए अन्तर्, जो उपसर्ग नहीं है, उपसर्ग मान लिया जाता है। **कि-प्रत्ययान्त पुँल्लिग होते हैं।**

कर्म उपपद होने पर घु-संज्ञक धातुओं से अधिकरण कारक में[1]—**जलं धीयतेस्मिन्निति जलधिः**, समुद्रः। **उदकं धीयतेऽत्रेत्युदधिः** समुद्रः। यहाँ 'उदक' को 'उद' भी होता है। **शरा धीयन्तेऽत्रेति शरधिः**, तूणीरः। **इषवो धीयन्तेत्रेति इषुधिः**। इषुधि स्त्रीलिंग भी होता है। ओषः प्लोषो दाहो दीप्तिर्वा धीयतेऽस्याम् इत्योषधिः। ओषधि नित्य-स्त्रीलिंग है। कि-प्रत्ययान्त प्रायः पुंल्लिग होते हैं।

स्त्र्यधिकारोक्त कृत्-प्रत्यय

क्तिन्—स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव-आदि अर्थों में धातुमात्र से **क्तिन्** (ति) प्रत्यय आता है।[2] घञ् का अपवाद है। अच् और अप् को परे होने से बाधता है। **क्तिन्** वलादि आर्धधातुक कित्-प्रत्यय है। सेट् धातुओं से इट् प्राप्त था, सो ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु (७।२।९) से रुक जाता है। कित् होने से धातु को गुण नहीं होता—अशूङ् (अश्)—**अष्टि**। इड् विकल्प प्राप्त था। इट् का अत्यन्ताभाव रहता है। विपूर्वक—**व्यष्टि**। सम्पूर्वक—**समष्टि**। वन्—**वति**। तन्—**तति**। वन्, तन् उदात्तोपदेश अर्थात् सेट् हैं, पर यहाँ इट् नहीं हुआ। प्रत्यय के झलादि कित् होने से अनुनासिक-लोप हुआ है। गम्—**गति**। यम्—**यति**। रम्—**रति**। मन्—**मति**। नम्—**नति**। हन्—**हति**। (=आघात, घात)। गम् आदि अनुदात्तोपदेश हैं, अतः अनुनासिक-लोप हुआ। अधि—इङ्—**अधीति** (पढ़ना)। इण्—**इति**। प्रतिपूर्वक—**प्रतीति** (ज्ञान, बोध)। ईङ् (गत्यर्थक दिवा०)—**ईति**। **अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥** कृ—**कृति**। चि—**चिति**। विपूर्वक—**विचिति**, ढूँढ, खोज, तलाश, परीक्षा, विचार। **छन्दोविचिति**, वृत्तपरीक्षा। नी—**नीति**। री (ङ्) बहना—**रीति**। **रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः** (हरिवं० २।४२।६०)। रीति=धारा। इस प्रयोग में मूल धात्वर्थ उपस्थित है। परम्परा, रचना-विशेष (शैली), प्रकार आदि सब गौण अर्थ हैं। नु—**नुति**। स्तु—**स्तुति**। विपूर्वक क्लिद्—

---

१. **कर्मण्यधिकरणे च** (३।३।९३)।
२. **स्त्रियां क्तिन्** (३।३।९४)।

विक्लित्ति। तण्डुलादि के अवयवों का शिथिल होना। दो—**दिति**। मा—**मिति**। अनुपूर्वक—**अनुमिति**। उपपूर्वक—**उपमिति**। स्था—**स्थिति**। स्फाय्—**स्फाति**, वृद्धि, समृद्धि। अप-चाय् (पूजा करना)—**अपचिति**। यहाँ चाय् को 'चि' नित्य[1] होता है। निष्ठा में विकल्प से। अर्द्—**अर्त्ति**। इडभाव। विनश्—**विनष्टि**। **न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः** (केन उप०)।

आप् आदि धातुओं से क्तिन् होता है, ऐसा वार्तिक पढ़ा है[2]—**आप्ति** (प्राप्ति)। राध्—**राद्धि** (=सिद्धि)। दीप्—**दीप्ति**। आप् आदि के लिए प्रयोगों का अनुसरण करना होगा। सुपूर्वक अस्—**स्वस्ति**। ध्वंस्—**ध्वस्ति**। यह वार्तिक 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) जो 'अ' विधान करता है, उसका अपवाद है। लभ्—**लब्धि**। यहाँ षित् (डुलभष्) होने से अङ् प्राप्त था। उसका अपवाद क्तिन् होता है।

श्रु, यज्, इष्, स्तु—से करण कारक में[3]—श्रूयतेऽनया **श्रुतिः**, श्रोत्रम्। इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा अनयेति **इष्टि** र्यागः। प्रत्यय के कित् होने से सम्प्रसारण। इष् से भी **इष्टि**। स्तु—**स्तुति**। स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः स्तोत्रम्। करण में ल्युट् की प्राप्ति थी।

नि—ग्लै, म्लै, ज्या, हा—से 'नि'[4]—**ग्लानि**। **म्लानि**। **ज्यानि** (हानि)। **हानि**। ग्लै, म्लै को उपदेशावस्था में ही 'आत्व' हो जाता है। ज्या को ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है। यहाँ प्रत्यय ङित् नहीं, सो सम्प्रसारण नहीं हुआ। ॠकारान्त धातुओं से तथा लू आदि से क्तिन् निष्ठा की तरह होता है अर्थात् क्तिन् के त् को न् होता है[5]—कॄ—**कीर्णि**। **कीर्ण्णि**। जॄ—**जीर्णि**। **जीर्ण्णि**। शॄ—**शीर्णि**। **शीर्ण्णि**। अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४६) से यर् (यहाँ ण्) को वैकल्पिक द्वित्व होता है। लू—**लूनि** (कटाई)। यु (क्र्यादि)—**यूनि**।

क्विप्—सम्पत्, विपत्, प्रतिपत्—इत्यादिक शब्दों में पद् से क्विप् देखा

१. चायतेः क्तिनि चिभावो वाच्यः (वा०)।
२. क्तिन्नाबादिभ्यः (वा०)।
३. श्रु-यजीषि-स्तुभ्यः करणे (वा०)।
४. ग्ला-म्ला-ज्या-हाभ्यो निः (वा०)।
५. ॠकार-ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् भवतीति वक्तव्यम् (वा०)।

जाता है।[1] क्तिन् भी इष्ट है[2]—**सम्पत्ति। विपत्ति। प्रतिपत्ति। ययाऽग्निः समिध्यते सा समित्।**

क्तिन्—स्था, गै (गा), पा, पच्—से क्तिन्[3]। सोपसर्गक आकारान्तों से अङ् प्राप्त था। पच् से भी धातु के षित् (डुपचष्) होने से अङ् प्राप्त था। **स्था—प्रस्थिति। गै—संगीति। पा—प्रपीति। सम्पीति। पच्—पक्ति।** यहाँ भाव में ही प्रत्यय का विधान है। यदि क्तिन् अङ् का बाधक है तो **अवस्था, संस्था** आदि कैसे बनेंगे। सूत्रकार का 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (१।१।३४) में व्यवस्था शब्द का प्रयोग ज्ञापक है कि अङ् का अत्यन्त बाध नहीं होता।

क्यप्—व्रज्, यज् से भाव में[4]—**व्रज्या। इज्या।** क्यप् स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में विहित हुआ है, अतः क्यबन्त से टाप् हुआ। प्रत्यय के कित् होने से यज् को सम्प्रसारण।

सम्-पूर्वक अज्, निपूर्वक सद् (निषद्), निपूर्वक पत्, मन्, विद्, षुञ्, शीङ्, भृञ्, इण्—इनसे भाव आदि में क्यप् होता है जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[5]—**समज्या** (सभा)। **समजन्त्यस्याम् इति।** क्यप् परे रहते अज् को 'वी' नहीं होता, ऐसा वार्तिककार कहते हैं। **निषीदन्त्यस्याम् इति निषद्या** (खटिया, आपण, दुकान)। **निपत्या—निपतन्त्यस्याम् इति,** पिच्छिला भूः। मन्—**मन्यते क्रुद्धो ज्ञायतेऽनयेति मन्या,** गलशिरा, गले की रग। विद्—**विद्या। विदन्त्यनयेति।** षुञ्—**सुत्या,** अभिषव। शीङ्—**शय्या। शेतेऽस्याम्।** शी के 'ई' को अयङ् कित् प्रत्यय परे होने से।[6] भृञ्—**भृत्या** (भरण)। **कुमारभृत्या।** इण्—**एति अनयेति इत्या शिबिका** (डोली, पालकी)।

---

१. सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा०)।
२. क्तिन्नपीष्यते (वा०)।
३. स्था-गा-पा-पचो भावे (३।३।९५)।
४. व्रज-यजोर्भावे क्यप् (३।३।९८)।
५. संज्ञायां समज-निषद-निपत-मन-विद-षुञ्-शीङ्-भृञ्-इणः (३।३।९९)।
६. अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)।

श, क्यप् क्तिन्—कृ से क्यप्, श (अ) तथा क्तिन् होते हैं भाव आदि में[1]—**कृत्या** (क्यप्)। **क्रिया** (श)। ऋ को 'रि'[2]। **कृति** (क्तिन्)।

श—'इच्छा' यह श-प्रत्ययान्त निपातन किया है।[3] 'श' सार्वधातुक है। भाव-कर्म में यक् होना चाहिये था, वह नहीं हुआ। इष् को इच्छ् आदेश तो हो गया। यहाँ 'श' भाव में ही हुआ है।

परिचर्या, परिसर्या, मृगया, अटाट्या[4]—ये परिपूर्वक चर्, परिपूर्वक सृ, अदन्त चुरा० मृग, तथा अट् से 'श'-प्रत्ययान्त निपातन किये हैं।

जागर्या—यह जागृ से श-प्रत्ययान्त निपातन किया है। 'श' सार्वधातुक है, अतः भाव में यक् प्रत्यय हुआ है।

अ—जागृ से 'अ' भी होता है[5]—**जागरा** (जागना)। टाप्।

सन् आदि प्रत्ययान्त से अ[6]—**चिकीर्षा**। कर्तुमिच्छा। अ-प्रत्यय होकर टाप्। **जिहीर्षा**। हर्तुमिच्छा। **पुत्रीया**। क्यच्-प्रत्ययान्त से अ, तब टाप्। **लोलूया**। यङन्त लू से अ, तब टाप्। **पोपूया**। यङन्त पू से अ, तब टाप्। **सेसिचा**। यङ्लुगन्त सिच् से अ। **निसेसिचा**। यहाँ सिचो यङि (८।३।११२) से उपसर्ग-निमित्तक षत्व तथा अभ्यास से परे धातु को षत्व नहीं होता। **चङ्क्रमा**। यङ्लुगन्त क्रम् से अ।

छत्रादिभ्यो णः (४।४।६२) में 'चुरा' शब्द पढ़ा है। यहाँ निपातन से 'अ' प्रत्यय और गुणाभाव हुआ है। ण्यन्त होने से युच् की प्राप्ति थी।

हलन्त धातु जो गुरुमान् (जिसमें गुरु अक्षर हो) हो, उससे भी अ[7]—**ईहा** (चेष्टा)। **ऊहा**। **ईक्षा**। **भिक्षा**। **शिक्षा**। **हिंसा**। **कुण्डा** (दाह)। **हुण्डा**। **लज्जा**। ईड्—**इडा**। यहाँ इडाया वा (८।३।५४) इस निर्देश से ह्रस्व हुआ है। **कुत्सा**। **परिभाषा**। न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित् परिभाषेव गरीयसी तदाज्ञा (शिशु० १६।८०)। **शिञ्जा** (शिजि अव्यक्ते शब्दे)। धनुर्गुणः (धनुष्

---

१. कृञः श च (३।३।१००)।
२. रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु (७।४।२८)।
३. इच्छा (३।३।१०१)।
४. परिचर्या-परिसर्या-मृगयाऽटाट्यानामुपसंख्यानम् (वा०)।
५. जागर्तेरकारो वा (वा०)।
६. अ प्रत्ययात् (३।३।१०२)।
७. गुरोश्च हलः (३।३।१०३)।

की डोरी । **ईषा** । ईष् भ्वा० गत्यादि अर्थों में । मनस ईषा=**मनीषा** । शकन्ध्वादि होने से पररूप । जो धातु निष्ठा में सेट्, उसी से 'अ' प्रत्यय होता है ।[1] अतः आप् से नहीं—**आप्ति** ।

अङ्—षित् तथा भिद् आदि धातुओं से भाव आदि[2]—जॄष्—**जरा** । ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) से गुण । त्रपूष्—**त्रपा** । क्षमूष्—**क्षमा** । भिद्—**भिदा** (फाड़ना) । **भिदा विदारणे** (ग० सू०) । पर दीवार-अर्थ में **भित्ति** (क्तिन्) । छिद्—**छिदा** । **छिदा द्वैधीकरणे** (ग० सू०) । दो टुकड़े करना । अर्थान्तर (छिद्र) में क्तिन्—**छित्ति** । मृज्—**मृजा** (शुद्धि, संस्कार) । क्षिप्—**क्षिपा** । गुह्—**गुहा** । (पर्वत का एक देश, गुफा, ओषधि)। अर्थान्तर (छिपाना) में क्तिन् होकर **गूढि** । श्रत्-पूर्वक धा—**श्रद्धा** । श्रत्=सत्य । अङ्, कि-विधि के लिये श्रत् को उपसर्ग मान लिया जाता है ।[3] मिध् अथवा मेध् भ्वा० आ० सेट्—**मेधा** । **मेधन्ते संगच्छन्तेऽनयेति** । **आरा**=प्रतोद, आर । ऋ को गुण होकर दीर्घ होता है निपातन से ।[4] **अर्यन्ते प्रेर्यन्तेऽनयाश्वा इति** । अर्थान्तर में आङ्-पूर्वक ऋ से क्तिन्—**आर्ति** (दुःख, कष्ट, रोग) । हृ—**हारा** । गुण होकर दीर्घ । कृ—**कारा** । **कुर्वन्त्यत्रेति** । गुण तथा दीर्घ निपातन किये हैं । कारा बन्दिगृह को कहते हैं । क्षि—**क्षिया** । 'क्षि क्षये' से अथवा 'क्षि निवास-गत्योः' से अङ् । 'इ' को इयङ् । क्षिया धर्म-व्यतिक्रम अथवा आचार-परित्याग को कहते हैं । हेति क्षियायाम् (८।१।६०) में आचार्य इस अर्थ में इसे प्रयुक्त करते हैं । तॄ - **तारा** (आँख की पुतली, तारका) । धृञ्—**धारा**[5] (प्रपात) । **धार्यते प्रपात्यत इति** । अर्थान्तर में क्तिन् होकर **धृति** । लिख्—**लेखा** । **रेखा** । यहाँ ल को रेफादेश हुआ है । गुण निपातन से हुआ है । चुद् (चुरा०) से—**चूडा** । यहाँ उपधा-दीर्घ और द् को ड् निपातन से हुए हैं । ण्यन्त से युच् की प्राप्ति थी । पीड् (चुरा०)—**पीडा** । वप्—**वपा** । वस् (निवासे)—**वसा** । अथवा वस आच्छादने से । सृज्—**सृजा** । क्तिन् भी इष्ट है—**सृष्टि** । क्रप्—**कृपा** । इसे सम्प्रसारण होता है ऐसा गणसूत्र है ।[6] क्रप्, कृपा तथा

---

१. निष्ठायां सेट इति वक्तव्यम् (वा०) ।
२. षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३।३।१०४) ।
३. श्रदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्तिः ।
४. आरा शस्त्र्याम् (ग० सू०) ।
५. धारा प्रपाते (ग० सू०) ।
६. क्रपेः सम्प्रसारणं च (ग० सू०) ।

गति-अर्थ में भ्वादिगण में अनुदात्तेत् पढ़ी है। भिदादि आकृतिगण है, ऐसा स्वीकार करने से **रुजा, तुला, दोला** आदि अङन्त साधु हैं। 'तुला' का नौवयोधर्म—(४।४।९१) सूत्र में प्रयोग भी है। दुल् उत्क्षेपे यह चुरादि धातु है, इससे युच् प्राप्त था।

अङ्—चिन्त्, पूज्, कथ्, कुम्ब्, चर्च्—इन चुरा० ण्यन्त धातुओं से अङ् होता है[1], यथाप्राप्त युच् नहीं—**चिन्ता। पूजा। कथा। कुम्बा** (आच्छादन)। **चर्चा**। चर्च अध्ययने, चुरा०।

उपसर्ग उपपद होने पर आकारान्त धातुओं से[2]—**प्रदा। उपदा**। (उपग्राह्य, भेंट)। **उपधा** (धर्म, अर्थ, काम, भय आदि से अमात्य आदि का राजा द्वारा परीक्षण)। **विधा** (भृत्या, भृति, वेतन)। **कर्मणि विधीयन्तेऽनयेति**। विधा के समृद्धि, गजान्न, प्रकार—ये भी अर्थ हैं। सु-पूर्वक धेट् (धा) से **सुधा**। सुष्ठु धीयते पीयत इति, अमृत। श्रत् तथा अन्तर् को उपसर्ग मानकर—**श्रद्धा। अन्तर्धा**। (अन्तर्धि, छिपना)। **आहूति, संहूति**—ये उपसर्ग-पूर्वक ह्वेञ् (ह्वा) से बाहुलक से क्तिन् प्रत्यय करके साधु हैं। प्रमाङ्—**प्रमा**। **सुगतो यदि सर्वज्ञः** कपिलो नेति का प्रमा। उपमाङ्—**उपमा। उपमानमुपमा। उपमीयतेऽनयेति वा**।

युच्—ण्यन्त धातु से, आस् (बैठना), श्रन्थ् से युच् (अन)[3]। तब स्त्रीत्वद्योतन के लिए टाप्। चुद्—**चोदना** (प्रेरणा, विधायक वाक्य)। वास् (चुरा०)—**वासना**। रस् (चुरा०)—**रसना** (जिह्वा)। **रसयत्यास्वादतेऽनयेति**। घट् णिच्—**घटना। यन्माहात्म्यवशेन यान्ति घटनां कार्याणि निर्यन्त्रणम्** (राज० ४।३६५)। कारि (कृ णिच्)—**कारणा** (परीक्षा)। कारणिक =परीक्षक। यत् (चुरा०)—**यातना। नारकी यातना,** नरक की पीडा। **आस्—आसना। श्रन्थ्—श्रन्थना**। श्रन्थ् यहाँ क्र्यादि ली जाती है जिसका विमोचन (खोलना, ढीला करना) अर्थ है; चुरादि श्रन्थ् नहीं, जिसका अर्थ है, ग्रन्थन करना। उससे ण्यन्त होने से युच् सिद्ध है।

घट्ट (तुदादि), वन्द् (भ्वा०), विद लाभार्थक (तुदा०) से युच् होता है

---

१. चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चश्च (३।३।१०५)।

२. आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६)।

३. ण्यास-श्रन्थो युच् (३।३।१०७)।

ऐसा वार्तिक पढ़ा है[1]—**घट्टना । वन्दना । वेदना ।** चुरादि विद् से तो युच् सिद्ध ही है। वेदना=अनुभव। दुःखानुभव में रूढ़ हो गया। विद् ज्ञाने (अदा०) से क्तिन् निर्बाध होता है—**संवित्ति ।**

अनिच्छार्थक इष् से युच् हो, ऐसा वार्तिक है[2]—**अध्येषणा** (सत्कार-पूर्वक कार्य करने की प्रार्थना) । **अन्वेषणा**=अनुसन्धान, ढूँढ़। इष् गत्यर्थक दिवा० से युच्।

परिपूर्वक अनिच्छार्थक इष् से युच् विकल्प से[3]—**पर्येषणा । परीष्टि** (क्तिन्) । (परीक्षा) ।

ण्वुल्—यदि प्रत्ययान्त रोग का नाम हो तो बहुलतया धातु से ण्वुल् (अक) होता है[4]। प्र-छर्द्—**प्रच्छर्दिका** (वमन का रोग)। वि-चर्च् (चुरा०) —**विर्चचिका** (=पामा, गीली खुजली)। चर्च् अध्ययन-अर्थ में पढ़ी है। प्रत्यय और उपसर्ग के योग से अर्थान्तर हुआ है। प्र-वह्—**प्रवाहिका**= संग्रहणी। भाव में प्रत्यय। वि-पद्—**विपादिका**=बिवाई। **विपद्यते क्लिश्यते ऽनया ।** करण में प्रत्यय। बहुलग्रहण से **अरोचक** पुं० (अरुचि, खाने-पीने की चाह न होना)—यहाँ स्त्रीलिंग नहीं हुआ। इस रोग वाले को अरोचकिन् कहते हैं। (मत्वर्थीय इनि)।

धात्वर्थ निर्देश में ण्वुल्[5]—आस्—**आसिका** (बैठना)। शी—**शायिका** (सोना, लेटना)। भिद्—**भेदिका** (तोड़-फोड़)। चर्च्—**चर्चिका** (अध्ययन)।

इक्, श्तिप्—धातु के निर्देश में इक् और श्तिप् प्रत्यय आते हैं[6]। श्तिप् (ति) शित् होने से सार्वधातुक है। अकर्तृवाचक होने पर भी इसके परे रहते धातु से शप् आता है। इक् (इ)—**विदि । भिदि । छिदि ।** पचि। कित् होने से गुण नहीं हुआ। श्तिप्—**पचति । पठति ।** इगन्त और श्तिबन्त पुंल्लिग में प्रयुक्त होते हैं। **सम्पूर्वको भिदिः संगमने वर्तते । द्व्यर्थः पचिर् इति भाष्यम् । पठतिर्व्यक्तायां वाचि भूवादिषु पठितः ।**

---

१. घट्टि-वन्दि-विदिभ्यश्च (वा०)।
२. इषेरनिच्छार्थस्य युज् वक्तव्यः (वा०)।
३. परे र्वा (वा०)।
४. रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् (३।३।१०८)।
५. धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः (वा०)।
६. इक्-श्तिपौ धातुनिर्देशे (वा०)।

इण्—अज् आदि धातुओं से[1]। ण्वुल् का अपवाद। **आजि। आति।** आजि (युद्ध) स्त्रीलिंग है। आति पक्षि-विशेष की संज्ञा है।

इक्—कृष् आदि से[2]। कृष्—**कृषि**। कॄ—**किरि**=सूकर। गॄ—**गिरि**=पर्वत। **कृष्यतेऽसौ कृषिः। किरति भूमिम् इति किरिः।** बाहुलक से कर्ता में प्रत्यय।

इञ्, ण्वुल्—प्रश्न और उत्तर के गम्यमान होने पर धात्वर्थ-निर्देश में धातु से इञ्, ण्वुल् होता है, और जो कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त होता है वह भी विकल्प से होता है[3]—**कां कारिमकार्षीः। कां कारिकामकार्षीः। कां क्रियामकार्षीः** (श-प्रत्यय)। **कां कृत्यामकार्षीः** (क्यप्)। **कां कृतिमकार्षीः** (क्तिन्)। उत्तर—**सर्वां कारिमकार्षम्। सर्वां कारिकामकार्षम्। सर्वां क्रियामकार्षम्। सर्वां कृत्यामकार्षम्। सर्वां कृतिमकार्षम्। कां गणिमजीगणः**, तूने कौन-सी गिनती की। गण् चुरा० अदन्त है। **कां गणिकाम्** (=गिनती) **अजीगणः। कां गणनामजीगणः।** यहाँ चुरा० अदन्त गण् से युच् हुआ है। इसी प्रकार **कां याजिम्, कां याजिकाम्, कां याचिम्, कां याचिकाम्, कां पाचिम्, कां पाचिकाम्, कां पचाम्** (अङ्), **कां पक्तिम्। कां पाठिम्, कां पाठिकाम्** (पढ़ाई), **कां पठितिम्** इत्यादि जाने। **कां स्थायिम्, कां स्थायिकाम्। कां स्थितिम्।** यहाँ प्रत्यय के ञित् णित् होने से धातु को युक्-आगम हुआ है। पठ् से क्तिन् परे रहते 'ति' तुतत्रतथ—(७।२।९) से इट् का निषेध नहीं हुआ, कारण कि वार्तिककार का कहना है कि ग्रह् आदि धातुओं से यह निषेध नहीं होता।[4]

ण्वुच्—पर्याय (परिपाटी, क्रम), अर्हण (योग्य होना), ऋण, उत्पत्ति—इन अर्थों के द्योत्य होने से ण्वुच् होता है।[5] ण, च् इत्संज्ञक हैं। 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। पर्याय-अर्थ में—**भवतः शायिका**, आपके सोने की बारी। **भवतोऽग्रग्रासिका** (पहले खाने की बारी)। **भवतोऽग्रगामिका** (आगे

१. इञ् अजादिभ्यः (वा०)।
२. इक् कृष्यादिभ्यः (वा०)।
३. विभाषाऽऽख्यानपरिप्रश्नयोरिञ् (३।३।११०)।
४. त्रि-तु-त्रेष्वग्रहादीनामिति वक्तव्यम् (वा०)।
५. पर्यायाऽर्हणर्णोत्पत्तिषु ण्वुच् (३।३।१११)।

चलने की बारी) अर्ह-अर्थ में—**अर्हति भवान् इक्षुभक्षिकाम्** (ईख का चूसना)। ऋण-अर्थ में—**इक्षुभक्षिकां मे धारयसि**, जो तूने इक्षु-भक्षण किया वह ऋण तूने मुझे देना है। इसी प्रकार, **ओदनभोजिकाम्, पयःपायिकां मे धारयसि**, जो तूने (मेरी ओर से) भात खाया, दूध पीया, वह ऋण तूने मुझे देना है अर्थात् मुझे भात खिलाना है, दूध पिलाना है। उत्पत्ति=जन्म-अर्थ में—**इक्षुभक्षिका म उदपादि** इत्यादि। यह ण्वुच् वैकल्पिक है। **चिकीर्षा उत्पद्यते**—यह भी अ-प्रत्ययान्त साधु होगा।

अनि—आक्रोश=शाप गम्यमान होने पर धातु से 'अनि' होता है जब नञ् उपपद हो[1]—**तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः** (माघ० २।४५) माता को केवल दुःख देने वाले उसका जन्म न हो। **अकरणिस्ते दुष्कृतिन् भूयात्**, हे दुष्ट, तेरी क्रिया विफल हो। आक्रोश न होगा तो यथाप्राप्त क्तिन् आदि होंगे—**अकृतिस्ते कटस्य प्रवाणप्रवीणस्य न संभाव्यते**, बुनने में कुशल होते हुए तेरा चटाई को न बुनना संभावित नहीं। नञ् उपपद के अभाव में भी ण्वुच् नहीं होगा—**मृतिस्ते व्यसनिनो भूयात्**।

यहाँ स्त्र्यधिकार समाप्त हुआ।

नपुंसकलिङ्ग विशिष्ट भाव में क्त होता है, इस विषय में हम निष्ठा-प्रकरण में कह चुके हैं।

ल्युट्—नपुंसकलिङ्ग भाव में ल्युट् प्रत्यय भी होता है[2]। श्रु—**श्रवण**। हस्—**हसन**, हँसना। गम्—**गमन**, जाना। स्था—**स्थान**। **प्रस्थान**। **अवस्थान**। **संस्थान**, समाप्ति, मृत्यु। **पर्यवस्थान**, विरोध। **क्रमण**। **संक्रमण**, एक ओर से दूसरी ओर जाना। **चरण**। **संचरण**। **भ्रमण**।

जैसा हम कृत्य-प्रकरण में कह आए हैं, कृत्य तथा ल्युट् जहाँ विहित हुए हैं उससे अन्यत्र भी आते हैं। कृत्य के विषय में उदाहरण दिए जा चुके हैं। ल्युट् के विषय में यहाँ दिये जाते हैं। **अवसिच्यत इत्यवसेचनम्**। पादयोरवसेचनम्, पाँवों को धोने का जल। **अवस्राव्यत इत्यवस्रावणम्**, जल जो नीचे बहाया जाता है। यहाँ कर्म में ल्युट् हुआ है। **राजभोजनाः शालयः**। **राजभोजनी क्षैरेयी**। **राजभोजनं भक्तम्**। यहाँ भी कर्म में ल्युट् है। **भुज्यन्त इति भोजनाः शालयः**। **राज्ञां भोजनाः=राजभोजनाः**। षष्ठीसमास। **भुज्यते इति**

१. आक्रोशे नञ्यनिः (३।३।११२)।
२. ल्युट् च (३।३।११५)।

भोजनी क्षैरेयी (=क्षीर में संस्कृत पकवान)। राज्ञो भोजनी=**राजभोजनी**। षष्ठीसमास। **अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती** (अमर)। यहाँ 'प्रवचन' वेद का नाम है। **प्रोच्यत इति प्रवचनो वेदः**। कर्म में ल्युट्। **प्रस्रवत्यस्माज्जलम् इति प्रस्रवणम्** (उत्स, स्रोत)। अपादान में ल्युट्। **प्रपतत्यस्माद् इति प्रपतनं प्रपातः**, भृगु। **प्रस्कन्दत्यस्माद् इति प्रस्कन्दनम्**, वह स्थान जहाँ से छलाँग लगाई जाती है।

ल्युट्—जिसके स्पर्श से धात्वर्थ के कर्ता को शारीर सुख मिले, उस कर्म के उपपद होने पर धातु से ल्युट् होता है।[1] नित्य उपपद-समास के लिये यह ल्युट्-विधान किया है, अन्यथा पूर्व-सूत्र से ही ल्युट् सिद्ध था—**पयःपानं सुखम्**। दूध का पीना शरीर को सुख देता है। **ओदनभोजनं सुखम्**। यहाँ समास न करके पयसः पानम्, ओदनस्य भोजनम् नहीं कह सकते। **तूलिकाया उत्थानं सुखम्**। यहाँ अपादान तूलिका से सुख है, न कि कर्म से, सो समासाभाव में भी ल्युट् निर्बाध होता है। **गुरोः स्नापनं सुखम्**। यहाँ गुरु जिसे सुख हो रहा है वह स्नापन (नहलाना) का कर्म है, कर्ता नहीं; कर्ता तो शिष्य है, अतः असमास रहेगा। **पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्**। यहाँ पुत्र के आलिङ्गन से सुख, मानसी प्रीति होती है, शारीर सुख अभिप्रेत नहीं, अतः समासाभाव रहेगा।

करण तथा अधिकरण कारक में धातु से ल्युट् होता है[2]—करण में—**इध्मप्रव्रश्चनः कुठारः। इध्मानां प्रव्रश्चनः। प्रवृश्च्यन्तेऽनेन (इध्मानि) इति प्रव्रश्चनः। इध्मप्रव्रश्चनानि निदधाति**(आप० श्रौ० १—५।३)। **पलाशशातनः कुठारः। पलाशानां किंशुकानां शातन इति पलाशशातनः**। शात्यन्तेऽनेनेति शातनः। षष्ठीसमास। शद्लृ (शद्) ण्यन्त से ल्युट्। **उपमानं मुखस्येन्दुः। उपमीयतेऽनेनेति। अश्वाजनीत्यश्वाजनीमादाय** (आप० श्रौ० १८।४।१६)। **अश्वान् अजन्त्यनया**, कशा। अधिकरण में—**गोदोहनी पात्री। गावो दुह्यन्तेऽस्याम् इति। गवां दोहनी गोदोहनी**। षष्ठीसमास। **सक्तुधानी। राजधानी। राज्ञां धानी। धीयन्तेऽस्याम् इति**। राजधानी नगरी का विशेषण होने से स्त्रीलिङ्ग है। प्रसिद्धिवश विशेष्य छोड़ दिया जाता है, जैसे 'सागराम्बरा'

१. कर्मणि च येन संस्पर्शात्कर्तुः शरीरसुखम् (३।३।११६)।
२. करणाऽधिकरणयोश्च (३।३।११७)।

(पृथिवी) में। स्मरण रहे, यह ल्युट्-विधि करण-कारक तथा अधिकरण-कारक के अभिधेय होने पर होती है, न कि इनके उपपद होने पर। अतः सर्वत्र षष्ठीसमास हुआ है।

अन्य उदाहरण

करण में—**दर्शनं चक्षुः। दृश्यतेऽनेनेति। नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन भवामि दृष्ट्वैव पुनर्युवेव** (रा० २।१२।१०३)॥ **आचामत्यनेन इत्याचमनम्** (जलम्)। **दद्यादाचमनं ततः** (याज्ञ० १।२४२)। **उह्यतेऽनेनेति वाहनम्।** वाहनमाहितात् (८।४।८) में वृद्धि का निपातन है। **स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च** (मनु० ७।५६)। **प्रशमयन्त्येभिरिति प्रशमनानि प्रशमसाधनानि। तिष्ठत्यनेनेति स्थानं दण्डकोषपुरराष्ट्रात्मकम्। सार्यते जलमनयेति सारणी**=सेककुल्या, सेचन करने का कूल। **गृहावग्रहणी। गृहस्यावग्रहणी। गृहमवगृह्यते पृथक् क्रियतेऽनया।** देहली। **पालाशमासनं पादुके दन्तप्रक्षालनम् इति च वर्जयेत्** (आप० ध० १।३२।६)। **प्रक्षाल्यतेऽनेनेति प्रक्षालनं दन्तकाष्ठम्। प्रवीयतेऽनेन प्राजनो दण्डः प्रवयणो वा,** तोत्र, प्रतोद, आर। अज् धातु को 'यु' (अन) परे रहते 'वी'-आदेश विकल्प से होता है। **पाटलिपुत्त्रव्याख्यानी सुकोसला। पाटलिपुत्त्रं व्याख्यायतेऽनया।** इस प्रकार के संनिवेश वाला पाटलिपुत्र है, इसे सुकोसला नगरी कहती है। **प्रदिश्यतेऽनयेति प्रदेशनी,** उँगली जिससे संकेत किया जाता है। **टङ्कः पाषाणदारणः** (अमर)। दार्यतेऽनेनेति दारणः। अधिकरण में—**जायतेऽस्यामिति जननी। देवा इज्यन्ते पूज्यन्तेऽत्रेति देवयजनी**=भूमि। षष्ठीसमास। **कमलोदरबन्धनस्थम्** (शाकुन्तल)। यहाँ **बध्यतेऽत्रेति बन्धनं कारागृहम्।** अधिकरण में ल्युट्। **संहन्यन्ते (संघातमापाद्यन्ते) भूतान्यत्रेति संहननं शरीरम्।** जिसमें पाँच भूत इकट्ठे किये जाते हैं, वह संहनन है। शरीर का नाम है। **प्रोयतेऽस्याम् इति प्रवाणी,** तन्तुवायशलाका, जुलाहे की ढरकी। **नवान् मणिकान् कुम्भान् आचमनांश्च** (आश्व० गृ० ४।७।५)। आचमन=वह करक=कमण्डलु, जिस में आचमन किया जाता है। **व्रीहिभरणः कुसूलः। मांस्पचनी। मांसपचनी,** जिसमें मांस पकाया जाता है। यहाँ विकल्प से 'मांस' के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है। **वार्धानी**=जलपात्र। **यमधानी—यमो धीयतेऽत्र। यमस्य धानी। नरः संसारान्ते प्रविशति यमधानीजवनिकाम्** (भर्तृ० ३।११२)। **तैजसावर्तनी मूषा** (अमर)। **तैजसं स्वर्णादिकम् आवर्त्यते सन्तप्यतेऽस्यामिति तैजसावर्तनी।**

घ—पुँल्लिग करण तथा अधिकरण को कहने के लिए प्रायः 'घ' (अ) प्रत्यय होता है यदि समुदाय से संज्ञा का बोध हो[1]—**दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः**=ओष्ठ। कालिदास इसे 'दन्तवासस्' भी कहते हैं। **उरश्छाद्यतेऽनेनेति उरश्छदः। घटते चेष्टतेऽनेनेति घटः। घटयति कर्माणि वाऽनेनेति। जयन्त्यनेनेति जयः। जयोऽश्वः,** घोड़ा जिससे विजय प्राप्त करते हैं। इस अर्थ में 'जयः करणम्' (६।१।२०२) से 'जय' आद्युदात्त है। **स्मरन्त्यनेनेति स्मरः** (काम, कामदेव)। **त्वचति संवृणोति आच्छादयति अनेनेति त्वचः** (त्वच् स्त्री०)। सत्याप-पाश-वीणा—इस णिच्-विधायक सूत्र में घ-प्रत्ययान्त 'त्वच' पढ़ा है। अधिकरण में—**एत्य कुर्वन्त्यत्रेत्याकरः**, खान। आङ् लीङ्—से घ। आलय गृह का नाम है। **आलीयते श्लिष्यत्यत्रेति।**

घ—गोचर, संचर, वह, व्रज, व्यज, आपण, निगम—ये घ-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं करण अथवा अधिकरण के अभिधेय होने पर संज्ञा में[2]। आगे हलन्त धातु से करणाधिकरण में घञ् कहेंगे, यह उसका पुरस्तात् अपवाद है—**गावश्चरन्त्यस्मिन्निति गोचरो विषयः। संचरन्तेऽनेनेति संचरः।** 'संचर' मार्ग का नाम है। **वहन्ति तेन वहः स्कन्धः।** 'अमर' वृषभ के कन्धे को 'वह' कहता है, स्कन्ध-मात्र को नहीं—**स्कन्धदेशस्त्वस्य वहः। व्रजन्ति तेन व्रजः**, गोष्ठ, बाड़ा। **व्यजन्ति वातं क्षिपन्ति अनेनेति व्यजः तालवृन्तम्**, पंखा। **एत्य पणन्ते व्यवहरन्ति क्रयविक्रयं कुर्वन्त्यत्रेति आपणः**, बनिए की दुकान। **निगच्छन्ति निश्चितं बुध्यन्ते बोध्यमर्थमत्रेति निगमो वेदः।** सूत्र में 'च' पढ़ा है वह अनुक्त के संग्रह के लिए है—**कषः। निकषः। कष्यते निकष्यतेऽत्रेति।** कसौटी। इसे निकषोपल, निकषग्रावन् भी कहते हैं।

घञ्—अव उपपद होने पर तॄ और स्तॄ से करण व अधिकरण में संज्ञा अर्थ में घञ्[3]—**अवतारो नद्याः**, नदी का घाट। **अवतरन्त्यनेन**, जिसके द्वारा नदी में उतरते हैं। **अवतरन्त्यस्मिन्निति अवतारः**, जिसमें उतरते हैं, स्नान करने का स्थान। भाव अथवा कर्ता में 'अवतार' का प्रयोग अपाणिनीय है। **वसन्तावतरः**, वसन्त का उतरना, के स्थान में **वसन्तावतारः** नहीं कहना

---

१. पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३।३।११८)।

२. गोचर-संचर-वह-व्रज-व्यजाऽऽपण-निगमाश्च (३।३।११९)।

३. अवे तॄस्त्रोर्घञ् (३।३।१२०)।

चाहिये। इसी प्रकार **यौवनावतारः, परीवादनवावतारः** आदि भी अशुद्ध ही हैं। **मत्स्यादयोऽवताराः**, यहाँ अधिकरण में घञ् है। **अवतरन्त्यस्मिन् रूपे शरीरे वेत्यवतारो रूपं शरीरं वा। अवस्तीर्यतेऽनेन इत्यवस्तारो जवनिका**=पर्दा।

घञ्—हलन्त धातु से करण व अधिकरण कारक में घञ् होता है जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[1]—लेख। लिख्यतेऽनेन, लेखः=लेखनी। **वेद। विदन्त्यनेन वेदः**। ऋक्-आदि के समूह का नाम। **वेष। वेवेष्टि आत्मानमनेन इति वेषः। वेश। विशन्त्यत्रेति वेशः**,वेश्याओं का निवास-स्थान। बन्ध। **आशाबन्ध.। बध्यतेऽनेनेति बन्धः**। डोर। **सर्गबन्धो महाकाव्यम्**। सर्गाणां बन्धः सर्गबन्धः। **बध्यतेऽत्रेति बन्धः**। अधिकरण में घञ्। **मार्ग। अपामार्ग। अपमृज्यते व्याध्यादिर् अनेन इत्यपामार्गः**, इस नाम का क्षुप। **विशेषेण मृज्यते शोध्यतेऽनेनेति वीमार्गः**, संमार्जनी, संमूहनी, झाड़ू। यहाँ उपसर्ग 'वि' को दीर्घ भी हुआ है। **विनह्यतेऽनेन इति वीनाहः**, कुएँ के मुँह का ढकना।

अध्याय, न्याय, उद्याव, संहार—ये करण व अधिकरण में निपातित किये हैं।[2] हलन्त न होने से अधिइङ् आदि धातुओं से घञ् की प्राप्ति न थी। **अधीयतेऽस्मिन्नित्यध्यायः। नीयतेऽनेनेति न्यायः। नियन्त्यनेनेति न्यायः** (दीक्षित)। **न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्** (कुमार० २।१२)। यहाँ न्याय=स्वर (उदात्तादि) ऐसा मल्लिनाथ मानते हैं। **उद्युवन्ति अस्मिन्निति उद्यावः**। जिसमें मिश्रण करते हैं। **संह्रियतेऽनेनेति संहारः**, प्रयुक्त अस्त्र को वापस बुलाने का मन्त्र। वार्तिककार यहाँ अवहार, आधार, आवाय—इन तीनों में भी घञ् निपातन से चाहते हैं।[3] **अवह्रियन्ते सैन्याः** (शिबिरम्) **अस्मिन् इत्यवहारः**, कुछ काल के लिए युद्ध-विराम। अधिकरण में घञ्। **आध्रियन्तेऽर्था अस्मिन् इत्याधारः। आवयन्त्यस्मिन् इत्यावायः**, खड्डी।

'उदङ्क' यह घञन्त निपातन किया है, यदि धात्वर्थ का विषय उदक (जल) न हो[4]—**तैलोदङ्कः**। तेल की कुप्पी। **उदच्यत उद्ध्रियते स्मिन्निति**

---

१. हलश्च (३।३।१२१)।
२. अध्याय-न्यायोद्याव-संहाराश्च (३।३।१२२)।
३. अवहाराऽऽधाराऽऽवायानामुपसंख्यानम् (वा०)।
४. उदङ्कोऽनुदके (३।३।१२३)।

उदङ्कः । अन्यत्र **उदकोदञ्चनः**, पानी का डोल, जिसमें जल निकाला जाता है।

'आनाय' यह जाल-अर्थ में घञन्त निपातन किया है।[1] आङ्-पूर्वक नी धातु से करण में घञ्। **आनीयन्तेऽनेन आनायः । आनायो मत्स्यानाम् । आनायो मृगाणाम् ।**

घ, घञ्—खन् से करण व अधिकरण में घ और घञ् भी[2]—**आखन** (घ)। **आखान** (घञ्)। **आखनत्यनेन इत्याखनः**, खनित्र, कुदाल। इन्हीं अर्थों में 'ड' तथा 'डर' प्रत्यय भी होते हैं[3]—**आख । आखर । आखर आवास-स्थानम्**, ऐसा 'सुपर्णा वाचमक्रत' (अथर्व० ६।४९।३) पर सायणभाष्य है। करण व अधिकरण में ही 'इक' और 'इकवक' प्रत्यय भी होते हैं[4]—**आखनिक । आखनिकवक** । इनका भी 'खनित्र' अर्थ है।

खल्

कृत्य-प्रकरण के प्रारम्भ में हम कह आये हैं कि कृत्य, क्त और खल् प्रत्यय-भाव और कर्म को कहने के लिये आते हैं। खल् (=अ) आर्धधातुक कृत् प्रत्यय है। इससे पूर्व धातु को गुण होता है।

खल्—कृच्छ्र (दुःख) और अकृच्छ्र (सुख) अर्थ वाले दुस्, ईषत्, सु उपपद होने पर धातु मात्र से खल्-प्रत्यय आता है।[5] कृच्छ्र का दुस् के साथ विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध है। अकृच्छ्र का ईषत् और सु के साथ। **ईषत्करो भवता कटः**, आपसे चटाई आसानी से बनाई जा सकती है। **सुकरो भवता कटः** । इसका भी पूर्वोक्त ही अर्थ है। **दुष्करो भवता कटः**, आपसे चटाई कठिनता से बनाई जा सकती है। कर्म 'कट' के उक्त होने से उसमें प्रथमा हुई। 'भवत्' कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया हुई। **दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम्** (भारत १३।१९२९)। **दुर्मरत्वमहं मन्ये नृणां कृच्छ्रेऽपि**

---

१. जालमानायः (३।३।१२४)।
२. खनो घ च (३।३।१२५)।
३. डो वक्तव्यः । डरो वक्तव्यः (वा०)।
४. इको वक्तव्यः । इकवको वक्तव्यः (वा०)।
५. ईषद्-दुः-सुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल् (३।३।१२६)।

वर्तताम् । यत् कर्णं हतं श्रुत्वा नात्यजज्जीवितं नृपः (भा० ८।२१) ।। यहाँ वर्तताम् 'वर्तमानानाम्' के स्थान में आर्ष प्रयोग है। **अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्** (मनु० ७।५५)। **संशयः सुगमस्तत्र निर्णयस्तत्र दुर्गमः** (भा० १३।७५३५)। **दुष्कुलीना दुरासेवाः। दुराचरोऽयमुपवासो विशेषतो बालेन,** यह उपवास दुःख से अनुष्ठेय है विशेषकर बच्चे से। **इदं दुरवधारम-मेधसा,** मूर्ख इसका निश्चय नहीं कर सकता। **दुर्निमयाः कीटानुविद्धा-स्तण्डुलाः।** कीड़ों से खाये हुए चावल बदले में नहीं दिये जा सकते।

च्व्यर्थक कर्ता और कर्म के उपपद होने पर भू तथा कृञ् से खल्, ईषद्, दुस् और सु उपपद होने पर।[1] यहाँ धातु से अव्यवहितपूर्व कर्तृ-वाची और कर्मवाची पद को रखना चाहिए, और उससे पूर्व ईषत्, दुस्, सु को प्रयुक्त करना चाहिए—**स्वाढ्यम्भवं भवता,** आप (जो आढ्य=धनी नहीं हैं) अनायास धनी बन सकते हैं। **ईषदाढ्यं भवं भवता। अनाढ्येन भवता आढ्येन सुखं भूयते।** खल् प्रत्यय के खित् होने से 'आढ्य' को मुम् का आगम हुआ। **कामश्चेत्स्यात् स्वाढ्यङ्करोऽयं बन्धुर्भवता,** यदि आप चाहें तो इस बन्धु को आसानी से धनी बना सकते हैं। **दुर्विनीतङ्करोऽयं शिष्य उपाध्यायेन,** इस शिष्य को गुरुजी कठिनता से विनीत बना सकते हैं।

युच्—ईषद् आदि उपपद होने पर खलर्थ में आकारान्त धातुओं से युच् (अन) होता है[2]—**दुष्पानः सोमो भवता,** आप सोम नहीं पी सकते। **इदं सुज्ञानं त्वया। इदं च दुर्ज्ञानम्। दुर्दाना भवन्त्यर्थाः कृपणेन। मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति** (पञ्च० २।३६)। **ईषदुपदानं त्वया व्यसनप्रसक्तेन,** व्यसनासक्त होने से तुम सहज में ही क्षीण हो सकते हो। यहाँ उप-पूर्वक दीङ् क्षये धातु है। इसे एच् के निमित्त-भूत अशित्-प्रत्यय परे रहते आत्व हो जाता है।

शास्, युध्, दृश्, धृष्, मृष्—से खलर्थ में युच् होता है[3]—**दुःशासन। दुःखेन कृच्छ्रेण शिष्यत इति दुःशासनः। दुर्योधन। दुःखेन योध्यत इति दुर्योधनः,** जिसके साथ लड़ना कठिन है। युध् यहाँ अन्तर्भावित-ण्यर्थ समझना

१. कर्तृ-कर्मणोश्च भू-कृञोः (३।३।१२७)।
२. आतो युच् (३।३।१२८)।
३. भाषायां शासि-युधि-दृशि-धृषि-मृषिभ्यो युज् वक्तव्यः (वा०)।

चाहिए। विपक्ष अर्जुन-आदि दुर्योधन नाम से परोत्कर्ष झलकता है, इसलिए **'सुयोधन'** शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझते थे। **दुर्दर्शन। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शनः। दुःखेन धृष्यत इति दुर्धर्षणः,** जिसे ललकारना मुश्किल है। **दुर्मर्षण। दुर्मर्षणोऽस्य क्रोधः।** इसका क्रोध सहना कठिन है।

क्त्वा- ल्यप्

जब दो (वा दो से अधिक) धातु-वाच्य-क्रियाओं का एक ही कर्ता हो तब पूर्वकाल में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से क्त्वा प्रत्यय आता है।[1] क्त्वान्त अव्यय होता है[2]। अव्यय कृत्-प्रत्यय भाव में होते हैं[3]। **भुक्त्वा व्रजति,** भोजन करके जाता है। **स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा दत्त्वा व्रजति,** नहा कर, खाकर, पीकर, देकर जाता है। व्रजति च जल्पति च—यहाँ समान काल में दोनों क्रियाएँ हो रही हैं, अतः क्त्वा प्रत्यय का प्रसंग ही नहीं। **आस्यं व्यादाय स्वपिति,** मुँह खोलकर सोता है; **नेत्रे संमील्य हसति,** नेत्र बन्द कर हँसता है, इत्यादि में क्त्वा की प्राप्ति नहीं, तो भी क्त्वा (के स्थान में ल्यप्) इष्ट है। भट्टोजिदीक्षित इसका इस प्रकार समाधान करते हैं—व्यादान-संमीलनोत्तरकालेपि स्वापहासयोरनुवृत्तेस्तदंशविवक्षया भविष्यति ल्यप् इति। अर्थात्, जब मुख-व्यादान (मुँह का खोलना) तथा नेत्र-संमीलन (आँखों का बन्द करना) हो जाता है तो निद्रा और हास जारी रहते हैं, इस अंश में वे मुख-व्यादान व नेत्र-संमीलन से उत्तरकालिक होते हैं, अतः ल्यप् की प्राप्ति है।

प्रतिषेधार्थक अलम् और खलु के उपपद होने पर धातु-मात्र से क्त्वा (क्त्वा के स्थान में ल्यप् भी) प्रत्यय आता है[4]। यहाँ पूर्वकालता कुछ भी नहीं, अतः अप्राप्त का विधान है—**अलं रुदित्वा,** मत रो। **अलं बहु विकत्थ्य** (मालविका), बहुत डींगें न मारिए। **निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्** (माघ २।७०), लेख द्वारा अर्थ का निश्चय किये जाने पर वाचिक=सन्देश-वाक् की कोई आवश्यकता नहीं। **आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारा-**

---

१. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१)।
२. क्त्वा-तोसुन्-कसुनः (१।१।४०)।
३. अव्ययकृतो भावे।
४. अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा (३।४।१८)।

नपाहरत् (माघ २।४०)। **अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि** (रा० ४।२७।३४)।

प्रतिषेधार्थक अलम् उपपद होने पर तुमुन् का प्रयोग शास्त्र-विरुद्ध है, कवियों की निरंकुशता का निदर्शन मात्र है—अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् (मृच्छकटिका ३)। अलमात्मानं खेदयितुम् (वेणी० ३)।

उत्तर भारत के आचार्यों के मत में मेङ् (बदले में देना) से व्यतीहार= व्यतिक्रम=क्रम का उल्लंघन गम्यमान होने पर क्त्वा प्रत्यय आता है[1]। यहाँ पर काल में होने वाली क्रिया को कहने वाली मेङ् धातु से क्त्वा-विधान किया जा रहा है। मतान्तर में न्यायप्राप्त पूर्वकालिक धात्वर्थ को कहने वाली धातु से क्त्वा होगा—**अपमाय (अपमित्य) याचते। याचित्वाऽपमयते।** माँग कर बदले में देता है—यह दोनों वाक्यों का एक अर्थ है। ल्यप् परे रहते मेङ् (मा) के 'आ' को 'इ' विकल्प से होता है।[2]

पूर्व का पर के साथ योग तथा अवर के साथ पर का योग (=विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध) प्रतीत होने पर धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है।[3] पर के साथ—**अप्राप्य नदीं पर्वतः स्थितः**, नदी के इस ओर पर्वत है। पर-नदी-योग से पूर्व पर्वत को विशिष्ट किया जा रहा है। **अतिक्रम्य पर्वतं नदी स्थिता,** पर्वत को लाँघकर नदी आती है। अवर-पर्वत-योग से पर-नदी को विशिष्ट किया जा रहा है। यहाँ भी पूर्वकालता कुछ भी नहीं। **बाल्यमतिक्रम्य यौवनम्,** बाल्य से परे यौवन है। **यद्वाचां विषयमतीत्य चेतसां वा** (महा० चरित ४।१५)।

पूर्वकालता के होने पर भी यदि यद् शब्द उपपद हो और वाक्यार्थ निराकाङ्क्ष (सम्पूर्ण) हो, तो क्त्वा प्रत्यय नहीं होता[4]—**यदयं भुङ्क्ते ततः पठति,** पहले खाता है पीछे पढ़ता है, खाकर पढ़ता है। यहाँ भोजन-क्रिया पूर्वा है और पठनक्रिया उत्तरा है, अतः क्त्वा की प्राप्ति थी पर यच्छब्द

१. उदीचां माङो व्यतीहारे (३।४।१९)।
२. मयतेरिदन्यतरस्याम् (६।४।७०)।
३. परावरयोगे च (३।४।२०)।
४. न यद्यनाकाङ्क्षे (३।४।२३)।

उपपद होने से और वाक्यार्थ के सम्पूर्ण होने से क्त्वा नहीं हुआ। ऐसे ही **यदयमधीते ततः शेते,** यहाँ भी। पर **यदयं भुक्त्वा व्रजति, अधीत एव ततः परम्,** यहाँ भोजन-क्रिया तथा व्रजन-क्रिया (=गमनक्रिया) एक वाक्य में पूर्वापर क्रम से कही हैं, पर यद् शब्द के होते हुए भी वाक्यार्थ निराकांक्ष (सम्पूर्ण) नहीं होता जब तक कि दूसरे वाक्य में और क्रिया न कही जाय। अतः यहाँ क्त्वा का निषेध नहीं।

नञ्-भिन्न अव्यय पूर्व-पद का (अर्थात् गति संज्ञक प्रादियों का) क्त्वान्त के साथ समास[1] होने पर क्त्वा को ल्यप् (=य) आदेश होता है[2]। नञ् पूर्वपद वाले समास में यह आदेश नहीं होता और अनव्यय पूर्वपद वाले समास में भी—**पठित्वा—प्रपठ्य। अपठित्वा। परमं कृत्वा=परमकृत्वा।** ल्यप् क्त्वा के स्थान में होता है, अतः स्थानिवद्भाव से ल्यप् प्रत्यय, कृत् और कित् होता है। जैसे क्त्वान्त अव्यय होता है, वैसे ही ल्यबन्त भी। अल् धर्म होने से ल्यप् में स्थानी का तादित्व अथवा वलादित्व नहीं आता।

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम्।
अक्लेशयित्वा चात्मानं यत्स्वल्पमपि तद् बहु॥

दूसरों को दुःख दिये बिना, दुष्टों के सामने झुकने के बिना, अपने-आप को आयासित किये बिना जो थोड़ा भी प्राप्त होता है वह बहुत है। सूत्र में 'अनञ्पूर्वे' समास का विशेषण पढ़ा है। पूर्व से पूर्वपद विवक्षित है। अतः

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ (मनु० ६।३५)।

में नञ् अपाकृत्य ल्यबन्त के साथ समस्त हुआ है, क्त्वान्त के साथ नहीं। क्त्वा के प्रति पूर्वपद आङ् है, नञ् नहीं, सो ल्यप् आदेश का निषेध न हुआ। आङ् का क्त्वान्त के साथ गति समास होने पर 'आकृत्य' रूप हुआ, फिर 'अप' का आकृत्य के साथ गति समास होने पर 'अपाकृत्य' रूप बना। पश्चात् नञ् का अपाकृत्य के साथ समास होकर 'अनपाकृत्य' यह रूप सिद्ध हुआ।

क्त्वा आर्धधातुक प्रत्यय है। यह कित् है, अतः सामान्यतः इससे पूर्व धातु को गुण नहीं होता है। जिन्हें कित्-प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण-विधान किया है उन्हें यहाँ भी सम्प्रसारण होता है। हाँ, सेट् क्त्वा कित् नहीं होता,

---

१. कुगतिप्रादयः (२।२।१८)।
२. समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७।१।३७)।

अपवाद-विषय को छोड़कर। न क्त्वा सेट् (१।२।१८)। वलादि आर्धधातुक होने से सेट् धातुओं से परे क्त्वा को इट्-आगम होता है। यह भी सामान्य नियम है।

क्त्वा-सम्बन्धी विशेष कार्य

कित्त्व—

सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, ऐसा पूर्व कह आये हैं पर इसके कुछ अपवाद हैं।

मृड्, मृद्, गुध्, कुष्, क्लिश्, वद्, वस् इन धातुओं से तथा रुद्, विद्, मुष्, ग्रह् से परे सेट् क्त्वा भी कित् होता है[1]—मृड्—**मृडित्वा**। (कित् होने से गुणाभाव)। मृद्—**मृदित्वा**। गुध्—**गुधित्वा**। (पदिवेष्टच, घेर कर, लपेट कर)। कुष्—**कुषित्वा** (भीतरी वस्तु को बाहर निकालकर)। क्लिश्—**क्लिशित्वा**। **क्लिष्ट्वा** (इट् के अभाव में)। वद्—**उदित्वा** (कित् के निमित्त से सम्प्रसारण)। वस्—**उषित्वा**। (रहकर)। सम्प्रसारण, स् को ष्। वस् और क्षुध्—दोनों अनिट् हैं पर इन्हें क्त्वा और निष्ठा प्रत्यय (क्त, क्तवतु) परे इट् होता है[2]—**उषित्वा**। **क्षुधित्वा**। **क्षोधित्वा** (कित्व-विकल्प)। इसी प्रकार रुद्—**रुदित्वा**। विद् (जानना)—**विदित्वा**। मुष्—**मुषित्वा**। ग्रह्—**गृहीत्वा** (कित् होने से सम्प्रसारण) में भी सेट् क्त्वा कित् होता है।[3] सूत्र में स्वप् और प्रच्छ् का ग्रहण सन् प्रत्यय के लिए है। क्त्वा तो इनसे स्वतः कित् है—**सुप्त्वा** (सम्प्रसारण)। **पृष्ट्वा** (सम्प्रसारण)।

नकारोपध थकारान्त व फकारान्त धातु से सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है। गुम्फ्—**गुफित्वा**। **गुम्फित्वा**। कित्त्व पक्ष में उपधा नकार का लोप। श्रन्थ्—**श्रथित्वा**। **श्रन्थित्वा**। ढीला करके।

वञ्च् (जाना), लुञ्च् (नोचना), ऋत्—इनसे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है।[4] **वचित्वा**। **वञ्चित्वा**।(उदित् होने से इट्-विकल्प)। लुञ्च् = **लुचित्वा**। **लुञ्चित्वा**। ऋत्(सौत्र धातु)—**ऋतित्वा**। **अर्तित्वा**। ऋत् को स्वार्थ में ईयङ्

---

१. मृड-मृद-गुध-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१।२।७)।
२. वसति-क्षुधोरिट् (७।२।५२)।
३. रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च (१।२।८)।
४. नोपधात्थफान्ताद्वा (१।२।२३)।
५. वञ्चिलुञ्च्यृतश्च (१।२।२४)।

प्रत्यय होता है। आर्धधातुक विषय में अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ही आय आदि (जिन में ईयङ् भी एक है) विकल्प से होते हैं, सो जिस पक्ष में ईयङ् न हुआ उसमें ये उदाहरण हैं। ईयङ् होने पर तो **'ऋतीयित्वा'** ऐसा रूप होगा। क्त्वा परे होने पर लघु उपधा न होने से गुण नहीं हुआ। सेट् क्त्वा को कित्त्व का विकल्प कहा है अतः वञ्च् क्त्वा = **वक्त्वा**—यहाँ क्त्वा के कित् होने से उपधानकार का लोप होकर एक ही रूप होगा।

तृष, मृष्, कृश्—इनसे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है काश्यप आचार्य के मत में[1]। सूत्र में काश्यप ग्रहण पूजार्थ है। पूर्वसूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है—**तृषित्वा**। **तर्षित्वा**। **मृषित्वा**। **मर्षित्वा**। कृश् (पतला दुबला होना)—**कृशित्वा**। **कर्शित्वा**।

हलादि रलन्त सेट् धातु—जिसकी उपधा में उ, इ हो—से परे क्त्वा (और सन्) विकल्प से कित् होते हैं[2]—**द्युतित्वा**। **द्योतित्वा**। लिख्—**लिखित्वा**। **लेखित्वा**। रलन्त न होने से दिव् से **'देवित्वा'** कित्त्वाभाव में एक ही रूप होगा।

ङित्त्व

कुट्-आदि धातुओं से परे ञित् णित्-भिन्न प्रत्यय ङित्वत् होता है।[3] सो क्त्वा भी ङित् हो जायगा, जिससे सेट् क्त्वा भी गुण का निषेध करेगा—

कुट्—**कुटित्वा**। कुच्—**कुचित्वा**। गुर्—**गुरित्वा**। धू (तुदा०)—**धुवित्वा**। व्यच्—**विचित्वा**। सम्प्रसारण।

आदेश

क्त्वा-प्रत्यय की प्रकृति को कहीं-कहीं आदेश हो जाता है—

दो, सो, मा (माङ्, मेङ्) स्था को 'इ' अन्तादेश होता है[4]। दो—**दित्वा**। सो—**सित्वा**। मा—**मित्वा**। माङ्—**मित्वा**। मेङ्—**मित्वा**। (आत्व होकर इ)। स्था—**स्थित्वा**।

---

१. तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य (१।२।२५)।
२. रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६)।
३. गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)।
४. द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत्ति किति (७।४।४०)।
५. शाच्छोरन्यतरस्याम् (७।४।४१)।
६. दधातेर्हिः (७।४।४२)।

शो, छो को 'इ' अन्तादेश विकल्प से होता है[१]—**शित्वा । शात्वा । छित्वा । छात्वा ।**

हा (ओहाक्) त्यागना, छोड़ना, का—क्त्वा परे रहते 'हि' आदेश होता है[२]—**हित्वा ।** पर हा (ओहाङ्) जाना के विषय में यह आदेश नहीं होता—**हात्वा,** जाकर ।

अद् को जग्ध्-आदेश होता है तादि कित् और ल्यप् परे रहते[३]—**जग्ध्वा ।**

दा—दत्त्वा (देकर) । दा को दद्-आदेश होता है तकारादि कित् परे रहते ।[४] सो निष्ठा में भी यह आदेश होगा ।

दा (प्) काटना—**दात्वा ।**

दैप् (शुद्ध करना)—**दात्वा ।** (अनैमित्तिक आत्व) ।

देङ् (रक्षा करना)—**दीत्वा ।** आत्व होकर घु-संज्ञक होने से घुमास्था—(६।४।६६) से ईकार अन्तादेश ।

धेट् (चूसना)—'घु' संज्ञक होने से 'ई' अन्तादेश—**धीत्वा ।**

खन् (खनु), सन् (षणु देना, तनोत्यादि) झलादि कित्-प्रत्यय परे रहते आकार-अन्तादेश हो जाता है[५] । उदित होने से ये धातुएँ क्त्वा परे रहते वेट् हैं । इट् के अभाव में धातु को आकार-अन्तादेश होगा—**खात्वा । खनित्वा । सात्वा । सनित्वा ।**

मस्ज् को नुम् (न्) आगम अन्त्य वर्ण से पूर्व होता है । इससे संयोग (स्न्ज्) के आदिभूत स् का लोप हो जाता है[६] । ज् को कुत्व और चर्त्व होकर, न् को अनुस्वार और परसवर्ण होकर **'मङ्क्त्वा'** रूप सिद्ध होता है ।

अनुनासिक-लोप

अनुदात्तोपदेश अनुनासिकान्त (यम्, रम्, नम्, हन्, मन् दिवादि) के अनुनासिक का तथा वन् और तन् आदि तानादिक धातुओं के अनुनासिक

---

१. जहातेश्च क्त्वि (७।४।४३) ।
२. अदो जग्धिर्ल्यप् ति किति (२।४।३६) ।
३. दो दद्घोः (७।४।४६) ।
४. जन-सन-खनां सञ्झलोः (६।४।४२) ।
५. मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः (वा०) ।

का लोप हो जाता है झलादि कित् ङित् परे होने पर[1]। यम्—**यत्वा**। रम्—**रत्वा**। नम्—**नत्वा**। गम्—**गत्वा**। हन्—**हत्वा**। मन्—**मत्वा**। वन षण् संभक्तौ भ्वादि उदित नहीं है। नित्यइट् होने से झलादि क्त्वा नहीं मिलेगा। अतः क्त्वा-प्रत्यय परे इसका उदाहरण नहीं। तनादियों में वनु याचने पढ़ा है। वह तन् आदि की तरह उदित है। पाक्षिक इट् के अभाव में झलादि क्त्वा मिलेगा—तन्—**तनित्वा**। **तत्वा**। क्षण्—**क्षणित्वा**। **क्षत्वा**। क्षिण्—**क्षेणित्वा**। **क्षित्वा**। घृण्—**घर्णित्वा**। **घृत्वा**। चमककर। घृणि रश्मि को कहते हैं। तृण्—**तर्णित्वा**। **तृत्वा**। खाकर। वन् (माँगना)—**वनित्वा**। **वत्वा**। मन्—**मनित्वा**। **मत्वा**।

जान्त धातु के 'न्' का तथा नश् के नुम् का झलादि कित्-प्रत्यय परे विकल्प से लोप होता है[2]—भञ्ज्—**भक्त्वा**। **भङ्क्त्वा**। रञ्ज्—**रक्त्वा**। **रङ्क्त्वा**। अञ्ज्—**अक्त्वा**। **अङ्क्त्वा**। इट्-पक्ष में **अञ्जित्वा**। झलादि न होने से लोप नहीं हुआ।

इडागम

जॄ व व्रश्च् (व्रश्चू) से परे क्त्वा को इट् होता है[3]। जॄ को उगन्त होने से इट् का निषेध प्राप्त था। व्रश्च् के ऊदित् होने से इट्-विकल्प प्राप्त था। जॄ—**जरित्वा**। **जरीत्वा**। (वैकल्पिक इट्-दीर्घ)। व्रश्च्—**व्रश्चित्वा** (काटकर)।

वस् (रहना) और क्षुध् को क्त्वा तथा निष्ठा-प्रत्यय परे रहते इट् का आगम होता है[4]। वस्—**उषित्वा**। स् को ष्। क्षुध्—**क्षुधित्वा**। दोनों धातुएँ अनुदात्त हैं, उनसे परे इट् का प्रसंग ही न था।

इण्-निषेध

श्रिञ् (श्रि भ्वा० उभय०) तथा एकाच् उगन्त धातु से परे कित्-प्रत्यय

---

१. अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् अनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७)।
२. जान्त-नशां विभाषा (६।४।३२)।
३. जॄ-व्रश्च्योः क्त्वि (७।२।५५)।
४. वसति-क्षुधोरिट् (७।२।५२)।

को इट् आगम नहीं होता[1] । **श्रित्वा** । रु—**रुत्वा** । यु—**युत्वा** । भू—**भूत्वा** । पू—**पूत्वा** । लू—**लूत्वा** । वृ—**वृत्वा** । तॄ—**तीर्त्वा** । स्वृ, सू (प्राणि-गर्भ-विमोचन, प्राणि-प्रसव), धूञ् हिलाना—इन धातुओं को जो वलादि आर्ध० प्रत्यय परे रहते इट् का विकल्प कहा है वह भी यहाँ नहीं होता, इट् का निषेध ही होता है—स्वृ—**स्वृत्वा** । सू—**सूत्वा** । धूञ्—**धूत्वा** ।

इड् विकल्प

जो धातु सेट् है पर उदित् है उससे परे क्त्वा को इट् विकल्प से होता है—वृत (वृतु)[2]—**वर्तित्वा** । **वृत्त्वा** । वृध् (वृधु)—**वर्धित्वा** । **वृद्ध्वा** । दिव् (दिवु)—**देवित्वा** । **द्यूत्वा** । सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, यह पहले कहा जा चुका है । अतः इट् होने पर धातु को गुण होता है । इट् के अभाव में गुण नहीं होता । दिव् को ऊठ् (व् के स्थान में ऊ) होता है । धाव् (धावु)—**धावित्वा** । **धौत्वा** । ऊठ् । वृद्धि । शीङ्—**शयित्वा** । गुण, अयादेश ।

ऊदित् धातुओं से परे क्त्वा को पूर्व-विहित इट् का विकल्प ही होता है । क्लृप् (क्लृपू)—**क्लृप्त्वा** । **कल्पित्वा** । अश् (अशूङ्)—**अष्ट्वा** । **अशित्वा**=व्याप्य । अञ्ज् (अञ्जू)—अङ्क्त्वा **अक्त्वा** । **अञ्जित्वा** । क्लिद् (क्लिदू)—**क्लित्त्वा** । **क्लिदित्वा** । क्लिश् (क्लिशू)—**क्लिष्ट्वा** । **क्लिशित्वा** । अक्ष् (अक्षू)—**अष्ट्वा** । **अक्षित्वा** । गुप् (गुपू)—**गुप्त्वा** । **गोपित्वा** । **गुपित्वा** । कित्त्व-विकल्प ।

अनिट् क्त्वा परे होने पर स्कन्द् तथा स्यन्द् के 'न्' का लोप नहीं होता[3] । अनिट् क्त्वा के कित् होने से उपधा-भूत न् का लोप प्राप्त था—**स्कन्त्वा** । **स्यन्त्वा** । स्यन्द् उपदेश में ऊदित् है अतः वेट् है सो पक्ष में इट् होने पर **स्यन्दित्वा** रूप होगा ।

अञ्च्—यह गति और पूजन अर्थों में पढ़ी है । यह उदित है । इट् विकल्प से होगा—**अञ्चित्वा** । **अक्त्वा** (जाकर) । इट् के अभाव में क्त्वा के कित् होने से 'न्' का लोप हो जाता है । पर पूजन-अर्थ में नित्य इट् होगा

१. श्र्युकः किति (७।२।११) ।
२. उदितो वा (७।२।५६) ।
३. क्त्वि स्कन्दि-स्यन्दोः (६।४।३१) ।

और न् का लोप न होगा[1]—**अञ्चित्वा**=पूजयित्वा, पूजन करके। (निष्ठा प्रत्यय परे रहते भी नित्य इट् होता है।)

लुभ्—सेट् दिवादि है। इस का अर्थ लोभी होना है। तादि प्रत्यय परे होने पर इट् का विकल्प होता है जैसा कि सह्, इष् आदि धातुओं के विषय में होता है[2]—**लुभित्वा**। **लोभित्वा**। **लुब्ध्वा**। **परस्वेलुब्ध्वा पतति**। विमोहन-अर्थ में नित्य इट् होता है[3]—**लुभित्वा**। **लोभित्वा**। यह इट् निष्ठा में भी नित्य होता है। विमोहन=आकुलीकरण।

शम्, श्रम्, तम्, दम्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्—ये सेट् उदित धातुएँ हैं। उदित् होने से इट् का विकल्प होता है। इडभाव में इनके उपधा-भूत 'अ' को दीर्घ होता है[4]। शम्—**शमित्वा**। **शान्त्वा**। श्रम्—**श्रमित्वा**। **श्रान्त्वा**। तम—**तमित्वा**। **तान्त्वा**। दम्—**दमित्वा**। **दान्त्वा**। भ्रम्—**भ्रमित्वा**। **भ्रान्त्वा**। क्रम्—**क्रमित्वा**। **क्रान्त्वा**। क्लम्—**क्लमित्वा**। **क्लान्त्वा**।

क्रम् को दीर्घ विकल्प से होता है झलादि क्त्वा परे[5], इससे क्त्वा-प्रत्यय परे रहते तीन रूप होंगे—**क्रमित्वा**। **क्रान्त्वा**। **क्रन्त्वा**।

कम्—**कमित्वा**। **कान्त्वा**। (णिङ् के अभाव में)। **कामयित्वा** (णिङ् होने पर)।

रधादि (रध्, नश्, तृप्, दृप्, मुह्, स्नुह्, स्निह्) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से होता है[6]—रध् (सिद्ध होना)—**रद्ध्वा**। **रधित्वा**। **नष्ट्वा**। **नंष्ट्वा**। **नशित्वा**। नश्(और मस्ज्)को झलादि-प्रत्यय परे होने पर नुम् होता है।[7] **तृप्त्वा**। **तर्पित्वा**। **दृप्त्वा**। **दर्पित्वा**।

---

१. अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)। नाञ्चेः पूजायाम् (६।४।३०)।
२. तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः (७।२।४८)।
३. लुभो विमोहने (७।२।५४)।
४. अनुनासिकस्य क्वि-झलोः (६।४।१५)।
५. क्रमश्च क्त्वि (६।४।१८)।
६. रधादिभ्यश्च (७।२।४५)।
७. मस्जि-नशोर्झलि (७।१।६०)।

अनिट्-पक्ष में क्त्वा-प्रत्यय के कित् होने से अनुदात्तोपदेश ऋदुपध धातु को जो वैकल्पिक अमागम विधान किया है[1] वह नहीं होता।

क्लिश्[2] तथा पूङ्[3] से क्त्वा और निष्ठा परे रहते विकल्प से इट् होता है—**क्लिशित्वा**। यहाँ सेट् क्त्वा भी कित् ही होता है। **क्लिष्ट्वा। पवित्वा।** क्त्वा के सेट् होने से अकित् होकर धातु को गुण हुआ। पूत्वा।

ल्यप्-सम्बन्धी विशेष कार्य

ल्यप् परे होने पर घु-संज्ञक, मा, स्था, गै (गा), पा (पीना), हा (छोड़ना), सो (समाप्त करना) को जो क्ङित् हलादि-प्रत्यय परे रहते ईकार-अन्तादेश प्राप्त होता है वह नहीं होता[4]—**प्रदाय। निधाय। विमाय, प्रमाय। प्रस्थाय। प्रगाय, संगाय। प्रहाय, विहाय। अवसाय।**

मेङ्—अपमाय। अपमित्य। ईकार-अन्तादेश का तो निषेध है, पर इकार-अन्तादेश विकल्प से होता है।[5]

मीञ्, मिञ् और दीङ् को आत्व होता है एज्-विषय में (जहाँ एच् होने वाला है) तथा ल्यप्-विषय में[6]। मीञ्—**प्रमाय** (मार कर)। मिञ्—**निमाय** (=आरोप्य, गाड़कर, लगाकर)। दीङ्, क्षीण होना—**उपदाय।**

लीङ् (लीन होना) को विकल्प से आत्व[7]—**विलाय। विलीय।**

अनिडादि (जिसके आदि में इट् न हो) आर्धधातुक परे रहते णिच् का लोप होता है[8]—उद् तॄ णिच्-ल्यप्=**उत्तार्य**। तॄ को वृद्धि। विचर् णि—

---

१. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६।१।५९)। यहाँ सृजि-दृशोर्झल्यमकिति (६।१।५८) से 'अकिति' की अनुवृत्ति आती है।

२. क्लिशः क्त्वा-निष्ठयोः (७।२।५०)।

३. पूङश्च (७।२।५१)।

४. न ल्यपि (६।४।६९)।

५. मयतेरिदन्यतरस्याम् (६।४।७०)।

६. मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च (६।१।५०)।

७. विभाषा लीयतेः (६।१।५१)। एच्-विषय में तथा ल्यप् परे आत्व विकल्प से होता है।

८. णेरनिटि (६।४।५१)।

ल्यप्=**विचार्य** । आङ् कृ णिच्—ल्यप्=**आकार्य**, बुलाकर ।

ल्यप् परे रहते यदि धातु के लघ्वक्षर से परे णि हो तो उसे अय्-आदेश होता है (उसका लोप नहीं होता)[1]—**प्रशमय्य** । **निशमय्य** । **प्रणमय्य** । **विगणय्य** । शम्, नम् से णिच् परे उपधा को वृद्धि होकर मित् होने से ह्रस्व हो जाता है । गण् (अदन्त) से णिच् होने पर अल्लोप (अ का लोप) होता है । उसके स्थानिवत् होने से उपधा में 'ण्' हो जाता है जिससे वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं रहता ।

आप् (ण्यन्त) के णिच् को 'अय्' आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में णि का लोप होता है[2]—**प्रापय्य** । **प्राप्य** । प्राप्त करवाकर ।

क्षि को ल्यप् परे दीर्घ हो जाता है[3]—**प्रक्षीय** ।

वेञ् (बुनना) को ल्यप् परे सम्प्रसारण नहीं होता[4]—**प्रवाय** ।

ज्या (वृद्ध होना) को ल्यप् परे सम्प्रसारण नहीं होता[5]—**प्रज्याय** ।

व्येञ् (ढाँपना) को भी ल्यप् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता[6]—**संव्याय** । **उपव्याय** । निष्ठा में यथाप्राप्त होगा—**संवीत** । **उपवीत** ।

परि पूर्वक व्येञ् को सम्प्रसारण विकल्प से[7]—**परिवीय** । **परिव्याय** ।

अनुदात्तोपदेश अनुनासिकान्त(यम्, रम्, नम्, गम्, हन्, मन्)धातुओं तथा **वन्** (उदात्तोपदेश भ्वा० तनादि) और तन् आदि उदात्तोपदेश धातुओं के अनुनासिक का, ल्यप् परे रहते, विकल्प से लोप होता है।[8] यह व्यवस्थित विभाषा है । इनमें जो मकारान्त हैं उनके अनुनासिक का विकल्प से और जो नकारान्त हैं उनके अनुनासिक का नित्यलोप होता है । यम्—**संयम्य** । **संयत्य** । रम्—

---

१. ल्यपि लघुपूर्वात् (६।४।५६) ।

२. विभाषाऽऽपः (६।४।५७) ।

३. क्षियः (६।४।५९) ।

४. ल्यपि च (६।१।४१) ।

५. ज्यश्च (६।१।४२) ।

६. व्यश्च (६।१।४३) ।

७. विभाषा परेः (६।१।७४) ।

८. अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७) । वा ल्यपि (६।४।३८) ।

उपरम्य। **उपरत्य**। नम्—**प्रणम्य**। **प्रणत्य**। गम्—**अवगम्य** (जानकर)। **अवगत्य**। हन्—**आहत्य**। मन्—**अवमत्य** (तिरस्कार करके)। वन्—**प्रवत्य**। तन्—**वितत्य**। क्षण्—**विक्षत्य**। नकार का लोप होने पर इन सबमें धातु के ह्रस्व अच् को ह्रस्वस्य पिति० (६।१।७१) से तुक् (त्) आगम होता है। यह आगम पित्-कृत् परे होने पर होता है। ल्यप् ऐसा ही प्रत्यय है।

अधि इङ्—ल्यप्=**अधीत्य**। प्र इण्—ल्यप्=**प्रेत्य**। यहाँ दीर्घ-एकादेश तथा गुण एकादेश होकर असिद्धवत् माने जाते हैं जब तुक् कर्तव्य हो अथवा षत्व करना हो[1]। कोऽसिचत् में एकादेश 'ओ' के असिद्धवत् होने से सिच् के आदेश रूप 'स्' को षत्व नहीं हुआ।

शीङ् के 'ई' को अयङ् (अय) आदेश होता है यादि कित्-ङित् परे होने पर[2]—**संशय्य**।

क्त्वान्त-ल्यबन्त रूपावलि

सेट् धातुएँ

धातु	**क्त्वान्त**	**ल्यबन्त**
भू (होना)	**भूत्वा**	**अनुभूय, प्रभूय**
दू (ङ्) (परितप्त होना)	**दूत्वा**	**परिदूय**
नू (णू-स्तुति करना)	**नूत्वा**	**प्रणूय**
पूञ् (पवित्र करना)	**पूत्वा**	**उत्पूय**
पूङ् (पवित्र करना)	**पवित्वा, पूत्वा**	**परिपूय**
धूञ् (हिलाना)	**धूत्वा**	**विधूय, अवधूय**
धू (तुदा०—हिलाना)	**धुवित्वा**	**निधूय**
लू (काटना)	**लूत्वा**	**आलूय, विलूय**
सू (षूङ्—जन्म देना)	**सूत्वा**	**प्रसूय**
सू (षू) (प्रेरित करना)	**सूत्वा**	**आसूय, परासूय**
यु (मिलाना)	**युत्वा**	**वियुत्य, संयुत्य**

१. षत्व-तुकोरसिद्धः (६।१।८६)।
२. अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
रु (शब्द करना)	रुत्वा	विरुत्य, आरुत्य
शीङ् (सोना, लेटना)	शयित्वा	संशय्य, अधिशय्य
क्ष्णु (तेज करना)	क्ष्णुत्वा	संक्ष्णुत्य
स्नु (टपकना)	स्नुत्वा	प्रस्नुत्य
नु (स्तुति करना)	नुत्वा	प्रणुत्य
क्षु (खाँसना)	क्षुत्वा	विक्षुत्य
श्वि (बढ़ना, जाना)	श्वयित्वा	उच्छूय[1]
डीङ् (उड़ना)	डयित्वा	उड्डीय, संडीय
श्रि (आश्रय लेना)	श्रित्वा	संश्रित्य, आश्रित्य
वृङ् (चुनना)	वृत्वा	संवृत्य, विवृत्य
वृञ् (ढाँपना)	वृत्वा	आवृत्य, प्रावृत्य
ऊर्णु (ढाँपना)	ऊर्णुत्वा[2]	प्रोर्णुत्य
कॄ (बिखेरना)	कीर्त्वा[3]	विकीर्य, संकीर्य, आकीर्य
गॄ (क्र्या०) (उच्चारण करना)	गीर्त्वा	संगीर्य, प्रतिगीर्य, आगीर्य
गॄ (तुदा०) (निगलना)	गीर्त्वा	अवगीर्य, निगीर्य
तॄ (तैरना, पार करना)	तीर्त्वा	अवतीर्य, उत्तीर्य
जॄ (जीर्ण होना)	जरित्वा, जरीत्वा	अनुजीर्य
पॄ (पूरा करना)	पूर्त्वा[4]	प्रपूर्य, आपूर्य

---

१. ल्यप् स्थानिवद्भाव से कित् है। यजादि होने से 'श्वि' को सम्प्रसारण। हलः (६।४।२) से दीर्घ।

२. ऊर्णु को नुवद्भाव होता है। एकाच् हो जाने से इट् का निषेध।

३. श्र्युकः किति (७।२।११) से उगन्त होने से इट् का निषेध।

४. श्र्युकः किति (७।२।११) से इट् का निषेध होकर उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२) से पॄ के ॠ को उर् (रपर उ) हो जाने पर, हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होता है।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
जागृ (जागना)	जागरित्वा[1]	प्रजागर्य
श्लाघ् (सराहना)	श्लाघित्वा	परिश्लाघ्य
ईक्ष् (देखना)	ईक्षित्वा	वीक्ष्य, प्रतीक्ष्य, समीक्ष्य, परीक्ष्य
काङ्क्ष् (इच्छा करना)	काङ्क्षित्वा	आकाङ्क्ष्य
शिक्ष् (सीखना)	शिक्षित्वा	प्रशिक्ष्य
अञ्च् (जाना)	अञ्चित्वा, अक्त्वा	उदच्य, न्यच्य
अञ्च् (पूजन करना)	अञ्चित्वा	प्राञ्च्य
अर्च् (पूजना)	अर्चित्वा	प्रार्च्य, अभ्यर्च्य
याच् (माँगना)	याचित्वा	उपयाच्य
रुच् (रुचना)	रोचित्वा, रुचित्वा	अभिरुच्य, विरुच्य
व्रश्च् (काटना)	व्रश्चित्वा	विवृश्च्य
वाञ्छ् (इच्छा करना)	वाञ्छित्वा	अभिवाञ्छ्य
अर्ज् (कमाना)	अर्जित्वा	उपार्ज्य
तर्ज् (भ्वा०) (झिड़कना)	तर्जित्वा	सन्तर्ज्य
,, (चुरा०) (झिड़कना)	तर्जयित्वा	सन्तर्ज्य
एज् (काँपना, चमकना)	एजित्वा	प्रेज्य[2]
भ्राज् (चमकना)	भ्राजित्वा	विभ्राज्य
राज् ,,	राजित्वा	विराज्य
व्रज् (जाना)	व्रजित्वा	प्रव्रज्य, पराव्रज्य
उज्झ् (छोड़ना)	उज्झित्वा	प्रोज्झ्य
कुट् (कुटिल चलना)	कुटित्वा	सङ्कुट्य
कण्ठ् (उत्कण्ठित होना)	कण्ठित्वा	उत्कण्ठ्य
पठ् (पढ़ना)	पठित्वा	प्रपठ्य
कृत् (काटना)	कर्तित्वा	विकृत्य

१. जागृ अनेकाच् होने से सेट् है। उगन्त होने पर भी एकाच् न होने से श्र्युकः किति से इट् का निषेध नहीं होता है।

२. एङि पररूपम् (६।१।९४) से वृद्धि का अपवाद पररूप एकादेश हुआ है।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
कॄत् (कहना, कीर्तन करना)	कीर्तयित्वा[1]	संकीर्त्य
चिन्त् (सोचना)	चिन्तित्वा	विचिन्त्य
,, (चुरा०) (सोचना)	चिन्तयित्वा	विचिन्त्य
द्युत् (चमकना)	द्योतित्वा, द्युतित्वा	प्रद्युत्य, विद्युत्य
पत् (गिरना)	पतित्वा	अवपत्य, उत्पत्य, परापत्य, प्रपत्य, निपत्य, संनिपत्य
यत् (यत्न करना)	यतित्वा	प्रयत्य
वृत् (होना)	वर्तित्वा, वृत्त्वा	प्रवृत्य, परावृत्य, संवृत्य
वृध् (बढ़ना)	वर्धित्वा, वृद्ध्वा	प्रवृध्य,संवृध्य,विवृध्य
कत्थ् (डींग मारना)	कत्थित्वा	विकत्थ्य
क्रन्द् (चिल्लाना, रोना)	क्रन्दित्वा	आक्रन्द्य
निन्द् (निन्दा करना)	निन्दित्वा	प्रनिन्द्य, प्रणिन्द्य
मुद् (प्रसन्न होना)	मुदित्वा, मोदित्वा	प्रमुद्य
रुद् (रोना)	रुदित्वा	प्ररुद्य
वद् (बोलना)	उदित्वा	व्युद्य, अनूद्य
वन्द् (नमस्कार करना)	वन्दित्वा	अभिवन्द्य
विद् (जानना)	विदित्वा	संविद्य
विद् (प्राप्त करना)	विदित्वा, वित्त्वा	अधिविद्य, परिविद्य
स्कन्द् (गिरना, सूखना)	स्कन्त्वा	अवस्कद्य, विस्कद्य विष्कद्य
स्पन्द् (फड़कना)	स्पन्दित्वा	निःस्पन्द्य, परिस्पन्द्य
स्यन्द् (बहना)	स्यन्त्वा, स्यन्दित्वा	निस्यद्य[2], निष्यद्य, अभिस्यद्य, अभिष्यद्य

---

१. उपधायाश्च (७।१।१०१) से उपधा ॠ को इर् हुआ है। तब 'हलि च' से दीर्घ।

२. अनु-वि-पर्यभि-निभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु (८।३।७२) से विकल्प से षत्व होता है जब अप्राणि-विषय स्यन्दन हो। 'क्त्व स्कन्दि-स्यन्दोः' (६।४।३१) से क्त्वा परे रहते 'न्'-लोप का निषेध कहा है। ल्यप् परे रहते न्-लोप निर्बाध होगा।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
रध् (सिद्ध होना)	रद्ध्वा, रधित्वा	संरध्य
एध् (बढ़ना)	एधित्वा	प्रैध्य[1]
बन्ध् (बाँधना)	बद्ध्वा	निबध्य
बुध् (दिवा०) (जागना)	बुद्ध्वा	प्रबुध्य
(भ्वा०) (जानना)	बोधित्वा, बुधित्वा	विबुध्य
स्पर्ध् (होड़ लेना)	स्पर्धित्वा	प्रतिस्पर्ध्य
अन् (साँस लेना)	अनित्वा	प्राण्य[2]
क्षण् (हिंसा करना)	क्षणित्वा, क्षत्वा	विक्षत्य
खन् (खोदना)	खनित्वा, खात्वा	उत्खन्य, उत्खाय
तन् (विस्तार करना)	तनित्वा, तत्वा	वितत्य
सन् (देना)	सनित्वा, सात्वा	सन्तत्य
कम्प् (काँपना)	कम्पित्वा	प्रकम्प्य
कुप् (रुष्ट होना)	कुपित्वा, कोपित्वा	प्रकुप्य
गुप् (रक्षा करना)	गुप्त्वा, गुपित्वा[3] गोपित्वा, गोपायित्वा	अतिगुप्य, अतिगोपाय्य
जप् (बोलना, जपना)	जपित्वा	उपजप्य
त्रप् (लज्जित होना)	त्रपित्वा, त्रप्त्वा	अपत्रप्य
दीप् (चमकना)	दीपित्वा	प्रदीप्य, संदीप्य
तृप् (तृप्त होना)	तर्पित्वा, तृप्त्वा	वितृप्य
दृप् (घमण्ड करना)	दर्पित्वा, दृप्त्वा	अतिदृप्य
क्रम् (पग धरना)	क्रमित्वा, क्रान्त्वा, क्रन्त्वा	विक्रम्य, आक्रम्य, परिक्रम्य, अनुक्रम्य
क्षम् (क्षमा करना, शक्त होना)	क्षमित्वा, क्षान्त्वा	
क्लम् (थकना)	क्लमित्वा, क्लान्त्वा	विक्लम्य

१. एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८९) से वृद्धि ।

२. अनितेः (८।४।१९) से उपसर्ग-निमित्तक णत्व ।

३. गुपू के ऊदित् होने से इट् का विकल्प । रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) से सेट् क्त्वा विकल्प से कित् । आर्धधातुक में 'आय'-प्रत्यय का विकल्प ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
चम् (खाना)	चमित्वा, चान्त्वा	आचम्य
तम् (क्षीण होना)	तमित्वा, तान्त्वा	उत्तम्य
दम् (दमन करना, वश में करना)	दमित्वा, दान्त्वा	सन्दम्य
भ्रम् (घूमना, भ्रान्त होना)	भ्रमित्वा, भ्रान्त्वा	विभ्रम्य, उद्भ्रम्य, संभ्रम्य
वम् (उल्टी करना)	वमित्वा, वान्त्वा	उद्वम्य
शम् (शान्त होना, बुझना)	शमित्वा, शान्त्वा	प्रशम्य, उपशम्य
श्रम् (परिश्रम करना)	श्रमित्वा, श्रान्त्वा	विश्रम्य
अय् (जाना)	अयित्वा	प्लाय्य, पलाय्य
गुर् (तुदा० कुटा०) (उठाना)	गुरित्वा	अवगूर्य
गूर् (दिवा०) (मारना, जाना)	गूरित्वा	अवगूर्य
चर् (खाना)	चरित्वा	उच्चर्य, विचर्य, आचर्य
स्फुर् (फुरना)	स्फुरित्वा	विस्फूर्य, विष्फूर्य
चल् (चलना)	चलित्वा	उच्चल्य
ज्वल् (जलना)	ज्वलित्वा	उज्ज्वल्य
दिव् (उदित्) (चमकना, जुआ खेलना)	देवित्वा[1], द्यूत्वा	प्रतिदीव्य
सिव् (सीना)	सेवित्वा, स्यूत्वा	प्रसीव्य
धाव् (दौड़ना, धोना)	धावित्वा, धौत्वा	प्रधाव्य
कृश् (दुबला होना)	कर्शित्वा[2], कृशित्वा	अतिकृश्य
भ्रंश् (गिरना)	भ्रंशित्वा, भ्रष्ट्वा	प्रभ्रश्य
नश् (नष्ट होना)	नशित्वा, नंष्ट्वा[3], नष्ट्वा	प्रणश्य[4], विनश्य

१. रलन्त न होने से दिव् से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् नहीं होता। दिव् उदित् है, अतः इट् का विकल्प। इडभाव में क्त्वा के कित् होने से 'व्' को ऊठ्।

२. तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य (१।२।२५) से सेट् क्त्वा कित्।

३. मस्जि-नशोर्झलि (७।१।६०) से नुम् हुआ, जिसका जान्त नशां विभाषा (६।४।३२) से विभाषा-लोप हो जाता है।

४. उपसर्गादसमासेपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से णत्व।

धातु	क्त्वन्त	ल्यबन्त
इष् (तुदा०) (चाहना)	इष्ट्वा, एषित्वा	अभीष्य, प्रतीष्य
इष् (दिवा० क्र्या०)(जाना)	एषित्वा	प्रेष्य, अन्विष्य
एष् (एष्, जाना)	एषित्वा	अन्वेष्य, प्रेष्य[1]
तृष् (प्यासा होना)	तर्षित्वा, तृषित्वा	वितृष्य
कुष् (खींचकर बाहर निकालना)	कुषित्वा, कोषित्वा	निष्कुष्य
मुष् (चुराना)	मुषित्वा	प्रमुष्य
मृष् (सहना)	मर्षित्वा, मृषित्वा	परिमृष्य
रिष् (हिंसित होना)	रिष्ट्वा, रेषित्वा	आरिष्य
रुष् (रुष्ट होना)	रुष्ट्वा, रोषित्वा	आरुष्य
लष् (चाहना)	लषित्वा	अभिलष्य
हृष् (प्रसन्न होना)	हर्षित्वा	प्रहृष्य
हृषु (अलीके, मिथ्या कहना)	हृष्ट्वा, हर्षित्वा	संहृष्य
आस् (बैठना)	आसित्वा	उपास्य, अध्यास्य, अन्वास्य
भास् (चमकना)	भासित्वा	उद्भास्य
क्लिश् (ऊदित्, क्लेश देना)	क्लिष्ट्वा, क्लिशित्वा	अतिक्लिश्य
शास् (शासन करना, दण्ड देना, शिक्षा देना)	शासित्वा, शिष्ट्वा	अनुशिष्य
शंस् (उदित्)(स्तुति करना)	शंसित्वा, शस्त्वा	प्रशस्य
श्वस् (साँस लेना)	श्वसित्वा	निःश्वस्य, उच्छ्वस्य
ईह् (चेष्टा करना)	ईहित्वा	समीह्य
ऊह् (बूझना)	ऊहित्वा	अभ्युह्य, समुह्य, व्युह्य
गर्ह् (निन्दा करना)	गर्हित्वा	विगर्ह्य
ग्रह् (ग्रहण करना)	गृहीत्वा	प्रगृह्य, अनुगृह्य
मुह् (व्याकुल होना)	मोहित्वा, मूढ्वा	प्रमुह्य
सह् (सहना)	सहित्वा, सोढ्वा	प्रसह्य, विषह्य

---

१. एङि पररूपम् (६।१।९४) से पर-रूप।

२. उपसर्गाद् ध्रस्व ऊहतेः (७।४।२३) से उपसर्ग से परे ऊह् को ह्रस्व हो जाता है यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते। समुह्य = इकट्ठा करके। व्युह्य = विस्तार कर, बाँट कर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
स्निह् (प्रीतिमान् होना)	स्नेहित्वा, स्नीढ्वा	अतिस्निह्य
स्नुह् (वमन करना)	स्नोहित्वा, स्नोढ्वा	प्रस्नुह्य

चुरादि ण्यन्त धातुएँ

चोरि (चुराना)	चोरयित्वा	अवचोर्य
गणि (गिनना)	गणयित्वा	अवगणय्य, विगणय्य
कथि (कहना)	कथयित्वा	प्रकथय्य, संकथय्य

हेतुमण्ण्यन्त

कृ णिच् (कारि)	कारयित्वा	आकार्य
श्रु णिच् श्रावि (सुनाना)	श्रावयित्वा	विश्राव्य, आश्राव्य, संश्राव्य
वादि (बुलाना, बजाना)	वादयित्वा	संवाद्य, परिवाद्य
ईर् णिच् (प्रेरित करना)	ईरयित्वा	प्रेर्य
ह्वे णिच्, ह्वायि (बुलवाना)	ह्वाययित्वा[1]	आह्वाय्य
व्येञ् णिच् (ढँपवाना)	व्याययित्वा	संव्याय्य
दा णिच् दापि (दिलवाना)	दापयित्वा	प्रदाप्य
आपि (प्राप्त करवाना)	आपयित्वा	प्रापय्य, प्राप्य
शमि (शान्त करना)	शमयित्वा	प्रशमय्य, उपशमय्य
दमि (वश में करना)	दमयित्वा	सन्दमय्य

यङन्त धातुएँ

बेभिद्य (पुनः पुनः फाड़ना)	बेभिदित्वा[2]	प्रबेभिद्य्य

१. णिच् परे होंने पर ह्वे, व्ये को आत्व होने पर युक् (य्) का आगम होता है। युक् आगम के विषय परिज्ञान के लिए ण्यन्त-प्रक्रिया देखें।

२. यस्य हलः (६।४।४९)। हल् से उत्तर य का लोप हो जाता है आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर। यहाँ संघात य (य्+अ) का ग्रहण है। अतः पहले अतो लोपः (६।४।४८) से 'अ' का लोप होगा, पीछे य् का लोप।

लोलूय	लोलूयित्वा[1]	विलोलूय्य
पोपूय	पोपूयित्वा	परिपोपूय्य

क्यच्-क्यङन्त धातुएँ

समिध्य (समिधा को चाहना)	समिधित्वा, समिध्यित्वा[2]	
दृषद्य	दृषदित्वा, दृषद्यित्वा	
नमस्य (नमस्कार करना)	नमसित्वा, नमस्यित्वा	प्रनमस्य
वरिवस्य (पूजा करना)	वरिवसित्वा, वरिवस्यित्वा	संवरिवस्य
सङ्ग्राम (चुरादि) (युद्ध करना)	संग्रामयित्वा[3]	...
प्रेङ्खोल् ,, (झूलना)	प्रेङ्खोलयित्वा	...
आन्दोल् ,, (डोलना)	आन्दोलयित्वा	...
अवधीर (तिरस्कार करना)	अवधीरयित्वा[4]	अवधीर्य
सुमनाय (प्रसन्नचित्त होना)	...	सुमनाय्य
उन्मनाय (उत्सुक होना)	...	उन्मनाय्य
अवगल्भ[5] (प्रगल्भ होना)	...	अवगल्भ्य

तपस् — तपसित्वा, तपस्यित्वा

अनिट् धातुएँ

घ्रा (सूँघना)	घ्रात्वा	आघ्राय, उपाघ्राय
ज्ञा (जानना)	ज्ञात्वा	विज्ञाय, अवज्ञाय, अनुज्ञाय

---

१. यहाँ 'य' हल् से परे नहीं, अतः लोप नहीं हुआ।

२. समिधमात्मन इष्ट्वा। क्यच्। क्यस्य विभाषा (६।४।५०)। क्यच्, क्यङ् के 'य' का लोप विकल्प से होता है आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते।

३. संग्राम—यह एकमात्र धातु है जिससे उपसर्ग को पृथक् किए बिना प्रत्ययोत्पत्ति होती है। अतः यहाँ ल्यप् नहीं हुआ।

४. अवधीर धातु मानने पर क्त्वा प्रत्यय परे रहते उपसर्ग-सहित 'अवधीरयित्वा' ऐसा रूप होगा। 'धीर' धातु मानी जाये तो ल्यप् में 'अवधीर्य' रूप होगा।

५. 'अवगल्भ' आचार में क्विबन्त धातु है।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
ज्या (बूढ़ा होना)	जीत्वा	परिजीय[1], अनुजीय
दा (देना)	दत्त्वा	प्रदाय, सम्प्रदाय
दाण् ,,	दत्त्वा	परिदाय, आदाय, व्यादाय
दाप् (काटना)	दात्वा	अवदाय
द्रा (दुर्गत होना)	द्रात्वा	निद्राय, प्रद्राय
धा (धारण करना, पुष्ट करना)	हित्वा	आधाय, निधाय, विधाय
पा (पीना)	पीत्वा	प्रपाय
मा (मापना)	मित्वा	प्रमाय, निर्माय, विमाय, संमाय
म्ना (अभ्यास करना)	म्नात्वा	आम्नाय, समाम्नाय
या (जाना)	यात्वा	निर्याय, प्रयाय
वा (वायु का चलना)	वात्वा	निर्वाय[2], प्रवाय
स्था (ठहरना)	स्थित्वा	आस्थाय, प्रस्थाय, अवस्थाय, अनुष्ठाय, उत्थाय
स्ना (नहाना)	स्नात्वा	निस्नाय[3], [4]निष्णाय, प्रस्नाय
हा (छोड़ना)	हित्वा	विहाय, प्रहाय
हा (ङ्) (जाना)	हात्वा	उद्धाय, [5]संहाय

---

१. ज्या को सम्प्रसारण और सम्प्रसारण को दीर्घ ।

२. बुझकर ।

३. अच्छी तरह स्नान करके ।

४. कुशल होकर ।

५. शय्या से उठकर । सम्पूर्वक हाङ् का अर्थ शय्यापरित्याग है ऐसा कलिः शयानो भवति इत्यादि ऐतरेय ब्रा० के वचन में 'संजिहानस्तु द्वापरः' का अर्थ करते हुए सायणाचार्य कहते हैं ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
इक् (स्मरण करना)	...	अधीत्य
इङ् (पढ़ना)	...	अधीत्य
इण् (जाना)	इत्वा	प्रेत्य, अवेत्य, समेत्य, परीत्य
क्षि (क्षीण होना)	क्षित्वा	प्रक्षीय[1]
चि (चुनना)	चित्वा	संचित्य, विचित्य, उपचित्य, अपचित्य, अवचित्य
जि (जीतना)	जित्वा	विजित्य, पराजित्य
स्मि (मुस्कराना)	स्मित्वा	विस्मित्य
हि (जाना, बढ़ना)	हित्वा	प्रहित्य
ईङ् (दिवा०, जाना)	ईत्वा	प्रतीय[2]
क्री (खरीदना)	क्रीत्वा	विक्रीय, अवक्रीय[3], परिक्रीय
दी (ङ्) (क्षीण होना)	दीत्वा	उपदाय
नी (ले जाना)	नीत्वा	प्रणीय, परिणीय, आनीय, अनुनीय[4], अपनीय
पी (ङ्) (पीना)	पीत्वा	निपीय
प्री (ङ्-ञ्) (प्रीति करना)	प्रीत्वा	विप्रीय
भी (डरना)	भीत्वा	विभीय
ह्री (लज्जित होना)	ह्रीत्वा	विह्रीय
कु (शब्द करना)	कुत्वा	आकुत्य
दु (दुःख देना)	दुत्वा	सन्दुत्य, प्रदुत्य
द्रु (जाना, पिघलना)	द्रुत्वा	प्रद्रुत्य, विद्रुत्य
धु (हिलाना)	धुत्वा	विधुत्य

१. क्षियः (६।४।५९) से दीर्घ।

२. प्रतीय=जानकर। यहाँ अङ्ग के दीर्घ होने से तुक् की प्राप्ति ही नहीं।

३. किराय पर लेकर।

४. मनाकर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
प्रुङ् (जाना)	प्रुत्वा	आप्रुत्य
प्लुङ् (तैरना)	प्लुत्वा	आप्लुत्य, विप्लुत्य, संप्लुत्य
श्रु (सुनना)	श्रुत्वा	आश्रुत्य[1], प्रतिश्रुत्य, संश्रुत्य, विश्रुत्य
सु (स्वा० सोम, सुरा निकालना)	सुत्वा	अभिषुत्य, आसुत्य
स्तु (स्तुति करना)	स्तुत्वा	प्रस्तुत्य, संस्तुत्य, अभिष्टुत्य
स्रु (बहना)	स्रुत्वा	प्रस्रुत्य
हु (आहुति देना)	हुत्वा	आहुत्य, प्रहुत्य
ह्नु (छिपाना)	ह्नुत्वा	अपह्नुत्य[2]
ब्रू (वच्) (कहना)	उक्त्वा	प्रोच्य[3], प्रत्युच्य, अनूच्य[4]
धृञ् (धारण करन)	धृत्वा	विधृत्य, आधृत्य
धृङ् (अवस्थित रहना)	धृत्वा	अवधृत्य
पृङ् (व्यापृत होना)	पृत्वा	व्यापृत्य
भृ (भरना, पालना)	भृत्वा	आभृत्य, संभृत्य
मृ (मरना)	मृत्वा	अपमृत्य, परामृत्य[5]
सृ (सरकना)	सृत्वा	अपसृत्य, उपसृत्य, संसृत्य[6]

---

१. प्रतज्ञा करके। 'प्रतिश्रुत्य' का भी यही अर्थ है।

२. इन्कार कर, छिपाकर।

३. व्याख्यानकर।

४. वेद पढ़कर।

५. परापूर्वक मृ का अर्थ ऐसी मृत्यु है जिसके पश्चात् पुनर्मृत्यु नहीं होती किन्तु मुक्ति होती है। उपनिषद् में प्रयोग भी है—ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे (मं० उ० ३।२।६)।

६. संसृत्य=यीनीः संक्रम्य, जन्म-मरण-चक्र में घूमकर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
हृ (ले जाना)	हृत्वा	आहृत्य, उदाहृत्य, विहृत्य, संहृत्य, उपहृत्य, अपहृत्य, उद्धृत्य, [1]अपोद्धृत्य
देङ् (रक्षा करना)	दीत्वा	प्रणिदाय[2]
धेट् (चूसना)	धीत्वा	अनुधाय, सुधाय
मेङ् (बदले में देना)	मित्वा	अपमाय, अपमित्य, विनिमाय
वेञ् (बुनना)	उत्वा	प्रवाय
व्येञ् (ढाँपना)	वीत्वा	[3]संव्याय, परिव्याय, परिवीय
ह्वेञ् (बुलाना)	हूत्वा	आहूय, उपहूय[4]
कै (काँ-काँ करना)	कात्वा	उत्काय
गै (गाना)	गीत्वा	उद्गाय, संगाय
ग्लै (क्षीण होना)	ग्लात्वा	प्रग्लाय, विग्लाय,
दै (प्) (शुद्ध करना)	दात्वा	अवदाय
ध्यै (ध्यान करना)	ध्यात्वा	[5]आध्याय, प्रध्याय, [6]निध्याय
छो (पतला करना)	छात्वा, छित्वा	
दो (काटना)	दित्वा	अवदाय
शो (तेज करना)	शित्वा, शात्वा	निशाय
सो (समाप्त करना)	सित्वा	अवसाय, [7]व्यवसाय

---

१. निकालकर जुदा करके ।

२. बदले में देकर ।

३. आच्छाद्य, ढाँप कर ।

४. पास बुलाकर ।

५. उत्कण्ठा-पूर्वक स्मरण करके ।

६. देखकर ।

७. निश्चय करके ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
शक् (स्वा०) (सकना)	शक्त्वा	अतिशक्य
शक् (दिवा०) (सकना)	शकित्वा, शक्त्वा	,,
पच् (पकाना)	पक्त्वा	प्रपच्य, परिपच्य, विपच्य
मुच् (छोड़ना)	मुक्त्वा	आमुच्य[1], प्रतिमुच्य, विमुच्य
वच् (अदा०) (कहना)	उक्त्वा	प्रोच्य, प्रत्युच्य, अनूच्य
सिच् (सींचना)	सिक्त्वा	प्रसिच्य, [2]आसिच्य, अभिषिच्य
प्रच्छ् (पूछना)	पृष्ट्वा	आपृच्छ्य[3], परिपृच्छ्य
त्यज् (छोड़ना)	त्यक्त्वा	परित्यज्य, सन्त्यज्य
भज् (सेवा करना)	भक्त्वा	विभज्य[4], आभज्य, [5]निर्भज्य
भञ्ज् (तोड़ना)	भक्त्वा, भङ्क्त्वा	अवभज्य
भुज् (भोगना, खाना, पालना)	भुक्त्वा	उपभुज्य
भ्रस्ज् (भूनना)	भृष्ट्वा	विभृज्ज्य
मस्ज् (डूबना)	मङ्क्त्वा	निमज्ज्य
यज् (पूजा करना)	इष्ट्वा	अवेज्य[6]
युज् (जोड़ना)	युक्त्वा	वियुज्य, उपयुज्य, [7]अनुयुज्य, संयुज्य, प्रयुज्य
रञ्ज् (रंगना)	रक्त्वा, रङ्क्त्वा	विरज्य, अपरज्य, अनुरज्य
सञ्ज् (आसक्त होना, जोड़ना)	सक्त्वा	प्रसज्य, अनुषज्य, व्यतिषज्य

---

१. बांधकर । प्रतिमुच् का भी यही अर्थ है ।

२. (जलादि को बर्तन में) डालकर ।

३. जाने की अनुमति लेकर ।

४. भाग देकर ।

५. भाग से वञ्चित कर ।

६. यज्ञ से दूर कर (पाप आदि को) ।

७. पूछकर ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
सृज् (उत्पन्न करना)	सृष्ट्वा	विसृज्य, उत्सृज्य, [1]अतिसृज्य
सृज् (दिवा० मिलना)	सृष्ट्वा	संसृज्य
अद् (खाना)	जग्ध्वा	प्रजग्ध्य
छिद् (काटना)	छित्त्वा	[2]आच्छिद्य, विच्छिद्य, अवच्छिद्य, [3]व्यवच्छिद्य, [4]परिच्छिद्य
भिद् (फाड़ना)	भित्त्वा	विभिद्य, [5]संभिद्य, उद्भिद्य, प्रभिद्य
तुद् (चुभोना)	तुत्त्वा	प्रतुद्य
नुद् (धकेलना)	नुत्त्वा	प्रणुद्य
पद् (जाना)	पत्त्वा	प्रपद्य, प्रतिपद्य, विपद्य, सम्पद्य, [6]निपद्य, उत्पद्य
वद् (कहना)	उदित्वा	[7]व्युद्य, अनूद्य
विद् (प्राप्त करना)	वित्त्वा, विदित्वा	अधिविद्य[8], परिविद्य[9]
विद् (होना, विचारना)	वित्त्वा	निर्विद्य
शद् (नष्ट होना, गिरना)	शत्त्वा	आशद्य

---

१. देकर।

२. छीन कर।

३. जुदा कर, भिन्न कर, व्यावृत्त कर।

४. सीमित करके, विवेचन करके।

५. जोड़कर।

६. लेटकर।

७. विवाद कर।

८. एक स्त्री के होते हुए दूसरी को विवाहना। धातु का कर्म पहली स्त्री होती है—देवदत्तामधिविन्दति चैत्रः=चैत्र देवदत्ता नाम की स्त्री के होते हुए दूसरी स्त्री को विवाहता है।

९. परि विद्=छोड़कर विवाह करना, बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का स्त्री-ग्रहण करना।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
सद् (जाना, विशीर्ण होना, दुःख पाना)	सत्त्वा	आसद्य, प्रसद्य, उपसद्य[1], निषद्य
इन्ध् (जलाना)	इद्ध्वा	समिध्य
क्रुध् (क्रोध करना)	क्रुद्ध्वा	अभिक्रुध्य
क्षुध् (भूखा होना)	क्षोधित्वा, क्षुधित्वा	अतिक्षुध्य
बुध् (दिवा०) (जागना)	बुद्ध्वा	प्रबुध्य, प्रतिबुध्य
युध् (लड़ना)	युद्ध्वा	नियुध्य[2]
रुध् (रोकना)	रुद्ध्वा	विरुध्य, निरुध्य, उपरुध्य, अवरुध्य[3]
राध् (सिद्ध करना)	राद्ध्वा	विराध्य, अनुराध्य
व्यध् (बींधना)	विद्ध्वा	अतिविध्य, अनुविध्य
साध् (सिद्ध करना)	साद्ध्वा	प्रसाध्य, संसाध्य
सिध् (दिवा० सिद्ध होना)	सिद्ध्वा	प्रसिध्य
मन् (दिवा० जानना)	मत्वा	अनुमत्य, विमत्य, संमत्य
आप् (प्राप्त करना)	आप्त्वा	प्राप्य, व्याप्य, समाप्य
क्षिप् (फेंकना)	क्षिप्त्वा	प्रक्षिप्य, उपक्षिप्य[4] संक्षिप्य, परिक्षिप्य[5]
तृप् (तृप्त होना)	तर्पित्वा, तृप्त्वा	वितृप्य, सन्तृप्य
दृप् (घमंड करना)	दर्पित्वा, दृप्त्वा	अतिदृप्य
लिप् (लीपना)	लिप्त्वा	विलिप्य, अनुलिप्य
लुप् (काटना)	लुप्त्वा	विलुप्य

१. पास बैठना, जैसे शिष्य का गुरु के पास बैठना।
२. कुश्ती करके।
३. घेरे में बन्द करके। जैसे गौओं को बाड़े में अथवा रानियों को अन्तःपुर में।
४. संकेत करके, आरम्भ करके।
५. घेर करके।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
स्वप् (सोना)	सुप्त्वा	प्रसुप्य, सुषुप्य
रभ् (आरम्भ करना)	रब्ध्वा	आरभ्य, प्रारभ्य, संरभ्य[1]
लभ् (प्राप्त करना)	लब्ध्वा	उपलभ्य, विप्रलभ्य[2]
गम् (जाना)	गत्वा	आगम्य, आगत्य, उपगम्य, संगम्य, संगत्य, अपगम्य, अनुगम्य, अवगत्य
नम् (झुकना, नमस्कार करना)	नत्वा	प्रणम्य, प्रणत्य, उपनम्य उपनत्य, परिणम्य, परिणत्य
यम् (नियम में रखना)	यत्वा	संयम्य, संयत्य, नियम्य, नियत्य
रम् (खेलना, आनन्द मनाना)	रत्वा	विरम्य, विरत्य, उपरम्य, उपरत्य
क्रुश् (चिल्लाना)	क्रुष्ट्वा	विक्रुश्य, उत्क्रुश्य, आक्रुश्य
रिश् (हिंसा करना)	रिष्ट्वा	विरिश्य
रुश् (हिंसा करना)	रुष्ट्वा	विरुश्य
दंश् (डसना)	दष्ट्वा	सन्दश्य, उपदश्य
दिश् (कहना, देना)	दिष्ट्वा	उपदिश्य, अपदिश्य[3], सन्दिश्य, आदिश्य प्रदिश्य[4]
दृश् (देखना)	दृष्ट्वा	उपदृश्य[5]
विश् (प्रवेश करना)	विष्ट्वा	प्रविश्य, उपविश्य, संविश्य[6]

१. आवेश में आकर। क्रुद्ध होकर।
२. ठगकर।
३. बहाना बनाकर।
४. देकर।
५. निकट से देखकर।
६. लेटकर, सोकर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
स्पृश् (छूना)	स्पृष्ट्वा	संस्पृश्य, उपस्पृश्य[1]
कृष् (खींचना, हल चलाना)	कृष्ट्वा	अपकृष्य, उत्कृष्य, विप्रकृष्य, निकृष्य
तुष् (संतुष्ट होना)	तुष्ट्वा	सन्तुष्य, परितुष्य
दुष् (दुष्ट होना, बिगड़ना)	दुष्ट्वा	प्रदुष्य
द्विष् (द्वेष करना)	द्विष्ट्वा	प्रद्विष्य, विद्विष्य
पुष् (पुष्ट करना)	पुष्ट्वा	सम्पुष्य, विपुष्य
शुष् (सूखना)	शुष्ट्वा	विशुष्य
वस् (रहना)	उषित्वा	प्रोष्य, विप्रोष्य, पर्युष्य[2]
दिह् (लीपना)	दिग्ध्वा	उपदिह्य
दुह् (दोहना)	दुग्ध्वा	प्रदुह्य
नह् (बाँधना)	नद्ध्वा	आनह्य, उपानह्य, संनह्य[3]
मिह् (मूत्र करना)	मीढ्वा	प्रमिह्य
रुह् (उगना)	रूढ्वा	आरुह्य, उपारुह्य, अवरुह्य[4], संरुह्य[5]
वह् (उठाना, ले जाना)	ऊढ्वा	व्युह्य[6], उदुह्य, प्रोह्य

णमुल् (=अम्)

धातुमात्र से क्त्वा प्रत्यय और णमुल् प्रत्यय पूर्वकाल की बार-बार होने वाली क्रिया को कहने के लिए आते हैं। एक कर्ता की दो क्रियाओं में से जो क्रिया पहले होती है उसे कहने के लिए 'क्त्वा' प्रत्यय का विधान किया

---

१. आचमन करके, स्नान करके।
२. पड़े रहकर, जैसे कोई भोज्यपदार्थ कुछ काल के लिए अभुक्त पड़ा रहता है।
३. तैयार होकर।
४. उतर कर।
५. अच्छा होकर (घावादि के विषय में)।
६. विवाह करके। 'उदुह्य' का भी यही अर्थ है।

जा चुका है[१]—**भुक्त्वा व्रजति**। यहाँ कुछ अधिक अर्थ में 'क्त्वा' का विधान किया जाता है—वह अधिक अर्थ है आभीक्ष्ण्य=पौनःपुन्य=आसेवा=क्रिया का बार-बार होना[२]। इस अर्थ के द्योतन के लिए 'क्त्वान्त' दो बार प्रयुक्त किया जाता है[३]—**स्मृत्वा स्मृत्वा नमति शिवम्**=शिव को बार-बार स्मरण कर नमस्कार करता है। ठीक ऐसे ही अर्थ में णमुल् (अम्) का प्रयोग होता है और णमुलन्त का भी दुबारा उच्चारण किया जाता है। णमुल् (=अम्) मान्त कृत् प्रत्यय है, अतः णमुलन्त अव्यय होता है—**स्मारं स्मारं नमति शिवम्**। धातु से परे णमुल् आने पर धातु के अन्तिम इ, उ, ऋ को वृद्धि होती है[४] जैसे 'स्मारम्' में हुई। धातु की उपधा के 'अ' को भी वृद्धि (आ) होती है[५]—**पाठं पाठं कण्ठे करोत्यृचम्** (उच्चारण कर करके ऋचा को याद करता है)। **पायं पायं काव्यामृतमवधीरयति सुधाम्** (काव्य रूपी अमृत को पी-पीकर सुधा का तिरस्कार करता है)। यहाँ णमुल् प्रत्यय परे होने पर आकारान्त होने से पा से परे (युक्) 'य्'[६] आगम होता है। ऐसा ही सभी आकारान्त धातुओं के विषय में समझो। जो धातुएँ उपदेश में एजन्त=एकारान्त, ऐकारान्त, ओकारान्त हैं उन्हें भी आकारान्त बना लिया जाता है[७] और तब उसे युक् का आगम होता है—दे (ङ्) **दायम्**। मे (ङ्) अदल-बदल करना—**निमायम्, विनिमायम्**। इस धातु का प्रयोग नि, वि अथवा 'विनि' के उपसर्गों के साथ ही होता है। त्रै (ङ्)—**त्रायम्, परित्रायम्**। गै—**गायम्**। **गायं गायं रज्यति रञ्जयति च सभाम्**। गा गाकर प्रसन्न होता है और सभा को प्रसन्न करता है। ध्यै—**ध्यायम्**। **ध्यायं ध्यायं महेश्वरं नन्दन्ति मुनीश्वराः**। सो—**अवसायम्**। इस धातु का प्रयोग अव-पूर्वक होता है। **अवसायमवसायं शास्त्रार्थं तदनुष्ठानपरो भवति**, शास्त्र-विहित अर्थ का बार-बार निश्चय करके उस पर आचरण करता है।

१, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१।।)।
२. आभीक्ष्ण्ये णमुल् च (३।४।२२।।)।
३. नित्यवीप्सयोः (८।१।४)।
४. अचो ञ्णिति (७।२।११५)।
५. अत उपधायाः (७।२।११६)।
६. आतो युक्चिण्कृतोः (७।३।३३)।
७. आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४५)।

अग्रे, प्रथम, पूर्व—इन क्रिया-विशेषणों के उपपद होने पर धातुमात्र से क्त्वा तथा णमुल् विकल्प से होते हैं।[1] पक्ष में लट् आदि होंगे। यहाँ पूर्व-कालता तो द्योतित होती है, पर आभीक्ष्ण्य (=पौनः पुन्य) अर्थ नहीं होता—**स्वामिनोऽग्रेभोजं प्रथमं भोजं पूर्वं भोजं व्रजन्न दुष्यति विधेयार्थो भुजिष्यः** (स्वामी से पहले भोजनकर चला जाता हुआ कार्य-संलग्न भृत्य दोष का भागी नहीं होता)। पक्ष में **स्वामिनोग्रे भुङ्क्तेऽथ व्रजति विधेयार्थो भुजिष्य इति न दुष्यति।**

कर्मवाची पद के उपपद होने पर कृ से खमुञ् (=अम्) प्रत्यय आता है जब आक्रोश=निन्दा गम्यमान हो[2]—**चौरङ्कारमाक्रोशति** (चोर कह कर निन्दा करता है)। यहाँ कृ(ञ्) का अर्थ उच्चारण है। चौरङ्कारम् यह समस्तपद है। यहाँ खिदन्त उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद को मुम् (म्) आगम होता है।

स्वादु अर्थ वाले स्वादु, सम्पन्न, लवण आदि शब्दों के उपपद होने पर कृ से णमुल् होता है समानकर्तृक दो क्रियाओं में से पहले होने वाली क्रिया को कहने के लिए[3]—**अस्वादुं स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते वृत्तिहीनः स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते** (जो स्वादु नहीं उसे स्वादु बना कर जीविका-रहित पुरुष खाता है)। सम्पन्न और लवण शब्द भी स्वादुपर्याय हैं। यहाँ इन स्वादु आदि पदों को मान्त बना लिया जाता है।

अन्यथा, एवम्, कथम्, इत्थम्—इन उपपदों के होने पर कृ से णमुल् प्रत्यय होता है। यह णमुल् पौनः पुन्य में नहीं होता और कृ का प्रयोग बिना अर्थ के ही होता है[4]—**अन्यथाकारं पठतीति गुरुणा शिष्यते** (=अन्यथा पठतीति······) वह उलटा पढ़ता है इसलिए गुरु से दण्डित होता है। **इत्थंकारमनुशास्त्याचार्यो धर्मम्। कथङ्कारं भुङ्क्षे** (=कथं भुङ्क्षे)= कैसे खाते हो। यहाँ उपपद समास होता है। ऐसा ही अन्यत्र जानें।

यथा और तथा शब्दों के उपपद होने पर कृ से णमुल् आता है। जब

---

१. विभाषाऽग्रे प्रथमपूर्वेषु (३।४।२४)।
२. कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् (३।४।२५)।
३. स्वादुमि णमुल्। (३।४।२६)।
४. अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् (३।४।२७)।

दोष निकालने के लिए प्रश्न होने पर न सहते हुए क्रोध से उत्तर दिया जाता है।[1] यहाँ भी कृ धातु का कुछ अर्थ नहीं। जैसे—किसी ने किसी से पूछा—**कथङ्कारं** (=कथम्) **भुङ्क्षे**, कैसे खाते हो ? इसे न सहते हुए वह उत्तर देता है—**यथाकारं भुञ्जे तथाकारं भुञ्जे किं तवानेन**=मैं जैसे-तैसे खाता हूँ, तुम्हें इससे क्या ?

कर्म उपपद होने पर साकल्यविशिष्ट अर्थ में दृश् तथा विद् (अदा०, तुदा० रुधा०) से णमुल् आता है[2]—**धनिकदर्शमर्थयतेऽर्थमर्थी** (न च गणयति कृपणोऽयमुदारो वेति), जिस-जिस धनी को याचक देखता है उस-उससे माँगता है (यह नहीं सोचता कि यह कृपण है अथवा उदार)। **उदार इति ब्राह्मणवेदं भोजयति श्रेष्ठी,** (न च गणयति पात्रमिदमपात्रं वेति), उदार हैं इसलिए सेठ जी जिस-जिस ब्राह्मण को जानते हैं अथवा पाते हैं अथवा विचारते हैं उस-उस को भोजन खिलाते हैं (यह नहीं सोचते कि यह पात्र है अथवा अपात्र)। **त्वमश्नासि बालदर्शमिह** (तू यहाँ जिस-जिस बच्चे को देखता है, उस-उसको खा जाता है)। (कथा सरित्० २४।२१६)।

यावत् उपपद होने पर विद् (विन्द्), प्राप्त करना तथा 'जीव्' (जीना) धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है[3]। यहाँ पूर्वकालता भी नहीं है। **यावद्वेदं भुङ्क्ते** (जितना प्राप्त करता है उतना ही खा लेता है)। **यावज्जीवमन्नमदात्** (जब तक जीता रहा अन्नदान करता रहा)।

चर्मन् और उदर कर्म उपपद होने पर पूर् (ण्यन्त) धातु से णमुल् होता है।[4] यहाँ भी न तो पूर्वकालता है और न ही पौनः पुन्य। **चर्मपूरं स्तृणाति। उदरंपूरं भुङ्क्ते** (पेटभर खाता है।)

गोष्पद, सीता, खात, मूषिका, बिल आदि कर्म उपपद होने पर पूर् चुरादि से णमुल् होता है, गोष्पद आदि जितनी वृष्टि से भर जाते हैं उतनी वृष्टि हुई ऐसी प्रतीति होने पर[5]। जैसे—**गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। सीतापूरं**

---

१. यथातथयोरसूयाप्रतिवचने (३।४।२८)।
२. कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये (३।२।२६)।
३. यावति विन्दजीवोः।, यहाँ नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः (३।४।३०) से लङ् का निषेध होकर लुङ् ही होता है।
४. चर्मोदरयोः पूरेः (३।४।३१)।
५. वर्षप्रमाण ऊलोपश्चाऽन्यतरस्याम् (३।४।३२)।

वृष्टो देवः। यहाँ पूर् के 'ऊ' का पक्ष में लोप कर देते हैं जिससे **गोष्पदप्रम्** ऐसा भी कह सकते हैं।

चेल अथवा उसके पर्याय वस्त्र, वसन आदि कर्म उपपद होने पर क्नोपि (क्नूय् भ्वा० आ० का ण्यन्त) से णमुल् आता है जब वृष्टि के प्रमाण की प्रतीति हो[1], जैसे गोष्पद आदि के उपपद होने पर होती है। **चेलक्नोपं वृष्टो देवः**। **वस्त्रक्नोपम्, वसनक्नोपम्**। मेघ इतना ही बरसा जिससे वस्त्र ही भीगे।

समूल और निमूल कर्म उपपद होने पर कष् (भ्वादि, रगड़ना, मर्दन करना, नाश करना) से णमुल् आता है और कष् धातु का ही तिङन्त रूप अनुप्रयुक्त होता है[2]—**समूलकाषं कषति** (समूल नष्ट कर देता है)। **तल्लाभाद-विद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति** (यो० सू० भा० ४।३०)। **निमूल-काषं कषति**। यहाँ से आगे 'अपमाने कर्मणि च' तक णमुल् की प्रकृति के अनुप्रयोग का नियम है।

शुष्क, चूर्ण, रूक्ष—इन कर्मवाची उपपदों के होने पर पिष् से णमुल् होता है और जिससे णमुल् विधान किया है उसी का ही अनुप्रयोग होता है।[3] अर्थात् पिष् से ही तिङ् प्रत्यय होता है। **शुष्कपेषं पिनष्टि**=शुष्कं पिनष्टि= सूखा पीसता है। **चूर्णपेषं पिनष्टि**=चूरा-चूरा करके पीसता है। **रूक्षपेषं पिनष्टि**=बिना स्नेह=तैल, घृत आदि के पीसता है। इन उदाहरणों में उपपदों के साथ पिष् का कुछ अर्थ नहीं।

समूल, अकृत, जीव—इन कर्मवाची उपपदों के होने पर क्रम से हन्, कृ, ग्रह् से णमुल् होता है। जिस धातु से णमुल् होता है उसी के तिङन्त रूप का अनुप्रयोग होता है[4]—**समूलघातं हन्ति** (=समूलं हन्ति)। **अकृतकारं करोति शूरः** (शूर वह अद्भुत काम करता है जो दूसरों ने न किया हो)। **अकृतकारं करोतीति स्खलति** (=अकृतं करोति)=न किए हुए को करता है, अतः स्खलन करता है। **समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः** (माघ)

---

१. चेले क्नोपेः (३।४।३३)।

२. निमूल-समूलयोः कषः (३।४।३४)।

३. शुष्क-चूर्ण-रूक्षेषु पिषः (३।४।३५)।

४. समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः (३।४।३६)।

मानी लोग=शत्रुओं का समूलनाश किए बिना अभ्युदय को प्राप्त नहीं होते। **जीवग्राहं गृह्णाति** (=जीवं गृह्णाति)=जीते हुए को पकड़ता है।

करण-वाची तृतीयान्त उपपद होने पर हन् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है और हन् का ही अनुप्रयोग होता है।[१] उपपद का णमुलन्त के साथ नित्य समास होता है—**पादघातं भूमिं हन्ति** (=पादेन भूमिं हन्ति), पाँओं से भूमि को ठुकराता है। **असिघातं हन्ति पारपन्थिकः पथिकम्,** डाकू यात्री को तलवार से मारता है। **पाण्युपघातं मुखे हन्ति च्छात्रश्छात्रम्,** एक छात्र दूसरे छात्र के मुँह पर हाथ से चोट मारता है। हन् का अर्थ हिंसा=प्राणवियोग ही है ऐसा नियम नहीं। आहन् के अर्थ में भी केवल हन् का प्रयोग व्यवहारानुगुण है।

स्नेह (=जल, तैल, घृत आदि) वाची करण उपपद होने पर पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय आता है।[२] **उदपेषं पिनष्टि तण्डुलान्,** जलसम्मिश्रण द्वारा चावलों को पीसता है। यहाँ उदक के स्थान में 'उद' आदेश होता है। **घृतपेषं पिनष्टि,** घृत के सम्प्रयोग से पीसता है।

हस्तवाची करण उपपद होने पर ण्यन्त वृत् तथा ग्रह् से णमुल् होता है[3]—**हस्तग्राहं गृह्णाति दक्षिणां याजकः,** याजक दक्षिणा को हाथ से ग्रहण करता है। **हस्तवर्तं वर्तयति मोदकान् भिक्षुकेभ्यः,** भिक्षुओं को हाथ से मोदक बाँटता है। हस्तपर्यायवाची कर, पाणि आदि उपपद होने पर भी यह विधि होगी। **पाणिवर्तं विष्टरेषु वर्तयति मुनीन्नरेन्द्रः**। जिस धातु (प्रकृत में वृत्,ग्रह्) से णमुल् होता है उसी का अनुप्रयोग होता है। ऐसी व्यवस्था है।

स्व-वाची करण उपपद होने पर पुष् धातु से णमुल् होता है—**स्वपोषं पुष्णाति स्वान्=स्वेन पुष्णाति स्वान्,** ज्ञाति वर्ग को धन से पुष्ट करता है।[४] 'स्व' का अर्थ है धन, आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति। अतः **धनपोषम्, रैपोषम्, गोपोषम्, आत्मपोषम्, ज्ञातिपोषम्, पितृपोषम्** आदि णमुलन्त रूप बनेंगे।

---

१. करणे हनः (३।४।३७)।
२. स्नेहने पिषः (३।४।३८)।
३. हस्ते वर्तिग्रहोः (३।४।३९)।
४. स्वे पुषः (३।४।४०)।

अधिकरणवाची उपपद होने पर बन्ध् धातु से णमुल् प्रत्यय आता है[1]—**मुष्टिबन्धं बध्नाति स्वर्णमुद्राः**=मुष्टौ बध्नाति स्वर्णमुद्राः, मुट्ठी में स्वर्णमुद्राओं को बन्द करता है। **चारकबन्धं बध्नाति पाटच्चरान्प्रजाधिपः**, राजा चोरों को जेल में बन्द करता है।

जीव, पुरुष—इन कर्तृवाची उपपदों के होने पर क्रम से नश् और वह् से णमुल् आता है और इन्हीं धातुओं का अनुप्रयोग होता है[2]—**हृतसर्वस्वो हि जीवनाशं नश्यति** (=जीवो नश्यति), **अर्था हि मनुष्यस्य बहिश्चराः प्राणाः**, जिसका सर्वस्व लुट गया वह जीता हुआ ही नष्ट हो गया। क्योंकि धन मनुष्य का बाहिर चलता-फिरता प्राण है। **अर्थार्थिनः पुरुषवाहं वहन्ति गन्त्रीः**, धन की अपेक्षा वाले दास बनकर गाड़ियाँ खींचते हैं। **जीवनाशं नश्यति**=अतर्कितं नश्यति—ऐसा प्रक्रिया-सर्वस्वकार अर्थ करते हैं। यह कल्पना-मात्र शब्दार्थ मर्यादा से सर्वथा असमर्थित अर्थ है।

कर्तृवाची ऊर्ध्व शब्द उपपद होने पर शुष् व पूर् (दिवा०) धातुओं से णमुल् आता है[3]—**ऊर्ध्वशोषं शुष्यति वृक्षः कृमिजग्धः** कीड़ों से खाया हुआ वृक्ष खड़ा-खड़ा सूख जाता है। **ऊर्ध्वपूरं पूर्यते घटः**, ऊर्ध्वमुख घड़ा वर्षादि जल से भर जाता है।

कर्तृवाची तथा कर्मवाची उपमान उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् होता है। जिस धातु से णमुल् होगा उसी का वाक्य में अनुप्रयोग होगा[4]—**अहो मुनिप्रभावादारण्यका अपि रामाचारमाचरन्ति** (रामवदाचरन्ति)। **अभ्रविलायं विलीनं क्षणेन द्विषतामनीकम्** (=मेघ की तरह छिन भर में शत्रुओं की सेना नष्ट (=अदृष्ट हो गई)। यहाँ अभ्र कर्तृवाची उपमान है। **एते शोकाः कुकूलहुतभुग्दाहं दहन्ति मनुजान्**—ये शोक तुषानल की तरह मनुष्यों को जलाते हैं। **राजभोजं भुञ्जते स्वल्पानपि स्वान् दरिद्राः**, दरिद्र लोग राजाओं की तरह थोड़े से भी धन का उपभोग करते हैं। कर्मवाची उपमान के उदाहरण—**रत्ननिधायं निदधाति पुस्तकमुषाः** (=उषा रत्न की तरह

---

१. अधिकरणे बन्धः (३।४।४१)।
२. कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः (३।४।४३)।
३. ऊर्ध्वे शुषिपूरोः (३।४।४४)।
४. उपमाने कर्मणि च (३।४।४५)।

पुस्तक को रखती है)। **काण्डलावं लुनाति रक्षसां शिरांसि रामः** (=श्री राम सरकंडे की तरह राक्षसों के सिर काट रहे हैं)। **मृद्भेदं भिनत्ति गोपुराणि वीरः** (वीर नगर के द्वारों को मिट्टी की तरह तोड़फोड़ रहा है)। **पशुमारं मारयति**, पशु की मौत मारता है। **बन्दिग्राहं गृहीतः** (बन्दिरिव गृहीतः) **श्रीवसुदेवः कृच्छ्रेण कालमतिवाहयति कारायाम्। हा क्रूरेणानेन पशुमारं मारितोऽस्मि। त्रायस्व त्रायस्व माम्। इक्षुभञ्जं बभञ्जासौ गजभञ्जं बभञ्ज तम्।** प्रथम चरण में उपमान कर्मोपपद का उदाहरण है, द्वितीय चरण में उपमान कर्तृवचनोपपद का। यथा इक्षुर्भज्यते। यथा गजो भनक्ति।

उपपूर्वक दंश् धातु से णमुल् प्रत्यय आता है तृतीयान्त उपपद होने पर। यहाँ उपपद का णमुलन्त के साथ नित्य समास न होकर विकल्प से समास होता है—**मूलकोपदंशं मूलकेनोपदंशं संस्कृतमन्नं भुङ्क्ते**, मूली को काटकर उसके द्वारा पक्वान्न खाता है। यहाँ मूलक का उपदशन (काटना) क्रिया के साथ जो कर्मरूप से सम्बन्ध है वह आर्थिक (=अर्थलभ्य) है, भोजन क्रिया के साथ जो करण-रूप से सम्बन्ध है वह शब्दान्वय से लभ्य है। इसीलिए सीधा करण उपपद न कह कर तृतीयान्त उपपद कहा है। उपपदमतिङ् (२।२।१९) से नित्य समास प्राप्त था, तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्[1] (२।२।२१) से विकल्प होता है। ऐसा ही प्रकृत सूत्र से आगे के सूत्रों में जानें।

तृतीयान्त उपपद होने पर हिंसार्थक धातुओं से, जिनका कर्म वही हो जो अनुप्रयुक्त धातु का, णमुल् प्रत्यय आता है[2] और उपपद का णमुलन्त के साथ विकल्प से समास होता है। अनुप्रयोज्य धातु का नियम नहीं—**दण्डोपघातं दण्डेनोपघातं गाः कालयति**, डंडा मारकर (डंडे से) गऊओं को हाँकता है। **दण्डताडं दण्डेन ताडमजा उदजति** (डंडे से बकरे-बकरियों को बाड़े से बाहर निकालता है।

सप्तम्यन्त तथा तृतीयान्त उपपद होने पर उपपूर्वक पीड् (चुरा०), रुध्

---

१. उपदंशस्तृतीयायाम् (३।४।४७)।

२. इस सूत्र में 'तृतीयाप्रभृतीनि' से उपदंशस्तृतीयायाम् इस सूत्र के तृतीयान्त उपपद तथा इससे अगले सूत्रों में उपात्त तृतीयान्त उपपदों की ओर संकेत है।

३. हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम् (३।४।४८)।

(रुधादि०) तथा कृष् भ्वा० धातुओं से णमुल् प्रत्यय आता है[1]—**पार्श्वोपपीडम् पार्श्वाभ्यामुपपीडमुत्फालयति योधो योधम्**, पहलुओं से दबाकर एक पहलवान् दूसरे को उछालता है। **पार्श्वोपपीडं पार्श्वे उपपीडं घोषवतीं संविशति वासवदत्ता**, 'घोषवती' वीणा को पहलू में दबाकर वासवदत्ता सो जाती है। **व्रजोपरोधं व्रजे उपरोधं व्रजेनोपरोधं गाः स्थापयति। पाण्युपकर्षं पाणिनोपकर्षं पाणावुपकर्षं धानाः संगृह्णाति।**

सप्तम्यन्त वा तृतीयान्त उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् होता है जब समीपता की प्रतीति हो[2]—**केशग्राहं युध्यन्ते योधाः** (इतने समीप हैं कि एक दूसरे के केशों को पकड़कर लड़ते हैं)। यहाँ समास न कर **केशेषु ग्राहं, केशैर्ग्राहम्** भी कह सकते हैं।

अपादान-वाची उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् होता है जब त्वरा (जल्दी) की प्रतीति हो[3]—**चौरश्चौर इत्याक्रोशञ् शय्योत्थायं धावति गृही**= 'चोर-चोर' इस प्रकार चिल्लाता हुआ गृहस्थ एकदम शय्या से उठकर दौड़ता है।

कर्मवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर[4]—**यष्टिग्राहं युध्यन्ते परैः सहसाऽऽक्रान्ताः** (शत्रुओं के एकदम चढ़ आने से वे लाठियों (जो हाथ लगीं) से लड़ते हैं)। इसी प्रकार **लोष्टग्राहं युध्यन्ते** इत्यादि। यहाँ भी समास न कर **यष्टिं ग्राहं लोष्टं ग्राहम्** भी कह सकते हैं। इसी प्रकार **अस्यपगोरं (अस्यपगारं) युध्यन्ते** (जल्दी से तलवार उठाकर लड़ते हैं) में भी णमुल् प्रयुक्त होता है। यहाँ गुरी उद्यमने तुदा० धातु है। **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६।१।१५८) सूत्र में एकवर्जम् में भी त्वरा गम्यमान है। पद में एक उदात्त व स्वरित को छोड़ते ही अवशिष्ट भाग को अनुदात्त स्वर से उच्चारण करना होता है। उसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए। अतः यहाँ णमुल् उपपन्न ही है।

अध्रुव शरीराङ्गवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल्

---

१. सप्तम्यां चोपपीड-रुध-कर्षः (३।४।४९)।
२. समासत्तौ (३.४।५०)।
३. अपादाने परीप्सायाम् (३।४।५२)।
४. द्वितीयायां च (३।४।५३)। अपगुरो णमुलि (६।१।५३) से यहाँ विकल्प से धातु के 'उ' को 'आ' हो जाता है।

प्रत्यय होता है।[1] **अक्षिनिकाणं जल्पति** (आँख सिकोड़ कर बोलता है)। **भ्रूविक्षेपं कथयति** (भौंहों को उठा कर कहता है)। यहाँ अध्रुव उस अङ्ग को कहा है जिसके कट जाने पर प्राणी की मृत्यु नहीं होती। इसीलिए शिरस् द्वितीयान्त उपपद होने पर णमुल् नहीं होगा—**उत्क्षिप्य शिरः कथयति**, ऐसा ही कहेंगे।

पीड़ित किए गए शरीराङ्गवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् प्रत्यय होता है[2]—**उरः पेषं (उरः प्रतिपेषं) युध्यन्ते** (छाती को पीड़ित करते हुए लड़ते हैं)। इसी प्रकार **शिरःपेषं, शिरःप्रतिपेषं** भी णमुलन्त-रूप होंगे। **मूर्धपेषं नियुध्यन्ते**। समासाभाव में—**मूर्धानं पेषं नियुध्यन्ते**।

द्वितीयान्त उपपद होने पर विश्, पत्, पद्, स्कन्द्—इन धातुओं से णमुल् प्रत्यय आता है, जब व्याप्ति और आसेवा की प्रतीति होती हो।[3] पदार्थों का विश् आदि क्रियाओं के साथ साकल्येन सम्बन्ध व्याप्ति है। विश् आदि क्रियाओं की आवृत्ति आसेवा है। आसेवा अर्थ में णमुलन्त को द्विर्वचन होगा। व्याप्ति अर्थ में समासाभाव पक्ष में द्रव्यवाची शब्द को द्विर्वचन होगा। व्याप्ति के उदाहरण—**गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते** (घर-घर में प्रवेश करके बैठता है)। **गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते**। **गेहं गेहमनुप्रपादमास्ते**। **गेहं गेहमवस्कन्दमास्ते** (घर-घर पर आक्रमण कर बैठता है)। आसेवा के उदाहरण—**गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते** (घर में बार-बार प्रवेश कर बैठता है)। **गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते**। **गेहमनुप्रपादमनुप्रपादमास्ते**। **गेहमवस्कन्दमवस्कन्दमास्ते**।

समास पक्ष में व्याप्ति और आसेवा (=आवृत्ति, नित्यता=बार-बार करना) के समास से ही कहे जाने के कारण द्रव्यवाची अथवा क्रिया को द्विर्वचन नहीं होता। **गेहानुप्रवेशमास्ते** (घर-घर में प्रवेश करके अथवा घर में बार-बार प्रवेश करके बैठता है) इत्यादि उदाहरण जानें।

'क्रिया का व्यवधायक' इस अर्थ को कहने वाली अस् दिवा० फैंकना तथा तृष् दिवा० तृषित होना इन धातुओं से णमुल् होता है कालवाची

१. स्वाङ्गेऽध्रुवे (३।४।५४)।
२. परिक्लिश्यमाने च (३।४।५५)
३. विशि-पति-पदि-स्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः (३।४।५६)।

द्वितीयान्त उपपद होने पर[1]—**द्व्यहात्यासं गाः पाययति**। समासाभाव पक्ष में—**द्व्यहमत्यासम्**, दो दिन छोड़कर गऊओं को जल पिलाता है। **द्व्यहतर्षं (द्व्यहं तर्षम्) गाः पाययति**—दो दिन प्यासा रखकर गऊओं को पानी पिलाता है। यहाँ अत्यसन=कालातिक्रमण और तर्षण (प्यासा रखना) क्रियाओं से पिलाने की क्रिया व्यवहित होती है। आज पिलाकर दो दिन छोड़कर पुनः पिलाता है यह अभिप्राय है।

द्वितीयान्त नाम शब्द उपपद होने पर आङ्पूर्वक दिश् तथा ग्रह् धातुओं से णमुल् होता है[2]—**नामादेशमाचष्टे** (नाम बोलकर कहता है)। **नामग्राहमाह्वयति** (नाम लेकर बुलाता है)। णमुल् विधान किया है, क्त्वा तो प्राप्त ही था।

अव्यय उपपद होने पर अनिष्ट (=इष्ट के विपरीत) प्रकार से कहने अर्थ में कृ धातु से क्त्वा और णमुल् होते हैं[3]—**ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जाता। तत्किमित्युच्चैः कारम्** (उच्चैः कृत्वा, उच्चैः कृत्य) **ब्रवीषि वृषल। ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः। तत्किमिति नीचैः कारम्** (नीचैः कृत्वा, नीचैः कृत्य) **ब्रवीषि वृषल। अयथाऽभिप्रेताख्यान**=जैसे कहना चाहिए वैसे न कहना।

> **सर्वश्राव्यां कृष्णकथां शनैःकारं ब्रवीषि किम्।**
> **मूढ ! गूढं प्रियावाक्यमुच्चैः कृत्य ब्रवीषि किम्॥**

तिर्यच् (अव्यय) उपपद होने पर कृ धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं जब क्रियासमाप्ति गम्यमान हो[4]—**तिर्यक् कारम्** (तिर्यक् कृत्वा, तिर्यक् कृत्य) **स्वं कृत्यं सुखं निद्राति कर्मकारः।**

तस् प्रत्ययान्त स्वाङ्गवाची उपपद होने पर कृ और भू धातुओं से णमुल् और क्त्वा प्रत्यय होते हैं[5]—**स्तुतिनिन्दे पृष्ठतः कारम्** (पृष्ठतः कृत्वा, पृष्ठतः कृत्य) **स्वकर्मनिरतो भव। मधु मुखतः कारम्** (मुखतः कृत्वा, मुखतः

---

१. अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु (३।४।५७)।
२. नाम्न्यादिशि-ग्रहोः (३।४।५८)।
३. अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वा-णमुलौ (३।४।५९)।
४. तिर्यच्यपवर्गे (३।४।६०)।
५. स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः (३।४।६१)।

कृत्य) विषं च हृदि कृत्वा संव्यवहरते शठो लोकेन। गुरोर्मुखतोभावम् (मुखतो भूत्वा, मुखतोभूय) छन्दांस्यधीते शिष्यः। मुखतोभावम् = संमुख होकर।

सा मालां करतः कारं मुखतोभावमागता।
तां पत्युर्गलतःकृत्य पार्श्वतोभूय च स्थिता॥

ना नाञ् प्रत्ययान्त तथा धा, धमुञ् आदि प्रत्ययान्त च्व्यर्थ-विषयक उपपदों के होने पर कृ तथा भू से क्त्वा और णमुल् आते हैं[१]—**नानाकारं (नाना कृत्वा, नानाकृत्य) सबलानरीन् सहतेऽबलः** (जो बलवान् शत्रु पहले अपृथक्, संहत, एकीभूत थे उन्हें पृथक्-पृथक् करके दुर्बल उनपर वश पाता है। **मातुर्विनाकारं (विना कृत्वा, विनाकृत्य) शिशुकमुपपीडयति विमाता** (सौतेली मां बच्चे को माता से जुदा करके उसे दुःख देती है)। **एकं द्रव्यं नवधाकारं (नवधा कृत्वा, नवधाकृत्य) स्वरूपमाचष्टे सूत्रकारः। एकधा-भावम् (एकधा भूत्वा, एकधाभूय) प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणि सन्तिष्ठतेऽन्ते।**

तूष्णीम् (अव्यय) उपपद होने पर भू से क्त्वा और णमुल् आते हैं—**तूष्णीम्भावं (तूष्णीं भूत्वा, तूष्णींभूय) स्मरति भगवन्तं भागवतः** (चुप होकर भगवान् का भक्त उसे स्मरण करता है)।

अन्वच् (अव्यय) के उपपद होने पर तथा अनुकूलता की प्रतीति होने पर भू से क्त्वा व णमुल् आते हैं। यहाँ भी णमुल् विधानार्थ शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है, क्त्वा तो प्राप्त ही था। **गुरोरन्वग्भावम् (अन्वग्भूत्वा, अन्वग्भूय) आस्ते शुश्रूषुः शिष्यः** (पढ़ना चाहता हुआ शिष्य उपसङ्ग्रहण, अभिवादन आदि से अनुकूलता का सम्पादन कर गुरु के पास बैठता है)। अनुकूलता की अविवक्षा में णमुल् नहीं होगा, क्त्वा तो निर्बाध होगा—अन्वग्भूत्वा गुरोः स्थितः (गुरु के पीछे खड़ा हुआ)।

काटने के विषय में कॄ (बिखेरना, लिटाना) को सुट् (=स्) का आगम होता है और 'क्त्वा' के अर्थ में णमुल् प्रत्यय होता है—**उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति** = कश्मीरी पौधे को लिटाकर काटते हैं।[३]

यहाँ णमुल् विधि समाप्त हुई।

---

६. नाधार्थप्रत्यये च्व्यर्थे (३।४।६२)।
१. तूष्णीमि भुवः (३।४।६३)।
२. अन्वच्यानुलोम्ये (३।४।६४)।
३. किरतौ लवने (६।१।१४०)। णमुलत्र वक्तव्यः।

प्रयोगमाला

१. कायस्था लेखितारो भवन्ति ।

कायस्थ लोग लेख में चतुर होते हैं ।

२. स्वर्णकाराः कलां हर्तारो भवन्तीति कलादा उच्यन्ते ।

स्वर्णकार (स्वर्ण के) अंश को हर लेते हैं अतः उन्हें कलाद कहते हैं । कलामादत्ते इति कलादः ।

३. राघवाः पञ्च चूडाः कर्तारो भवन्ति ।

रघु कुल के लोग पाँच चोटियाँ रखते हैं यह उनका धर्म (=कुलाचार) है ।

४. अयं शतं दायी, न च दशकमपि विगणयति ।

इसने सौ देने हैं, पर यह दस भी नहीं चुकाता ।

५. वोढा भवान् कन्यायाः ।

आप विवाह के योग्य हैं ।

६. करभराक्रान्ता वयमर्या अपि गृहाणामनर्या इव ।

कर के भार से दबे हुए हम घरों के स्वामी होते हुए भी मानो स्वामी नहीं हैं ।

७. अस्ति मे पारिणाह्यं वाह्यं, वह्यं नास्ति ।

मुझे घर का सामान ढोना है, पर वाहन नहीं है ।

८. वञ्चयं वञ्चन्ति वणिजः । (काशिका)

वनिये गन्तव्य स्थान को जाते हैं ।

९. इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्त्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने नान्यस्मै कस्मैचन । (छां० उ० ३।११।५-६)

(पिता) ज्येष्ठ पुत्र के प्रति ब्रह्म का व्याख्यान करे अथवा निष्काम शिष्य के प्रति, और किसी के प्रति नहीं ।

१०. नापुत्त्रस्य सन्ति लोकाः शुभा इति पुत्त्रकाम्या सर्वस्य हृदि संनिविष्टा ।

पुत्रहीन के लिए स्वर्गादि शुभ लोक नहीं है अतः सबके हृदय में पुत्रेच्छा दृढ़ता से विराजमान है ।

११. वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् । (मल्लिनाथ) ।

वन्दनशील जन के लिए कल्पवृक्ष के सदृश यदुनन्दन को नमस्कार करता हूँ ।

१२. स्थण्डिलशायी ब्रह्मचारी स्थाण्डिल इत्युच्यते तद्धितवृत्त्या ।

अनावृत भूमि पर सोने के व्रत वाला ब्रह्मचारी तद्धित वृत्ति से 'स्थाण्डिल' कहाता है ।

१३. पण्य एष कम्बलः पाण्यो न भवति ।

यह बिकाऊ कम्बल स्तुत्य नहीं है ।

१४. गद्येनैव त्वया निगाद्योर्थः, न खलु पद्यरचनया मुधा क्लेशस्यात्मा पदमुपनेतव्यः ।

तुम्हें गद्यद्वारा अपनी बात कहनी चाहिए, पद्यरचना में अपने को क्लेश का भाजन न बनाइये ।

१५. भिक्षाका इमे वराकाः सर्वाह्णं भिक्षमाणा अपि किं जीवन्ति ।

ये बेचारे भिखमंगे सारा दिन भीख माँगते हुए भी बुरी तरह जीते हैं ।

१६. उपस्थायुका हि गुरुं भवन्ति विद्याभीप्सिनो विनेयाः ।

विद्या प्राप्ति चाहने वाले शिष्य गुरु की सेवा में जाते हैं ।

१७. हन्ति नोपशयस्थोपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् (माघ०) ।

घात में बैठा हुआ भी ऊँघने वाला शिकारी मृगों को नहीं मार सकता ।

१८. आक्रीडिन इमे छात्रा विद्याकणमपि न चिन्वन्ति ।

ये क्रीडाशील छात्र तिलमात्र भी विद्या ग्रहण नहीं करते ।

१९. पण्डितमानिनो वयं देवदत्तस्य । अयं भूतार्थः, नार्थवादः ।

हम देवदत्त को पण्डित समझते हैं । यह सचाई है, कोरी स्तुति नहीं ।

२०. अहो रूपवानस्मीति दर्पणे स्वं रूपं दृष्ट्वा दृप्यति जनः ।

दर्पण में अपने रूप को देखकर मैं कितना सुन्दर हूँ इस प्रकार हर कोई दर्पवान् हो जाता है ।

२१. गायका इमे बटवो न तु गायनाः, तेन स्वरतालयो र्भ्रंशमपि क्वचित् कुर्वन्ति ।

ये लड़के गाते हैं, पर गाना इनका शिल्प नहीं है, अतः कहीं-कहीं स्वर-ताल-भङ्ग भी कर देते हैं ।

२२. यदि संचर-संचारयोः खनक-खानकयोश्च विशेषं वेत्थ, नूनं शाब्दिकोऽसि ।

यदि तू संचर और संचार तथा खनक और खानक शब्दों के भेद को जानता है तो निश्चय ही तू व्याकरण जानता है ।

२३. कां कारिमकार्षीः, ननु तामेव यां भवानादिक्षत् ।

तूने कौन सा काम किया ? जी, वही जिसकी आपने आज्ञा दी थी।

२४. अजननिरेवास्तु त्वादृशानाम् अनेलमूकानाम् ।

तुम्हारे जैसे मूक तथा बधिर लोगों का जन्म न हो ।

२५. त्वरितं विचर्चिकातः कुरु, नो चेद् भीतिदोऽयमामयः परं त्वां कदर्थयति पुरा ।

शीघ्र ही पां की चिकित्सा कर, नहीं तो यह भयानक रोग तुझे अत्यन्त तंग करेगा ।

२६. अयं तैलोदङ्कश्चार्मणः, अयम् उदकोदञ्चनश्च लौहः ।

यह तेल का कुप्पा चर्म्म का बना हुआ है, यह पानी निकालने का डोल लोहे का है ।

२७. मृगचर्म्मरचिते व्यजने केचिद् धवित्रमिति पठन्ति, परे धुवित्रमिति। कतरत् साधु पश्यसि ।

मृग चर्म से बने हुए पंखे के लिए कई लोग 'धवित्र' ऐसा पढ़ते हैं, दूसरे 'धुवित्र' ऐसा । कौन सा ठीक समझते हो ?

२८. अभिज्ञा वयं पृथग्जनकृतानां कदर्थनानाम् ।

हमें नीचों से की गई पीड़ाओं का अनुभव है ।

२९. आशितम्भवं वर्तते, सम्प्रति नेच्छामोऽभ्यधिकमशितुम् ।

तृप्ति हो गई है, अतः हम और खाना नहीं चाहते ।

३०. नक्तं प्रकाशेऽवकाशे शयितोहम् अवश्यायपातेन प्रतिशीनः समजनिषि ।

रात खुली जगह सोया, ओस पड़ने से मुझे जुकाम हो गया ।

३१. अवहरति नीचैः कर्षति (अभ्यवहरति वा) इति ग्राहोऽवहार इत्युच्यते ।

नीचे की ओर खींच लेता है अथवा निगल जाता है, इस से 'अवहार' ग्राह का नाम है ।

३२. अपक्रान्तेषु मौहम्मदेषु दृतिहारा विरलतां गताः ।

मुसलमानों के चले जाने पर माशकियों की कमी हो गई है ।

३३. सम्प्रत्यावेशनेषु वैद्युतेनालोकेन दिवामन्या रात्रयः, सम्बाधस्थितेषु क्वचिद् गेहेषु च रात्रिम्मन्यान्यहानि ।

आजकल कारखानों में बिजली के प्रकाश से रातें दिन सी हो गई हैं और कहीं तंग रास्तों में स्थित घरों में दिन रातें बन गई हैं ।

३४. इह देशे विद्यास्नातकाः क्षुधा सीदन्तीति ऋतिकरो व्यतिकरः ।

इस देश में विद्या पूर्ण करके स्नान किए हुए (=समावृत्त) ब्रह्मचारी भूख से तंग हैं यह दुःखद घटना है ।

३५. कियानस्यागारस्य विस्तारः, कियान् आयामः, कियांश्चोच्छ्रायः ?

इस कमरे की कितनी चौड़ाई है, कितनी लम्बाई और कितनी ऊँचाई है ?

३६. यो हि राजानं राज्येन विना करोति सोऽपि राजघः, न तु यस्तं केवलं प्राणैर्वियुङ्क्ते ।

जो राजा का राज्य छीन लेता है वह भी 'राजघ' कहलाता है, न कि केवल वह जो उसे प्राणों से वञ्चित करता है ।

३७. मातृकाग्रन्थगतानां दोषाणां लेखका न प्रतिभुवः ।

मूल-भूत आदर्श हस्तलेखों के दोषों के लिए लेखक (प्रतिलिपि करने वाले) उत्तरदायी नहीं ।

३८. गत्वर्यः सम्पद इत्वर्य इव कुलात् कुलमटन्ति ।

चलस्वभाव सम्पदाएँ स्वैरिणियों की तरह एक कुल से दूसरे कुल को फिरती हैं ।

३९. असंनिहिते विनेतरि विनेयाः सांराविणं कुर्वते ।

अध्यापक के अनुपस्थित होने पर शिष्य खूब शोर मचाते हैं ।

४०. पयःपानं यथा सुखं भवति शरीरस्य न तथौदनभोजनम् ।

दूध पीना जैसे (पीने वाले के) शरीर को सुख देता है वैसे भात खाना नहीं ।

४१. अहो बत महत्कष्टम् ! अध्यापका अपि स्वं कृत्यं न जानते किमुताध्यायकाः ।

आश्चर्य है, बड़े दुःख की बात है अध्यापक भी अपने कर्तव्य को नहीं पहचानते, छात्र तो बिल्कुल भी नहीं ।

४२. प्रक्रान्ताऽसि शुभानां क्रियाणामित्युदितमयेन ते ।

तुम शुभ कर्मों को प्रारम्भ कर रहे हो, इससे (हम जानते हैं) कि तुम्हारा भाग्योदय हो गया है ।

४३. वर एष वदावदानाम् ! दूराद् विदूराच्च संनिपतन्ति लोका एनं सोत्सुकं श्रोतुम् ।

यह वक्ताओं में उत्तम है । इसे चाह से सुनने के लिए लोग दूर-दूर से इकट्ठे होते हैं ।

४४. लवका इमे सस्यानाम् । इमे तु यथा तथा लुनन्तीति लावकाः ।

ये खेती को अच्छे ढंग से काटते हैं, ये तो जैसे तैसे काटते हैं, अतः 'लावक' हैं ।

४५. य इच्छेत् प्रियोऽहं लोकस्य स्यामिति स शब्दाञ्शीलयेत्साधीयश्च तान् व्यवहरेत् । प्रियङ्करणो हि शब्दप्रयोगः ।

जो चाहता है कि मैं लोगों का प्यारा बनूँ उसे साधु शब्दों का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि शब्द प्रयोग प्यारा बनाता है ।

४६. दुरुक्तानि बीभत्सानि वचनान्यरुष्कराणि भवन्ति ।

घृणित अपशब्द कहे हुए घाव कर देते हैं ।

४७. वातमजोऽयं मृगो न शक्यः सहेलमासादयितुम् ।

वायुवेग से अधिक वेग वाले इस मृग को सहज में नहीं पकड़ सकते ।

४८. लेखकस्यैते प्रमादा न प्रणायकस्य । न हि व्युत्पत्तिमति ग्रन्थप्रणेतर्यिमे संभाव्यन्ते ।

ये प्रमाद लिपिकर के हैं, व्युत्पन्न ग्रन्थकार से इनकी संभावना नहीं ।

४९. निर्वातो वात इति घर्मेण प्रस्विन्नगात्रा न निर्वृण्मः ।

हवा बन्द हो गई है, अतः घाम के कारण अंगों से पसीना बहने से हमें चैन नहीं ।

५०. किं श्रृतं क्षीरेण ? अङ्ग श्राति पयः ।

क्या दूध पक गया है । श्रीमान्, दूध पक रहा है ।

५१. आद्यूनोऽयं केन हेतुना परिद्यूनः । मन्येऽरोचकेन प्रवाहिकया वा ।

यह पेटू किस हेतु क्षीण हो गया है । मेरा विचार है अजीर्णरोग से अथवा ग्रहणी से ।

५२. कोऽस्य रथस्य प्रवेता ? आर्य, अहमस्मि प्राजिता ।

इस रथ का सारथि कौन है । आर्य मैं (इसका) सारथि हूँ ।

५३. व्युष्टा रजनीति प्रस्थेयं नः ।

प्रभात हो गई है, अतः हमें चलना चाहिए ।

५४. देवाश्चासुराश्च संयत्ता आसन् ।

देवता और असुरों में परस्पर संघर्ष था ।

५५. अभ्यान्तो नामांऽनीश्वर ईश्वरमप्युपस्थातुम् ।

जो बीमार है वह ईश्वरोपासना में भी असमर्थ है ।

५६. अभ्रविलिप्ती द्यौः, नाचिरेण भविष्यन्तीं वृष्टिं सम्भावयामः ।

आकाश में पतले से बादल का लेप है, निकट भविष्य में वर्षा की सम्भावना नहीं है ।

५७. घनाघनैराच्छन्नं नभः, आसीदति वर्षम् ।

बरसने वाले बादलों से आकाश घिर गया है । वृष्टि आ रही है ।

५८. ग्लास्नुरयं गौः क्रमितुमपि नालं किमुत वोढुम् ।

रोग से क्षीण हुआ यह बैल चलने में भी असमर्थ है भार वहन तो दूर रहा ।

५९. समासन्ने विपत्तिकाले हितमुपदेशं निराकृष्णवो भवन्ति लोकाः ।

विपत्तिकाल के समीप होने पर हितवचन को भी लोग निराकृत कर देते हैं ।

६०. श्रेय आशंसवो भवन्ति भव्याः ।

होनहार कल्याण की इच्छा किया करते हैं ।

६१. द्वये ब्राह्मणा बभूवुः शालीनाश्च यायावराश्च ।

दो प्रकार के ब्राह्मण होते थे एक घर बनाकर रहते थे दूसरे विना घर इधर-उधर घूमते रहते थे ।

६२. एष वृषलो लुब्धः शीतेन । प्रावृण्वेनम् ।

यह शूद्र शीत से सिकुड़ रहा है, इसे कम्बल से ढाँप दो ।

६३. येऽर्थार्थिनः शिक्षकाः शिष्यगृहानटन्ति शिक्षयितुं त उपाध्यायव्यपदेशं नार्हन्ति ।

जो शिक्षक धन की इच्छा से शिष्यों को पढ़ाने के लिए घर-घर घूमते हैं वे उपाध्याय कहलाने के योग्य नहीं हैं ।

६४. प्रदेश-प्रादेशशब्दयोः समानव्युत्पत्तिकयोरपि कोऽथ विशेष इति चेद्वेत्थ नूनं व्यवहारविशारदोसि ।

प्रदेश और प्रादेश शब्द जो एक ही कृत्प्रत्यय से व्युत्पन्न होते हैं, के अर्थों में क्या भेद है, यदि तू जानता है, निश्चित ही व्यवहार कुशल है ।

६५. उत्कटा इमे दोषा न शक्याः प्रोर्णुवितुम् ।

ये उत्कट दोष छिपाए नहीं जा सकते ।

६६. शिशो नोद्विजितुमर्हसि एषाऽऽयाति तेऽम्बा ।

हे वत्स, घबराइये मत, अभी तेरी माँ आ रही है ।

६७. गहना इमेऽर्था न शक्याः सहसाऽध्यवसातुम् ।

ये गम्भीर बातें हैं, इन्हें एकदम निश्चित जानना कठिन है ।

६८. तं तमर्थमभ्युह्य मनीषया नन्दन्त्यन्तर्मुनीश्वराः ।

उस-उस अर्थ को बुद्धि से बूझ करके मुनीश्वर लोग मन में प्रसन्न होते हैं ।

६९. अलं व्युद्य । खलु संरभ्य ।

झगड़ा न कीजिए । क्रुद्ध न हूजिये ।

७०. शास्त्रेष्वधीतिनोप्यत्र प्रमाद्यन्ति किम्पुनः प्राधीताः ।

शास्त्र पढ़े हुए (विद्वान्) भी इसमें प्रमाद करते हैं, जिन्होंने अभी अध्ययन प्रारम्भ किया है, उनका तो क्या कहना ।

७१. यो वाचां शिष्टजुष्टः प्रकारस्तमनुशिष्याः शिष्याः ।

वाणी का जो शिष्टों से सेवित प्रकार है, उसे शिष्यों को सिखाना चाहिए ।

७२. कण्डूया वपनादपैति शिरसः ।

सिर की खुजली मुण्डन से दूर हो जाती है ।

७३. न खलु सम्पदि हर्षणीयं प्रज्ञेन न विषदनीयं व्यापदि ।

बुद्धिमान् को सम्पत्ति में हर्ष नहीं करना चाहिए, और विपत्ति में शोक नहीं करना चाहिए ।

७४. उपचार्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः (मनु० ५।१५४) ।

सती स्त्री को पति की देवता की तरह नित्य सेवा करनी चाहिए ।

७५. यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ॥ (भा० ६।६८५१)

जब पापी को कोई रोकने वाला नहीं मिलता तब बहुत से लोग पाप कर्मों में स्थिरतया प्रवृत्त हो जाते हैं ।

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः (३।४।१) यह विधिसूत्र है । धात्वर्थों के परस्पर-सम्बन्ध = विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध में धात्वधिकार-विहित (और

अधात्वधिकार-विहित भी) प्रत्यय जिस कालविशेष में विधान किए गए हैं उससे भिन्न काल में भी साधु होते हैं—यह सूत्रार्थ है। सूत्रकार ने किन्हीं कृत्-प्रत्ययों को तथा तद्धित-प्रत्ययों को काल-विशेष में विधान किया है। कृत्-प्रकरण में निष्ठा-प्रत्यय (क्त, क्तवतु), करणे यजः (३।२।८५) से विहित णिनि, कर्मणि हनः (३।२।८६) से विहित णिनि—ये सब भूतकाल के विषय में विधान किए हैं, पर **गतो वनं श्वो भवितेति रामः, भुक्तवानस्मि, पितृव्यघाती तस्य पुत्त्रो जनिता, अग्निष्टोमयाज्यस्य पुत्त्रो जनिता**—में ये भविष्यत् काल के बोधक हैं। राम कल वन में पहुँच जाएगा, मैंने खाना खा लिया है, उसके पुत्त्र उत्पन्न होगा जो चचा को मारेगा, इसके ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा जो अग्निष्टोम याग करेगा। शतृ, शानच् लट् का आदेश होने से वर्तमान काल के बोधक हैं, और लृट् के स्थान में विकल्प से होने से भविष्यत् काल के, पर **वसन्ददर्श, योत्स्यमानो जगाम, निवेदयिष्यतो मनो न विव्यथे**—यहाँ भूतकाल के बोधक हैं। 'भाविन्' यह उणादि प्रत्यय णिनि से निष्पन्न होता है और भविष्यत् काल में ही प्रयुक्त होता है। पर **भावि कृत्यमासीत्**, होने वाला कृत्य था, यहाँ भूतकाल का वाचक हो गया है। कृदभिहितभाव विशेषण है और तिङभिहित भाव विशेष्य है। विशेषण गुणीभूत होने से विशेष्य के काल का अनुसरण करता है।

तद्धित-प्रत्ययों में भी ऐसा साधुत्व होता है। मतुप् वर्तमान काल में विहित है। **गावः सन्त्यस्येति गोमान्**, जिसके पास बहुत-सी गौएँ हैं वह गोमान् कहलाता है। जिसके पास गौएँ थीं अथवा जिसके पास गौएँ होंगी उसे गोमान् नहीं कह सकते। पर **देवदत्तो गोमानासीत्**—यहाँ मतुप् 'आसीत्' क्रिया के अनुरोध से भूत काल का बोध कराता हुआ भी साधु है, निर्दोष है। **द्वारे नियुक्तः=दौवारिकः**, जो द्वार पर नियुक्त किया गया है, अर्थात् द्वार-पाल। यहाँ भूतकाल में ठक् विधान किया है। पर **दौवारिकः सम्पत्स्यते योग्यत्वात्**, योग्य होने से दौवारिक बनेगा—इसमें **'द्वारे नियोक्ष्यते'** अर्थ में ठक् भविष्यत्काल का वाचक हो गया है। इसमें तिङ्वाच्य भविष्यत्कालिकी क्रिया 'सम्पत्स्यते' के साथ सम्बन्ध ही कारण है।

उत्सर्गापवाद की बाध्य-बाधक-भावव्यवस्था

सामान्य विधि को उत्सर्ग कहते हैं और विशेष विधि को अपवाद। विशेष सामान्य का बाधक होता है। और यही न्याय्य है। सामान्य विधि

विशेष विधि के विषय को छोड़कर अन्यत्र प्रवृत्त होती है। इतने से ही उसकी चरितार्थता है। अर्थात् अपवाद उत्सर्ग के विषय का संकोच करता है। लोक में भी यह न्याय देखा जाता है—ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय, ब्राह्मणों को (ब्राह्मणमात्र को) दही दिया जाय और कुण्डिन-गोत्रज ब्राह्मण को तक्र (मठा, दिया जाए, ऐसा कहने पर सामान्य-विधि से प्राप्त दधि-दान विशेष विहित तक्रदान से बाधित हो जाता है। कौण्डिन्य ब्राह्मण को दही नहीं दिया जाता, तक्र ही दिया जाता है। शास्त्र में कर्मण्यण्, कर्म (मात्र) उपपद होने पर धातु (मात्र) से अण् होता है, यह सामान्य विधि है, उत्सर्ग है। आतोऽनुपसर्गे कः, आकारान्त धातु से, जब उससे पूर्व उपसर्ग का प्रयोग न हो, कर्म (मात्र) के उपपद होने पर 'क' प्रत्यय आता है, यह विशेष विधि है, अपवाद है। **कुम्भं करोतीति कुम्भकारः** (अण्)। पर गां ददातीति गोदः (क)। यहाँ 'क' के विषय में अण् नहीं हो सकता। यदि हो जाय, तो 'क'—विधान अनर्थक हो जाय और 'गोदाय' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त हो जाय। अतः अपवाद उत्सर्ग को नित्य बाधता है।

पर कृत् प्रकरण के प्रारम्भ में सूत्रकार वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४) यह सूत्र पढ़ते हैं जो परिभाषा मानी जाती है। इसका अर्थ है—इस धात्व-धिकार में असमान-रूप विशेष-विहित अपवाद रूप कृत् प्रत्यय सामान्य-विहित उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है। नित्य नहीं। हाँ स्त्र्यधिकार-विहित क्तिन् आदि प्रत्ययों में तो यथाप्राप्त नित्य ही बाधक होता है। ण्वुल्तृचौ—यह उत्सर्ग है। धातुमात्र से कर्ता में ण्वुल् तथा तृच् प्रत्यय होते हैं—विक्षेप्ता। विक्षेपकः। इगुपध धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है, यह अपवाद है—विक्षिपः। अपवाद 'क' उत्सर्ग ण्वुल्, तृच् के साथ समान-रूप नहीं, अतः अपवाद उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है, अर्थात् अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति पक्ष में होती है। असमान-रूप वह समझा जाता है जो अनुबन्ध के चले जाने पर असमान-रूप रहे, अनु-बन्धों से जो अस-मान-रूपता सम्पन्न होती है वह नहीं ली जाती। कर्मण्यण्। यहाँ अनुबन्ध-रहित प्रत्यय 'अ' है। आतोऽनुपसर्गे कः। यहाँ भी अनुबन्ध रहित प्रत्यय 'अ' है। सानुबन्ध प्रत्यय यद्यपि असमान-रूप हैं, निरनुबन्धक तो समानरूप ही हैं। अतः 'क' अण् को नित्य ही बाधेगा।

स्त्र्यधिकार-विहित प्रत्ययों में उत्सर्गापवादों का नित्य बाध्य बाधक-भाव बना रहता है। धातुमात्र से स्त्रीत्व विषय में भाव आदि को कहने के लिए

क्तिन् प्रत्यय आता है। यह उत्सर्ग है। स्त्रीत्वविषय में प्रत्ययान्त धातु से भाव आदि को कहने के लिए 'अ' प्रत्यय आता है। यह अपवाद है। **जिहीर्षा** (अ-प्रत्यय)। यहाँ क्तिन् नहीं कर सकते। यक्-प्रत्ययान्त 'कण्डूय' से 'अ' प्रत्यय करके **कण्डूया** रूप ही शुद्ध होगा। जागृ से 'श' और 'अ' का विशेष विधान है, जिससे भाव में **जागर्या, जागरा**—ये दो रूप बनते हैं। सामान्य-विहित क्तिन् करके 'जागर्ति' नहीं बना सकते और अन्याय्य गुणाभाव-सहित जागृति भी नहीं।

वाऽसरूप-प्रतिषेध स्त्र्यधिकार में भी तभी होता है जब उत्सर्ग और अपवाद दोनों स्त्रीप्रकरणस्थ हों। अतः स्त्रीप्रकरणस्थ ण्यासश्रन्थो युच् (३।३।१०७) से विशेष-विहित युच् के साथ स्त्र्यधिकार से बहिर्भूत ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से सामान्य-विहित ण्यत् का समावेश निर्बाध होगा—**आसना। आस्या।**

स्त्र्यधिकार से उत्तर क्त, ल्युट्, तुमुन्, खलर्थ प्रत्यय—इन प्रत्ययों में वाऽसरूपविधि नहीं होती। यह भी प्रायिक है। कालसमयवेलासु तुमुन् (३।३।१६७)। कालो भोक्तुम्। ल्युट् भी होता है—कालो भोजनस्य।

ताच्छीलिक प्रत्ययों में परस्पर वाऽसरूपविधि नहीं होती, यह वचन भी प्रायिक है। सामान्य-विहित तृन् विशेष-विहित इष्णुच् (इष्णु) के विषय में नहीं हो सकता। अलंकरिष्णु के साथ-साथ तृन् करके अलंकर्ता नहीं कह सकते। पर चलनार्थ धातु तथा अनुदात्तेत् हलादि धातु से सामान्य विहित युच् विशेष-विहित 'र' के विषय में भी हो जाता है, अर्थात् दोनों का बराबर प्रयोग मिलता है—**कम्पना शाखा** (युच्)। **कम्प्रा शाखा**(र)। **कमना युवतिः। कम्रा युवतिः।** सामान्य-विहित युच् वौ कषलसकत्थस्रम्भः (३।२।१४३) से विशेष विहित घिनुण् के विषय में भी होता है—विकत्थनः। विकत्थी।

कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते

सिद्धावस्थापन्न भाव कृत् प्रत्यय से कहा जाता है (साध्यावस्थापन्न भाव तिङ् से), अतः द्रव्यवाचक शब्दों की तरह भाव-कृदन्तों का भी लिङ्गसंख्या से योग होता है। यही 'द्रव्यवत् प्रकाशते' इस वचन का अर्थ है। त्यागः। त्यागौ। त्यागाः। रागः। रागौ। रागाः। पाकः। पाकौ। पाकाः।

उणादि प्रत्यय

पञ्चपादी उणादि सूत्र अष्टाध्यायी से बहिर्भूत हैं। सर्वप्रथम सूत्र 'कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूम्य उण्' में उण् प्रत्यय का विधान होने से ये सूत्र उणादि कहलाते हैं। ये शाकटायनमुनिप्रणीत हैं ऐसी वैयाकरण-निकाय में प्रसिद्धि है। भगवान् सूत्रकार पाणिनि इनकी सत्ता को स्वीकार करते हैं। आचार्य उणादि प्रत्ययों के आश्रित इडागम-निषेध, ह्रस्वादि कार्य विधान करते हैं। इट्-निषेध-विधायक सूत्र तितुत्रतथसिसुसरकसेषु (७।२।९) में ति, त्र को छोड़कर सभी उणादि प्रत्यय हैं। ह्रस्वविधायक सूत्र इस्मन्त्रन्क्विषु च (६।४।९७) में सभी उणादि प्रत्यय हैं। हाँ क्विप् अष्टाध्यायीस्थ भी है। इतना ही नहीं, इनके विषय में कुछ विशेष कथन भी करते हैं। इनका कहना है कि उणादि प्रत्यय वर्तमान काल में तथा संज्ञाविषय में बहुलतया होते हैं।[1] अर्थात् जिस-जिस प्रकृति को लेकर विधान किये गये हैं उस-उससे अन्यत्र भी देखे जाते हैं, भूत[2] और भविष्यत् में भी होते हैं[3] और असंज्ञा में भी। जो प्रत्यय विधान नहीं भी किये गये वे भी शब्दान्वाख्यान के लिये स्वयम् कल्पित किए जाते हैं। कृत्-प्रत्यय होने से इन्हें कर्तृ कारक में ही आना चाहिए था, पर ये अन्य कारकों के अर्थ को कहने के लिए भी आते हैं। 'भीम' आदि शब्दों में अपादान कारक में ही मक् आदि उणादि प्रत्यय आते हैं।[4] 'दाश' तथा 'गोघ्न' शब्दों में सम्प्रदान में ही प्रत्यय होते हैं।[5] अन्यत्र अपादान में तथा सम्प्रदान में न होकर शेष कर्मादि कारकों में आते हैं।[6]

उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को व्युत्पन्न (धातुज) माना जाता है और अव्युत्पन्न भी। ये दोनों पक्ष पाणिनीय लोगों को अभिमत हैं। कुछेक उणाद्यन्त तो निःसन्देह व्युत्पन्न कहे जा सकते हैं, जहाँ धात्वर्थ प्रत्यय-सहकार से वाच्यार्थ में अन्वित होता है, जैसे **करोतीति कारुः**, करने वाला, शिल्पी। कृ—उण्। **गृणातीति गुरुः**। गॄ—कु। **बिभेत्यस्माद् इति भीमः**।

---

१. उणादयो बहुलम् (३।३।१)।
२. भूतेपि दृश्यन्ते (३।३।२)।
३. भविष्यति गम्यादयः (३।३।३)।
४. भीमादयोऽपादाने (३।४।७४)।
५. दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (३।४।७३)।
६. ताभ्यामन्यत्रोणादयः (३।४।७५)।

भी—मक् । **स्खलत्यस्माद् इति खलतिः** । स्खल्—अति । वातीति वायुः । उण् । युक् आगम । **पातीति पायुः**, गुदा । **शतधा द्रवतीति शतद्रुः**, सतलुज नदी । कु प्रत्यय, जिसे डित् माना जाता है । **परं शृणातीति परशुः** । कु । **आखनतीति आखुः**, चूहा । कू, डित् । **कृणत्ति वेष्टयति अनेन इति तर्कुः** (कातने का साधन) । यहाँ आद्यन्तविपर्यय (आदि क् के स्थान में अन्त का त्, तथा अन्त्य त् के स्थान में आदि क्) भी हुआ है । **शृणातीति शरुः**, बाण । उ । **सृजन्त्येताम् इति रज्जुः** । उ प्रत्यय । यहाँ कर्म में प्रत्यय हुआ है—इत्यादि में धात्वर्थ का वाच्यार्थ में अन्वय है । पर सैंकड़ों ऐसे उणादि हैं जहाँ अर्थान्वय कुछ भी नहीं । वहाँ ज्यों-त्यों प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा शब्द-स्वरूप की निष्पत्ति के प्रदर्शन मात्र में यत्न है । ऐसा क्यों किया गया है ? इसलिए कि शाकटायनादि वैयाकरण सभी नामों को धातुज मानते हैं । ये किस तरह धातुज हैं यह दिखाने के लिए उणादि सूत्रों की निर्मिति हुई है । हस् हंसना से 'तन्' प्रत्यय करके 'हस्त' शब्द की सिद्धि की जाती है, पर हस्त (हाथ) में हंसना क्रिया की कुछ मी संगति नहीं । ऐसे ही पोत (समुद्र-यान) में भी पूञ् धातु के अर्थ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं । नम् धातु से डट् प्रत्यय करके 'नट' शब्द बनाया जाता है, पर नमन झुकना क्रिया का कोई विशिष्ट सम्बन्ध नट वाच्यार्थ के साथ नहीं । वस्तुतः नट अवस्यन्दने से अच् प्रत्यय करके रूपसिद्धि सुलभ है और अर्थ संगति भी । परुष (=कर्कश, रूक्ष, रूखा, सख्त) शब्द पॄ पालनपूरणयोः से उषच् प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है, अर्थ की संगति की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया । वस्तुतः परुस् (नपुं० गाँठ), से अर्श-आदि अच् प्रत्यय करके सहज में ही परुष शब्द सिद्ध हो जाता है और अर्थ भी संगत हो जाता है । परुष=गठीला अत एव खुरदरा । मञ्जूषा शब्द मस्ज् (डुबकी लगाना, नीचे जाना, स्नान करना आदि) से कल्पित किया जाता है । यहाँ धात्वर्थ की कुछ भी संगति नहीं । चरितं तदिति चर्म । भूतकाल में मनिन् प्रत्यय । यहाँ धात्वर्थ का वाच्यार्थ में कुछ भी अन्वय नहीं । त्यद्, तद्, यद्—इन्हें त्यज्, तन्, यज् धातुओं से आदि (अद्) प्रत्यय करके बनाया गया है । यह भी कोरी अनर्थक कल्पना है । ऐसे ही रश्मि शब्द की व्युत्पत्ति में अशूङ् धातु को रश् आदेश की कल्पना निराधार है ।

इतना होने पर भी उणादि उपादेय हैं । सैंकड़ों प्रसिद्ध लौकिक व वैदिक शब्द जिनका अनुशासन अष्टाध्यायी में नहीं पाया जाता है, पर जिनके अनुशासन को जानना इष्ट है, जिसके बिना बोध की परिपूर्णता नहीं होती,

उणादि सूत्रों द्वारा ही व्युत्पन्न होते हैं। गो शब्द कितना प्रसिद्ध है। लोक तथा वेद में इसके अनेकार्थ देखे जाते हैं। इसकी व्युत्पत्ति भी अष्टाध्यायी में नहीं है। इसी तरह प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाले स्त्री, पाणि, अस्त्र, वस्त्र आदि शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए हमें उणादि सूत्रों का आश्रय लेना पड़ता है। अतः हम यहाँ पञ्चपादी उणादि सूत्रों में से प्रसिद्धतम अतीवोपयोगी सूत्रों को सोदाहरण संगृहीत करते हैं—व्याकरणस्य कात्स्र्न्याय।

अथ प्रथमः पादः

उण् (उ)—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध्, अश् (स्वादि०) से उण् प्रत्यय आता है। **करोतीति कारुः।** शिल्पी अथवा करने वाले को कहते हैं। **वातीति वायुः। पातीति पायुः** (गुदा)। प्रत्यय के णित् होने से युक् आगम। असंज्ञा में भी अर्थात् शुद्ध यौगिक रूप में भी 'पा' से यह प्रत्यय होता है—**ये पायवो मामतेयं तेऽग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्** (ऋ० १।१४७।३)। जयत्यभिभवति रोगान् जायुः, औषध। **मिनोति प्रक्षिपति ऊष्माणं देहे इति** मायुः, पित्त। स्वदते इति स्वादुः। **साध्नोति परकार्यमिति साधुः। अश्नुते** इति आशु। शीघ्र। आशु अनव्यय भी है—आशुरश्वः, तेज चलने वाला घोड़ा। आशु (पुं०) व्रीहि को भी कहते हैं। **गां मिमीते इति गोमायुः।** (शृगाल)। बहुल ग्रहण से रह् से **राहुः** और वस् से **वासुः। वसति सर्वत्रेति वासुः।** वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः।

ञुण् (उ)—दॄ—**दारु। दीर्यते इति।** काष्ठ। सन्—**सानु** (पुं०, स्त्री०)। पर्वत के ऊपर की समतल भूमि। जन्—**जानु** (पुं०, न०)। चर्—**चारु। चरति गच्छति प्रविशति मन इति।** सुन्दर। चट्—**चाटु**, प्रिय वचन, प्रिय वचन बोलने वाला। **किं शृणातीति किंशारुः**, सस्य-शूक। किम् उपपद रहते शॄ से ञुण्। **जरामेति जरायुः** (गर्भाशय)। जरा उपपद होने पर इण् धातु से ञुण्।

उ—भृ—**भरति बिभर्ति वा भरुः**, हरि, हर। मृ—**म्रियन्तेऽत्रेति मरुः**, धन्व-देश। शीङ्—**शेते इति शयुः**, अजगर। तॄ—**तरु** (पुं०)। **तरन्ति नरक**मनेन रोपकाः। चर्—**चरन्ति भक्षयन्ति देवता इमम् इति चरुः।** त्सर् (छिपकर चलना)—**त्सरुः** (पुं०), खड्गमुष्टि। तन्—**तनु**, स्वल्प। शरीर अर्थ में स्त्री०। धन्—**धनु** (उकारान्त), धनुष् पर्याय। मस्ज्—**मद्गु**, जलचर विशेष, जो पानी में डुबकी लगाता है। शॄ—**शृणातीति शरुः**, बाण, वज्र। स्वॄ—**स्वर्यन्ते उपतप्यन्तेऽनेन प्राणाः स्वरुः**, वज्र। त्रप। **त्रपते इति त्रपु** (नपुं०),

रांग। यह मानो अग्नि को देख कर लज्जाती है। त्रपते का अर्थ है 'लज्जाता है।' रांग का पिघलना ही लज्जाना है। अस्—**अस्यन्ति क्षिपन्ति शरीरमित्यसवः,** प्राण। असु पुंल्लिग बहुवचन में प्रयुक्त होता है। हन्—**हनु**। जबड़ा। हनु पुं० और स्त्री० दोनों में प्रयुक्त होता है। बन्ध्—**बन्धु**। **स्नेहेन बध्नातीति।** मन्—**मन्यते जानाति मनुः**। स्कन्द्—**कन्दु**, तन्दूर। कन्दु पुं० स्त्री०। **स्कन्दति शोषयति इति कन्दुः**। स् का लोप। **सृजन्त्येनाम् इति रज्जुः**। सृज् के स् का लोप और ऋ से अम् आगम। कृती (कृत्) वेष्टन, लपेटना—**तर्कु**, तकला। **कृणत्ति वेष्टयति अनेन इति तर्कुः**, कर्तन-साधन। यहाँ वर्णों का आद्यन्त विपर्यय होता है। जैसे हिंस् से व्युत्पन्न सिंह शब्द में।

पॄ—**पृणातीति पुरुः**, राजर्षि का नाम। व्यध्—**विरहिणं विध्यतीति विधुः**, चन्द्र। कित् होने से सम्प्रसारण। गृध्—**गृधु**, काम। धृष्—**धृषु**, दक्ष, धृष्णु। कृ—**करोतीति कुरुः**, राजा का नाम। गॄ—**गृणाति उपदिशति इति गुरुः**। यहाँ ऋ को उ (रपर=उर्) भी होता है। अप, दुस्, सु उपपद होने पर स्था से कु—**अपष्ठु**, प्रतिकूल। **दुष्ठु**। **सुष्ठु**। यहाँ सुषामादि गण में पाठ मानने से स्था के स् को मूर्धन्यादेश हुआ है।

अर्ज्—**अर्जयति गुणान् इति ऋजुः**। यहाँ धातु को ऋज् आदेश भी होता है। दृश्—**सर्वानविशेषेण पश्यतीति पशुः**। यहाँ दृश् को पश् आदेश होता है। पशि सौत्र धातु नाश करना अर्थ में पढ़ी है इससे **पांशु** (पुं०), धूलि।

प्रथ्, म्रद्, भ्रस्ज्—इन्हें सम्प्रसारण भी होता है। भ्रस्ज् के स् का लोप भी। प्रथ्—**पृथु**। म्रद्—**मृदु**। भ्रस्ज्—**भृगु**। यहाँ न्यङ्कु आदि गण में पाठ स्वीकार करके कुत्व भी होता है।

आङ् पूर्वक खन्, शॄ से परे कु प्रत्यय डित् माना गया है। डित् होने से प्रकृति के टि का लोप हो जाता है। **आखु**, मूषक। **परं शृणातीति परशुः**, शत्रुओं को नष्ट करने वाला, परसा, कुल्हाड़ा।

हरिभिर्द्रूयते हरिद्रुः=वृक्ष। हरि=वानर। द्रु गत्यर्थक है। **मितं द्रवति इति मितद्रुः**, समुद्र। **शतधा द्रवति इति शतद्रुः**, नदी विशेष, सतलुज।

मृगयु आदि कुप्रत्ययान्त निपातन किए हैं। **मृगं याति इति मृगयुः**, व्याध। 'आतो लोप इटि च' से 'आ' का लोप हो जाता है। मित्रयु, लोक-यात्रा को जानने वाला। मृगयु आदि आकृतिगण है।

उरच् (उर) मन्दन्ते नन्दन्त्यत्र इति मन्दुरा, वाजिशाला, घुड़साल। वाश्—**वाशुरा**। **वाश्यन्ते शब्दायन्तेऽस्याम् इति वाशुरा**, रात। वाशुर गधे

को कहते हैं ऐसा कुछ लोग मानते हैं। **मथतीति मथुरा।** चत् (माँगना)—**चतति चतते वा चतुरः।** **चङ्कुरो रथः।** चङ्क् सौत्र धातु है। अकि—**अङ्कुर** (पुं०), नई कोंपल।

मद्गुर आदि शब्द उरच् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। **मद्गुर** एक प्रकार का मत्स्य। कवृ—**कर्बुर**, रंगबिरंगा। वन्ध्—**बन्धुर**, नम्र, उन्नतानत, सुन्दर।

किरच् (इर)—इष्—**इषिर**, अग्नि। **इषिरोऽभिवातु वातः** इस ऋग्वर्ण में इषिर का अर्थ गतिशील है। मद्—**मदिरा। माद्यति अनया।** मुद्—**मुदिर** (पुं०), कामुक, मेघ। खिद्—**खिदिर**, चाँद। छिद्—**छिदिर** (पुं०), खड्ग, कुठार। भिद्—**भिदिर** (नपुं०), इन्द्र का वज्र। मदि (प्रसन्न होना)—**मन्दन्ते अत्रेति मन्दिरं गृहम्।** चदि—**चन्दति आह्लादयतीति चन्दिरः**, चाँद। तिम्—**तिमिरम्।** अन्धेरा, नेत्ररोग, अन्धराता। मिह् (सेचन करना)—मिहिर, सूर्य। मेहति वर्षति इति। वृष्टि में मुख्य कारण सूर्य है—आदित्याज्जायते वृष्टिः। मुह्—**मुह्यति इति मुहिरः**, मूर्ख। रुच्—**रुचिर। रोचते इति।** रुध्—**रुधिर** (नपुं०)। **बध्नाति इति बधिरः।** अनिदिताम्० (६।४।२४)—से न् लोप। शुष्—**शुषिर**, छिद्र।

अजिर, शिशिर, शिथिल, स्थिर, स्फिर, स्थविर, खदिर—ये किरच्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। **अजन्ति गच्छन्त्यत्रेति अजिरम्**, आँगन। यहाँ अज् को वि आदेश नहीं हुआ। शिशिर—शश् (छलांग लगाते चलना) धातु से। शिथिल श्रथ् धातु से। स्था—स्थिर। स्फाय् से—स्फिर, प्रभूत, बहुत। स्था से स्थविर, वृद्ध। वुक् (व्) आगम। खद् (हिंसा करना)—खदिर, खैर का वृक्ष।

तुन् (तु)—सि (बाँधना)—**सिनोति सिनाति वा सेतुः।** तन्—**तन्तु** (पुं०)। 'तितुत्र—' से इट् का निषेध। गम्—**गन्तु। आगन्तुः=आगन्तुकः।** मस् (बदलना)—**मस्तु** (पुं०), दही का पानी। सच्—**सक्तु** (पुं०)। अव्—**ओतु**, विडाल, बिल्ला। 'ज्वर-त्वर'० (६।४।२०) सूत्र से व् और उपधा को ऊठ्। गुण। धा—**धातु।** क्रुश्—**क्रोष्टु** (शृगाल)। प्र० एक०—क्रोष्टा।

तु—ऋ—इयर्तीति **ऋतुः।** यहाँ 'तु' कित् माना गया है। कम्—**कन्तु**, कामदेव, चित्त। मन्—**मन्तु** (पुं०), अपराध। जन्—**जन्तु**, प्राणी। गा—

गातु । **गायति इति गातुः**, कोकिल, गन्धर्व । भा—**भातु** (पुं०), सूर्य । या—**यातु** (पुं०) यात्री, काल । हि (स्वादि०)—**हेतु** । **हिनोति प्रहिणोति प्रेरयति इति हेतुः** ।

आतु—जीव्—**जीवातुः**, जीवनौषध, जिलाने वाला औषध ।

इति (इत्)—तड् णिच्—**ताडयति इति तडित्** (स्त्री०), कड़कने वाली बिजली । यहाँ 'णि' का लुक् भी होता है ।

कल (अल)—वृषल आदि कल-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं । वृष्—**वृषल** (शूद्र) । पल् (जाना)—**पलल** (नपुं०) मांस । सृ—**सरल**=पूतिकाष्ठ । यहाँ अप्राप्त गुण भी होता है ।

सरला विरलायन्ते घनायन्ते कलि-द्रुमाः ।
न शमी न च पुन्नागा अस्मिन् संसारकानने ।।

ड—ञम् (प्रत्याहार) अन्त वाली धातुओं से । दम्—**दण्ड** । **दाम्यति इति दण्डः** । रम्—**रण्ड** । **रमते इति** । सन् (देना)—सनति सनोति इति वा **षण्डः**, साँड । पडि—**पण्डा**, बुद्धि । अम्—**अण्ड** । यहाँ 'चुटू' से प्रत्यय के आदि टवर्ग की इत् संज्ञा नहीं होती । उणादयो बहुलमिति ।

आलच्—स्था—**स्थाल, स्थाली**=पाकभाजन ।

वालन्—चत्—**चात्वाल**=यज्ञकुण्ड ।

आलीयच्—मृज्—**मार्जालीय**=मार्जार, विडाल, बिल्ला ।

मन् (म)—ऋ—**अर्म** (नपुं०)=चक्षूरोग । स्तु—**स्तोम**=संघात । सु (स्वा०)—**सोम** । **सूयतेऽभिषूयते इति सोमः** । हु—**होम** । धृ—**धर्म** । क्षि—**क्षेम** । (पुं० नपुं०) । क्षु—**क्षोम** । प्रज्ञादि होने से अण् करके क्षौम ऐसा भी होगा । भा—**भाम**=सूर्य । या—**याम**=पहर । वा—**वाम**=सुन्दर, उलटा । पद्—**पद्म** । यज् (पूजा करना)—**यक्ष्म**=रोग-राज, तपेदिक् । नी—**नेम**=आधा ।

अव् से मन् और टि (अ) का लोप । अव के व् के स्थान में ऊठ् (ऊ) । गुण । **ओम्** । अव्यय । प्रणव, स्वीकार ।

मक्—**भीम** । **बिभेत्यस्माद् इति भीमः** । षुक् का आगम होने पर **भीष्म** ।

कनिन् (अन्)—नञ्-पूर्वक ओहाक् (हा)=त्याग करना से कनिन् । **न जहातीत्यहः** । आतो लोप इटि च (६।४।६४)से आ का लोप ।

कनि (कन्)—**श्वन्, उक्षन्, पूषन्, प्लीहन्, मूर्धन्, मज्जन्, अर्यमन्, परिज्मन्, मातरिश्वन्, मघवन्**—ये कन्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं । इनमें

क्रम से श्वि, उक्ष्, पूष् (भ्वादि०), प्लिह् (गत्यर्थक), मुह्, मस्ज, अर्य उपपद
होते हुए माङ्, जन् (परिपूर्वक), मातरि (सप्तम्यन्त) उपपद होने पर श्वि,
मह् (भ्वा० चुरा०) पूजा करना—ये धातुएँ हैं। **मुह्यन्त्यस्मिन्नाहते इति मूर्धा,**
मस्तक। जिस पर चोट लगने से मूर्छित हो जाते हैं। **मातरि अन्तरिक्षे**
श्वयतीति मातरिश्वा। श्वि गत्यर्थक है।

इति प्रथमः पादः।

अथ द्वितीयः पादः।

थक् (थ)—पा—**पीथ**=रवि। पीथ (नपुं०) घृत। तॄ—**तीर्थ** (पुं०
नपुं०)=शास्त्र, उपाध्याय, अवतार (=घाट), ऋषि-सेवित नदी-जल। वच्
—उक्थ=साम-विशेष। रिच्—**रिक्थ** (धन, सम्पत्ति)। सिच्—**सिक्थ**
(मधूच्छिष्ट, मोम)।

शीङ्—थक्। **निशीथ** (पुं०) रात्रि, अर्धरात्र। **गोपीथ**(पुं०)=सोमपान।
घुमास्था (६।४।६६) से पा (पीना) के आ को ई। **अवगथ**। अव-गाङ्। धातु
को ह्रस्व। ये शब्द थक्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं।

रक् (र)—स्फायी (स्फाय्)—**स्फार**=प्रभूत। वल् 'र्' परे होने पर 'य्'
का लोप। तञ्च्—**तक्र**। वञ्च्—**वक्र**। शक्—**शक्र**। क्षिप्—**क्षिप्र**। क्षिप्रम्
=शीघ्रम्। क्षुद्—**क्षुद्र**। तृप्—**तृप्र**। (पुरोडाश)। श्वित्—**श्वित्र** (श्वेत-
कुष्ठ)। वृत्—**वृत्र** (अन्धकार, दानव विशेष)। अज्—**वीर**। अज को 'वी'
आदेश। नी—**नीर**। मद्—**मद्र** (देश-विशेष)। मुद्—**मुद्रा**। छिद्—**छिद्र**।
मदि (मन्द्)—**मन्द्र**। चदि—**चन्द्र** (चन्द्र)। **चन्दति आह्लादयति इति चन्द्रः।**
दह्—**दह्र** (अग्नि)। दस् (क्षीण होना)—**दस्र** (अश्विनीकुमार)। दम्भ्—
दभ्र (अल्प)। वस्—**उस्र** (रश्मि)। **उस्रा**=गौ। हस्—**हस्र** (मूर्ख), जो
(अकारण) हँसता रहता है। शुभ्—**शुभ्र** (चमकीला)।

रक्—रोदि (रुद् णिच्)—**रुद्र**। **रोदयति इति रुद्रः।** यहाँ णि का लुक्
भी होता है। संज्ञा और छन्दस् (वेद) में अन्य धातु से अन्य-प्रत्यय किए जाने
पर भी णि का लुक् देखा जाता है—**बृंहयति इति ब्रह्मा। शं सुखं भावयति**
इति शम्भुः। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे (ऋ० ७।९९।७)। यहाँ वर्धन्तु=
वर्धयन्तु।

वान्ति पर्णशुषो वातास्ततः पर्णमुचोऽपरे ।
ततः पर्णरुहो वान्ति ततो देवः प्रवर्षति ।।

यहाँ क्विप्-प्रत्यय परे होने पर शुष् आदि से णिच् का लुक् हुआ है ।

क्रन् (र)—सु (स्वा०)—सुर । **सुनोति सोमं निष्पादयतीति सुरः** । षू (सू) प्रेरणार्थक—सूर (आदित्य) । **सुवति लोकं कर्मणीति सूरः** । धा—**धीर** । गृध्—**गृध्र** ।

रन् (र)—ऋज् (गति, स्थिति)—**ऋज्र**=नायक । यहाँ गुणाभाव निपातन किया है । इदि (इन्द्)—**इन्द्र** । **इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः** । अगि (गत्यर्थक)—**अग्र** । नलोप । वज् (गत्यर्थक)—**वज्र** । वप्—**विप्र** । उपधा को इ । कुबि (कुम्ब्)—**कुब्र** (अरण्य) । चुबि—**चुब्र** (मुख) । क्षुर् (तुदा०)—**क्षुर** । र-लोप । गुणाभाव । खुर् (तुदा०)—**खुर** (पुं०) । र-लोप । गुणाभाव । शुच्—**शुक्र** । च् को क् आदेश । र को ल होने पर **'शुक्ल'** भी ।

उकन् (उक)—सम्-कस्—**संकसुक** (अस्थिर, दुर्जन) । **संकसन्ति पलायन्ते जना अस्मादिति संकसुकः** ।

क्रुकन् (रुक)—भी—**भीरुक** । र को ल होने पर **'भीलुक'** भी ।

क्वुन् (वु)—रञ्ज्—**रजक** । **रजतीति** । धोबी, ललारी । कुट्ट्—**इक्षु-कुट्टक** (ईख को पीडने वाला)। चर्—**चरक** (वैशम्पायन का नामान्तर) । चष् (खाना)—**चषक** (पानपात्र, प्याला) । शुन् (तुदा०) जाना—**शुनक** (कुत्ता) । भष् (भौंकन)—**भषक** (कुत्ता) । जैसे पाणिनीयाष्टक में वु (प्रत्यय) को 'अक' आदेश होता है ऐसे यहाँ भी ।

क्वुन् (वु)—हन्—**वधक** । यहाँ हन् को वध् आदेश भी होता है । वस्तुतः वध् स्वतन्त्र प्रकृति भी है । उससे ण्वुल् प्रत्यय होने पर जनिवध्योश्च (७।३।३५) से वृद्धि का प्रतिषेध हो कर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है । कुह्—**कुहक** (दाम्भिक) । कृष्—**कृषक** । **कार्षक** । यहाँ उदीच्य आचार्यों के मत से वृद्धि होती है ।

किकन् (इक)—व्रश्च्—**वृश्चिक** (बिच्छू) । सम्प्रसारण । कृष् (तुदा०)—**कृषिक** (किसान) । मुष्—**मूषिक** । यहाँ दीर्घ भी होता है ।

इकन् (इक) क्री—**क्रयिक** (खरीदने वाला) ।

क्विप्—इस प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है । वच्—**वाक्** ।

प्रच्छ्—**प्राट्** । पूछने वाला । **प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाकः**, न्यायाधीश । श्रि—श्री । **श्रयन्त्येनाम् इति श्रीः** । स्रु—स्रू । **स्रवति अस्माद् घृतादिकमिति स्रूः** (यज्ञ का साधन विशेष) । द्रु—द्रू (स्वर्ण) । प्रुङ्—**कटप्रूः** (कीट) । **कटं प्रवते गच्छतीति** । जु—जू । वच्, प्रच्छ् में सम्प्रसारण प्राप्त था । वह नहीं होता । क्विप् के सन्नियोग से इन धातुओं के अच् को दीर्घ होता है । प्रच्छ् के च्छ को श् होकर उसे व्रश्चभ्रस्ज—(८।२।३६) सूत्र से ष् और उसे जश्त्व होकर अवसान में वैकल्पिक चर्त्व हो कर प्र० ए० में प्राट् रूप सिद्ध होता है । अपदान्त में प्राशौ, प्राशः इत्यादि रूप होंगे ।

परि-पूर्वक व्रज्—**परिव्राट्** । यहाँ भी धातु के अच् को दीर्घ और पदान्त ज् को ष् होता है । अपदान्त में केवल दीर्घ होता है—परिव्राजौ, परिव्राजः इत्यादि ।

युच् (अन)—उन्द् (रुधा०)—**ओदन । उनत्ति इति ओदनः** । न् का लोप ।

डो—गम्—गो । टि-लोप । **गच्छतीति गौः** ।

अति (अत्)—पृष् (सेचन करना)—**पृषत्** (नपुं० बिन्दु) । पुं—श्वेत बिन्दु युक्त मृग । बृह्—**बृहत्** । मह्—**महत्** । गम्—**जगत्** । इन अति-प्रत्ययान्तों को शतृ-प्रत्यय की तरह कार्य होता है, अर्थात् उगित् मान कर इन्हें सर्वनाम स्थान परे रहते नुम् आगम होता है—**बृहन्** । बृहन्तौ । बृहन्तः इत्यादि । यहाँ अति प्रत्यय शतृ की तरह वर्तमान काल में होता है । गम् को 'जग्' आदेश भी होता है । इनको शतृ-प्रत्ययान्त मानने पर स्वर-व्यवस्था नहीं बनती ।

किं च । स्त्रीलिङ्ग में ङी परे होने पर नुम् होकर महन्ती, बृहन्ती आदि अनिष्ट रूप प्रसक्त होंगे । **महती, बृहती** आदि इष्ट हैं । महती नारद की वीणा का नाम भी है और बृहती विश्वावसु की ।

आनच् (आन)—श्वित्—**शिश्विदान** (अकृष्णकर्मा) । यहाँ धातु को द्विर्वचन होता है और त् को द् भी ।

तृन्, तृच्—नप्तृ (दोहता, पोता), **नेष्टृ** (ऋत्विक् विशेष), **त्वष्टृ** (देवों का बढ़ई), **होतृ** (ऋग्वेदी ऋत्विक्), **पोतृ, भ्रातृ, जामातृ, मातृ, पितृ, दुहितृ**—ये तृन्-तृच् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं । इनमें क्रम से पत् (नञ्-पूर्वक), नी (षुक् आगम), त्विष् (उपधा इ को अ), हु, पू, भ्राज् (जकार-

लोप), मा (पूर्वपद जाया को जा आदेश), मान् (पूजा करना। नकार का लोप), पा (रक्षा करना), दुह्—ये धातुएँ हैं। जहाँ ताच्छील्य विवक्षित है वहाँ तृन् समझना चाहिए, अन्यत्र तृच्। रूप में अभेद होने पर भी स्वर में भेद है।

ऋ—दिव्—**देवृ** (देवर)। प्र० ए० देवा। द्वि० देवरौ। बहु० देवरः।

अनि—ऋ—अरणि (स्त्री०), काष्ठ जिसे मथ कर अग्नि निकाली जाती है। ऐसी लकड़ी को मथने वाले को भी 'अरणि' कहते हैं। तब यह पुंल्लिग है। सृ—**सरणि** (स्त्री०)। धृ—**धरणि** (भूमि)। धम्—**धमनि** (नस, शिरा)। धम् ध्मा से भिन्न स्वतन्त्र धातु भी मानी जाती है। अश्—**अशनि** (वज्र)। अशनि पुं और स्त्री०। अव्—**अवनि**। तॄ—**तरणि** (पुं सूर्य, स्त्री० नौका)।

कृष्—**चर्षणि**। यहाँ धातु के आदि क् को च् भी होता है। वेद में चर्षणि मनुष्य का पर्याय है। **सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्**। (ऋ० १।३२।१५)। **ओमासश्चर्षणीधृतः** (ऋ० १।३।७)।

उसि (उस्)—जन् से—**जनुस्** (नपुं)।

इण् से—**आयुस्**। यहाँ प्रत्यय को णित् माना जाता है। जिससे धातु को वृद्धि। **आयुर्जीवनकालः** (अमर)। जितना समय किसी ने यहाँ जीना है वह उसकी आयु है। आयुः नपुं०।

आङ्-पूर्वक सन्नन्त शुष् से—**आशुशुक्षणि**। अग्नि का नाम है। अग्नि के सभी नाम पुं० हैं।

ष्वरच् (वर)—गॄ—**गर्वर** (गर्ववान्)। शॄ—**शर्वरी**, रात। षित्व होने से ङीष्। **शीर्यन्ते भूतान्यत्रेति शर्वरी**। अधिकरण में प्रत्यय। चते—**चत्वर** (चौक) पुं०।

नि-पूर्वक सद् से—**निषद्वर** (पुं०) (काही, शेवाल)। **निषद्वरी=रात्रि**।

इति द्वितीयः पादः।

अथ तृतीयः पादः

नु—दा—दानु (दाता, शूर)। भा—**भानु** (सूर्य)। विष्—**विष्णु**। **वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् इति विष्णुः**। वेद में मुख्यतया विष्णु सूर्य का नाम है जिसकी दो पत्नियाँ श्री और लक्ष्मी कही गई हैं। **श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ** (वा० सं० ३१।२२)।

णु—अज् (वी)—वेणु। वृ—वर्णु (नदी-विशेष, देश-विशेष=बन्नु)। री—रेणु (पुं०, स्त्री०)।

उन, उन्त, उन्ति, उनि—शक्—शकुन। शकुन्त। शकुन्ति। शकुनि। ये सब पक्षी के नाम हैं। ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध शकुन, अपशकुन शब्दों का मूल यही पक्षि-वाचक शकुन शब्द है।

उनन्—कृ—करुण (वृक्ष-भेद)। करुणा (कृपा)। वृ—वरुण। वृणोतीति वरुणः। वेद में अस्त होते हुए सूर्य को वरुण कहा है। दृ (दृ-णिच्)—दारुण।

पिश् (घढ़ना, तुदा०)—पिशुन। पिंशति घटयति अमूलार्थं निनिन्दिषया इति पिशुनः। सूचक (चुगलखोर), खल।

स—वृ—वर्स (नपुं०)। तृ—तर्स (नपुं०)। तितुत्र—से इट् का निषेध। तर्ष (नौका, समुद्र)। वद्—वत्स। हन्—हंस। हन् यहाँ गत्यर्थक है। हन्ति गच्छतीति हंसः। हंस की गति प्रसिद्ध है, हिंसा नहीं। कम्—कंस (पुं०, पीने का पात्र)। कष्—कक्ष (नपुं०)। ष् को क् होकर पीछे स-प्रत्यय को ष। क् ष् के योग से क्ष्।

अश्—अक्ष (जुए का पासा)।

स्नु—स्नुषा। व्रश्च्—वृक्ष। ऋष् (गत्यर्थक)—ऋक्ष (नक्षत्र)। यहाँ 'स' कित् माना गया है। अतएव गुणाभाव और यथास्थान सम्प्रसारण हुआ है।

उन्द्—उत्स (पुं०), स्रोत। गुथ्—गुत्स (पुं०), गुच्छा। कुष्—कुक्ष (पुं०), पेट। इनमें भी स-प्रत्यय कित् माना गया है जिस कारण धातु को गुण नहीं हुआ।

सर—अश्—(व्याप्त्यर्थक)—अक्षर। वस्—वत्सर। संवत्सर (पुं०)।

क्सरन् (सर)—तन्—तसर। कित् होने से अनुनासिक लोप। तसर= सूत्रवेष्टन, तकला। ऋष्—ऋक्षर=ऋत्विक्। वेद में ऋक्षर=कण्टक। अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०।८५।२३)।

काकु (आकु)—पर्द् (गुद शब्द)—पृदाकु (साँप)। र् को सम्प्रसारण और अकार का लोप।

तन्—हस्, मृ, गॄ, इण्, वा, अम्, दम्, लू, पू, धुर्वी—इनसे तन्। तितुत्र—से इट् का निषेध। हस्त। मर्त (भूलोक)। गर्त (गढ़ा)। एत (चितकबरा)। वात। अन्त। दन्त। लोत (आँसू, चिह्न)। पोत (शिशु, जहाज)। लु के साहचर्य से यहाँ पूञ् पवने ली जाती है। पर अर्थ की संगति

कुछ भी नहीं। यदि पूङ् पवने से प्रत्यय हो तो अर्थ कुछ संगत हो जाता है। पवन का अर्थ बहना भी है। जैसे सोमः पवते में। धूर्त। धुर्वी (धुर्व्) के रेफ से परे व् का लोप (राल्लोपः ६।४।२१) और पूर्व-स्वर को दीर्घ।

आप् (नञ्-पूर्वक—**नापित** (नाई)। इट् आगम विशेष विहित है। नञ् प्रकृत्या (अपने स्वरूप में) रहता है। नाऽऽप्यत इति। कर्म में प्रत्यय।

तन्—तन् (विस्तार करना, तना०)—**तत**। यह तन् प्रत्यय कित् माना गया है जिससे अनुनासिक का लोप हो जाता है। **तनोतीति ततः। कारुरहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना**—(ऋ० ९।११२।३)। **तत एव तातः**। प्रज्ञादि होने से स्वार्थ में अण्। उणादि व्याख्याकार यहाँ ततं वीणादिवाद्यम् इस अमर वचन को उद्धृत करते हैं। उस अर्थ में तो तन् का निष्ठान्त रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। प्रकृत सूत्र व्यर्थ हो जाता है। मृङ्—**मृत**। **म्रियते इति मृतः**, मर्त्यः।

दु (गत्यर्थक)—**दूत**। दीर्घ। तन्—**तात**। यहाँ भी तन् को कित् माना गया है और धातु को दीर्घ विधान किया गया है। वस्तुतः इस सूत्र में तन् ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जैसे हम पहले कह चुके हैं। तत से स्वार्थ में अण् करके रूप-सिद्धि सुलभ है।

आन्य—वद्—**वदान्य** (दानशील)। **मां याचस्व इति वदति**। वदान्य सुन्दर वक्ता को भी कहते हैं।

अत्रन्—अम्—**अमत्र** (नपुं०), भाजन, पात्र। नक्ष्—**नक्षत्र**। यज्—**यजत्र** (यष्टव्य, पूज्य)। **भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः**। (ऋ० १।८९।८)। यजत्राः यह सम्बोधन अर्थ में प्रथमा बहुवचन है। वध्—**वधत्र** (नपुं), आयुध, शस्त्र। पत्—**पतत्र** (नपुं०), पक्ष, पंख।

अथ—शीङ्—**शयथ**=अजगर। **शेते इति शयथः**। शप्—**शपथ** (पुं)। रु—**रवथ** (कोकिल)। गम्—**गमथ** (पुं०), पथिक, मार्ग। वञ्च्—**वञ्चथ**=धूर्त। जीव्—**जीवथ** (आयुष्मान्)। अन् (प्र-पूर्वक)—**प्राणथ**=बलवान्। शम्—**शमथ**=शान्ति। दम्—**दमथ**=दम। शम्, दम्, से बाहुलक से अथ-प्रत्यय हुआ है। वस् (सोपसर्गक)—**आवसथ** (पुं०)=गृह, डेरा, आगन्तुक आदि के ठहरने का स्थान। **एत्य वसन्त्यत्र इति आवसथः**। अधिकरण में अथ-प्रत्यय है। **संवसथ** (पुं)=ग्राम। **संवसन्ति (सम्भूय वसन्ति) अत्रेति संवसथः**। यहाँ भी अधिकरण में प्रत्यय है।

असच् (अस)—दिव्—**दिवस** (पुं० नपुं०) **दीव्यन्ति व्यवहरन्ति अत्र**

इति दिवसः दिवसं वा। यहाँ असच् कित् माना गया है। जिससे धातु को गुण नहीं हुआ।

अर—ऋ—**अरर**(नपुं०), कपाट। **कपाटमररं तुल्ये**–(अमर २।२।१७)। कम्—**कमर** (कामुक)। भ्रम्—**भ्रमर**। चम्—**चमर** (मृग-भेद)। चमरी (स्त्री०)। दिव्—**देवर**। वस् णिच्—**वासर** (पुं०, नपुं०)। यहाँ 'अर' चित् माना गया है। इससे अरर आदि अन्तोदात्त हैं।

तनन्—वी (गत्याद्यर्थक अदा०)—**वेतन** (नपुं०)। पद्—**पत्तन** (नपुं०) समुद्रतटवर्ती नगर, बन्दरगाह।

ई—अव्—**अवी** (रजस्वला स्त्री)। तॄ—**तरी** (नौका)। स्तॄ—**स्तरी** (धुआँ)। तन्त्र्—**तन्त्री** (वीणा आदि का तार)। यहाँ प्रथमा एकवचन में कहीं भी सु-लोप नहीं होता। यहाँ इसकी प्राप्ति ही नहीं है।

या—**ययी** (अश्व)। यहाँ द्विर्वचन भी होता है और ई को कित् माना जाता है। पा—**पपी** (सोम, सूर्य)। यहाँ भी सु-लोप नहीं होता।—**ययीः। पपीः।**

लक्ष्—**लक्ष्मी** (प्र० ए० लक्ष्मीः)। यहाँ मुट् आगम भी होता है। लक्ष् चुरादि है। इससे स्वार्थ में आए हुए णिच् का लोप होता है।

इति तृतीयः पादः।

अथ चतुर्थः पादः

ई—वात शब्द उपपद होने पर प्र-पूर्वक माङ् से ई। **वातं प्रमिमीते**= **वातप्रमीः**। यह ई कित् माना जाता है। इसी कारण 'मा' को 'मी' हुआ है।

क्तनिच् (अत्नि)—ऋ—**रत्नि**। **अरत्नि**। **बद्धमुष्टिः करो रत्निः सोऽरत्निः प्रसृताङ्गुलिः।** मुट्ठी में बाँधे हुए हाथ को रत्नि कहते हैं और फैली हुई उंगुलियी वाले हाथ को अरत्नि।

इथिन् (इथि) अत्—**अतिथि। अतति सततं गच्छतीति अतिथिः।**

इनि (इन्)—**गमिष्यतीति गमी।** आङ्-पूर्वक गम् से **आगामी**। आङ् से परे इस प्रत्यय को णित् माना जाता है। अतः यहाँ उपधा-वृद्धि हुई। भू—**भावि (नपुं०)। भावी (पुं०)।** यहाँ भी प्रत्यय को णित् माना गया है।

प्र-पूर्वक स्था से—**प्रस्थायिन्**। यहाँ भी प्रत्यय णित् माना गया है। इसीलिए आतो युक्—से युक् आगम हुआ है।

'परमे' सप्तम्यन्त उपपद होने पर स्था से। यह इनि कित् माना गया है। अतः कित्त्व के कारण 'आतो लोप इटि च' से आ का लोप। **परमेष्ठिन्**। परमेष्ठी=ब्रह्मा।

ईकन् (ईक)—फर्फरीक आदि शब्द ईकन् प्रत्ययान्त निपातित किए हैं। स्फुर्—ईकन्। फर्फर् आदेश। **फर्फरीकं किसलयम्**। फर्फर करने वाली नई कोंपल।

दशपादी में तो धातु स्फुर् को द्वित्व, उकार को अकार, स् का लोप और अभ्यास को रुक् आगम—ऐसी प्रक्रिया दी है। **चञ्चरीको भ्रमरः**। चर् से ईकन्। यहाँ भी द्विर्वचन होता है और अभ्यास को नुम्। **कर्करीका**=गलन्तिका (गागर जिसमें से जल टपकता रहता है)। कर्करीक में कृ से ईकन् हुआ है। अमर में **कर्कर्यालुर्गलन्तिका** ऐसा पाठ है। वहाँ 'कर्करी' शब्द स्वीकार किया गया है।

ईरन् (ईर)—कॄ—**करीर** (वृक्ष-विशेष)। **पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्**। शॄ—**शरीर** (नपुं०)। शीर्यत इति। पट् (गत्यर्थक)—**पटीर** (पुं०)=चन्दन। शौटृ (गर्व करना)—**शौटीर**।

वश् (चाहना, अदा०)—**उशीर** (नपुं०)=खस। सम्प्रसारण। यहाँ ईरन् कित् माना गया है। घस्—**क्षीर** (नपुं०)। प्रत्यय के अजादि कित् होने से गम-हन-जन-खन-घसाम्...से घस् की उपधा का लोप। चर्त्व होकर घ् को क्। 'शासि-वसि-घसीनां च' (८।३।६०) से घस् के स् को ष्।

डति—पा—**पति**। डित्त्व के कारण टि (आ) का लोप।

अति—वह्—**वहति**। (पवन)। वस्—**वसति** (गृह, रात्रि)। रात्रि अर्थ में **वासतेयी**—यह अधिक प्रसिद्ध है। ऋ—**अरति** (क्रोध)।

हन्—**अंहति** (स्त्री०)। हन् को अंह् आदेश। करण में प्रत्यय। **हन्ति दुरितमनया इत्यंहतिः**। दान। **प्रदेशनं निर्वपणमपवर्जनमंहतिः** (अमर)।

अत्रिन् (अत्रि)—पत्—**पतत्रि** (पक्षी)। **नगौकोवाजिविकिरविविष्किर-पतत्रयः** (अमर)।

घथिन् (अथि)—सृ—**सारथि**। यहाँ अथिन् को णित् माना गया है जिससे स् को वृद्धि हुई।

यक्—जन्—जन्य (नपुं०)=युद्ध। **जन्या**—माता की सखी। **जाया** (भार्या)। **जायतेऽस्यामिति। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः** (मनु० ९।८)। यहाँ 'ये विभाषा' से न् के स्थान में पाक्षिक आ हुआ है।

यक्—अघ्न्यादि शब्द यक्-प्रत्ययान्त निपातित किए हैं। **न हन्यते इत्यघ्न्या**। गौ। नञ्-पूर्वक हन से यक्। उपधा लोप। ह् को घ्। **'मा गामनागामदितिं वधिष्ट'** (ऋ० ८।१०१।१५)। कन्—कन्या। **काम्यते इति। दीप्यते इति वा**। **बन्ध्या** (बाँझ स्त्री)।

इन् (इ)—सब धातुओं से इन्। तुड्—**तुडि**। तुडि (तुण्ड्)—**तुण्डि** (तोंद)। वल्—**वलि** (स्त्री०)। यज्—**यजि**। **देवयजि** (देवपूजक)।

इगुपध धातुओं से। कृष्—**कृषि**। ऋष्—**ऋषि**। **ऋषति गच्छति जानाति इति ऋषिः**। नैरुक्त लोग ऋष् को दर्शन अर्थ में पढ़ते हैं। **ऋषिर्दर्शनात्** यह यास्क का वचन है। शुच्—**शुचि** (शुद्ध, दीप्यमान)। यहाँ लोक में प्रसिद्ध 'शुच् शोके' से प्रत्यय नहीं है। किन्तु छान्दस दीप्त्यर्थक शुच् से है। **बृहच्छोचा यविष्ठ्य** (ऋ० ६।१६।११)। हे तरुण अग्ने, खूब चमको। लिप्—**लिपि**। तूल्—तूलि=कूची। यहाँ कृषि आदि में प्रत्यय के कित् माने जाने से उपधा-गुण नहीं हुआ।

मन्—**मुनि**। यहाँ धातु के अ को उ भी होता है। **मन्यते चिन्तयते इति मुनिः**।

इञ् (इ)—वस्—**वासि** (छेदन का साधन) (स्त्री०)। वप्—**वापि**। जलाशय, कमल-सरोवर। ङीष् करने पर वापी। उप्यन्ते **अब्जान्यत्रेति वापी**। यज्—**याजि** (यज्ञ करने वाला)। राज्—**राजि** (पंक्ति)। व्रज्—**व्राजि**। सद्—**सादि** (सारथि)। नि हन्—**निघाति** (लोहा कूटने का साधन)। वद्—**वादि** (विद्वान्)। वृ—**वारि** (स्त्री०)=गजबन्धनी। ङीष् होकर वारी रूप भी है। जल अर्थ में वारि नपुंसक लिंग है।

कृ—**कारि**=शिल्पी। यह उदीच्य आचार्यों के मत से। अन्यथा उण् होकर **कारु** रूप होगा।

इण् (इ)—जन्—**जनि** (स्त्री०, जन्म)। 'जनिवध्योश्च' से उपधावृद्धि का निषेध। घस्—**घासि** (पुं०, भक्ष्य)। **'यच्च पपौ यच्च घासिं जघास'** (ऋ० १।१६२।१४)।

अज्—**आजि** (स्त्री०=संग्राम)। अत्—**आति** (चील)।

इण् (इ)—आङ्-पूर्वक श्रिञ् और आङ् पूर्वक हन् से—**अश्रि**=कोटि, कोना। **अहि**=साँप। आङ् को ह्रस्व और प्रत्यय के डित् माने जाने से टि का लोप। **अष्टाश्रिर्यूपो भवति। आ समन्ताद् हन्ति इति अहिः।** 'समान' उपपद होने पर 'ख्या' से इण् होता है और वह डित् होता है। ख्या के य् का लोप। समान को स। **समानं ख्यायते जनैरिति सखा।** प्रातिपदिक रूप—सखि।

इ—अजन्त धातु से। रु—**रवि**। गुण। पू—**पवि** (पुं०, वज्र)। तॄ—**तरि**। (स्त्री० नौ) कु—**कवि**। **कौतीति**। ऋ—**अरि**। अल्—**अलि**। कॄ—**किरि** (सूअर)। यहाँ इ कित् माना गया है। अतः गुण नहीं हुआ। ऋत इद्धातोः से धातु के ऋ को रपर इ (इर्) होता है। गॄ—**गिरि**। शॄ—**शिरि**=सलह, घातक। पॄ—**पुरि** (नगर, राजा, नदी)। कुट्—**कुटि** (शाला, शरीर)। भिद्—**भिदि** (पुं०, वज्र)। छिद्—**छिदि** (परसा, कुल्हाड़ा)।

मनिन् (मन्)—सब धातुओं से मनिन्। कृ—**कर्मन्**। चर्—**चर्मन्**। भस्—**भस्मन्**। शॄ—**शर्मन्**। स्था—**स्थामन्**=बल। छद् (चुरा०)—**छद्मन्** (बहाना, कपट)। इस्मन्त्रन् (६।४।९७) से ण्यन्त छादि को ह्रस्व। त्रै (सु-पूर्वक)—**सुत्रामन्** (इन्द्र)। कर्मन् आदि छद्मन् पर्यन्त नपुं० हैं।

इमनिन् (इमन्)—जन्—**जनिमन्** (पुं०)=**जन्म**। मृङ्—**मरिमन्** (पुं०, मृत्यु)।

मनि (मन्)—सूत्र में मिथुन शब्द का अर्थ है उपसर्ग और क्रिया का सम्बन्ध। सु-शॄ—**सुशर्मन्**। प्र० एक०—**सुशर्मा**। **सुष्ठु शृणाति इति सुशर्मा।**

ष्ट्रन् (त्र)—सब धातुओं से ष्ट्रन् (त्र)। अस्—**अस्त्र**। वस्—**वस्त्र**। शस् (हिंसा करना)—**शस्त्र**। छद्—**छत्र**। यहाँ ण्यन्त धातु को इस्मन्त्रन्० (६।४।९७) से ह्रस्व होता है। ष्ट्रन् प्रत्ययान्त नपुं० होते हैं। तितुत्र—से इट् का निषेध।

क्त्र (त्र)—अम्—**आन्त्र**। अनुनासिकस्य क्वि-झलोः से दीर्घ। चि—**चित्र**। मिद्—**मित्र**। **मेद्यति स्निह्यति इति मित्रम्।**

पू—**पुत्र**। धातु को ह्रस्व भी होता है। **पुत्त्र**। यह सुपि स्थः के योग-विभाग—सुपि। स्थः। से क प्रत्यय से सिद्ध होता है। इसमें पुद् यह उपपद है। पुद् नरक-विशेष का नाम है। **पुन्नाम्नो नरकात्त्रायते इति पुत्रः।**

ड्रट् (र)—स्त्यै—**स्त्री** । उपदेशावस्था में ही आत्व (स्त्या) होने पर प्रत्यय के डित् होने से टि (आ) का लोप और लोपो व्योर्वलि से वल् (र्) परे होने पर धातु के य् का लोप हो जाता है । प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीप् होकर 'स्त्री' यह रूप सिद्ध होता है । **स्त्यायतः रजोवीर्ये अस्यामिति स्त्री ।**

त्र—गुङ्—**गोत्र** (नपुं०) नाम, वंश । **गोत्रा**—पृथ्वी । घृ—**घर्त्र** (नपुं०) गृह । वी—**वेत्र** (नपुं०—बैंत) । पच्—**पक्त्र** । वच्—**वक्त्र** (नपुं०) । **वक्ति अनेनेति** । यम्—**यन्त्र** । सद्—**सत्र** (नपुं०=यज्ञ, सदा-दान) । क्षद् (सौत्र धातु)—**क्षत्र** (नपुं० क्षत्रिय जाति) ।

त्रन्—हु—**होत्र** (नपुं० याग) । **होत्रा** (स्त्री०) ऋत्विक् । या—**यात्रा** । मा—**मात्रा** । श्रु—**श्रोत्र** । भस्—**भस्त्रा** (स्त्री० चर्म-प्रसेविका, धौंकनी) ।

इत्र—अम्—**अमित्र**—शत्रु । इसका लिङ्ग विशेष्यानुसारी होता है । केवल के प्रयोग में नियत-पुंल्लिग होता है । यहाँ 'इत्र' चित् माना गया है । इससे अमित्र शब्द अन्तोदात्त है । मित्र के साथ नञ् समास करने पर तो अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने से 'अमित्र' आद्युदात्त होगा और तत्पुरुष के परवल्लिङ्ग होने से नित्य नपुंसकलिंग होगा ।

डुम्सुन् (उम्स्)—पा (रक्षा करना)—**पुम्स्** । प्रथमा एक० पुमान् । डित्त्व-सामर्थ्य से टि (आ) का लोप हो जाता है ।

ति—विन्ध्याख्यम् अगम्-पर्वतम् अस्यति इति अगस्तिः । अग उपपद होने पर अस् (फैंकना) से ति प्रत्यय । शकन्ध्वादि होने से पर-रूप ।

असुन् (अस्)—धातु-मात्र से असुन् होता है । चित् (चुरा० आ०)—**चेतस्** । प्र० एक०—चेतः । पीङ् (दिवा०, पीना) —**पयस्** । धातु को गुण । अयादेश । सृ—**सरस्** (तालाब) । सद्—**सदस्**, सभा । यह स्त्रीलिंग भी है । **सीदन्त्यत्रेति सदः । तत्सदः । सा सदाः** । तिज्—**तेजस्** । तप्—**तपस्** । रक्ष्—**रक्षस्** । **रक्ष्यतेऽस्मादिति रक्षः** । वेद में रक्षस् पुं० में भी आया है—**यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह** (ऋ० ७।१०४।१६) । वी (गत्याद्यर्थक)—**वयस्** । **वेति गच्छतीति वयः** । पक्षी, बाल्यादि शरीरावस्था । वच्—**वचस्** । श्रु—**श्रवस्** (कर्ण, कान) । जैसे **उच्चैः श्रवस्**—इन्द्र का घोड़ा । **चक्षुःश्रवस्**—साँप) । प्र० ए० **उच्चैःश्रवाः** । **चक्षुः श्रवाः** । उच्चैः श्रवसी कर्णौ यस्य । चक्षुषी श्रवसी यस्य । मन्—**मनस्** । असुन्-प्रत्ययान्त सभी नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

ऋ धातु को उर् आदेश हो जाता है असुन् परे रहते—उरस् । प्र० एक० उरः, छाती ।

उदक वाच्य हो तो ऋ से परे असुन्-प्रत्यय को नुट् (न्) आगम होता है—**अर्णस्** । प्र० एक० अर्णः । **अर्णांसि सन्त्यत्र इत्यर्णवः समुद्रः** । यहाँ अर्णस् के स् का लोप हो जाता है ।

इण्—**एनस्**—पाप, अपराध । धातु को गुण । यहाँ भी असुन् को नुट् का आगम होता है । **एति गच्छति प्रायश्चित्तेन इत्येनः** ।

असि (अस्)—यह सोपसर्ग धातु से आता है । यह स्वर के निमित्त असुन्-प्रत्यय का अपवाद है । **सुयशस्** ।

गति, कारक उपपद होने पर असुन् का अपवाद असि होता है और पूर्वपद का प्रकृति स्वर (अपना स्वर) रहता है । सामान्यतया गति कारक उपपद होने पर उत्तरपद कृदन्त का प्रकृति-स्वर हुआ करता है । प्रकृत सूत्र उसका अपवाद है । **सुतपस्** । **सुष्ठु तप्यते इति सुतपाः** । **जातानि वेद इति जातवेदाः** (अग्नि) ।

अप् (जल) पूर्व उपपद होने पर सृ से—**अप्सरस्** । प्र० एक० अप्सराः । **अद्भ्यः सरतीति** । अप्सरस् बहुवचन में प्रयुक्त होता है । कहीं एकवचन में भी ।

कनसि (अनस्)–वश् (चाहना, अदा०)—**उशनस्** । प्र० एक० उशना—शुक्राचार्य । प्रत्यय के कित् होने से धातु को सम्प्रसारण ।

इति चतुर्थः पादः ।

अथ पञ्चमः पादः

ख—मुह्—**मूर्ख** । मुह् को मुर् आदेश ।

डुन्—मुखवाची श्मन् शब्द कर्म उपपद होने पर श्रिञ् से डुन् (उ) । डित्त्वसामर्थ्य से टि का लोप । **मुखमाश्रयते इति श्मश्रु** (नपुं०)—मुखलोम ।

ड—ऊर्णु (अदा० ढाँपना)—ऊर्णा (ऊन) । डित्त्वसामर्थ्य से टि-लोप । टाप् ।

डउ—तन्—तितउ—चालनी । यहाँ सन्वद्भाव होने से द्वित्व और अभ्यास को इत्व । अमर कोष के अनुसार तितउ शब्द पुँल्लिग है । **चालनी तितउः पुमान्** । भाष्य में इसे नपुंसक लिङ्ग में पढ़ा है । **तितउ परिपवनं भवति** । (भाष्य) । और निरुक्त में भी ।

वरट् (वर)—अश् (व्याप्त्यर्थक) से वरट्। उपधा को ई। जब प्रत्ययान्त का आशुकर्म—शीघ्र वरदानादि क्रिया करने वाला, ऐसा अर्थ हो। **अश्नुते व्याप्नोतीति ईश्वरः।** प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में **ईश्वरी** (ङीबन्त) रूप होगा। उणादि भिन्न स्थेशभासपिसकसो वरच् से वरच् होने पर तो स्त्रीत्व में टाप् होकर **ईश्वरा** रूप होगा।

क (अ)—वि आङ् पूर्वक घ्रा से जाति वाच्य होने पर प्रत्यय होता है। **व्याघ्र**।

अच्—क्षम् से अच् प्रत्यय होता है और उपधा का लोप होता है। **क्ष्मा**—पृथ्वी।

असच्—प्रथ् और चर् से अमच् प्रत्यय। **प्रथम**। **चरम**—अन्तिम।

इति पञ्चमः पादः।

इति पञ्चपादी संक्षिप्ता।

अवसितं कृत्प्रकरणम्।

परिशिष्ट

इस परिशिष्ट में हमें पूर्वप्रतिपादित विषय का परिवर्धन इष्ट है और क्वाचित्क स्वकीय-परकीय अनवधानकृत स्खलन का परिशोधन भी।

कर्मवाची-शानच्

शतृ शानच् कर्तृवाचक कृत्-प्रत्ययों के विषय में पर्याप्त कहा जा चुका है। लट् सकर्मक धातुओं से कर्ता व कर्म का वाचक होता है, अकर्मक धातुओं से भाव व कर्ता का। लट् जब कर्मवाची विवक्षित होगा तो उसका आदेश-भूत शानच् भी सामान्यतः प्राप्त कर्तृवाचित्व को बाधकर स्थानी के धर्म को लेता हुआ कर्म-वाची हो जायगा। स्थानिवद्भाव से शानच् की भाव-वाचिता भी प्राप्त होती है पर शतृ शानच् आदेशों का विधान द्वितीयान्तादि के साथ समानाधिकरणता में ही हुआ है, और शानच् के भाववाची होने पर ऐसी समानाधिकरणता दुर्लभ है, अतः शानच् भाव में नहीं होता।

भाव-कर्म-वाची 'ल' के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय विधान किए हैं।[1]

१. भाव-कर्मणोः (१।३।२३)।

वे हैं तङ् और शानच्[1]। अतः कर्मवाची लट् के स्थान में शतृ जो परस्मैपद-संज्ञक है, नहीं आ सकता।

शानच् शित् होने से सार्वधातुक है। भाव-कर्म-वाची सार्वधातुक परे रहते धातुमात्र से यक् (य) प्रत्यय होता है[2]। यक् आर्धधातुक है। यक् के कित् होने से इगन्त अथवा इगुपध अङ्ग को गुण नहीं होता। यक् आने पर यगन्त अङ्ग के अदन्त हो जाने से सर्वत्र मुक् (म्) आगम होता है।[3] ज्ञा—ज्ञायमान। ध्यै—ध्यायमान। गम्—गम्यमान। हन्—हन्यमान। घ्रा—घ्रायमाण। चर्—चर्यमाण। ध्मा—ध्मायमान।

शानजन्त की रूप रचना में धातु किस गण की है, इसका क्या विकरण है इसका कुछ विचार नहीं होता, कारण कि शानच् के कर्मवाची सार्वधातुक होने से शप् आदि, जो कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते आते हैं, का यहाँ प्रसंग ही नहीं।

कार्य-विशेष

यक् परे रहते धातु के औपदेशिक अन्त्य एच् को आत्व, अन्त्य इक् को दीर्घ, अन्त्य ऋ को रिङ्, घु-संज्ञक धातुओं के 'आ' तथा मा, स्था, गा (गै), पा, हा, सा (सो) के 'आ' को 'ई', अनिदित हलन्त धातुओं के उपधा-भूत 'न्' का लोप, दीर्घ ॠकारान्त धातुओं के ॠ को 'इर्' होकर दीर्घ, पवर्गादि को उर् होकर दीर्घ, संयोगादि ह्रस्व ऋकारान्त को गुण, णिच्-लोप, ब्रू आदि को वच् आदि आदेश, तन् धातु के अनुनासिक को वैकल्पिक 'आ', खन् व सन् के न् को भी वैकल्पिक आ, तथा वच् आदि और यज् आदि धातुओं को सम्प्रसारण—इत्यादि विशेष कार्य होते हैं।

आत्व

पै (सुखाना)—पायमान। (ओ) वै—वायमान। शो—निशायमान (तेज किया जा रहा)। छो—छायमान (पतला किया जा रहा)।

ईत्व

दा—दीयमान। दाण्—दीयमान। देङ्—दीयमान। प्रणिदीयमान।

---

१. तङानावात्मनेपदम् (१।४।१००)।

२. सार्वधातुके यक् (३।१।६७)।

३. आने मुक् (७।२।८२)।

(रक्षा किया जा रहा) आत्व होकर, ईत्व। दो—अवदीयमान (टुकड़े किए जा रहा)। आत्व होकर ईत्व। धा—धीयमान। धेट्—धीयमान (चूसा जा रहा)। आ होकर ई। मा—मीयमान। स्था—अनुष्ठीयमान (किया जा रहा)। अनु-पूर्वक 'स्था' सकर्मक है। गै—गीयमान। आ होकर ई। पा—पीयमान। (पीया जा रहा)। पा (रक्षा करना)—पायमान। हा (छोड़ना)—हीयमान। प्रहीयमाण। सो (सा)—अवसीयमान।

अन्त्य इक् को दीर्घ

चि—चीयमान। नी—नीयमान (पर्जन्यवत् सूत्र-प्रवृत्ति हुई है)। श्रि—श्रीयमाण। हि—हीयमान। प्रहीयमाण (भेजा जा रहा)। अधिइङ्—अधीयमान (पढ़ा जा रहा)। मिञ्—प्रमीयमाण। षिञ् (सि)—विसीयमान (बाँधा जा रहा)। निमीयमान (गाड़ा जा रहा)। मीञ्—प्रमीयमाण (मारा जा रहा)। श्रु—श्रूयमाण। स्तु—स्तूयमान। अभिष्टूयमान। हु—हूयमान। ह्नुङ्—अप-ह्नूयमान। सुञ्—सूयमान। अभिषूयमाण।

रिङ् आदेश

कृ—क्रियमाण। वृ—व्रियमाण। भृ—भ्रियमाण। हृ—ह्रियमाण।

न-लोप

भञ्ज्—भज्यमान। रञ्ज्—रज्यमान। सञ्ज्—सज्यमान। प्रसज्यमान। बन्ध्—बध्यमान। मन्थ्—मथ्यमान। दंश्—दश्यमान। शंस्—शस्यमान। स्कन्द्—स्कद्यमान।

इर्, उर् अन्तादेश व दीर्घ

स्तॄ—स्तीर्यमाण। कॄ—कीर्यमाण। गॄ—गीर्यमाण। निगीर्यमाण। पॄ—पूर्यमाण। (उर् अन्तादेश)

गुण

स्तृ—स्तर्यमाण। आस्तर्यमाण। ऋ—अर्यमाण। स्मृ—समर्यमाण।

णिच्-लोप

चोरि—चोर्यमाण। कथि—कथ्यमान। गणि—गण्यमान। चिन्ति—चिन्त्यमान। रचि—रच्यमान। स्पृहि—स्पृह्यमाण। कृ-णिच्=कारि—कार्यमाण। हृ-णिच्=हारि—हार्यमाण। वह्-णिच्=वाहि—वाह्यमान। मान्-णिच्=मानि—मान्यमान।

धात्वादेश

ब्रु—वच्—उच्यमान (सम्प्रसारण)। चक्ष्—ख्याञ्—आख्यायमान। शास्—शिष्—शिष्यमाण।

अन्त्य अनुनासिक को आ

तन्—तन्यते। तायते। खन्—खन्यते। खायते। सन्—सन्यते। सायते।

सम्प्रसारण

वच्—उच्यमान। वप्—उप्यमान। यज्—इज्यमान। वद्—उद्यमान। वह्—उह्यमान। ह्वे—हूयमान। आहूयमान। सम्प्रसारण को दीर्घ। ग्रह्—गृह्यमाण। प्रच्छ्—पृच्छ्यमान। भ्रस्ज्—भृज्ज्यमान। व्यध्—विध्यमान। व्रश्च्—वृश्च्यमान। वेञ्—प्रोयमाण। व्येञ्—संवीयमान। परिवीयमाण।

गुणाभाव

क्री—क्रीयमाण। नी—नीयमान। पू—पूयमान। लू—लूयमान। षूङ् (सू)—प्रसूयमान। षू (सू)—आसूयमान। परासूयमान। इष्—इष्यमाण। क्षिप्—क्षिप्यमाण। भिद्—भिद्यमान। रिच्—रिच्यमान। भुज्—भुज्यमान। मुच्—मुच्यमान। युज्—युज्यमान। रुध्—रुध्यमान। नुद्—नुद्यमान। प्रणुद्यमान। गुह्—गुह्यमान। निगुह्यमान।

प्रत्ययान्त धातुओं के शानजन्तरूप

गुप्—गुप्यमान। गोपाय्यमान। आर्धधातुक यक् परे होने पर गुप् आदि से 'आय' प्रत्यय विकल्प से होता है। पण्—पण्यमान। विपण्यमान। पणाय्यमान। विपणाय्यमान। कम्—कम्यमान। काम्यमान। णिङ् का विकल्प। कण्डु—कण्डूय्यमान। कण्ड्वादिगण में पाठ से स्वार्थे यक् होकर कर्मवाची सार्वधातुक परे रहते पुनः यक्। स्तु—यङ्—तोष्टूय्यमान। अव सो—अवसेसीय्यमान। कृ-सन्—चिकीर्ष्यमाण। ज्ञा-सन्—जिज्ञास्यमान।

प्रयोगमाला

१. धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते। (आपस्तम्ब)
२. नायमात्मा हन्यते हन्यमाने शरीरे।
३. पापं नैव निगूहेत गुह्यमानं विवर्धते।
४. घनाघनैरवस्तीर्यमाणमम्बरं पुष्यति काम्यभिख्याम्।

५. यत्नेन गोपाय्यमाना अप्यर्था विनश्यन्ति, नश्वरत्वात् ।

६. चिकीर्ष्यमाणेष्वपि कर्मस्वाभ्युदयिकेषु न जायते प्रवृत्तिर्दैवोपहतस्य ।

७. न हि सकृदधीयमानानि सूत्राणि हृदि पदं कुर्वन्ति ।

८. गुरुणा प्रोच्यमानं वेदं शृण्वन्त्यवहितं शिष्याः ।

९. तोष्टूय्यमाना देवताः प्रसीदन्ति प्रणतेषु ।

१०. भृज्ज्यमानाश्चणका उत्पतन्ति ऋजीषात् ।

११. काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद् भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति । (भास)

१२. ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् । (मनु० ६।६८)

१३. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।। (मनु० ६।७१)

१४. निशायमानाच्छस्त्राद् व्युच्चरन्ति विस्फुलिङ्गाः ।

१५. पाप्मना पाय्यमानोऽस्य देहः किमपि कृशो वृत्तः ।

१६. अनुष्ठीयमानैरेव शास्त्रार्थैः सुकृती भवति न केवलं चिन्तितैः ।

१७. इत्थं विव्रियमाणोर्थः स्वदतेतरां रसज्ञाय ।

१८. स्मर्यमाणाः पूर्व उदन्ताः किमप्यौत्सुक्यं प्रसुवते ।

१९. वितायमानेषु वितानेषु सहसा प्रावात् प्रवातः ।

२०. दुह्यमानासु गोषु गतः, दुग्धासु चागतः । (काशिका)

परिशोधन व परिबृंहण

पृ० ६ पर 'राजसूय' की व्याख्या में राजन् सोम का नाम है यह कहा गया है । इसमें तान्ह राजा मदयाञ्चकार(ऐ० ब्रा० १।१४) । राजानं क्रेष्यन् (श० ब्रा० ४।५।१।२) । यदि राजोपदस्येत् (श० ब्रा० ४।२।२।५)—ये अधिक प्रमाण जानें ।

,, १२ टिप्पण नं० ३ ओरावश्यके (३।१।१२५) ऐसा चाहिए ।

,, २५ वाक्य नं० ४ विनीयोऽस्मदर्थे के स्थान में विपूयोऽस्मदर्थे ऐसा पढ़ें ।

,, ३६ पं २० में इतना अधिक पढ़ें—रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः ।

,, ३५ पर रजक के विषय में यह श्लोक पढ़िए—
यो न जानाति निर्हर्तुं वस्त्राणां रजको मलम् ।
रक्तानां वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः (भा० १२।३४०४) ॥

पृ० ५१ पङ्क्ति १६ में भागवती के स्थान पर भगवती पढ़ें ।

,, ५३ पङ्क्ति ११ में पन्था के स्थान पर पन्था: पढ़ें ।

,, ६९ पं० १७ में **स्तेनः कस्मात् । संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः** (निरुक्त ३।१९) इतना अधिक पढ़ें ।

,, ७१ पङ्क्ति ६ में निष्ठान्त के स्थान पर निष्ठा-त पढ़ें ।

,, ७५ क्तान्त रूपों में तत के अनन्तर मनु—मत ऐसा अधिक पढ़ें ।

,, ८१ आपीनमन्धुः के स्थान में आपीनोऽन्धुः ऐसा पढ़ें । यहाँ यह विशेष वक्तव्य है कि आपीन (पुं०) अन्धु (पुं०, कुआँ) का पर्याय है । इसमें शब्द कल्पद्रुम प्रमाण है । ऊधस् अर्थ में अमर का साक्षात् पाठ है—ऊधस्तु क्लीबमापीनम् ।

,, ८४ पर पङ्क्ति ८ से आगे **उपधा-न् का लोप** यह शीर्षक पढ़ें । इसके नीचे—अनिदितां हल उपधाया क्ङिति (६।४।२४) । अनिदित् हलन्त धातुओं के उपधा-भूत न् का कित् ङित् प्रत्यय परे रहते लोप हो जाता है । बन्ध्—क्त=बद्ध । भ्रंश्—क्त—भ्रष्ट । रञ्ज्—रक्त । सञ्ज्—सक्त । स्वञ्ज्—स्वक्त । शंस्—शस्त । ध्वंस्—ध्वस्त । स्रंस्—स्रस्त । इतना अधिक पढ़ें । इदित् होने पर भी लगि (लङ्ग्) तथा कपि (कम्प्) के न् का लोप होता जब अर्थ क्रम से रोग व शरीर विकार हो—विलगितः (रुग्ण) । विकपितः (विकृत शरीर वाला) । अनिदितां नलोपे लङ्गिकम्प्योरुपतापशरीरविकारयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम् (वा०) ।

,, १०५ वाक्य नं० ८ में दो बार आए हुए बृहस्पतिर् पद के स्थान में वाचस्पतिर् पढ़ें ।

,, १२१ शब्दार्थक धातुओं से युच् के विधान में 'रवण' भी पढ़ें । यहाँ रु (अदा०) से युच् हुआ है । रवण उष्ट्र का पर्याय है । स्वनाम निन्ये रवणः स्फुटार्थताम् (माघ १२।९) ।

,, १३० इत्र प्रत्ययान्त पवित्र शब्द के विषय में इतना और कहना है कि इत्र प्रत्यय कर्तरि चर्षिदेवतयोः (३।२।१८६) से ऋषि (वेद) तथा देवता के विशिष्ट होने पर कर्ता तथा करण कारक के अर्थ में पूञ् से आता है । इत्र-प्रत्ययान्त ऋषिवाच्य होने

पर पुं० में और देवता वाच्य होने पर नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। पवित्र ऋषिः। अग्निः पवित्रं स मा पुनातु।

पृ० १३१ पं० १८ से आगे—**रामाय यौवराज्यं मे दातुमत्रैव रोचते** (रा० गोरीसियो-सम्पादित २।२।४) इतना अधिक पढ़ें।

,, १४९ णच् प्रत्यय के विधान में व्यावचर्ची का 'एक दूसरे की चर्चा' यह भी अर्थ है ऐसा अधिक पढ़ें।

,, १५९ पङ्क्ति में °प्रांशुबाहु के स्थान पर °प्रांशुबाहुर् ऐसा पढ़ें।

,, १६३ प्रत्ययान्त धातु से 'अ' प्रत्यय के विधान में आय-प्रत्ययान्त पणाय, गोपाय से **पणाया, गोपाया** रूप होते हैं इतना अधिक पढ़ें।

,, १७० ल्युट् के उदाहरणों में **गवादनी**=गोचर=चरागाह। गावोऽदन्त्यत्रेति। अधिकरण में ल्युट्। ओ को अवङ् आदेश। इतना अधिक पढ़ें।

,, १४७ पङ्क्ति २ में 'अपि यत्...' से पूर्व, यहाँ खल् प्रत्यय भाव में हुआ है। कृद्योग में कर्ता व कर्म में षष्ठी का निषेध है। यहाँ सम्बन्धमात्र विवक्षा में शैषिकी षष्ठी समझनी चाहिए।

,, १८५ पङ्क्ति २ में 'लघ्वक्षर से परे' के स्थान में 'लघु-पूर्व वर्ण से परे' ऐसा पढ़ें। लघुपूर्व बहुव्रीहि है। लघु है पूर्व जिस वर्ण से, उस वर्ण से परे ऐसा अर्थ है।

इति कृत्प्रकरणपरिशिष्टं समाप्तम्।

अथ

तद्धित-प्रकरणम्

सुबन्त पद से (स्वार्थिक प्रत्यय होने पर प्रातिपदिक से भी) जो प्रत्यय 'अपत्य' आदि अर्थों को कहने के लिए विधान किए गए हैं उन्हें **तद्धित** कहते हैं। विपुल शब्दराशि इन्हीं प्रत्ययों से निष्पन्न हुई है। संस्कृत का शब्द भण्डार इन तद्धितान्त रूपों से भरपूर हुआ है। अष्टाध्यायी के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के ८२वें सूत्र से पञ्चम अध्याय के अन्त तक तद्धित प्रत्ययों का विधान है। स्वर-सूत्र-सम्बन्धी पादों को छोड़कर इतने लम्बे पाद अष्टाध्यायी में कहीं नहीं हैं। तद्धित प्रकरण का उपक्रम करते हुए भगवान् पाणिनि 'तद्धिताः' ऐसा सूत्र पढ़ते हैं। यहाँ बहुवचन साभिप्राय है। इन प्रत्ययों के बहुत्व का संकेतक है। कृत्-प्रत्ययों का प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कृदतिङ् सूत्र में 'कृत्' यह एकवचनान्त पद पढ़ते हैं। ऐसा न्यास हमारी कल्पना का समर्थक है। तद्धित-प्रत्ययों को 'तद्धित' इसलिए कहते हैं कि ये उस-उस प्रयोग की निष्पत्ति में हितकर (उपयोगी) हैं—तस्मै तस्मै प्रयोगाय हिताः। जिसका अर्थ यह है कि इनका उपयोग शिष्ट-सम्मत इष्ट प्रयोगों की साधना में ही होता है, मनमाने नए-नए प्रयोग बनाने के लिए नहीं।

तद्धित विधि में आगे कहे जाने वाले विधायक सूत्रों में **समर्थानां प्रथमाद् वा** (४।१।८२) इन तीनों पदों का अधिकार चलता रहेगा, जब तक स्वार्थिक प्रत्ययों का विधान प्रारम्भ नहीं होता। जैसा प्रारम्भ में यहाँ कहा है तद्धित-प्रत्यय पदों से होते हैं अर्थात् तद्धित विधि पद-विधि है और जो भी पद-विधि होती है वह समर्थ=संगतार्थ=सम्बद्धार्थ पदों को होती है।[1] समासविधि भी ऐसी ही पदविधि है। सो तद्धित विधि समासविधि का अपवाद है। पर इससे समास का अत्यन्त बाध नहीं होता, पक्ष में समास भी रहता है, कारण

१. समर्थः पदविधिः (२।१।१)।

कि पूर्वसूत्र (४।१।८१) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आती है। और इस अधिकार सूत्र में 'वा' ग्रहण किया है जिससे तद्धित के अभाव में वाक्य भी रहेगा। उदाहरणार्थ उपगु का अपत्य(=सन्तान) इस अर्थ को तीन तरह से कह सकते हैं। वाक्य से जैसे—**उपगोर् अपत्यम्**। समास से जैसे—**उपग्व-पत्यम्**। तद्धित से जैसे—**औपगवः**।

तद्धितविधि समर्थ पदाश्रित ही होगी। अतः कम्बल उपगोः, अपत्यं देव-दत्तस्य—यहाँ अपत्यार्थ में उपगु अस् से तद्धित नहीं होगा।

लक्षण-वाक्यों में जो प्रथम समर्थ पद होगा उससे प्रत्यय होगा। तस्या-पत्यम् (४।१।९२)। यह लक्षण-वाक्य है। सो यहाँ षष्ठ्यन्त पद से प्रत्यय होगा। उपगोरपत्यम् औपगवः। प्रथमान्त 'अपत्य' से नहीं। प्रत्यय-विधायक सूत्र में पञ्चमी निर्देश से प्रकृति का निर्देश नहीं, जिससे मुक्तसंशय रूप से प्रत्यय हो। वह तो वाक्य द्वारा प्रत्ययार्थ निर्देशमात्र करता है।

भट्टोजिदीक्षित भाष्याशय का अनुसरण करते हुए समर्थ का अर्थ शक्त, अर्थाभिधान में शक्त, परिनिष्ठित (प्रयोगार्ह) अर्थात् कृतसन्धिकार्य ऐसा मानते हैं। यदि ऐसा न हो तो सु उत्थितस्य अपत्यम्—यहाँ अकृतसन्धि पद से प्रत्ययोत्पत्ति हो जाने पर आदि अच् 'उ' को वृद्धि 'औ' और उसे आव् आदेश होने से सावुत्थितिः ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा। सन्धिकार्य के पश्चात् प्रत्यय (इञ्) आने पर **'सौत्थितिः'** यह इष्ट रूप सिद्ध होता है।

तद्धित-प्रत्यय आने पर तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[1] तब इस समुदाय के अन्तर्वर्ती सुप् (सु आदि प्रत्ययों) का लुक् हो जाता है जैसे समास में।[2] पश्चात् उससे विवक्षा के अनुसार विभक्ति उत्पन्न होती है जैसे उपगु अस् अण्=उपगु अ। आदि वृद्धि और भसंज्ञक उपगु के 'उ' को गुण, अवादेश होकर 'औपगव' रूप सिद्ध होता है तब इससे सु आदि प्रत्यय आते हैं—औपगवः, औपगवौ, औपगवाः इत्यादि।

उपगोर् अपत्यम्—यह लौकिक विग्रह है। उपगु अस् अण्—यह अलौ-किक (लोक में अप्रसिद्ध) विग्रह है।

---

१. कृत्तद्धित-समासाश्च (१।२।४६)।
२. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

इह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । 'अन्' से प्रकृतिभाव।

अपत्यार्थक तद्धित

अण्——प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अपवाद विषय को छोड़कर प्रकृतिमात्र से अण् प्रत्यय होता है।[1] तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२) ऐसा पाणिनीय सूत्र है। प्रगदीव्यतीय अर्थात् ४।४।२ से पूर्व निर्दिष्ट नाना अर्थों में अण् का अधिकार है। जिस किसी अर्थ में कोई दूसरा प्रत्यय विधान नहीं किया गया वहाँ अण् होता है ऐसा समझना चाहिए। अपत्यार्थ भी एक प्राग्दीव्यतीय अर्थ है, अतः तस्यापत्यम् (४।१।९२) इस सूत्र से षष्ठ्यन्त से अण् प्रत्यय होगा——**उपगोर् अपत्यम् औपगवः। भानोरपत्यम् भानवः। त्रिशङ्कोरपत्यं त्रैशङ्कवः** (हरिश्चन्द्रः)। **वचक्नोर् अपत्यं स्त्री वाचक्नवी**= गार्गी। वचक्नु की पुत्री। स्त्री प्रत्यय ङीप्। **रघोरपत्यं—राघवः। करीष-गन्धेर् अपत्यम्——कारीषगन्धः। चक्रवर्मणोऽपत्यं चाक्रवर्मणः। वज्रिणोऽपत्यं वाज्रिणः** (जयन्त)। **वृत्रघ्नोऽपत्यं वार्त्रघ्नः।** वृत्रहन् (इन्द्र) का पुत्र।

तद्धित विधि के एक दो सामान्य नियम हैं उन्हें जानना अत्यावश्यक है—

(क) ञित् णित्, कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते प्रकृति के अचों में जो आदि अच् हो उसे वृद्धि होती है[2] जैसे यहाँ उपगु और भानु शब्दों के अचों में से आदि अच् उ, आ को वृद्धि हुई है। 'आ' पहले ही वृद्धि-संज्ञक है तो भी 'पर्जन्यवत् शास्त्रं प्रवर्तते' इस न्याय से यहाँ भी शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। 'कारीषगन्धः' में 'क' के 'अ' को वृद्धि हुई है।

(ख) भसंज्ञक 'उ' को गुण होता है।[3] ऊपर दिए हुए तीनों उदाहरणों में अन्त्य 'उ' को गुण होकर अवादेश हुआ है।

(ग) ई (स्त्री प्रत्यय) तथा तद्धित प्रत्यय परे रहते 'भ' प्रकृति के अन्त्य इ, अ का लोप हो जाता है[4]। यहाँ करीषगन्धि के 'इ' का लोप हुआ है।

(घ) नकारान्त 'भ' प्रकृति के 'टि' का लोप हो जाता है।[5] उदाहरण—**मेधाविनोऽपत्यं मैधावः।** यहाँ टि=इन् का लोप हुआ है।

---

१. प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३)।
२. तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७)। किति च (७।२।११८)।
३. ओर्गुणः (६।४।१४६)।
४. यस्येति च (६।४।१४८)।
५. नस्तद्धिते (६।४।१४४)।

अण्—अश्वपति आदि शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अपत्यादि अर्थों में अण् होता है।[1] पति उत्तर पद होने पर 'ण्य' प्रत्यय का विधान करेंगे, सो यह उसका अपवाद है—**अश्वपतेर् अपत्यादि आश्वपतः। राष्ट्रपतेरपत्यादि राष्ट्रपतः। गणपतेर् अपत्यादि गाणपतः। पशुपतेर् अपत्यादि पाशुपतः। सभापतेर् अपत्यादि साभापतः।**

दितेरपत्यं दैत्यः। अदितेरपत्यं आदित्यः। आदित्यस्यापत्यं आदित्यः। प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः।

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (४।१।८५)

शिव आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।[2] इञ् आदि प्रत्ययों की प्राप्ति को बाधने के लिए गणपाठ किया है—**शिवस्यापत्यं शैवः। ककुत्स्थस्यापत्यं काकुत्स्थः। कहोडस्यापत्यं काहोडः।** डकार को लकार आदेश होने पर **काहोलः। हेहयस्यापत्यं हैहयः। वतण्डस्यापत्यं वातण्डः।** जरत्कारोर् अपत्यं **जारत्कारवः।** गुण। अवादेश। **ऋष्टिषेणस्यापत्यम् आर्ष्टिषेणः। यस्कस्यापत्यं यास्कः। भूमेर् अपत्यं भौमः** (मङ्गल ग्रह)। **इलाया अपत्यम् ऐलः** (पुरूरवस्)। **सपत्न्या अपत्यं सापत्नः।** इस गण में तक्षन् शब्द पढ़ा है। कारी (शिल्पी) होने से जो पाक्षिक इञ् प्राप्त होता है उसे बाधने के लिए। जो 'ण्य' प्रत्यय विहित किया है वह इष्ट ही है, सो **तक्ष्णोऽपत्यं ताक्ष्णः।** यहाँ अन् के 'अ' का लोप भी होता है।[3] **ताक्षण्यः।** यहाँ अन् प्रकृतया (=अपने स्वरूप में बना) रहता है।[4] गङ्गा शब्द भी इस गण में पढ़ा है। आगे कहे जाने वाले शुभ्र आदि गण में तथा तिकादि गण में भी। सो **गङ्गाया अपत्यम्** इस अर्थ में **गाङ्गः** (अण्), **गाङ्गेयः** (ढक्=एय), **गाङ्गायनिः** (फिञ्=आयनि) तीन रूप होंगे।

तद्धित प्रत्ययों के आदि में आए हुए फ, ढ, ख, छ, घ को उपदेशकाल

---

१. अश्वपत्यादिभ्यश्च (४।१।८४)।
२. शिवादिभ्योऽण् (४।१।११२)।
३. षपूर्व-हन्-धृतराज्ञामणि (६।४।१३५) से अण् प्रत्यय परे होने पर अल्लोप (अन् के 'अ' का लोप) होता है। अन् (६।४।१६७) से प्राप्त प्रकृतिभाव नहीं होता।
४. ये चाभावकर्मणोः (६।४।१६८) से अन् प्रकृतया=अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। यहाँ यादि ण्य प्रत्यय है जो न भाव में है न कर्म में।

में ही क्रम से आयन, ईन, ईय, इय आदेश होते हैं। फ आदि में 'अ' उच्चारण के लिए है। फ् आदि के स्थान में आयन् आदि समझें।[1]

अण्—नदीवाचक तथा मानुषी (मनुष्यजाति की स्त्री)—वाचक जो शब्द संज्ञायें हों और जिनके आदि में वृद्धि न हो उनसे अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है[2]—नदीवाचक शब्दों से—**यमुनाया अपत्यं यामुनः। इरावत्या अपत्यम् ऐरावतः। वितस्ताया अपत्यं वैतस्तः।** वितस्ता झेलम नदी का प्राचीन नाम है। **नर्मदाया अपत्यं नार्मदः।** उस-उस नाम वाले मानुषीवाचक शब्दों से—**शिक्षिता नाम काचित्, तस्या अपत्यं शैक्षितः। चिन्तिताया नाम स्त्रिया अपत्यं चैन्तितः।** यदि आदि अच् वृद्धि होगा तो यथाप्राप्त ढक् (=एय) होगा—**चान्द्रभाग्याया अपत्यं चान्द्रभागेयः।** यहाँ हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०)से तद्धित यकार का लोप हुआ है। **वासवदत्ताया** (उदयनपत्न्याः) **अपत्यं वासवदत्तेयः।** पर शोभना जो किसी स्त्री का नाम नहीं 'उसका अपत्य' इस अर्थ में **शौभनेयः** ही होगा, यद्यपि शोभना शब्द वृद्ध नहीं है (अर्थात् इसके अचों में से आदि अच् ओ वृद्धि-संज्ञक नहीं है)। इसी प्रकार सुपर्णा, विनता (गरुड की माता का नाम) के अपत्य अर्थ में भी ढक् होकर **सौपर्णेय, वैनतेय** रूप बनेंगे। क्योंकि सुपर्णा, विनता मानुषी नहीं।

ऋषिवाचक[1] शब्दों से, अन्धक वंशजों[2] के नामों से, वृष्णि (यादव) वंशजों[3] के नामों से, कुरुवंशजों[4] के नामों से 'उसका अपत्य' इस अर्थ में अण् होता है[3]। ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं। १—**वसिष्ठस्यापत्यं वासिष्ठः। विश्वामित्रस्यापत्यं वैश्वामित्रः। २—श्वफलकस्यापत्यं श्वाफलकः। ३—वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः। अनिरुद्धस्यापत्यम् आनिरुद्धः** (वज्रः)। **४—नकुलस्यापत्यं नाकुलः। सहदेवस्यापत्यं साहदेवः।**

अत्रि नामक ऋषि का अपत्य—यहाँ **'आत्रेय'** रूप होगा। अण् का अपवाद ढक् आगे कहेंगे।

संख्या, सम्, भद्र से परे मातृ शब्द से 'उसका अपत्य' इस अर्थ में अण्

---

१. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (७।१।२)।

२. अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः (४।१।११३)।

३. ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च (४।१।११४)।

होता है, साथ ही 'मातृ' के ऋ को उ (रपर) आदेश होता है[1]—द्वयोर्मात्रोर् अपत्यं द्वैमातुरः (गणेश, जरासन्ध)। 'सगी मां तथा सुतेली मां का पुत्र' इसका मुख्य अर्थ है। षण्णां मातॄणामपत्यं षाण्मातुरः (कार्तिकेय)। संमातुर-पत्यं सांमातुरः (पुण्यात्मा माता का पुत्र)। भाद्रमातुरः।

कन्या से 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अण् होता है, साथ ही कन्या के स्थान में 'कनीन' आदेश होता है[2]—कन्याया अपत्यं कानीनः (व्यास, कर्ण)। ढक् की प्राप्ति थी। वेद में 'कनी' कन्यार्थ में तथा 'कनीन' युवक के अर्थ में आया है—जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् (ऋ० १।६६।८)। जारः कनीन इव चक्षदानः (ऋ० १।११७।१८)।

पीला (किसी स्त्री का नाम) से विकल्प से अण् होता है, पक्ष में यथाप्राप्त ढक्[3]—पैलः। पैलेयः। पैल वैशम्पायन के शिष्यों में से एक शाखा-प्रवर्तक शिष्य था।

जनपद समान शब्द क्षत्रियवाची मगध, द्वचच् (द्वचक्षर) शब्द से, तथा कलिंग, सूरमस—इनसे 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अण् होता है[4]—अङ्गा नाम जनपदः। अङ्गो नाम क्षत्रियः। अङ्गस्यापत्यम् आङ्गः। बङ्गा नाम जनपदः। बङ्गो नाम क्षत्रियः। बङ्गस्यापत्यं बाङ्गः—ये द्वचच्क के उदाहरण हुए। मगधस्यापत्यं मागधः। कलिङ्गस्यापत्यं कालिङ्गः। सूरमसस्यापत्यं सौर-मसः। यह अञ् का अपवाद है।

अञ्—उत्स आदि शब्दों से अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है[5]—उत्सस्यापत्यादि औत्सः। भरतस्यापत्यादि भारतः। उशीनरस्या-पत्यादि औशीनरः। मध्यन्दिनस्यापत्यादि माध्यन्दिनः। जगत्या अपत्यादि जागतः।

ञ्, अण्—पृथिवी शब्द से अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ञ व अञ्

१. मातुरुत्संख्या-सं-भद्रपूर्वायाः (४।१।११५)।
२. कन्यायाः कनीन च (४।१।११६)।
३. पीलाया वा (४।१।११८)।
४. द्वचञ्-मगध-कलिङ्ग-सूरमसादण् (४।१।१७०)।
५. उत्सादिभ्योऽञ् (४।१।८६)।

प्रत्यय होते हैं[1]—**पृथिव्या अपत्यादि पार्थिवः।** रूप में कोई भेद नहीं, पर 'ञ' होने पर स्त्रीलिङ्ग में **पृथिव्या अपत्यं स्त्री पार्थिवा** (टाप्) ऐसा रूप होगा और अञ् होने पर ङीप् होकर **पार्थिवी** ऐसा।

यञ् अञ्—देव शब्द से अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में यञ् व अञ् प्रत्यय होते हैं[2]—**देवस्यापत्यादि दैव्यः। दैवः।**

यञ् ईकक्—बहिस् शब्द से प्राग्दीव्यतीय अपत्यादि अर्थों में यञ् प्रत्यय होता है और ईकक् भी।[3] साथ ही इसके 'टि' भाग का लोप हो जाता है—बहिस्—यञ्=**बाह्यः।** बहिस्—ईकक्=**बाहीकः।**

बिद आदि शब्द जो ऋषिवाचक न हों उनसे 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है[4]—**पुत्रस्यापत्यं पौत्रः। दुहितुर् अपत्यं दौहित्रः। ननान्दुर् अपत्यं नानान्द्रः। पुनर्भ्वा अपत्यं पौनर्भवः।** जिसका वैधव्यादिकारण से दुबारा विवाह-संस्कार होता है उसे पुनर्भू कहते हैं। **परस्त्रिया अपत्यं पारशवः।** यहाँ 'परस्त्री' शब्द को 'परशु' आदेश होता है। जो यहाँ ऋषि-वाचक पढ़े हैं उनसे गोत्रापत्य में अञ् होगा। उनके उदाहरण गोत्रापत्य प्रकरण में देंगे।

अञ्—जनपदसमान शब्द जो क्षत्रिय का नाम हो, उससे अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है[5]—पञ्चाला जनपदः। पञ्चालो नाम क्षत्रियः। **पञ्चाल-स्यापत्यं पुमान्=पाञ्चालः। इक्ष्वाकोर् अपत्यं पुमान्=ऐक्ष्वाकः।** यहाँ अन्त्य 'उ' का लोप भी होता है। **विदेहस्यापत्यं पुमान्=वैदेहः।** केकया नाम जनपदः। केकयो नाम क्षत्रियः। **केकयस्यापत्यं पुमान्=कैकेयः।** यहाँ 'केकय' के 'य' के स्थान में 'इय' आदेश भी होता है।[6] स्त्रीत्व विवक्षा में **कैकेयी।** यदि पञ्चाल आदि ब्राह्मण होगा तो इञ् होकर **पाञ्चालिः, वैदेहिः** आदि रूप होंगे।

---

१. पृथिव्या ञाञौ (वा०)।
२. देवाद्यञञौ (वा०)।
३. बहिषष्टिलोपश्च (वा०)। ईकक् च (वा०)।
४. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (४।१।१०४)।
५. जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् (४।१।१६८)।
६. केकयमित्रयु-प्रलयानां यादेरियः (७।३।२)।

मित्रावरुणयोरपत्यं मैत्रावारुणिः।

अञ्, यत्—मनु शब्द से 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं, साथ ही षुक् (ष्) का आगम होता है, यदि प्रकृतिप्रत्यय समुदाय से जाति का बोध हो[1]—**मनोरपत्यं जातिः=मानुषः। मनुष्यः।** जाति की अविवक्षा में केवल अपत्यार्थ में अण् होकर **'मानव'** यह रूप होगा।

इञ्—अदन्त शब्द से तस्यापत्यम् अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है[2]—**दक्षस्यापत्यं दाक्षिः। उत्तानपादस्यापत्यम् औत्तानपादिः**=ध्रुव। **दशरथस्यापत्यं दाशरथिः। दुःष्यन्तस्यापत्यं दौःष्यन्तिः। गर्गस्यापत्यं गार्गिः। औपगवस्यापत्यम्=औपगविः। वसुकस्यापत्यं वासुकिः। वल्मीकस्यापत्यं वाल्मीकिः।** यहाँ अपत्यत्व गौण है। भगवान् वाल्मीकि वल्मीकजन्मा होने से ऐसा कहलाये। वे बाम्बी से उत्पन्न हुए। **उग्रसेनस्यापत्यम् औग्रसेनिः** कंसः।

बाहु आदि शब्दों से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है।[3] इस गण में ऐसे शब्द पढ़े हैं जो अदन्त नहीं हैं, अतः उनसे इञ् की प्राप्ति नहीं थी। **बलाकाया अपत्यं बालाकिः। सुमित्राया अपत्यं सौमित्रिः** (लक्ष्मण)। **पुष्करसदोऽपत्यम् पौष्करसादिः। उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः।** औडुलोमी (द्विवचन)। उडुलोमाः। बहुवचन में 'अ' प्रत्यय होता है।[4] नकारान्त उडुलोमन् की 'टि' का सर्वत्र लोप हुआ है। **अजीगर्तस्यापत्यम्=आजीगर्तिः** (शुनःशेप आदि)। **कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः। शूरस्यापत्यं शौरिः।** यहाँ वृष्णिवंशज होने से अण् प्राप्त था। **प्राद्युम्निः** (अनिरुद्ध)। यहाँ भी। **यौधिष्ठिरिः** (युधिष्ठिर का पुत्र)। **आर्जुनिः** (अर्जुन का पुत्र)। यहाँ कुरुवंशज होने से अण् प्राप्त था। **अम्भसोऽपत्यम् पुमान्=आम्भिः** (भीष्म)। यहाँ टि (=अस्) का लोप भी होता है। श्वशुर नामक पुरुष का पुत्र=**श्वाशुरिः।** बाह्वादिगण आकृतिगण है, अतः इन्द्रशर्मन् आदि गण में अपठित शब्दों से भी इञ् होगा—**इन्द्रशर्मणोऽपत्यम् ऐन्द्रशर्मिः।** 'नस्तद्धिते' से टि (अन्) का लोप।

इञ्—उत्तरभारत के आचार्यों के मत में सेनान्त, लक्षण तथा

---

१. मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४।१।१६१)।
२. अत इञ् (४।१।९५)।
३. बाह्वादिभ्यश्च (४।१।९६)।
४. लोम्नोऽपत्येषु बहुषु (वा०)।

कारिवाचक शब्दों से तस्यापत्यम् अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है।[1] कारी शिल्पी को कहते हैं। **हरिषेणस्यापत्यं हारिषेणिः । लाक्षणिः । तन्तुवायस्यापत्यं तान्तुवायिः । कौम्भकारिः** (कुम्हार का पुत्र)। **नापितिः** (नाई का पुत्र)। पक्षान्तर में 'ण्य' होता है।

सुधातृ शब्द से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। साथ ही ऋ के स्थान में 'अक' आदेश होता है[2]—**सुधातुर् अपत्यम् पुमान्=सौधातकिः।**

वार्तिककार के मत से व्यास, वरुड, चण्डाल, निषाद, बिम्ब—इनसे भी इञ् प्रत्यय तथा अकङ् (अक) अन्त्य आदेश होता है[3]—**व्यासस्यापत्यम् पुमान् =वैयासकिः** (शुक)। यहाँ आदि अच् को वृद्धि न होकर पदान्त य् से पूर्व एच् (ऐ) का आगम होता है। वि आस—यहाँ जैसे 'इ' पदान्त है, वैसे 'इ' के स्थान में यण् (य्) भी पदान्त है। **वारुडकिः । चाण्डालकिः । नैषादकिः । बैम्बकिः ।**

ण्य—दिति, अदिति, आदित्य से, तथा 'पति' उत्तरपद वाले शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अपत्यादि अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होता है[4]—**दितेरपत्यादि दैत्यः । आदित्यः । आदित्यः । आदित्य्यः ।** यहाँ आदित्य शब्द के 'अ' का लोप होने पर य(प्रत्यय) परे होने से पूर्वयकार का पाक्षिक लोप भी होता है। हलो यमां यमि लोपः (८।४।६४)। यदि 'आदित्य' में प्रत्यय अपत्य अर्थ में ही हुआ है, **अदितेरपत्यं पुमान् आदित्यः**, तब इस अपत्यार्थक तद्धित का पुनः ण्य तद्धित परे होने पर नित्य लोप होता है। आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति (६।४।१५१)। सेनापति—**सैनापत्यः ।** प्रजापति—**प्राजापत्यः ।**

जनपदसमान शब्द क्षत्रिय-वचन कुरु शब्द से तथा ऐसे ही नकारादि प्रातिपदिकों से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में ण्य (=य) प्रत्यय होता है[5]—कुरवो नाम जनपदः। कुरुः क्षत्रियः। **कुरोः क्षत्रियस्यापत्यं पुमान्=कौरव्यः ।** निषधा नाम जनपदः। निषधो नाम क्षत्रियः। **निषधस्यापत्यं पुमान्=नैषध्यः ।** यह अण् और अञ् का अपवाद है।

---

१. सेनान्त-लक्षण-कारिभ्यश्च (४।१।१५२)। उदीचाम् इञ् (४।१।१५३)।
२. सुधातुरकङ् (४।१।९७)।
३. व्यास-वरुड-निषाद--चण्डाल-बिम्बानामिति वक्तव्यम् (वा०)
४. दित्यदित्यादित्य-पत्युत्तरपदाण्ण्यः (४।१।८५)।
५. कुरु-नादिभ्यो ण्यः (४।१।१७२)।

कुरु (ब्राह्मणवाची) आदि शब्दों से भी यह 'ण्य' प्रत्यय होता है[1]—**कौरव्यः**। पर इसकी 'तद्राज' संज्ञा (जो आगे कहेंगे) न होने से बहुवचन में इस (ण्य) का लुक् नहीं होता—**कौरव्यः, कौरव्यौ, कौरव्याः**।

कुर्वादिगण पठित होने से वावदूक (बहुत बोलने वाला) से भी 'ण्य' प्रत्यय होता है—**वावदूकस्यापत्यं वावदूक्यः**। इसी प्रकार वामरथ शब्द से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है। **वामरथ्य**। यहाँ 'वामरथस्य कण्वादिवत्स्वर-वर्जम्' ऐसा गणसूत्र पढ़ा है। इससे जैसे काण्व्यः, काण्व्यौ, कण्वाः, बहुवचन में यञ् का लुक् होता है वैसे ही यहाँ भी **वामरथ्यः, वामरथ्यौ, वामरथाः**। बहु० में ण्य का लुक् होता है। स्त्रीत्व विवक्षा में **वामरथी, वामरथ्यायनी**। यहाँ यञन्त (कण्व) की तरह विकल्प से ष्फ (आयन) और ष्फ के षित् होने से ङीष् प्रत्यय होता है।[2]

कुरु आदि गण में पढ़े होने से गर्ग और कवि शब्दों से भी अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है—**गर्गस्यापत्यं पुमान् गार्ग्यः। कवेः (शुक्रस्य) अपत्यं पुमान् काव्यः**। इनके बहु० में प्रत्यय का लुक् नहीं होगा—**गार्ग्याः। काव्याः**।

सेनान्त प्रातिपदिक, लक्षण तथा शिल्पीवाचक प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है[3]—**हरिषेणस्यापत्यं हारिषेण्यः**। लक्षणस्य—**लाक्षण्यः**। **तक्ष्णोऽपत्यं ताक्षण्यः** (तक्षा=तरखान)। तन्तुवायस्य—**तान्तुवाय्यः**। नापितस्य—**नापित्यः**।

अ—अश्वत्थामन् शब्द से अपत्यार्थ में 'अ' प्रत्यय होता है[4]—**अश्वत्थाम्नोऽपत्यम् अश्वत्थामः**। यहाँ 'टि' (अन्) का लोप हुआ है।

यत्—गो शब्द से अजादि प्रत्यय की प्राप्ति होने पर सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में यत् प्रत्यय होता है[5]—**गोरपत्यं गव्यः**। यहाँ यकारादि प्रत्यय परे होने पर गो को गव् (वान्तादेश) हो जाता है[6]। **गोरिदं गव्यम्। गवि भवं**

१. कुर्वादिभ्यो ण्यः (४।१।१५१)।
२. वामरथस्य कण्वादिवत्स्वरवर्जम् (ग० सू०)।
३. सेनान्त-लक्षण-कारिभ्यश्च (४।१।१५२)।
४. स्थाम्नोऽकारः (वा०)।
५. सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत् (वा०)।
६. वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९)।

गव्यम् । गौर्देवताऽस्य गव्यो मन्त्रः । पर अजादि प्रत्यय का प्रसङ्ग न होने पर यत् नहीं होगा—**गोः पुरीषं गोमयम् ।**

नञ् स्नञ्—स्त्री, पुम्स् शब्दों से धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१) तक कहे हुए अर्थों में क्रम से नञ् (न) तथा स्नञ् (स्न) प्रत्यय आते हैं[1]—**स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः । पुंसोऽपत्यं पौंस्नः ।** यहाँ पुम्स् के 'स्' का संयोगान्त होने से लोप हो जाता है । दूसरे अर्थों में उदाहरण—**स्त्रीषु भवं स्त्रैणम् । पौंस्नम् । स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम् । पौंस्नम् । स्त्रीभ्य आगतं स्त्रैणम् । पौंस्नम् । स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम् । पौंस्नम् । स्त्रीप्रयोजनो रणः स्त्रैणः ।** वति अर्थ में ये प्रत्यय नहीं होते—**स्त्रीवत् । पुंवत् ।**

ढक्—अग्नि, कलि—इनसे सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ढक् (एय) प्रत्यय होता है[2]—**अग्नेरपत्यम् आग्नेयम् । अग्निर्देवताऽस्य हविषः—आग्नेयं हविः । अग्निना दृष्टं साम आग्नेयम् । अग्नौ भवम् आग्नेयम् । अग्नेर् आगतम्=आग्नेयम् । अग्नेः स्वम् आग्नेयम् ।**

स्त्रीप्रत्ययान्त से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में ढक् (एय) प्रत्यय होता है[3]—'**शकुन्तलाया अपत्यं शाकुन्तलेयः** (भरत) । **वासवदत्ताया अपत्यं वासवदत्तेयः ।** सुपर्णायाः—**सौपर्णेयः** (गरुड) । विनतायाः—**वैनतेयः** (गरुड) । सरमा=देवशुनी । तस्या अपत्यं **सारमेयः** श्वा (कुत्ता) । वडवा शब्द से वृष (बीजाश्व) वाच्य होने पर ढक् होता है[4]—**वाडवेयः**=वृषः । अपत्यार्थ में अण् होगा—**वाडवः** (घोड़ी का पुत्र) ।

अदिति शब्द से (जिसका 'इ' क्तिन् का इ नहीं, और जिसके 'ति' का क्तिन्-समान अर्थ नहीं है) से ङीष् करके पश्चात् ढक् होने पर **आदितेय** रूप सिद्ध होता है । **अदित्या अपत्यम् आदितेयः ।** अरणी—**आरणेयोऽग्निः**=अरणिसमुत्थः । **वासवी** (उपरिचर-कन्या)—**तस्या अपत्यं वासवेयो व्यासः । अञ्जनाया अपत्यम्=आञ्जनेयो हनूमान् ।**

---

१. स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् । (४।१।८७) ।
२. सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग् वक्तव्यः (वा०) ।
३. स्त्रीभ्यो ढक् (४।१।१२०) ।
४. वडवाया वृषे (वा०) ।

द्व्यक्षर स्त्रीप्रत्ययान्त से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। यह तन्नामिक अण् का अपवाद है[1]—**दत्ता नाम काचित् तस्या अपत्यं दात्तेयः। गोपी नाम काचित् तस्या अपत्यं गौपेयः। कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयः।**

पृथा से 'तस्येदम्' इस सामान्य अर्थ में अण् करके **पार्थ** रूप सिद्ध होगा। अथवा शिव आदि गण में पाठ करके अपत्यार्थ में भी अण् साधु होगा।

इकारान्त द्व्यक्षर प्रातिपदिक जो इञन्त न हो, से ढक् होता है[2]—**अत्रेर् अपत्यम् आत्रेयः** (अत्रि का पुत्र। आत्रेयी=अत्रि की पुत्री)। आत्रेयी रजस्वला को भी कहते हैं, आत्रेयी की तरह अगम्य होने से। निधि—**नैधेयः।** विधि—**वैधेयः** (मूर्ख)। कपि—**कापेयः।** मुनि—**मौनेयः।** ऋषि—**आर्षेयः। कापेयी चलचित्तता। कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचित्तता** (रा० ६।१२७।२३)। यहाँ अपत्य-भाव औपचारिक है। **बलेरपत्यं बालेयः।** पुत्रानुत्पादयामास पञ्च वंशकरान्भुवि। अङ्गः प्रथमतो जज्ञे ''बालेयं क्षत्रमुच्यते ॥ (हरिवं० १।३१।३३, ३४)।

शुभ्र आदि शब्दों से तस्यापत्यम् अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है।[3] इञ् आदि का अपवाद है। **शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः। विमातुर् अपत्यं वैमात्रेयः** (विमाता=सौतेली माँ)। **विधवाया अपत्यं वैधवेयः।** 'क्षुद्राभ्यो वा' से प्राप्त पाक्षिक ढक् को बाधने के लिए विधवा शब्द यहाँ शुभ्रादिगण में पढ़ा है। **गङ्गाया अपत्यं गाङ्गेयः** (भीष्म)। रोहिणी—**रौहिणेयः।** रुक्मिणी—**रौक्मिणेयः। अम्बिकाया अपत्यम् आम्बिकेयः** (धृतराष्ट्र)। कद्रूर्नाम सर्पमाता, तस्या अपत्यं **काद्रवेयः।** यहाँ 'ऊ' का लोप नहीं होता[4]। गुण होकर अवादेश हो जाता है। इतरस्य—**ऐतरेयः।** अन्यतरस्य—**आन्यतरेयः।** शकल—**शाकलेयः।** शबल—**शाबलेयः।** मृकण्ड—**मार्कण्डेयः।**

---

१. द्व्यचः (४।१।१२१)।
२. इतश्चानिञः (४।१।१२२)।
३. शुभ्रादिभ्यश्च (४।१।१२३)।
४. ढे लोपोऽकद्र्वाः (६।४।१४७)।

मृकण्ड मृकण्डु ऋषि का नामान्तर है। मृकण्डु से भी ढक् होने पर 'उ' का लोप[१] हो जाने से 'मार्कण्डेय' रूप ही होगा। **प्रवाहणस्यापत्यम्=प्रावाहणेयः, प्रवाहणेयः**। यहाँ उत्तरपद को वृद्धि नित्य और पूर्वपद के आदि अच् को वृद्धि विकल्प से होती है।[२] शुभ्र आदि गण आकृतिगण है, अतः **पाण्डोर् अपत्यं पाण्डवेयः**, यहाँ भी ढक् होता है। भारत द्रोण० (४८।२०) में प्रयोग भी है—**शीघ्रतां नरसिंहेभ्यः पाण्डवेयस्य पश्यत**।

दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः।[३]

मण्डूकस्यापत्यं माण्डूकेयः।[४] अण् तथा इञ् भी होते हैं—**माण्डूकः। माण्डूकिः**।

मातृष्वसुर् अपत्यम्=मातृष्वसेयः[५] (मौसी का पुत्र)। **पितृष्वसुर् अपत्यं पैतृष्वसेयः** (बूआ का पुत्र)। यहाँ अन्त्य ऋ का लोप भी होता है।

कल्याणी आदि शब्दों को इनङ् अन्तादेश भी होता है[६]—**कल्याण्या अपत्यं काल्याणिनेयः**। बन्धक्याः—**बान्धकिनेयः** (बन्धकी=पुंश्चली)। सुभगायाः—**सौभागिनेयः**। दुर्भगायाः—**दौर्भागिनेयः**। यहाँ हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च (७।३।१९) से उभयपद वृद्धि होती है। ज्येष्ठा (ज्येष्ठिन्)—**ज्यैष्ठिनेयः**। जेठानी का लड़का। कनिष्ठा (कनिष्ठिन्)—**कानिष्ठिनेयः**। जरती का पुत्र=**जारतिनेयः**। जरती=बुढ़िया। परस्य स्त्री परस्त्री, तस्या अपत्यं **पारस्त्रैणेयः**। यहाँ अनुशतिकादि (७।३।२०) होने से उभयपद वृद्धि हुई है।

कुलटाया अपत्यं कौलटिनेयः। कौलटेयः। यहाँ इनङ् आदेश विकल्प से होता है।[७] कुलटा यहाँ भिक्षुकी को कहा है जो भिक्षार्थ घर-घर घूमती है। भिक्षार्थं कुलान्यटतीति कुलटा।

---

१. ढे लोपोऽकद्र्वाः (६।४।१४७)। उवर्णान्त भ-संज्ञक का लोप। 'ओर्गुणः' का अपवाद है।

२. प्रवाहणस्य ढे (७।३।२८)।

३. दुष्कुलाड्ढक् (४।२।१४२)।

४. ढक् च मण्डूकात् (४।१।११९)।

५. मातृष्वसुश्च (४।१।१३४)।

६. कल्याण्यादीनामिनङ् (४।१।१२६)।

७. कुलटाया वा (४।१।१२७)।

ढञ्—चतुष्पात् (चौपाय) जाति के पशुओं से[1]—कमण्डलु (चौपाय जाति का पशुविशेष)—**कामण्डलेयः** । **जम्बूः**=शृगाली, तस्या अपत्यं **जाम्बेयः** । गृष्टि (पहली बार ब्याई हुई गौ)—**गार्ष्टेयः** ।

गृष्टि (=सकृत् प्रसूत स्त्री) आदि शब्दों से[2]—**गार्ष्टेयः** । मित्रयु—ऋषि होने से अण् प्राप्त था । ढञ् होता है—**मैत्रेयः** । यहाँ 'यु' को इय् आदेश प्राप्त था ।[3] पर दाण्डिनायन (६।४।१७४) आदि सूत्र से 'यु' का लोप निपातन किया है ।

ढ्रक्—जो अङ्गहीन अथवा धर्महीन होने से क्षुद्र हैं तद्वाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों से अपत्यार्थ में ढ्रक् होता है, पक्ष में स्त्रीप्रत्ययान्त होने से ढक् भी[4]—**काणाया अपत्यं काणेरः** (ढ्रक्) । **काणेयः** (ढक्) । **दास्या अपत्यं दासेरः** । **दासेयः** । ढ्रक्=एय्र । यहाँ वल्प्रत्याहारान्तर्गत र् परे होने पर 'य्' का लोप हो जाता है । **कौलटेरः** । **कौलटेयः** । यहाँ कुलटा धर्महीन स्त्री को कहा है जो शीलविभ्रंश करती हुई घर-घर घूमती है । या कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्ति सा कुलटा । गोधा शब्द से भी ढ्रक् होता है ।[5] शुभ्र आदि गण में पाठ होने से ढक् भी—**गौधेरः** । **गौधेयः** ।

छ—स्वसुर् अपत्यं **स्वस्रीयः** ।[6] बहिन का पुत्र । 'छ' को ईय आदेश होता है ।

छण्—**पितृष्वसुर् अपत्यम्=पैतृष्वस्रीयः** ।[7] बूआ का पुत्र । **मातृष्वसुर् अपत्यम्=मातृष्वस्रीयः** ।[8] मौसी का पुत्र । प्रत्यय के णित् होने से आदि वृद्धि हुई । स्वसृ के 'स्' को षत्व भी होता है ।

यत्—राजन् और श्वशुर से यत्—**राजन्यः**[9] । राजा का पुत्र । **श्वशुर-**

---

१. चतुष्पाद्भ्यो ढञ् (४।१।१३५) ।
२. गृष्ट्यादिभ्यश्च (४।१।१३६) ।
३. केकय-मित्रयु-प्रलयानां यादेरियः (७।३।२) ।
४. क्षुद्राभ्यो वा (४।१।१३१) ।
५. गोधाया ढ्रक् (४।१।१२९) ।
६. स्वसुश्छः (४।१।१४३) ।
७. पितृष्वसुश्छण् (४।१।१३२) ।
८. मातृष्वसुश्च (४।१।१३४) ।
९. राजश्वशुराद्यत् (४।१।१३७) ।

स्यापत्यं श्वशुर्यः। नकारान्त राजन् से यकारादि (जो भाव व कर्म में विहित नहीं) परे होने पर राजन् का अन् प्रकृत्या=अपने स्वरूप में बना रहता है। ये चाभावकर्मणोः। सामान्य नियम से नकारान्त की टि (अन्) का तद्धित परे होने पर लोप हुआ करता है। नस्तद्धिते।

ख—कुल और कुलान्त प्रातिपदिक से[1]—**कुलस्यापत्यं कुलीनः**=कुल-पुत्रः। **आढ्यकुलीनः**=धनी कुल का पुत्र। **श्रोत्रियकुलीनः**=वेदपाठी कुल का पुत्र।

यत्, ढकञ्—केवल=(असमस्त) कुल शब्द जिसका पूर्वपद न हो उससे विकल्प से यत्, ढकञ् होते हैं, पक्ष में ख भी[2]—**कुल्यः। कौलेयकः। कुलीनः।**

अञ् खञ्—**महाकुलस्यापत्यं=माहाकुलः। माहाकुलीनः।** यहाँ भी विकल्प है। पक्ष में 'ख' भी होगा—**महाकुलीनः**।[3]

ढक्—दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः। यहाँ भी विकल्प है। पक्ष में 'ख' होगा—दुष्कुलीनः।[4]

घ—क्षत्रस्यापत्यं पुमान्=क्षत्रियः।[5] यह जाति शब्द है। जातिवचन न होने पर 'क्षात्रि' रूप होगा। घ को इय आदेश हो जाता है।

छ, व्यत्—भ्रातुरपत्यं भ्रात्रीयः।[6] **भ्रातृव्यः**। व्यत्। यह स्वरितान्त है—भ्रातृव्यः।

व्यन्—भ्रातुरपत्यं यः शत्रुः—भ्रातृव्यः।[7] यह आद्युदात्त है—यहाँ अपत्यार्थ कुछ भी नहीं, केवल शत्रु वाच्य है ऐसा काशिकाकार मानते हैं।

फिञ्—तिक आदि शब्दों से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में फिञ् (=आयनि)

---

१. कुलात्खः (४।१।१३९)।
२. अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ (४।१।१४०)।
३. महाकुलादञ्खञौ (४।१।१४१)।
४. दुष्कुलाड्ढक् (४।१।१४२)।
५. क्षत्राद् घः (४।१।१३८)।
६. भ्रातुर्व्यच्च (४।१।१४४)।
७. व्यन्सपत्ने (४।१।१४५)।

प्रत्यय होता है[1]—**कुरोर् अपत्यं कौरवायणिः**। प्रत्यय के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई। **कौरव्यस्यापत्यं कौरव्यायणिः**। गङ्गा—**गाङ्गायनिः**। वृष—**वार्ष्यायणिः**। यहाँ प्रत्यय-संनियोग से 'वृष' को 'वृष्य्' आदेश हो जाता है।

ऐरक्—चटकाया अपत्यं चाटकैरः।[2] **चटकस्यापत्यं चाटकैरः**[3]। स्त्र्य-पत्य होगा तो प्रत्यय का लुक् होगा[4]—**चटकाया अपत्यं स्त्री चटका**।

ठक्—रेवती आदि शब्दों से ठक् होता है[5]। ढक् आदि का अपवाद है। **रेवत्या अपत्यं रैवतिकः**। अश्वपाली—**आश्वपालिकः**।

ञ्यङ्—वृद्ध[1] (जिस के अचों में से आदि अच् वृद्धिसंज्ञक हो) शब्द से, इकारान्त[2] से, कोसल[3] से तथा 'अजाद[4]' से अपत्यार्थ में ञ्यङ् (=य) प्रत्यय होता है जब ये जनपद-समान-शब्द-क्षत्रिय वाची हों[6]—**आम्बष्ठस्यापत्यम् आम्बष्ठ्यः**। सौवीरस्य—**सौवीर्यः**। २—अवन्ति—**आवन्त्यः**। कुन्ति—**कौन्त्यः**। ३—कोसल—**कौसल्यः**। स्त्री-अपत्य हो तो चाप् होकर **कौसल्या**। कोसल (दन्त्यमध्य) अयोध्याजनपद से भिन्न देश का वाचक है। कोशल (तालव्य-मध्य) अयोध्याजनपद का नाम है ऐसा रामायण के टीकाकार राम का वचन है। देखो रा० २।६५।२४ की टीका। यहाँ मूल का 'कौसल्यां पतितां भुवि' ऐसा पाठ है। कोसलराजपुत्री के अर्थ में कौसल्या ऐसा सकारवाला नाम ही शुद्ध समझना चाहिए। ४—**आजाद्यः**।

अपत्यप्रत्यय का लुक्

कम्बोज जनपद का नाम भी है और क्षत्रिय का भी। इससे जो अञ् प्राप्त था उसका लुक् हो जाता है।[7] **कम्बोजस्यापत्यं कम्बोजः**। इसी प्रकार चोल आदि शब्दों से भी लुक् होता है[8]—**चोलस्यापत्यं चोलः**। द्व्यच्

---

१. तिकादिभ्यः फिञ् (४।१।१५४)।
२. चटकाया ऐरक् (४।१।१२८)।
३. चटकाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४. स्त्रियामपत्ये लुग् वक्तव्यः (वा०)।
५. रेवत्यादिभ्यष्ठक् (४।१।१४६)।
६. वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् (४।१।१७१)।
७. कम्बोजाल्लुक् (४।१।१७५)।
८. कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम् (वा०)।

लक्षण अण् का लुक्। **केरलः**। अञ् का लुक्। **शकः**। **यवनः**। कम्बोजः, कम्बोजौ, कम्बोजाः। चोलः। चोलौ। चोलाः। कम्बोजानां राजा कम्बोजः। यहाँ भी तद्राज प्रत्यय अञ् का लुक् होगा। ऐसा ही चोल आदि के विषय में जानो।

अवन्ति, कुन्ति, कुरु—इन जनपद-समान-शब्द क्षत्रियवाची शब्दों से जो 'तद्राज' प्रत्यय प्राप्त था उसका स्त्री अपत्य कहने में लुक् हो जाता है।[1] अवन्तयो नाम जनपदः। अवन्तिर्नाम क्षत्रियः। तस्यापत्यं पुमान्=**आवन्त्यः**। **कौन्त्यः**। ञ्यङ्। कुरु—**कौरव्यः**। ण्यः। स्त्रीत्व विवक्षा में प्रत्यय का लुक् होकर अवन्ति और कुन्ति से इकारान्त मनुष्य जातिवाची होने से ङीष् होकर **अवन्ती, कुन्ती** रूप होते हैं।[2] कुरु से ऊङ् होकर **कुरूः**। अपत्य प्रत्ययान्त को जातिवाचक माना जाता है।

इसी प्रकार शूरसेन तथा मद्र' से क्रम से 'तद्राज' प्रत्यय अञ् तथा अण् का लुक् हो जाता है यदि स्त्री अपत्य कहना हो[3]—**शूरसेनस्यापत्यं स्त्री=शूरसेनी**। **मद्रस्यापत्यं स्त्री=मद्री**। माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे—इस भारत प्रयोग में माद्री यह आर्ष है, पाणिनीय नहीं।

अञ्, अण्, ण्य, ञ्यङ् अपत्यार्थक प्रत्यय जो जनपद समान शब्द क्षत्रिय वाची शब्दों से विधान किए हैं उनका लुक् हो जाता है जब अकेले प्रत्ययान्त का बहुवचन में प्रयोग करना हो, पर स्त्री-अपत्य के बहुत्व में लुक् नहीं होता[4]। इन अञ् आदि प्रत्ययों को **'तद्राज'** कहते हैं, ते तद्राजाः (४।१।१७४), कारण कि यही अपत्यार्थक प्रत्यय 'उस-उस जनपद का राजा' इस अर्थ में भी होते हैं।[5] तस्य राजा=तद्राजः। पञ्चालानां राजा=पाञ्चालः (अञ्)। मगधानां राजा=मागधः (अण्)। कुरूणां राजा=कौरव्यः (ण्य)। अवन्तीनां राजा=आवन्त्यः। अपत्यार्थ में पञ्चालस्य राज्ञोऽपत्यं पाञ्चालः। पाञ्चालः,

---

१. स्त्रियाम् अवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च (४।१।१७५)।
२. इतो मनुष्यजातेः (४।१।६५)।
३. अतश्च (४।१।१७७)।
४. ते तद्राजाः (४।१।१७४)।
५. तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (२।४।६२)।

पाञ्चालौ, पञ्चालाः । कौरव्यः, कौरव्यौ, कुरवः । स्त्रीत्व विवक्षा में तो पाञ्चाली, पाञ्चाल्यौ, पाञ्चाल्यः । प्रियः पाञ्चालोऽस्य इस अर्थ में प्रिय-पाञ्चाल शब्द से बहुवचन में प्रत्यय का लुक् नहीं होता—प्रियपाञ्चाला इमे । यहाँ प्रियपाञ्चाल का बहुत्व विवक्षित है न कि केवल प्रत्ययान्त पाञ्चाल का । इसी प्रकार इक्ष्वाकोरपत्यम् ऐक्ष्वाकः (अञ्) । ऐक्ष्वाकौ । इक्ष्वाकवः । प्रत्यय-संनियोग से 'उ' का लोप निपातन किया है । प्रत्यय-लुक् होने पर 'उ' अवस्थित रहेगा ।

गोत्रापत्य

अभी तक जो अपत्यार्थक प्रत्यय कहे हैं वे अनन्तरापत्य (दूसरी पीढ़ी की सन्तान) में विहित हुए हैं—उपगोर् अपत्यम् औपगवः, उपगु का पुत्र । अब गोत्रापत्य अर्थ में प्रत्ययों का विधान किया जाता है । तीसरी पीढ़ी और उससे आगे की सन्तान को इस शास्त्र में **'गोत्र'** कहते हैं[1] । प्राचीन आचार्य इसे **'वृद्ध'** नाम से भी व्यवहृत करते हैं ।

युवापत्य

पिता आदि वंश्य (मूल पुरुष) के जीते हुए पौत्र आदि की जो सन्तान उसे **'युवा'** कहते हैं[2], गोत्र नहीं । मूल पुरुष के निधन के पश्चात् बड़े भाई के जीते हुए छोटे भाई जो चौथी वा चौथी पीढ़ी से आगे की सन्तान है, को भी **'युवा'** कहते हैं । भाई के अतिरिक्त दूसरे समानपिण्ड वाले स्थविरतर (स्थान व वय में बड़े) पितृव्य (चचा, ताऊ), मातामह (नाना) के जीते हुए स्वयं जीते हुए चतुर्थ आदि अपत्य की विकल्प से **'युवा'** संज्ञा होती है ।[3] गोत्र को कई बार संमान के लिए **युवा** भी कह दिया जाता है[4] । निश्चय ही युवत्व लोक में इष्ट है । वह प्रपौत्र आदि भाग्यवान् समझा है जिसके मूल पुरुष, पितृव्य, मातामह आदि जीवित हैं ।

---

१. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) ।

२. जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३) । भ्रातरि च ज्यायसि (४।१।१६४) ।

३. वान्यस्मिन्सपिण्डे स्थविरतरे जीवति (४।१।१६५) ।

४. वृद्धस्य च पूजायाम् (वा०) । यह वार्तिक है पर काशिकाकार ने इसे सूत्र पाठ में प्रक्षिप्त किया है । वार्तिक में वृद्ध=गोत्र । यह गोत्र की संज्ञा व्याकरणान्तर में पढ़ी है—अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम् ।

गोत्रार्थ में प्रथमा प्रकृति से ही प्रत्यय होता है।[1] **उपगोर् गोत्रापत्यम् औपगवः।** यहाँ जो अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय अण् विधान किया है, वही गोत्रापत्य में होता है। उपगु का अनन्तरापत्य जो 'औपगव' उससे गोत्रापत्य में इञ् नहीं। **औपगवस्य गोत्रापत्यम्=औपगवः।** उपगु-अण्। शततम अपत्य को कहने के लिए भी प्रथमा प्रकृति उपगु से ही अण् प्रत्यय आकर 'औपगव' रूप ही होगा। ऐसा ही सर्वत्र जानो। **गर्गस्यापत्यं गार्गिः** (इञ्)। **तस्यापत्यं गार्ग्यः** (गर्ग-यञ्)। **तत्पुत्रोऽपि गार्ग्यः** (गर्ग-यञ्)।

युवापत्य अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से प्रत्यय होता है[2]—**गार्ग्यस्य अपत्यं युवा**=गार्ग्य+फक् (=आयन)=**गार्ग्यायणः**। यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त गार्ग्य से प्रत्यय हुआ, परम प्रकृति गर्ग से नहीं। अनन्तरापत्य 'गार्गि' से भी नहीं। स्त्री प्रत्यय की 'युवा' संज्ञा होती ही नहीं। उसे गोत्र प्रत्यय से ही कहा जाता है—गार्ग्यः। गार्गी।

कश्चित् पणी नाम (पणः स्तुतिरस्यास्तीति)। तस्य गोत्रापत्यं पाणिनः (अण्, टिलोपाभाव)। **पाणिनस्य युवापत्यं पाणिनिः** (इञ्)।

च्फञ्—कुञ्जादि शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में। यहाँ स्वार्थ में 'ञ्य, प्रत्यय भी होता है।[3] ञकार वृद्धि के लिए है। **कुञ्जस्य गोत्रापत्यं कौञ्जायन्यः।** गोत्रापत्ये **कौञ्जायन्यौ**। गोत्रापत्यानि—**कौञ्जायनाः**। बहुवचन में तद्राज प्रत्यय 'ञ्य' का लुक् हो जाता है। शङ्ख—**शाङ्खायन्यः। शाङ्खायन्यौ। शाङ्खायनाः।**

फक्—नड आदि शब्दों से गोत्रापत्य में फक् (=आयन) होता है[4]—**नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः।** फक् में क् आदि वृद्धि के लिए है। चर—**चारायणः**। वाजप्य—**वाजप्यायनः**। द्वीप (द्वीपस्थ मुनि को द्वीप कहा है)—**द्वैपायनः**। अमुष्य—**आमुष्यायणः**। **द्व्यामुष्यायणः**।[5] अग्र—**आग्रायणः**।

---

१. एको गोत्रे (४।१।९३)।
२. गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् (४।१।९४)।
३. गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् (४।१।९८)। व्रातच्फञोरस्त्रियाम् (५।३।११३)। इससे स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है।
४. नडादिभ्यः फक् (४।१।९९)।
५. नियोगजः सुतो बीजिनः क्षेत्रिणश्चेत्युभयोरपि रिक्थी पिण्डदश्च भवति। स च द्व्यामुष्यायण इत्युच्यते।

शकट—**शाकटायनः**। बदर—**बादरायणः**। अनन्तरापत्य में इञ् होकर बादरिः रूप होगा। अश्वल—**आश्वलायनः**। नर—(ऋषिविशेष)—**नारायणः**। उदुम्बर—**औदुम्बरायणः**। मित्र—**मैत्रायणः**। स्त्रीत्व विवक्षा में मैत्रायणी। ऋक्—**आर्गयनः**।

गोत्र में जो यञ् और इञ् तदन्त से युवापत्य में फक् होता है[1]—गार्ग्य (यञन्त) से **गार्ग्यायणः**। **गार्ग्यस्यापत्यं युवा**। वात्स्यस्य—**वात्स्यायनः**। दाक्षि (इञन्त)—**दाक्षायणः**। **दाक्षेर् अपत्यं युवा**। दक्ष शब्द से जो अपत्य-सामान्य में 'अत इञ्' से इञ् विधान किया है वही गोत्रापत्य में भी होता है, प्रत्ययान्तर का विधान न होने से। पहले कह चुके हैं कि गोत्रप्रत्ययान्त से 'युवापत्य' में प्रत्यय होता है।

अञ्—ऋषिवाचक बिद आदि शब्दों से गोत्रापत्य में अञ् होता है[2]—**बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः**। अनन्तरापत्य में तो बैदिः (बाह्वादि इञ्)। ऋषि होने से अण् प्राप्त था, उसका अञ् अपवाद है। स्वर में विशेष होता है। शुनक—**शौनकः**। आपस्तम्ब—**आपस्तम्बः**। रथीतर—**राथीतरः**। मठर—**माठरः**। उपमन्यु—**औपमन्यवः**। 'भ' संज्ञक 'उ' को गुण होकर अवादेश। कश्यप—**काश्यपः**। कुशिक—**कौशिकः** (गाधिसुतो विश्वामित्रः)।

यञ्—गर्गादि शब्दों से गोत्रापत्य में यञ् होता है[3]—**गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः**। वत्स—**वात्स्यः**। व्याघ्रपात्—**वैयाघ्रपद्यः**। (व्याकरण शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य का नाम)। यहाँ 'भ' संज्ञक पात् (पाद्) को 'पद्' आदेश होता है। पुलस्ति—**पौलस्त्यः**। अग्निवेश—**आग्निवेश्यः**। रेभ—**रैभ्यः**। धूम—**धौम्यः**। लोहित—**लौहित्यः**। बभ्रु—**बाभ्रव्यः**। मण्डु—**माण्डव्यः**। जिगीषु—**जैगीषव्यः**। कपि—**काप्यः**। कत—**कात्यः**। कण्व—**काण्व्यः**। शकल—**शाकल्यः** (ऋग्वेद के पद-पाठ का कर्ता ऋषि)। अगस्त्य—**आगस्त्यः**। यहाँ यकारादि प्रत्यय परे होने पर ('भ' संज्ञक अ के लोप के पश्चात्) 'य्' का लोप होता है। कुण्डिन्—**कौण्डिन्यः**। शण्डिल—**शाण्डिल्यः**। मुद्गल—**मौद्गल्यः**। पराशर—**पाराशर्यः**। अनन्तरापत्य में ऋषि होने से अण् होकर

---

१. यञिञोश्च (४।१।१०१)।

२. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (४।१।१।१०४)।

३. गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५)।

'पाराशर' होगा। पराशरस्य पुत्रः=**पाराशरः**। जतूकर्ण—**जातूकर्ण्यः**। अश्मरथ—**आश्मरथ्यः**। उलूक—**औलूक्यः**। दल्भ—**दाल्भ्यः**। जमदग्नि—**जमदग्नेर्गोत्रापत्यं जामदग्न्यः**। रामो जामदग्न्यः ऐसा प्रयोग मिलता है। वहाँ यद्यपि राम (परशुराम) जमदग्नि का अनन्तरापत्य=पुत्र है तो भी उसमें गोत्ररूप का अध्यारोप करके 'जामदग्न्य' कहा गया है। इसी प्रकार भगवान् व्यास पराशर के पुत्र हैं, तो भी उन्हें पौत्र तुल्य मानकर गोत्रप्रत्ययान्त पाराशर्य शब्द से कह दिया जाता है। इस अध्यारोप में कुछ कारण होना चाहिए। हमारे विचार में भगवान् जमदग्नि तथा व्यास की वृद्धावस्था में पुत्र हुआ होगा, जिससे उसे पौत्रतुल्य माना गया और गोत्र-प्रत्यय से कहा गया।

फञ्—अश्व आदि शब्दों से फञ् होता है। जो यहाँ प्रत्ययान्त पढ़े हैं उन से युवापत्य में फञ् होगा[1]—**अश्वस्य गोत्रापत्यम्=आश्वायनः**। शङ्ख—**शाङ्खायनः**। कुत्स—**कौत्सायनः**। आत्रेय—**आत्रेयायणः** (आत्रेय का युवापत्य)। भरद्वाज—**भारद्वाजायनः**। यहाँ भरद्वाज से गोत्रापत्य में फञ् हुआ है। चक्र—**चाक्रायणः** (चक्र का गोत्रापत्य)।

गोत्रप्रत्यय का लुक्

यस्क आदि से विहित गोत्रप्रत्यय का लुक् हो जाता है जब गोत्रप्रत्ययान्त का बहुवचन में प्रयोग करना हो[2]। इस शास्त्र में गोत्रप्रत्यय विधायक सूत्रों को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र गोत्र शब्द से अपत्य मात्र का ग्रहण होता है। यस्क, लभ्य, द्रुह्य, अयःस्थूण, तृणकर्ण—ये शिवादिगण में पढ़े हैं। इनसे अपत्य अर्थ में अण् होता है। **यस्कस्यापत्यं यास्कः**। बहुवचन में **यस्काः** (अण् का लुक्)। स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता—**यास्की, यास्क्यौ, यास्क्यः**। बस्ति, अजबस्ति, मित्रयु—इनसे गृष्ट्यादिगण पठित होने से अपत्यार्थ में विहित ढञ् का लुक् होता है—**बास्तेयः**। **बस्तयः**। **आजबस्तेयः**। **अजबस्तयः**। **मैत्रेयः**। **मित्रयवः**। बाह्वादिगण में 'पुष्करसत्' पढ़ा है उससे विहित इञ् का लुक् होता है—**पौष्करसादिः**। **पुष्करसदः**।

गोत्र में विहित यञ् और अञ् का बहुवचन में लुक् हो जाता है[3]—

---

१. अश्वादिभ्यः फञ् (४।१।११०)।

२. यस्कादिभ्यो गोत्रे (२।४।६३)।

३. यञञोश्च (२।४।६४)।

गार्ग्यः । गर्गाः । वात्स्यः । वत्साः । बिद—बैदः । बिदाः । प्रियगार्ग्याः—यहाँ 'प्रियगार्ग्य' का बहुत्व कहा है, केवल प्रत्ययान्त गार्ग्य का नहीं सो लुक् नहीं हुआ ।

षष्ठी तत्पुरुष समास में पूर्वपद यञन्त अञन्त के प्रत्ययों यञ्, अञ् का एकवचन और द्विवचन में भी विकल्प से लुक् होता है[1]—**गार्ग्यस्य कुलं गर्गकुलं, गार्ग्यकुलम् । गार्ग्ययोः कुलं गर्गकुलं गार्ग्यकुलम् ।**

अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस्—इनसे विहित गोत्रप्रत्यय का बहुवचन में लुक् हो जाता है[2]—अत्रि—**आत्रेयः । अत्रयः ।** (ढक् का लुक्) । भृगु—**भार्गवः । भृगवः ।** कुत्स—**कौत्सः । कुत्साः ।** वसिष्ठ—**वासिष्ठः । वसिष्ठाः ।** गोतम—**गौतमः । गोतमाः ।** अङ्गिरस्—**आङ्गिरसः । अङ्गिरसः ।** 'भार्गव' आदि में ऋषि होने से अण् हुआ है । स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता—आत्रेयी । आत्रेय्यौ । आत्रेय्यः ।

आगस्त्य (अणन्त) तथा कौण्डिन्य (यञन्त) के बहुवचन में प्रयोग चिकीर्षित होने पर गोत्र में विहित अण् तथा यञ् का लुक् हो जाता है और लुक् होने पर परिशिष्ट प्रकृति भाग के स्थान में 'अगस्ति' तथा कुण्डिन आदेश हो जाते हैं[3]—**आगस्त्यः । अगस्तयः । कौण्डिन्यः । कुण्डिनाः ।**

युव प्रत्यय का लुक्

ण्य प्रत्ययान्त, क्षत्रियगोत्र प्रत्ययान्त, ऋषि अपत्य में विहित जो अण् तदन्त तथा ञित्प्रत्ययान्त से परे युवापत्य अर्थ में विहित जो अण् व इञ् उनका लुक् हो जाता है[4]—**कुरोर् गोत्रापत्यं कौरव्यः ।** ण्य । यहाँ कुरु ब्राह्मण है । **कौरव्यस्यापत्यं युवा=कौरव्यः ।** यहाँ अत इञ् (४।१।९५) से प्राप्त इञ् प्रत्यय का लुक् हुआ है । कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः । क्षत्रिय गोत्र—अन्धक क्षत्रिय जाति है । उसमें श्वफलक नाम के व्यक्ति का अपत्य इस अर्थ में अण् होकर 'श्वाफलक' हुआ । 'उसका युवापत्य' इस अर्थ

१. यञादीनामेकद्वयो र्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसंख्यानम् (वा०) ।
२. अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतमोऽङ्गिरोभ्यश्च (२।४।६५) ।
३. आगस्त्य-कौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् (२।४।७०) ।
४. ण्य-क्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः (२।४।५८) ।

में इञ् प्राप्त हुआ, उस का लुक् होने से **'श्वाफलकः'** रूप ही रहा। ऋषि अण् से परे इञ् का लुक्—**वासिष्ठः पिता। वासिष्ठः पुत्रः।** अण् का लुक्—**तिकस्यापत्यं तैकायनिः** (फिञ्)। **तस्यापत्यं युवा=तैकायनिः।** प्राग्दीव्यतीय अण् प्राप्त हुआ था, उसका लुक् हो गया।

पैल आदि शब्दों से युवप्रत्यय का लुक् होता है।[1] **पीलाया गोत्रापत्यं पैलः।** अण्। द्व्यच्क होने से युवापत्य अर्थ में फिञ् प्राप्त हुआ उसका लुक् हो जाता है। **पैलः पिता। पैलः पुत्रः।** शालङ्कि, सात्यकि, सात्यकामि, राणायनि आदि इञन्त पढ़े हैं उनसे फक् प्राप्त था उसका लुक् हो जाता है। **शलङ्कस्य गोत्रापत्यं शालङ्किः** (बाह्वादि इञ्) **तस्यापत्यं शालङ्किः।** एवं **सात्यकिः पिता। सात्यकिः पुत्रः। सात्यकामिः पिता। सात्यकामिः पुत्रः। राणायनिः पिता। राणायनिः पुत्रः।**

पर तात्वलि आदि इञन्त शब्दों से युवापत्य में उत्पन्न हुए फक् का लुक् नहीं होता[2]—**तल्वलस्य गोत्रापत्यं तात्वलिः। तस्यापत्यं युवा तात्वलायनः। रावणिः पिता। रावणायनः पुत्रः। प्रावाहणिः पिता। प्रावाहणायनः पुत्रः।**

यहाँ अपत्यार्थ तद्धित समाप्त हुए।

रक्ताद्यर्थक तद्धित

अण्—'राग (=रंग) से रंगा गया' इस अर्थ में रंग विशेषवाची तृतीयान्त पद से प्राग्दीव्यतीय अण् होता है[3]—**कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्।** लाल रंग से रंग हुआ। **न काषायैर्भवेद्यतिः,** गेरुए वस्त्र धारण करने से (ही) यति नहीं बन जाता। **मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठं वासः,** मजीठ से रंगा हुआ कपड़ा। **मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठिकम्** (उ० रा० च० ४।२०)। यहाँ 'माञ्जिष्ठिक' में ठक् प्रत्यय का प्रयोग कवि की निरंकुशता का निदर्शन मात्र है।

ठक्—लाक्षया रक्तं **लाक्षिकम्,** लाख से रंगा हुआ। **रोचनया** (=गोरचनया) **रक्तं रौचनिकम्**[4]।

---

१. पैलादिभ्यश्च (२।४।५९)।
२. न तात्वलिभ्यः (२।४।६१)।
३. तेन रक्तं रागात् (४।२।१)।
४. लाक्षारोचनाट्ठक् (४।२।२)।

शकल तथा कर्दम से भी ठक् वार्तिककार मानते हैं[1]—**शकलेन रक्तं यतिवासः, शाकलिकम्**, वृक्ष छाल से रंगा हुआ यति का वस्त्र। **कर्दमेन पङ्केन रक्त (उपरक्तो, लिप्तः)** आप्रपदीनः पटः **कार्दमिकः**। वृत्ति के अनुसार शकल, व कर्दम से अण् भी होता है[2]—**शाकलम्। कार्दमम्**।

अन्—नीली (नील)। **नील्या रक्तं नीलम्**।[3]

कन्—पीतेन रक्तं पीतकम्।[4] प्रयोग प्रायः बिना 'कन्' के मिलता है।

अञ्—हरिद्रा=हल्दी। **हरिद्रया रक्तं हारिद्रम्**। महारजनम्=हल्दी। **महारजनेन रक्तं माहारजनम्**[5]। **हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ। काषायौ गर्दभस्य कर्णौ**—यहाँ रंग से रंगा हुआ न होने से प्रत्यय की प्राप्ति नहीं, अतः हारिद्राविव हारिद्रौ, काषायाविव काषायौ ऐसे औपम्य का आश्रयण करके प्रयोग साधु होता है।

अण्—नक्षत्र समीपवर्ती चन्द्रमा से युक्त जो काल उसे कहने के लिए तृतीयान्त नक्षत्रवाची शब्द से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[6]—**पुष्येण युक्तं पौषमहः। पौषी रात्रिः। तिष्येण युक्तं तैषमहः। तैषी रात्रिः**। पौषम्=पुष्यनक्षत्रयुक्तचन्द्रेण युक्तमित्यर्थः। पुष्य और तिष्य के 'य्' का नक्षत्र-विषयक अण् परे होने पर लोप हो जाता है[7]—पौषम्। तैषम्। अवान्तर-विभाग=दिन अथवा रात के भेद की प्रतीति न होने पर सामान्यरूप से काल का बोध कराने में प्रत्यय का लुप् होता है।[8] लुप् होने पर प्रकृति के व्यक्ति, वचन (लिङ्ग, संख्या) होते हैं—**अद्य पुष्यः। अद्य तिष्यः। अद्य कृत्तिका। मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्**। यहाँ मूल, तथा श्रवण से प्रत्यय का लुप् हुआ है।

---

१. शकल-कर्दमाभ्यां चेति वक्तव्यम्।
२. शकल-कर्दमाभ्यामणपीष्यते (वृत्ति)।
३. नील्या अन् वक्तव्यः (वा०)।
४. पीतात् कन् वक्तव्यः। (वा०)।
५. हरिद्रा-महारजनाभ्यामञ्वक्तव्यः (वा०)।
६. नक्षत्रेण युक्तः कालः (४।२।३)।
७. तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् (वा०)।
८. लुबविशेषे (४।२।४)।

संज्ञाविषय में श्रवण, अश्वत्थ से प्रत्यय का लुप्—**श्रवणनक्षत्रयुक्त-चन्द्रेण युक्ता श्रवणा रात्रिः**[1]। यहाँ विशेष काल-विभाग के वाच्य होने पर भी लुप् का विधान किया है। पर युक्तवद्भाव नहीं हुआ, किन्तु अभिधेय (वाच्य) अर्थ रात्रि के अनुसार 'श्रवण' का लिंग हुआ। इसी प्रकार **अश्वत्थो मुहूर्त्तः**, यहाँ भी लुप् विभाग-विशेष में ही हुआ है।

छ—नक्षत्र-द्वन्द्व से छ प्रत्यय होता है[2]—चाहे दिन रात्रि-रूप काल-विशेष वाच्य हो चाहे कालसामान्य—**तिष्यपुनर्वसवीयमहः**। तिष्यश्च पुनर्वसू (द्विवचन) च=तिष्यपुनर्वसू। ताभ्यां युक्तेन चन्द्रेण युक्तमहः। तिष्यपुनर्वसू में न्यायप्राप्त बहुवचन (तिष्यपुनर्वसवः) के स्थान में तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्र० (१।२।६३) से द्विवचन हुआ है। राधा चानुराधा च=राधानुराधे। ताभ्यां युक्तेन चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः=**राधानुराधीया**। काल सामान्य में—**अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम्**।

अण्—'उस ने साम देखा' इस अर्थ में तृतीयान्त पद से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[3]—**वसिष्ठेन दृष्टं साम वासिष्ठम्**। **विश्वामित्रेण दृष्टं साम वैश्वामित्रम्**।

ढक्—कलि से उपर्युक्त अर्थ में[4]—**कलिना दृष्टं साम=कालेयम्**। वार्तिककार के अनुसार अग्नि तथा कलि शब्दों से सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ढक् (एय) होता है[5]—**कलिना दृष्टं साम कालेयम्**। **अग्निना दृष्टं साम आग्नेयम्**। **अग्नौ भवमाग्नेयम्**। **अग्नेरागतम् आग्नेयम्**। **अग्नेः स्वम् आग्नेयम्**। **अग्निर्देवताऽस्येत्याग्नेयम्**। इसी प्रकार 'कलि' से प्रत्ययविधि जानें।

यहाँ भाष्य में एक संग्रह श्लोक पढ़ा है—

दृष्टे सामनि जाते च द्विरण् डिद्वा विधीयते।
तीयादीकक् न विद्याया गोत्रादङ्कवद् इष्यते॥

इस का अर्थ यह है—'तेन दृष्टं साम' इस अर्थ में विहित अण् विकल्प से डित् होता है—**उशनसा दृष्टं साम=औशनसम्**। **औशनम्**। प्रत्यय के

---

१. संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् (४।२।५)।
२. द्वन्द्वाच्छः (४।२।६)।
३. दृष्टं साम (४।२।७)।
४. कलेर्ढक् (४।२।८)।
५. सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग् वक्तव्यः (वा०)।

डित् होने से भ-संज्ञक 'उशनस्' की 'टि' का लोप हुआ। 'तत्र जातः' इस अर्थ में जो प्राग्दीव्यतीय अण् बाधित होकर दुबारा विधान किया जाता है वह भी विकल्प से डित् होता है। इस अर्थ में विहित अण् को काल से विहित ठञ् बाध लेता है। इस ठञ् को सन्धि-वेलादि सूत्र से नक्षत्रवाची से विहित अण् बाध लेता है। सो यह अण् विकल्प से डित् होता है—**शतभिषजि नक्षत्रे जातः शातभिषः। शातभिषजः।** तीय प्रत्ययान्त से ईकक् स्वार्थ में विकल्प से होता है—**द्वितीयः। द्वैतीयीकः। तृतीयः। तार्तीयीकः।** यदि विद्या अभिधेय हो ईकक् नहीं होता—द्वितीया विद्या। तृतीया विद्या। गोत्रप्रत्ययान्त से जो जो प्रत्यय अङ्क अर्थ में होते हैं वे वे 'तेन दृष्टं साम' इस अर्थ में भी होते हैं—औपगव गोत्रप्रत्ययान्त है। इससे गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) से 'तस्येदम्' अर्थ में वुञ् होता है—**औपगवस्यायम् अङ्कः=औपगवकः।** इसी प्रकार **औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम्।** यहाँ भी वुञ् हुआ।

ड्यत्, ड्य—वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्[1]। ड्यत् (तित् होने से) स्वरित है।

अण्—'उससे ढाँपा गया' इस अर्थ में तृतीयान्त पद से यथाविहित अण् होता है यदि जो ढाँपा गया है वह रथ हो[2]—**वस्त्रेण परिवृतो रथः=वास्त्रः। कम्बलेन परिवृतः=काम्बलः। चर्मणा परिवृतः=चार्मणः।** 'अन्' से प्रकृति भाव। परिवृतः=समन्ताद् वेष्टितः।

इनि—पाण्डुकम्बलेन परिवृतो रथः पाण्डुकम्बली[3]। अण् के बाधन के लिए इनि का विधान किया है, अन्यथा मत्वर्थीय इनि से रूपसिद्धि हो जाती। वृत्ति के अनुसार राजास्तरण (शाही आच्छादन) पाण्डुवर्ण कम्बल को पाण्डुकम्बल कहते हैं।

अञ्—द्वीपी के चर्म से अथवा व्याघ्र के चर्म से ढके हुए रथ को कहने के लिए द्वैप, वैयाघ्र से अञ् होता है[4]—**द्वैपेन द्वीपिचर्मणा परिवृतो रथः=**

---

१. वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ (४।२।९)।
२. परिवृतो रथः (४।२।१०)।
३. पाण्डुकम्बलादिनिः (४।२।११)।
४. द्वैप-वैयाघ्रादञ् (४।२।१२)।

द्वैपः । वैयाघ्रः । द्वीपिनोऽवयवः=द्वैपः । व्याघ्रस्यावयवः=वैयाघ्रः । प्राणि-रजतादिभ्योञ् (४।३।१५४) से अञ् ।

अण्—'कौमार' यह स्त्री की अपूर्वता के विषय में अण् प्रत्ययान्त निपातन किया है ।[1] **अपूर्वपतिं कुमारीं पतिरुपपन्नः कौमारः पतिः ।** ऐसा पति जिसने ऐसी स्त्री का पाणिग्रहण किया जिसका पहले पाणिग्रहण नहीं हुआ । कुमार्या अयं पतिरिति कौमारः । तस्येदम् अर्थ में अण् । **अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना=कौमारी भार्या ।** स्वार्थ में अण् । **स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्** (रा० २।३०।८) । कौमार शब्द के प्रयोग विषय में यह समझना चाहिए कि कुमारी अपूर्वपतिका (जिसका पहला पति कोई नहीं) होनी चाहिए, पुरुष चाहे अपूर्वभार्य (जिसकी पहली परिणीता स्त्री कोई नहीं) हो चाहे न हो ।

कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण् विधीयते ।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्या भवतीति वा ॥

यहाँ चतुर्थ चरण में सूत्र का प्रत्याख्यान पक्ष रखा है । सूत्र मत आरम्भ किया जाए, **कुमार्या भवः कौमारः पतिः ।** शैषिक अण् । तस्य **कौमारस्य भार्या कौमारी ।** पुंयोगलक्षण ङीष् । जिस कुमारी को प्राप्त करके पति 'कौमार' कहलाया, वही कौमारी भार्या होगी, न कि दूसरी कोई और, अतः अतिप्रसङ्ग नहीं होगा ।

जिनमें पात्रान्तर से निकालकर रखा जाता है उन पात्रों के वाचक शब्दों से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ।[2] सूत्र में उद्धृतम् का अर्थ है उद्धृत्य निहितम् । अमत्र (नपुं) पात्र का नाम है । **शरावेषूद्धृतः शारावः**, भुक्तोच्छिष्ट भात जो थाली आदि से निकालकर छोटी छिछली थाली, तश्तरी में रखा गया है । **कर्परेषूद्धृतं कार्परम् ।**

अण्—स्थण्डिल शब्द से शयिता (सोने वाला) अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त से व्रत=शास्त्रीय नियम की प्रतीति हो[3]—**स्थण्डिले (अनावृतभूमौ) शयितुं व्रतमस्येति स्थाण्डिलो भिक्षुः । स्थाण्डिलो ब्रह्मचारी ।**

---

१. **कौमारापूर्ववचने** (४।२।१३) ।
२. **तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** (४।२।१४) ।
३. **स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते** (४।२।१५) ।

अण्—**भ्राष्ट्रे संस्कृताः पाचिता अपूपा भ्राष्ट्राः।**[1] **कलशे संस्कृताः कालशाः।** सूत्र में उपात्त 'भक्ष' शब्द का खर (कठिन) तथा विशद (विभक्त, विभक्तावयव) अभ्यवहार्य (भोजन) अर्थ है। दन्तैर्भक्ष्यं भक्षमाहुः। 'भक्ष' वह भोजन है जो दाँतों से चबाकर खाया जाता है।

यत्—**शूले संस्कृतं मांसं शूल्यम्।**[२] **उखायां संस्कृतं मांसम् उख्यम्।**[2]

ठक्—**दधनि संस्कृतं (लवणादिना) दाधिकम्।**[3]

उदश्विति संस्कृतम् औदश्वित्कम्। औदश्वितम्।[4] यथाप्राप्त अण्। उदकेन श्वयति वर्धते इत्युदश्वित्। तक्रमुदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम् (अमर)। उदश्वित् लस्सी को कहते हैं, मथा हुआ दही जिसमें आधा पानी हो और आधा दही। उदश्वित् तान्त है, अतः ठक् को 'क' आदेश हुआ। इस्, उस्, उक्, त् अन्तवाले प्रातिपदिक से ठक् को 'क' आदेश होता है। इसुसुक्तान्तात्कः (७।३।५१)। इस्, उस् प्रतिपदोक्त प्रत्यय लिए जाते हैं न कि लाक्षणिक, लक्षण (सूत्र) से निष्पन्न। अतः **आशिषा चरति–आशिषिकः। उषा चरति—औषिकः।** यहाँ 'क' आदेश नहीं हुआ, 'इक' ही हुआ है। 'उषा' यह क्विबन्त वस् को सम्प्रसारण होकर तृतीयान्त पद है। आशिस्—यह भी क्विबन्त है। शास् के 'आ' को 'इ' आदेश होने से 'इस्' शब्द निष्पन्न हुआ है।

दोस् (बाहु) से ठक् को 'क' आदेश होता है जो अप्राप्त था[५]—**दोर्भ्यां चरति दौष्कः।**

ढञ्—**क्षीरे संस्कृता क्षैरेयी यवागूः।**[६]

अण्—पौर्णमासी-विशेषवाची प्रथमान्त पद से सप्तम्यर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है यदि प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय संज्ञा हो[७]—मास, अर्धमास तथा संवत्सर की यह संज्ञा होती है। **पौषी पौर्णमासी अस्मिन्निति पौषो मासः। पौषोऽर्धमासः। पौषः संवत्सरः।** 'पौर्णमासी' शब्द की इस तरह व्युत्पत्ति

---

१. संस्कृतं भक्षाः (४।२।१६)।
२. शूलोखाद्यत् (४।२।१७)।
३. दध्नष्ठक् (४।२।१८)।
४. उदश्वितोऽन्यतरस्याम् (४।२।१९)।
५. क्षीराड् ढञ् (४।२।२०)।
६. दोष उपसंख्यानम् (वा०)।
७. सास्मिन्पौर्णमासीति (४।२।२१)।

की जाती है—पूर्णमासादण् । पौर्णमासी । अथवा पूर्णो माः पूर्णमाः, पूर्णमास इयं पौर्णमासी । मास् नाम चन्द्रमा का है ।

ठक्—आग्रहायणी पौर्णमासी अस्मिन् मासे आग्रहायणिकः । अग्रेहायनमस्या इत्याग्रहायणी । प्रज्ञादि होने से स्वार्थ में अण् । पूर्वपदात् संज्ञायामगः (८।४।३) से णत्व । अश्वत्थेन नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी अश्वत्थः । निपातन से पौर्णमासी अभिधेय होने पर प्रत्यय का लुप् । लुप् होने पर युक्तवद्भाव । **अश्वत्थः पौर्णमासी अस्मिन्मासे आश्वत्थिकः**[1] ।

ठक्, अण्—फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी, चैत्री—इन पौर्णमासी विशेषवाची प्रातिपदिकों से विकल्प से ठक् होता है, पक्ष में अण्[2]—**फाल्गुनी अस्मिन्मासे फाल्गुनिको मासः । फाल्गुनो मासः । श्रावणिको मासः । श्रावणो मासः** । श्रवणा—यहाँ पौर्णमासी वाच्य होने पर भी नक्षत्राण् का लुप् हुआ है, पर निपातन से युक्तद्भाव नहीं हुआ । कार्तिकी—**कार्तिकको मासः । कार्तिको मासः** । चैत्री—**चैत्रिको मासः । चैत्रो मासः** ।

अण्-आदि—प्रथमान्त देवता-विशेषवाची पद से 'यह इसका देवता है' इस अर्थ में यथा-विहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।[3] याग में हवि जिसे दी जाती है, जो पुरोडाश आदि का स्वामी है वह 'देवता' शब्द से लिया जाता है । **इन्द्रो देवताऽस्य हविषः=ऐन्द्रं हविः । अण् । बार्हस्पत्यम् । प्राजापत्यम्** । ण्य । उपचार से मन्त्र-स्तुत्य (जिसकी मन्त्र में स्तुति है) को 'देवता' कहा जाता है । अतः ऐन्द्रो मन्त्रः ऐसा प्रयोग होता है । आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, इत्यादि स्थलों में उपमानाश्रित प्रयोग जानना चाहिए—आग्नेय इवाग्नेयः ।

अण्—'क' (=ब्रह्मा) के 'अ' को 'इ' आदेश होता है प्रत्यय-संनियोग से । यथाविहित अण् प्रत्यय होता है[4]—**कस्येदं हविः कायम्** । आदि वृद्धि ।

घन्—शुक्रो देवताऽस्य हविषः शुक्रियं हविः ।[5]

---

१. आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक् (४।२।२२) ।
२. विभाषा फाल्गुनी-श्रवणा-कार्तिकी-चैत्रीभ्यः (४।२।२३) ।
३. साऽस्य देवता (४।२।२४) ।
४. कस्येत् (४।२।२५) ।
५. शुक्राद् घन् (४।२।२६) ।

घन्, छ—शतं रुद्रा देवताऽस्य यागस्य **शतरुद्रियो यागः । शतरुद्रीयः ।**[1] विधान सामर्थ्य से यहाँ द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८)। से प्रत्यय का लुक् नहीं होता ।

घ, अण्, छ—महेन्द्रो देवताऽस्य हविषः=महेन्द्रियं हविः । **माहेन्द्रम् ।** (अण्) । **महेन्द्रीयम् ।**[2]

टचण्—सोमो देवताऽस्य सौम्योमन्त्रः[3] **। सौमी ऋक् ।** ङीप् परे होने पर तद्धित 'य्' का लोप । हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) ।

यत्—वायु, ऋतु, पितृ, उषस् से यत्[4]—**वायुर्देवताऽस्य वायव्यः । वायव्यं श्वेतमालभेत ।** गुण, वान्तादेश । ऋतु—**ऋतव्यम् । पितरो देवताऽस्य हविषः पित्र्यं हविः ।** अकृद्यकार यत् परे होने पर 'पितृ' के 'ऋ' को री (ङ्)[5] । 'भ' संज्ञा होने से इस 'ई' का लोप । **उषा देवताऽस्य—उषस्यम् ।** 'भ' संज्ञा होने से रुत्व नहीं हुआ ।

छ, यत्—द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध—इनसे छ तथा यत्[6]—द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । दिव् के स्थान में 'द्यावा' आदेश होता है । **द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम् । द्यावापृथिव्यम् ।** शुनो वायुः । सीरश्चादित्यः । देवताद्वन्द्वे च (६।३।२६) से पूर्वपद को आनङ् (आन्) अन्तादेश होता है । पदान्त 'न्' का लोप हो जाता है । **शुनासीरौ देवते अस्येति शुनासीरीयम् । शुनासीर्यम् ।** मरुत्वत्—**मरुत्वतीयम् । मरुत्वत्यम् ।** अग्निश्च सोमश्च=अग्नीषोमौ । **अग्नीषोमौ देवते अस्य अग्नीषोमीयम् । अग्नीषोम्यम् । अग्नीषोमीयाऽनड्वाही ।** वास्तुनः=वेश्मभुवः (गृहभूमेः) पतिः=वास्तोष्पतिः । सूत्र में निपातन से साधु है । **वास्तोष्पतीयम् । वास्तोष्पत्यम् ।** ण्य का अपवाद । गृहमेध—**गृहमेधीयम् । गृहमेध्यम् ।** अण् का अपवाद ।

---

१. शतरुद्राच्छश्च घश्च (वा०) ।
२. महेन्द्राद् घाणौ च (४।२।२९) ।
३. सोमाट् टचण् (४।२।३०) ।
४. वाय्वृतुपित्रुषसो यत् (४।२।३१) ।
५. रीङ् ऋतः (७।४।२७) ।
६. द्यावापृथिवी-शुनासीर-मरुत्वद्-अग्नीषोम-वास्तोष्पति-गृहमेधाच्छ च (४।२।३२) ।

ढक्—अग्निर्देवताऽस्य आग्नेयः पुरोडाशः। आग्नेयो मन्त्रः।[1]

पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह—ये यथोच्चारित साधु हैं।[2] पितुर्भ्राता=पितृव्यः। मातुर्भ्राता=मातुलः। मातुः पिता=मातामहः। पितुः पिता=पितामहः।

'उसका समूह' इस अर्थ में षष्ठचन्त से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[3]—**काकानां समूहः=काकम्। बकानां समूहो बाकम्।** काक, वक शब्द आद्युदात्त हैं।

ग्रामच्—'गुण' आदि शब्दों से 'उसका समूह' अर्थ में ग्रामच् (ग्राम) प्रत्यय होता है[4]—**गुणानां समूहः=गुणग्रामः।** करणम्=इन्द्रियम्। **करणग्रामः। तत्त्वग्रामः। इन्द्रियग्रामः।** गुणादि आकृतिगण है।

अण्—भिक्षा आदि शब्दों से अण्[5]—**भिक्षाणां समूहः=भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहः=गार्भिणम्।** भस्याढे तद्धिते (वा०) से भ-संज्ञक को पुंवद्भाव होता है। भिक्षादि गण में 'युवति' शब्द पढ़ा है। उसे पुंवद्भाव नहीं होता। यदि वह इष्ट होता तो 'युवन्' शब्द ही पढ़ देते। **युवतीनां समूहः=यौवतम्।** यह वृत्ति के अनुसार है। भट्टोजि दीक्षित तो पुंवद्भाव मानते हैं। 'अन्' से प्रकृति भाव होने पर 'यौवनम्' यह रूप होगा। अमर तो वृत्ति के अनुसार पुंवद्भाव नहीं मानता है—**गार्भिणं यौवतं गणे।** पदाति—**पदातीनां समूहः पादातम्।** करीषाणां (शुष्कगोमयानां) **समूहः=कारीषम्।** समूह नाम का पदार्थ न तो पुमान् है और न स्त्री, अतः पारिशेष्य से नपुं० लिङ्ग है। अतः समूहवाची अणादि प्रत्ययान्त नपुं० में प्रयुक्त होते हैं।

वुञ्—गोत्र प्रत्ययान्त (=अपत्यमात्र प्रत्ययान्त), उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन् राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज—से समूह अर्थ में वुञ्[6]—**औपगवानां समूहः=औपगवकम्।** उक्षन्—**उक्ष्णां समूहः=औक्षकम्।**

---

१. अग्नेर्ढक् (४।२।३३)।
२. पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः (४।२।३६)।
३. तस्य समूहः (४।२।३७)।
४. गुणादिभ्यो ग्रामज् वक्तव्यः (वा०)।
५. भिक्षादिभ्योऽण् (४।२।३८)।
६. गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्र-राज-राजन्य-राजपुत्र-वत्स-मनुष्याजाद् वुञ् (४।२।३९)।

उक्षन्=बैल। उष्ट्र=औष्ट्रकम्। उरभ्र (भेड़)—औरभ्रकम्। राजन्—**राज्ञां समूहः=राजकम्।** नस्तद्धिते (६।३।१४४) से टिलोप। राजन्य—**राजन्यानां समूहः=राजन्यकम्।** यहाँ आपत्य यत् का लोप नहीं हुआ कारण कि 'प्रकृत्याऽके राजन्य-मनुष्य-युवानः' इस वार्तिक से वुञ् (अक) प्रत्यय परे रहते प्रकृति-भाव होता है। **राजपुत्राणां समूहः=राजपुत्रकम्।** वत्स=**वात्सकम्।** मनुष्य—**मानुष्यकम्।** यहाँ भी आपत्य 'यत्' का लोप नहीं हुआ। अज=**आजकम्।**

'वृद्ध' से भी समूह अर्थ में वुञ्—**वृद्धानां समूहो वार्धकम्।**[1]

यञ्, वुञ्, ठञ्—केदार=खेत। **केदाराणां समूहः कैदार्यम्** (यञ्)। **कैदारकम्** (वुञ्)। अगले सूत्र से ठञ् को पीछे खींचकर इस सूत्र के साथ जोड़ने से ठञ् भी होता है—**कैदारिकम्**[2]।

यञ्—'गणिका' से यञ् होता है[3]—**गणिकानां समूहो गाणिक्यम्।** आदि वृद्धि।

ठञ्—**कवचिनां समूहः=कावचिकम्**[4]। 'नस्तद्धिते' से टि=इन् का लोप।

यन्—**ब्राह्मणानां समूहः=ब्राह्मण्यम्। माणवानां समूहः=मानव्यम्। वाडवानां समूहः=वाडव्यम्।**[5] वाडव=ब्राह्मण। वाडव अग्नि (समुद्रानल) की तरह अतृप्त होने से ब्राह्मण को 'वाडव' कहा है।

ख—अहन् शब्द से समूह अर्थ में क्रतुवाच्य होने पर ख[6]—**अह्नां समूहोऽहीनः क्रतुः।** अहर्गण-साध्य-सुत्याकः क्रतुर् अहीनः, वह क्रतु (सोमयाग) जिसमें सोमसवन कई दिनों में सिद्ध होता है।

णस्—पर्शू (पसली)। **पर्शूनां समूहः पार्श्वम्।**[7] प्रत्यय के सित् होने से

---

१. वृद्धाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
२. केदाराद्यञ्च (४।२।४०)।
३. गणिकायाश्च यञ् वक्तव्यः (वा०)।
४. ठञ् कवचिनश्च (४।२।४१)।
५. ब्राह्मण-माणव-वाडवाद् यन् (४।२।४२)।
६. अह्नः खः क्रतौ (वा०)।
७. पर्श्वा णस् वक्तव्यः (वा०)।

पूर्व की पद-संज्ञा होने से ओर्गुणः की प्रवृत्ति न हो सकी। यण्। आदि वृद्धि।

ऊल—वातानां समूहः=वातूलः।[1]

तल्—ग्राम, जन, बन्धु से[2]—**ग्रामाणां समूहः=ग्रामता। जनानां समूहो जनता। बन्धूनां समूहो बन्धुता।** तलन्तं स्त्रियाम्। तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है।

वार्तिककार के अनुसार 'सहाय' शब्द से भी तल् होता है[3]—**सहायानां समूहः सहायता,** साथियों का समूह। 'गज' शब्द से भी[4]—**गजानां समूहो गजता।**

अञ्—अनुदात्तादि प्रातिपदिक से समूह अर्थ में अञ्[5]—**कपोतानां समूहः कापोतम्। मयूराणां समूहो मायूरम्। तित्तिरीणां समूहस्तैत्तिरम्।**

'खण्डिका' इत्यादि शब्दों से अञ्[6]—**खण्डिकानां समूहो खाण्डिकम्।** खण्डिका=मटर का भोजन। वडवा=घोड़ी। **वडवानां समूहः वाडवम्।** भिक्षुकाणां समूहः=भैक्षुकम्। **उलूकानां समूहः=औलूकम्।** क्षुद्रकमालवानां सेना=क्षौद्रकमालवी। अन्यत्र गोत्रलक्षण वुञ् होगा—क्षौद्रकमालवकम्।

वुञ् आदि—चरणवाची कठ, कालाप आदि से समूहार्थ में वे—वे प्रत्यय होते हैं जो-जो धर्म (व आम्नाय) अर्थ में होते हैं[7]—**कठानां धर्मः काठकम्। कालापानां धर्मः कालापकम्।** गोत्रचरणाद् वुञ्। **छन्दोगानां धर्मः=छान्दोग्यम्। औक्थिकानां धर्मः=औक्थिक्यम्।** ञ्यः। **आथर्वणिकानां धर्मः=आथर्वणम्।** अण्। इक लोप। इसी प्रकार समूह में भी—**काठकम्। कालापकम्। छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। आथर्वणम्।**

ठक्—अचेतन पदार्थवाची प्रातिपदिक से, हस्तिन् तथा धेनु से ठक्[8]—

१. वातादूलः (वा०)।
२. ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् (४।२।४३)।
३. सहायाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४. गजाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
५. अनुदात्तादेरञ् (४।२।४४)।
६. खण्डिकादिभ्यश्च (४।२।४५)।
७. चरणेभ्यो धर्मवत् (४।२।४६)।
८. अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक् (४।२।४७)।

अपूपानां समूह आपूपिकम् । **शष्कुलीनां समूहः=शाष्कुलिकम्** । शष्कुलि= कचौड़ी । **हस्तिनां समूहः=हास्तिकम्** । टिलोप । **धेनूनां समूहः=धैनुकम्** । उगन्त होने से ठक् को 'क' आदेश ।

नञ्-पूर्वक धेनु से ठक् नहीं होता ।[1] उत्सादि गण (४।१।८६) में पाठ के कारण अञ् होता है—**आधेनवम्** । उत्सादि गण में धेनु शब्द पढ़ा है । पर उत्सादियों में तदन्त विधि होती है वह ज्ञापक सिद्ध है ऐसा हम अपत्यार्थक तद्धित प्रकरण में बतला चुके हैं ।

यञ्, छ—केश, अश्व से क्रम से यञ्, छ प्रत्यय विकल्प से होते हैं[2], पक्ष में ठक् व अण्—**केशानां समूहः=कैश्यम्** । **कैशिकम्** (पूर्वसूत्र से ठक्) । **अश्वीयम्**(छ) । **आश्वम्** (अण्) ।

य—पाश आदि से 'य'[3]—**पाशानां समूहः पाश्या** । **तृणानां समूहः तृण्या** । धूम—**धूम्या** । वात—**वात्या** । (आँधी) । हल—**हल्या** । शकट—**शकट्या** । वन—**वन्या** । 'पाश्या' आदि सब स्वभाव से स्त्रीलिंग हैं ।

खल, गो, रथ[4]—**खलानां समूहः खल्या**, खलिहानों का समूह । **गवां समूहः=गव्या** । **रथानां समूहः=रथ्या** । ये भी नियत स्त्रीलिङ्ग हैं ।

इनि, त्र, कट्यच्—खल, गो, रथ से—खल से इनि (इन्)[5] । **खलानां समूहः खलिनी** (स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप्) । **गोत्रा** । (त्र) । **रथकट्या** । ये भी स्वभावतः स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं ।

इनि—खल आदि से इनि होता है ऐसा वार्तिक है ।[6] अतः **कुण्डलानां समूहः कुण्डलिनी** । **कुटुम्बानां समूहः कुटुम्बिनी** ।

समूहार्थक तद्धित समाप्त ।

षष्ठ्यन्त पद से 'उसका विषय' (देश=ग्रामसमुदाय) इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[7]—**शिबीनां विषयो देशः शैबः** ।

---

१. धेनोरनञ इति वक्तव्यम् (वा०) ।
२. केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् (४।२।४८) ।
३. पाशादिभ्यो यः (४।२।४९) ।
४. खल-गो-रथात् (४।२।५०) ।
५. इनि-त्र-कट्यचश्च (४।२।५१) ।
६. खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः (वा०) ।
७. विषयो देशे (४।२।५२) ।

वुञ्—राजन्यादि से वुञ्[1]—**राजन्यानां विषयो देशः=राजन्यकः। मालवानां विषयो देशो मालवकः। त्रिगर्तानां विषयो देशः=त्रैगर्तकः। शैलूषाणां विषयो देशः=शैलूषकः।** शैलूष=नट। राजन्यादि आकृति-गण है।

अण्—छन्दो विशेषवाची प्रथमान्त पद से 'इस प्रगाथ का यह आदि है' इस अर्थ में प्रगाथ के वाच्य होने पर यथाविहित अण् प्रत्यय होता है[2]—**पङ्क्तिश्छन्द आदिर् अस्य प्रगाथस्येति पाङ्क्तः प्रगाथः।** पंक्ति से अण् हुआ। यत्र प्रग्रथनात्प्रकर्षगानाद्वा द्वे ऋचौ तिस्रः क्रियन्ते स प्रगाथः (काशिका)। जो दो ऋचायें उच्चारण-विशेष अथवा गाने से तीन बना दी जाती हैं उन्हें 'प्रगाथ' कहते हैं। प्रग्रथन=उच्चारण-विशेष।

अण्—प्रथमान्त पद, जो या तो प्रयोजनवाची हो या योद्धा का वाचक हो, से 'इस सङ्ग्राम का' इस अर्थ में सङ्ग्राम अभिधेय होने पर यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं[3]—**सुभद्रा प्रयोजनमस्य सङ्ग्रामस्य सौभद्रः सङ्ग्रामः,** सुभद्रा के निमित्त किया गया संग्राम। **भरता योद्धारोऽस्य सङ्ग्रामस्येति भारतः सङ्ग्रामः।**

ण—प्रहरण-विशेषवाची प्रथमासमर्थ (=प्रथमान्त पद) से, 'वह है प्रहरण (आयुध, शस्त्र) इस क्रीडा में' इस अर्थ में क्रीडा अभिधेय होने पर 'ण'[4]—**दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा। मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडायां मौष्टा।** आदि वृद्धि। 'यस्येति च' से 'इ' का लोप।

ञ—घञन्त क्रियावाची प्रथमान्त से ञ प्रत्यय हो 'वह क्रिया है इस में' इस अर्थ में।[5] कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा से घञन्त 'पात' आदि गति-कारक-पूर्वक भी लिया जा सकता है—**श्येनपातोऽस्यां वर्तते मृगयायाम् इति श्यैनंपाता मृगया,** शिकार जिसमें श्येनों का भ्रंश होता है। **तिलपातोऽस्यां स्वधायाम् इति तैलंपाता स्वधा।** घञन्त उत्तरपद

1. राजन्यादिभ्यो वुञ् (४।२।५३)।
2. सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु (४।२।५५)।
3. संग्रामे प्रयोजन-योद्धृभ्यः (४।२।५६)।
4. तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः (४।२।५७)।
5. घञः साऽस्यां क्रियेति ञः (४।२।५८)।

परे होने पर श्येन (बाज़) तथा 'तिल' को मुम् आगम होता है । दण्डपातोऽस्यां वर्तत इति दाण्डपाता तिथिः । सो यहाँ नहीं हुआ ।

अण् आदि—द्वितीया-समर्थ से उसे पढ़ता है अथवा उसे जानता है इन अर्थों में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं[1]—**छन्दोऽधीते वेद वा छान्दसः । व्याकरणम् अधीते वेद वा वैयाकरणः** (अण्, आदि वृद्धि को बाधकर ऐजागम) । **निरुक्तमधीते वेद वा नैरुक्तः । निमित्तानि वेद=नैमित्तः । मुहूर्त्तं वेद मौहूर्त्तः । उत्पातान् वेद=औत्पातः ।** उत्पात इति प्राणिनां शुभाशुभ-सूचको भूतविकार उच्यते । ब्रह्म वेद:, तदधीते वेद वा ब्राह्मण: । अन् से प्रकृतिभाव।

ठक्—तदधीते तद्वेद (उसे पढ़ता है, उसे जानता है) इन अर्थों में द्वितीयान्त क्रतु-विशेषवाची, उक्थादि शब्द तथा सूत्रान्त शब्द से ठक्[2]—क्रतु शब्द सोम-याग में रूढ है । **अग्निष्टोमम् अधीते वेद वाऽऽग्निष्टोमिकः । वाजपेयमधीते वेद वा वाजपेयिकः ।** उक्थादि—**उक्थमधीते** (=औक्थिक्यमधीते)= **औक्थिकः ।** यज्ञायज्ञीय साम (ऋ० ६।४८) से परे जो साम गाए जाते हैं उन्हें 'उक्थ' कहते हैं । यहाँ 'उन्हें पढ़ने वाला अथवा जानने वाला' इस अर्थ में प्रत्यय विधान नहीं, किन्तु जो 'उक्थ' शब्द सामलक्षण ग्रन्थ 'औक्थिक्य' के अर्थ में उपचरित (=लक्षणया व्यवहृत) होता है, उससे प्रत्यय इष्ट है । औक्थिक्य शब्द से प्रत्यय होता ही नहीं, व्यवहार न होने से । साम-विशेष-वाचक उक्थ शब्द से न ठक् होता है और न ही अण् । वाक्य ही रहता है । उक्थान्यधीते वेद वा । अन्य उक्थादि शब्द—लोकायत—**लौकायतिकः** । न्याय—**नैयायिकः** । निमित्त—**नैमित्तिकः** । निरुक्त—**नैरुक्तिकः** । यज्ञ—**याज्ञिकः** । **धर्म—धार्मिकः** । धर्मं धर्मशास्त्रमधीते वेद वा । संहिता—**सांहितिकः** । वृत्ति—**वार्तिकः** । सङ्ग्रह—**साङ्ग्रहिकः** । आयुर्वेद—**आयुर्वैदिकः** । उभयपद वृद्धि । सूत्रान्त शब्दों से—**संग्रहसूत्रमधीते वेद वा साङ्ग्रहसूत्रिकः । वार्तिकमेव सूत्रं वार्तिकसूत्रम् । तदधीते वेद वा । वार्तिकसूत्रिकः ।**

सूत्रान्त से तभी ठक् होता है जब पूर्वपद कल्प आदि न हो, अन्यथा प्राग्दीव्यतीय अण्[3]—**कल्पसूत्रमधीते वेद वा काल्पसूत्रः ।**

वार्तिक के अनुसार सूत्रान्त से ही नहीं किन्तु विद्यान्त, लक्षणान्त,

---

१. तदधीते तद्वेद (४।२।५९) ।

२. क्रतूक्थादि-सूत्रान्ताट्ठक् (४।२।६०) ।

३. सूत्रान्तादकल्पादेरिष्यते (वा०) ।

कल्पान्त से भी ठक् इष्ट है[1]—**वायसविद्यामधीते वेद वा वायसविद्यिकः ।** **सर्पविद्यामधीते वेद वा सार्पविद्यिकः । गोलक्षणान्यधीते वेद वा गौलक्षणिकः । आश्वलक्षणिकः । पराशरकल्पमधीते वेद वा पाराशरकल्पिकः ।** गृह्य, धर्म तथा श्रौत सूत्रों का एक नाम 'कल्प' है ।

इस वार्तिक से जो अतिप्रसङ्ग होने लगा उसके वारण के लिए वार्तिककार एक दूसरा वार्तिक रचते हैं—सभी विद्यान्त प्रातिपदिकों से ठक् मत हो। उसी विद्यान्त से हो जिसका पूर्वपद अङ्ग, क्षत्र, धर्म, संसर्ग और त्रि न हो।[2] अतः **अङ्गविद्यामधीते वेद वाऽऽङ्गविद्यः** । अण् हुआ । **क्षात्रविद्यः । धार्मविद्यः । सांसर्गविद्यः । त्रैविद्यः । त्र्यवयवा विद्या=त्रिविद्या । तामधीते वेद वा ।** यदि तिस्रो विद्या अधीते वेद वा ऐसा विग्रह करेंगे तो तद्धितार्थ में उत्पन्न हुए अण् का 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।१।८८) से लुक् हो जाएगा, क्योंकि यह अण् द्विगु का निमित्त है ।

वार्तिककार के अनुसार आख्यान तथा आख्यायिका-वाची शब्दों से इतिहास तथा पुराण शब्दों से भी ठक् प्रत्यय होता है[3]—यवक्रीतो नाम राजा । तमधिकृत्य कृतमाख्यानमप्युपचाराद् यवक्रीतम् । तदधीते वेद वा **यावक्रीतिकः ।** प्रियङ्गुमधिकृत्य कृतमाख्यानमप्युपचारात् । प्रियङ्गु । तदधीते वेद वा **प्रैयङ्गविकः ।** वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता । 'आख्यायिकाभ्यो लुब्बहुलम्' से लुप् । तामधीते वेद वा **वासवदत्तिकः ।**

जहाँ सर्व पूर्वपद हो अथवा 'स' पूर्वपद हो उस समास से तथा द्विगु से भी प्रत्यय का लुक् होता है[4]—**सर्ववेदानधीते सर्ववेदः । सर्वतन्त्राण्यधीते वेद वा सर्वतन्त्रः । वार्तिकान्तमधीते सवार्तिकः ।** अन्तवचन में 'सह' शब्द का अव्ययीभाव समास । अव्ययीभावे चाकाले (६।३।८१) से सह को स । एवं **संग्रहान्तमधीते ससङ्ग्रहः ।** द्विगु—**द्वौ वेदौ अधीते वेद वा द्विवेदः । चतुरो वेदानधीते वेद वा चतुर्वेदः ।**

---

१. विद्या-लक्षण-कल्पान्तादिति वक्तव्यम् (वा०) ।
२. विद्या च नाङ्ग-क्षत्र-धर्म-संसर्ग-त्रि-पूर्वा (वा०) ।
३. आख्यानाऽऽख्यायिकेतिहास-पुराणेभ्यष्ठग् वक्तव्यः (वा०) ।
४. सर्वसादेर्द्विगोश्च लः (वा०) ।

अनुसू (ग्रन्थ विशेष), लक्ष्य, लक्षण—से ठक्।[1] **अनुसूमधीते वेद वा आनुसुकः**। उगन्त होने से ठक् को 'क' आदेश। केऽणः (७।४।१३) से अनुसू के 'ऊ' को ह्रस्व। **लक्ष्याण्यधीते वेद वा लाक्ष्यिकः। लक्षणान्यधीते वेद वा लाक्षणिकः।**

षिकन्—शत, षष्टि जब पूर्वपद हो तो पथिन् से बहुलतया षिकन्[2] (इक)—**शतपथमधीते वेद वा शतपथिकः। शतपथिकी।** प्रत्यय के षित् होने से ङीष्। **षष्टिपथिकः। षष्टिपथिकी।** बहुलतया कहने से कहीं षिकन् न होकर अण् होता है—**शातपथः। षाष्टिपथः।**

वुन्—क्रम आदि शब्दों से[3]—**क्रमम् अधीते वेद वा क्रमकः**, वेद के क्रमपाठ का परिशीलन करने वाला, अथवा उसे जानने वाला। **पदं पदपाठमधीते वेद वा=पदकः। मीमांसामधीते वेद वा=मीमांसकः। शिक्षामधीते वेद वा शिक्षकः।**

इनि—अनुब्राह्मण=ब्राह्मण-सदृश ग्रन्थ—**अनुब्राह्मणमधीते वेद वा=अनुब्राह्मणी**[4]। अनुब्राह्मणिनौ। अनुब्राह्मणिनः। अण् न हो, अतः इनि का विधान किया है।

ठक्—वसन्तादि शब्दों से[5]। वसन्तसहचरितो ग्रन्थो वसन्तः। वसन्त ऋतु के साथ सम्बद्ध अर्थात् जो वसन्त ऋतु में पढ़ा जाता है उसे 'वसन्त' कह दिया है। **वसन्तं ग्रन्थमधीते वेद वा वासन्तिकः।** वर्षाभिः सहचरितो ग्रन्थो वर्षाः, ता अधीते वेद वा **वार्षिकः**। शरद्—**शारदिकः**। हेमन्त—**हैमन्तिकः**। शिशिर—**शैशिरिकः**। अथर्वन्—अथर्वणा प्रोक्त उपचाराद् अथर्वा। तमधीते वेद वा **आथर्वणिकः**।

प्रत्यय-लुक्—प्रोक्त प्रत्ययान्त से अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में उत्पन्न हुए प्रत्यय का लुक् हो जाता है[6]—**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्**। वृद्धाच्छः। **तदधीते**

---

१. अनुसू लक्ष्य-लक्षणे च (वा०)।
२. शत-षष्टेः षिकन् पथो बहुलम् (वा०)।
३. क्रमादिभ्यो वुन् (४।२।६१)।
४. अनुब्राह्मणादिनिः (४।२।६२)।
५. वसन्तादिभ्यष्ठक् (४।२।६३)।
६. प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६४)।

वेद वा पाणिनीयः। स्त्रीत्व विवक्षा में पाणिनीया। पणोऽस्यास्तीति पणी (इन् मत्वर्थीय)। पणिनोऽपत्यं पाणिनः। अण्। गाथि-विदथि-केशि-गणि-पणिनश्च (६।४।१६५) से अपत्यार्थ अण् परे भी प्रकृतिभाव होता है। पाणिनस्यापत्यं युवा पाणिनिः। इञ्। आपिशलिना प्रोक्तम् आपिशलम्। गोत्र में इञन्त से अण्। **तदधीते वेद वा आपिशलः।**

सूत्रवाची ककारोपध प्रातिपदिक से अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का लुक्[1]—**पाणिनीयमष्टकं सूत्रमधीयते विदुर्वा अष्टकाः पाणिनीयाः।** अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य अष्टकम्। कन्। वैयाघ्रपद्यस्य शिष्या वैयाघ्रपदीयाः। वृद्धाच्छः। **द्वादशकं सूत्रमधीयते विदुर्वा द्वादशका वैयाघ्रपदीयाः। त्रिकाः काशकृत्स्नाः।** यह सूत्र अप्रोक्त के लिए है। अष्टकादि प्रोक्त प्रत्ययान्त नहीं हैं। ककारोपध संख्याप्रकृति लिया जाता है। संख्या है प्रकृति जिस कन् प्रत्यय की तदन्त संख्याप्रकृति अष्टकादि हुआ। **चतुष्टयमधीते चातुष्टयः।** यहाँ तयप् की प्रकृति संख्या है पर प्रत्ययान्त ककारोपध नहीं। **कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः। तेषामाम्नायः कालापकम्।** गोत्रचरणाद् वुञ्। **तदधीते कालापकः।** अण्। इस का लुक् नहीं होता है। अतः प्रत्ययस्वर होता है और स्त्रीत्व में ङीप् भी—कालापकी। 'कालापक' ककारोपध है, पर प्रत्यय (वुञ्) की प्रकृति संख्या नहीं।

प्रत्यय-नियम—प्रोक्त-प्रत्ययान्त छन्दस् (मन्त्र) तथा ब्राह्मण अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में आए हुए प्रत्यय को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से वाक्य में प्रयुक्त नहीं होते[2]—**कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः।** 'कठ' वैशम्पायन का शिष्य है, अतः कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४) से प्रोक्तार्थ में णिनि आया। उसका कठचरकाल्लुक् (४।३।१०७) से लुक्। उससे 'तदधीते तद्वेद' में पुनः अण् हुआ। उसका 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६४) से लुक्। **मुदेन प्रोक्तमधीयते मौदाः।** प्रोक्तार्थ में अण्। **पिप्पलादेन प्रोक्तमधीयते पैप्पलादाः। ऋचाभेन प्रोक्तमधीयते आर्चाभिनः।** 'ऋचाभ' वैशम्पायन का शिष्य है। अतः प्रोक्तार्थ में णिनि हुआ। उससे अध्येतृ अर्थ में आए हुए अण् का प्रोक्ताल्लुक् से लुक्।

---

१. सूत्राच्च कोपधात् (४।२।६५)।

२. छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६)।

प्रोक्त-प्रत्ययान्त का कई तरह से प्रयोग देखा जाता है—स्वतन्त्रतया[1], उपाध्यन्तर योग से[2] (विशेषण को लेकर), वाक्य में[3], तथा अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय के विषय में[4]। यथा—१. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। २. महत् पाणिनीयम्। ३. पाणिनीयमधीते। ४. पाणिनीयाश्छात्राः(पाणिनिना प्रोक्तमधीयते)। छन्दस् (मन्त्र) तथा ब्राह्मणवाची प्रोक्त-प्रत्ययान्तों का तो अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय विषयक ही प्रयोग होता है, पहले तीन प्रकार के प्रयोग निवृत्त हो जाते हैं। सूत्र में 'तद्' शब्द से अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में विहित प्रत्यय का परामर्श है। विषय का अर्थ अनन्यत्रभाव है, जैसे मत्स्यानां विषयो जलम्।

प्रोक्त-प्रत्ययान्त ब्राह्मणों की भी तद्विषयता होती है—**ताण्ड्येन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ताण्डिनः**। आपत्य 'य' का लोप। **शाट्यायनेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयत इति शाट्यायनिनः**। 'शाट्य' शब्द गर्गादियञन्त है। उससे युवापत्य में यञिञोश्च (४।१।१०१) से फक् (आयन)। आकारादि आपत्य तद्धित होने से 'य' का लोप नहीं हुआ। **इतरस्यापत्यम् ऐतरेयः**। शुभ्रादि ढक्। **ऐतरेयेण प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ऐतरेयिणः**। प्रोक्तार्थ में णिनि। पर याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि। यहाँ तद्विषयता नहीं होती।

सूत्र में चकार ग्रहण अनुक्त के सङ्ग्रह के लिए है। अतः कल्प में भी तद्विषयता देखी जाती है—**काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः। कौशिकिनः**। सूत्र में भी—**पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षु सूत्रमधीयते पाराशरिणः**। आपत्य 'य' का लोप।

यहाँ तदधीते तद्वेद का अधिकार समाप्त हुआ। रक्ताद्यर्थक भी समाप्त हुए।

चातुरर्थिक प्रत्यय

अण्—'वह इस देश में है' इस अर्थ में प्रथमान्त से यथाविहित प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त देश की संज्ञा हो[2]—**उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे इति स देश औदुम्बरो नाम**। मत्वर्थीय का अपवाद है।

'उससे बनाया गया' इस अर्थ में तृतीयान्त पद से यथाविहित प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त देश की संज्ञा हो[3]—**सहस्रेण निर्वृत्ता परिखा**=

---

१. छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६)।

२. तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (४।२।६७)।

३. तेन निर्वृत्तम् (४।२।६८)।

साहस्री, सहस्र (मुद्रा) की लागत से बनाई गई खाई साहस्री नाम से प्रसिद्ध हुई। यहाँ हेतु में तृतीया समझनी चाहिये। **कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी,** कुशाम्ब से बनाई गई कौशाम्बी नाम की नगरी। यह महाराज उदयन की राजधानी थी। आजकल इलाहाबाद के समीप यह 'कोसम' नामक ग्राम है।

'उसका निवास' इस अर्थ में षष्ठयन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त देश की संज्ञा हो[1]—**शिबीनां निवासः शैबो नाम देशः।** निवसत्यस्मिन्निति निवासः। अधिकरण में घञ्। निवास में स्व-स्वामिभाव नहीं पाया जाता।

'उसके अदूर (समीप) होने वाला' इस अर्थ में षष्ठयन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है यदि प्रत्ययान्त देश की संज्ञा हो[2]—**विदिशाया अदूरभवं नगरं** वैदिशम्। वरणा च असिश्च नद्यौ वरणासी तयोरदूरभवा **वाराणसी।** पृषोदरादि। सूत्र में 'च' पढ़ा है। उसका प्रयोजन यह है कि अगले सूत्रों में यहाँ कहे हुए चारों अर्थों में प्रत्यय-विधि होगी जिससे इन प्रत्ययों की चातुरर्थिक संज्ञा उपपन्न हो जायगी। चतुर्णामर्थानां समाहारः चतुरर्थी। तत्र भवाश्चातुरर्थिकाः प्रत्ययाः। चतुरवयवोऽर्थश्चतुरर्थः, तत्र भवाश्चातुरर्थिकाः।

अञ्—उवर्णान्त प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है[3]—कक्षतु—काक्षतवम्। ओर्गुणः। अरडु=क्षत्रिय विशेष। **आरडवम्। अरडवः क्षत्रियाः सन्त्यस्मिन् देशे स आरडवो नाम देशः। अरडुना निर्वृत्तं नगरम् आरडवम्। अरडूनां निवासो देशः=आरडवः।**

जिस मतुप् प्रत्यय की प्रकृति बह्वच् है उस मत्वन्त से चातुरर्थिक अञ्[4]—इषुकावत् से अञ् होकर **ऐषुकावतम्।** सिध्रकावत् से **सैध्रकावतम्।** अण् का अपवाद।

बह्वच् प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अञ् यदि कूप अभिधेय हो[5]—**दीर्घवस्त्रेण निर्वृत्तः कूपः=दैर्घवस्त्रः। कपिलवस्त्रेण निर्वृत्तः कापिलवस्त्रः।**

१. तस्य निवासः (४।२।६९)।
२. अदूरभवश्च (४।२।७०)।
३. ओरञ् (४।२।७१)।
४. मतोश्च बह्वजङ्गात् (४।२।७२)।
५. बह्वचः कूपेषु (४।२।७३)।

विपाश् नदी के उत्तर तीर पर जो कूएँ हैं उनके अभिधेय होने पर चातुर्थिक अञ् होता है[1]—**दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः। गुप्तेन निर्वृत्तः कूपो गौप्तः।** यह सूत्र अबह्वच् प्रातिपदिक से प्रत्यय विधि के लिए बनाया गया है। विपाश् के दक्षिण तीर पर स्थित कूपों के अभिधान में तो यथा-विहित अण् ही होगा—दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः। स्वर में भेद है। अञ् प्रत्यय होने पर ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७) से 'दात्त' आद्युदात्त होगा और अण् होने पर प्रत्यय-स्वर होकर अन्तोदात्त होगा। आचार्य की इस सूक्ष्म दृष्टि पर आश्चर्य करते हुए वृत्तिकार कहता है—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

अण्—सुवास्तु आदि से चातुर्थिक अण्[2]। **सुवास्तोरदूरभवं नगरम्=सौवास्तवम्। वर्णोर् अदूरभवं नगरं वार्णवम्। सुवास्तोरदूरभवः कूपः सौवास्तवः। सुवास्तोरदूरभवा नदी सौवास्तवी।** 'नदी' अभिधेय होने पर आगे मतुप् प्रत्यय कहेंगे, वह न हो इसलिए यहाँ अण् विधान किया है, अन्यथा यथाविहित कह देते उससे ही अण् हो जाता।

रोणी शब्द (केवल और तदन्त) से चातुर्थिक अण्[3]—**रोण्या अदूरभवः=रौणः। अजकरोण्या अदूरभवः=आजकरोणः।** आदिवृद्धि। **सिंहिकरोण्या अदूरभवः=सैंहिकरोणः।**

कोपध प्रातिपदिक से चातुर्थिक अण्[4]। उवर्णान्त-लक्षण तथा कूप-लक्षण अञ् का अपवाद। **कर्णच्छिद्रिकेण निर्वृत्तः कूपः=कार्णच्छिद्रिकः। कर्णवेष्टकेन निर्वृत्तः कूपः=कार्णवेष्टकः। कृकवाकुना निर्वृत्तं नगरं कार्कवाकवम्।** ओर्गुणः। आदिवृद्धि। **त्रिशङ्कुना निर्वृत्तं नगरं त्रैशङ्कवम्।**

वुञ् छण् आदि—सत्तरह प्रातिपदिकगणों से सत्तरह चातुर्थिक प्रत्यय **यथासंख्य** विधान किये हैं[5]। सत्तरह गण ये हैं—अरीहणादि[1]। कृशाश्वादि[2]।

---

१. उदक् च विपाशः (४।२।७४)।
२. सुवास्त्वादिभ्योऽण् (४।२।७७)।
३. रोणी (४।२।७८)।
४. कोपधाच्च (४।२।७९)।
५. वुञ्-छण्-क-ठज्-इल-शेनि-र-ढञ्-ण्य-य-फक्-फिञ्-इञ्-ञ्य-कक्-ठकोऽरीहण-कृशाश्वर्श्य-कुमुद-काश-तृण-प्रेक्षाऽश्म-सखि-सङ्काश-बल-पक्ष-कर्ण-सुतङ्गम-प्रगदिन्-वराह-कुमुदादिभ्यः (४।२।८०)।

ऋश्यादि[3] । कुमुदादि[4] । काशादि[5] । तृणादि[6] । प्रेक्षादि[7] । अश्मादि[8] । सख्यादि[9] । सङ्काशादि[10] । बलादि[11] । पक्षादि[12] । कर्णादि[13] । सुतङ्गमादि[14] । प्रगदिन्नादि[15] । वराहादि[16] । कुमुदादि[17] ।

सत्तरह प्रत्यय ये हैं—वुञ्[1] । छण्[2] । क[3] । ठच्[4] । इल[5] । श ।[6] इनि[7] । र[8] । ढञ्[9] । ण्य[10] । य[11] । फक्[12] । फिञ्[13] । इञ्[14] । ञ्य[15] । कक्[16] । ठक्[17] । प्रथम गण से प्रथम प्रत्यय, द्वितीय से द्वितीय इत्यादि ।

वुञ्—अरीहणेन निर्वृत्तं नगरम् आरीहणकम् । खदिराः सन्त्यस्मिन्देशे इति खादिरको नाम देशः । काशकृत्स्नेन निर्वृत्ता नगरी=काशकृत्स्निका । शिंशपानामदूरभवो ग्रामः=शांशपाकः । देविका—शिंशपा०—(७।३।१) से आदि वृद्धि के स्थान में आकार होता है । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः=शैरीषको ग्रामः । वरणादिभ्यश्च (४।२।८२) में जो शिरीष शब्द पढ़ा है उससे औत्सर्गिक अण् होकर लुप् हो जाता है—शिरीषाः (ग्रामः) । वीरणानामदूरभवं नगरं वैरणकम् ।

छण्—कृशाश्वेन निर्वृत्ता नगरी कार्शाश्वीया । अरिष्टानामदूरभवं नगरम् आरिष्टीयम् । बर्बराणां निवासो देशः=वार्बरीयः । सूकराः सन्त्यस्मिन्देश इति सौकरीयो नाम देशः । मौद्गल्येन निर्वृत्तं नगरं मौद्गलीयम् । आपत्य तद्धित यञ् का लोप ।

क—ऋश्याः (मृगविशेषाः) सन्त्यस्मिन्देश इति ऋश्यको नाम देशः । न्यग्रोधकः । शर्कराऽश्मप्राया मृत् । शर्कराऽस्मिन्देशेऽस्तीति शर्करको नाम देशः । केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्व । वेणूनामदूरभवं नगरं वेणुकम् ।

ठच्—कुमुदानामदूरभवं कुमुदिकं नाम नगरम् । शर्करास्मिन्देशेऽस्तीति शर्करिको नाम देशः । शिरीषाणामदूरभवं नगरं शिरीषिकम् । विकङ्कताः स्रुवावृक्षाः सन्त्यस्मिन्देश इति विकङ्कतिको नाम देशः ।

इल—काशाः सन्त्यस्मिन्देश इति काशिलो नाम देशः । कर्पूराणामदूरभवो ग्रामः कर्पूरिलः । चरणा वेदशाखाध्यायिनः सन्त्यस्मिन्देश इति चरणिलो नाम देशः । चरणानां निवास इति वा चरणिलः ।

श—तृणानि सन्त्यस्मिन्देश इति तृणशो नाम देशः । नडानामदूरभवो ग्रामः=नडशः । वनस्यादूरभवः कासारः=वनशः ।

इनि—प्रेक्षाः सन्त्यस्मिन्देश इति प्रेक्षी नाम देशः। क्षिपकाणामदूरभवं नगरम्=क्षिपकि (नगरम्)। क्षिपक (पुं०)=व्याध, शिकारी। स्त्रीलिंग में 'क्षिपका' होता है, क्षिपिका नहीं। न्यग्रोधानामदूरभवो ग्रामः—न्यग्रोधी।

र—अश्मानः सन्त्यस्मिन्देश इति अश्मरो नाम देशः। नगानाम् अदूरभवो ग्रामः=नगाः। नग=वृक्ष, पर्वत।

ढञ्—सख्या निर्वृत्तं साखेयम्। सखिदत्तेन निर्वृत्तं साखिदत्तेयम्। अशोकानामदूरभवम् आशोकेयम्।

ण्य—सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यम्। काम्पिल्येन निर्वृत्तं नगरं काम्पिल्यम्। आपत्य 'य' का लोप। शूरसेनेन निर्वृत्तं शौरसेन्यम्। अगस्तिना निर्वृत्तम् आगस्त्यम्। नासिकया निर्वृत्तं नासिक्यम्। वर्तमान 'नासिक' नाम का नगर।

य—बलेन निर्वृत्तं बल्यम्। कुलेन निर्वृत्तं कुल्यम्।

फक्—पक्षेण निर्वृत्तं नगरं पाक्षायणम्। तुषेण निर्वृत्तं तौषायणम्।

फिञ्—कर्णेन निर्वृत्तः कूपः=कार्णायनिः। वसिष्ठेन निर्वृत्तो ग्रामो वासिष्ठायनिः। पाञ्चजन्येन निर्वृत्तः कूपः पाञ्जन्यायनिः। तद्धित के आकारादि होने से आपत्य 'य' का लोप नहीं हुआ।

इञ्—सुतङ्गमेन निर्वृत्तः कूपः=सौतङ्गमिः। मुनिचित्तेन निर्वृत्तः कूपः=मौनिचित्तिः। कूपलक्षण अञ् का अपवाद है। अर्जुना (वृक्षाः) सन्त्यस्मिन्देश इत्यार्जुनिर्नाम देशः।

ञ्य—प्रगदिन्। प्रगदिना निर्वृत्तं नगरं प्रागद्यम्। टि-लोप। कोविदाराणामदूरभवं नगरं कौविदार्यम्। कोविदार=कुद्दाल, युगपत्रक।

कक्—वराहेण निर्वृत्तं वाराहकम्। कित् होने से आदि वृद्धि। पलाशानामदूरभवं नगरं पालाशकम्। शिरीषाणामदूरभवं नगरं शैरीषकम्। शर्कराः सन्त्यस्मिन्देश इति शार्करको नाम देशः। बाहुना निर्वृत्तं नगरं बाहुकम्।

ठक्—कुमुदानि सन्त्यस्मिन्देश इति कौमुदिको नाम देशः। रथकाराणां निवासः=राथकारिकः।

प्रत्यय-लुप्—ग्रामसमुदाय को जनपद कहते हैं। जो चातुरर्थिक 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' से विहित हुआ है, यदि तदन्त का वाच्य जनपद

हो, तो उसका लुप् हो जाता है[१] । लुबन्त का युक्तवद्भाव होता है, अर्थात् लुबन्त के लिङ्ग व वचन वही होते हैं जो लुप् की प्रकृति के—**पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरूणां निवासो जनपदः कुरवः । मत्स्याः । अङ्गाः । बङ्गाः । कलिङ्गाः । मगधाः । सुह्माः । पुण्ड्राः । उदुम्बरा अस्मिन् जनपदे सन्तीत्यौदुम्बरः ।** यहाँ लुप् नहीं हुआ, कारण कि लुबन्त जनपद का नाम नहीं, लुबन्त से जनपद नाम की प्रतीति नहीं होती ।

वरण आदि प्रातिपदिकों से आए हुए चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है[२] । वरण आदि से प्रत्यय आने पर तदन्त का वाच्य जनपद नहीं होता है, अतः पूर्वसूत्र से अप्राप्त लुप् का विधान किया है—**वरणानां वृक्षविशेषाणामदूरभवं नगरं वरणाः ।** सूत्र में जो चकार पढ़ा है वह अनुक्त समुच्चय के लिए है, उससे वरणादि आकृति गण है यह ज्ञापित होता है । इसलिए गण में न पढ़े हुए शिरीषाः, काञ्ची आदि से भी चातुरर्थिक का लुप् होता है—**शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः=शिरीषाः । काञ्च्या अदूरभवं नगरं काञ्ची । कटुकबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुकबदरी** इत्यादि सिद्ध होते हैं । मथुरा, उज्जयिनी, गया, तक्षशिला गणपठित हैं । **मथुराया अदूरभवा नगरी मथुरा । एवमुज्जयिन्या अदूरभवा नगरी उज्जयिनी** इत्यादि ।

शर्कराः सन्त्यस्मिन्देश इति शर्कराः[३] **। शार्करः ।** औत्सर्गिक अण् का विकल्प से लुप् । वराहादियों तथा कुमुदादियों में शर्करा के पढ़े होने से उन प्रत्ययों (ठच्, कक्) का श्रवण होगा, लुप् नहीं होगा—**शर्करिकः । शार्करकः ।**

शर्करा से ठक् और छ भी होते हैं[४]—**शार्करिकः । शर्करीयः ।**

मतुप्—नदी अभिधेय होने पर चातुरर्थिक मतुप् होता है[५]—**उदुम्बराः सन्त्यस्यां नद्याम् इत्युदुम्बरावती नाम नदी । मशकावती । पुष्करावती ।** पुष्कर=कमल । मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (६।३।११९) । से दीर्घ हुआ ।

मधु आदि प्रातिपदिकों से मतुप्[६] । प्रत्ययान्त से नदी अभिधेय न होने

१. जनपदे लुप् (४।२।८१) ।
२. वरणादिभ्यश्च (४।२।८२) ।
३. शर्कराया वा (४।२।८३) ।
४. ठक् छौ च (४।२।८४) ।
५. नद्यां मतुप् (४।२।८५) ।
६. मध्वादिभ्यश्च (४।२।८६) ।

से पूर्वसूत्र से अप्राप्ति थी—**मध्वस्मिन्नस्तीति मधुमान् नाम देशः। इक्षुमान्। वेणुमान्। ऋक्षा भल्लूकाः सन्त्यस्मिन्देश इति ऋक्षवान् नाम देशः। आसन्द्य आसनानि सन्त्यस्मिन् इत्यासन्दीवान् नाम ग्रामः।** संज्ञायाम् (८।२।११) से मतुप् के म को व।

ड्मतुप्—कुमुद, नड, वेतस से चातुर्थिक ड्मतुप्[1]—**कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्।** डित्व-सामर्थ्य से अ-भ-संज्ञक के भी 'टि' का लोप हुआ है। **कुमुदानि सन्त्यस्मिन्देशे इति कुमुद्वान् नाम देशः।**

ड्वलच्—नड, शाद से ड्वलच् चातुर्थिक[2]—**नड्वलो देशः। शाद्वलो देशः।** यहाँ भी डित्व-सामर्थ्य से टि का लोप। शाद=नवतृण। पङ्कवाची 'शाद' से यह प्रत्यय नहीं होता।

वलच्—**शिखावलं नाम नगरम्**[3]। मतुप् प्रकरण में भी 'शिखा' से वलच् का विधान करेंगे, वह अदेशार्थ है, उसका अभिधेय देश नहीं।

छ—उत्कर आदि प्रातिपदिकों से चातुर्थिक छ[4]—**उत्करोऽस्त्यस्मिन् देशे स उत्करीयो नाम देशः।** उत्करः=कूटम्। **शफराः सन्त्यस्मिन्देशे स शफरीयो नाम देशः।** नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि का लोप। कितव—**कितवीयो नाम देशः।** आतप—**आतपीयो नाम देशः।**

नडानामदूरभवं नगरं नडकीयम्[5]। कुक् आगम। **प्लक्षकीयम्। वेणुकीयम्। वेत्रकीयम्। वेतसकीयम्।** क्रुञ्चाः (=क्रुञ्च्+अजादि गण में होने से टाप्। **क्रुञ्चाः सन्त्यस्मिन्देश इति क्रुञ्चकीयो देशः।** गण-सूत्र से ह्रस्व। **तक्षाणः सन्त्यस्मिन्देश इति तक्षकीयो नाम देशः।** गणसूत्र से न-लोप।

इति चातुर्थिकाः।

शैषिक प्रत्यय

जब भगवान् सूत्रकार (४।१—२) में तस्यापत्यम्, तेन रक्तं रागात्, साऽस्य देवता, तदधीते तद्वेद, तेन निर्वृत्तम् इत्यादि अर्थों में तद्धित विधान

---

१. कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुप् (४।२।८७)।
२. नड-शादाड् ड्वलच् (४।२।८८)।
३. शिखाया वलच् (४।२।८९)।
४. उत्करादिभ्यश्छः (४।२।९०)।
५. नडादीनां कुक् च (४।२।९१)।

कर चुके तो वे **शेषे** (४।२।९२) इस सूत्र का निर्माण करते हैं। यह सूत्र लक्षण भी माना जाता है और अधिकार भी। लक्षण के रूप में यह विधायक शास्त्र है। अर्थ यह योगा—परिगणित अपत्यादि अर्थों को छोड़कर शेष अर्थों में अण् हो। यहाँ प्रकृति का निर्देश नहीं है। शेष (=शिष्ट=अवशिष्ट) अर्थों को भी शब्द-द्वारा नहीं कहा है। व्यवहार के उपपादन-मात्र में यत्न है। जहाँ शिष्टों के प्रयोगों में अण् दीखता है और उसका विधायक शास्त्र दीखता नहीं, वहाँ **शेषे** यह विधायक शास्त्र जानना। यथा चक्षुषा गृह्यते **चाक्षुषं** रूपम्। यहाँ 'तेन गृह्यते' इस अर्थ में चक्षुस् प्रातिपदिक से अण् हुआ है। इसी प्रकार श्रवणेन गृह्यते **श्रावणः** शब्दः। दृषदि पिष्टाः सक्तवः= **दार्षदाः**। शिला पर पीसे हुए सत्तू। यहाँ तत्र पिष्टम् इस अर्थ में दृषद् से अण् हुआ है। ऐसे ही उलूखले क्षुण्णः=**औलूखलो** यावकः। ऊखल में पीसा हुआ अलक्तक। अश्वैरुह्यत **आश्वो** रथः। यहाँ तेन उह्यते इस अर्थ में अश्व प्रातिपदिक से अण् हुआ है। **चातुरं** शकटम्=चार घोड़ों अथवा बैलों से खींचा हुआ छकड़ा। चतुर्दश्यां दृश्यत इति **चातुर्दशं** रक्षः, चतुर्दशी तिथि को दीखने वाला राक्षस। यहाँ 'अत्र दृश्यते' इस अर्थ में चतुर्दशी से अण् हुआ है। **कुणपमत्ति कौणपः**=राक्षसः। यहाँ 'तदत्ति' इस अर्थ में कुणप (लाश) से अण् हुआ है। स्मृत्युपदिष्टः=**स्मार्तः**। तेनोपदिष्टम्' इस अर्थ में स्मृत्ति से अण् हुआ है, ऐसा बौ० ध० सूत्र (१।१।३) पर गोविन्दराज टीकाकार का लेख है। प्रातरेव स कृपणो मम **चाक्षुषो** जातः (चक्षुर्गोचर इत्यर्थः)। **घोरं देशमिमं प्राप्तौ दैवेन मम चाक्षुषौ** (रा० ३।६९.४४)। वितरणेन दानेन लङ्घ्यत इति **वैतरणी**। यहाँ 'तेन लङ्घ्यते' इस अर्थ में 'वितरण' से अण् हुआ है। **ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः**। अण्। अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव।

अधिकार के रूप में यह सूत्र कहता है कि यहाँ से आगे विकारार्थक प्रत्ययों के विधान (४।३।१३३) से पूर्व तक जो 'घ' आदि प्रत्यय राष्ट्रावार-पाराद् घ-खौ (४।२।९३) इत्यादि सूत्रों से विधान किए हैं वे अपत्यादि पूर्व कहे हुए अर्थों में न होकर शेष अर्थों में (जो इस अधिकार में निर्दिष्ट किए हैं) होते हैं और वे इस प्रकरण में कहे हुए सभी अर्थों में होते हैं न कि सर्व-प्रथम निर्देश किए हुए 'तत्र जातः' (४।३।२५) इस अर्थ में ही। तस्येदम् इस अर्थ में यथाविहित 'घ' आदि प्रत्यय होंगे, पर उसके विशेष रूप तस्यापत्यम्, तस्य समूहः इन अर्थों में नहीं होंगे।

शृङ्गार-प्रकाश के कर्ता श्री भोजराज का यह मत है कि 'शेष' से उन अर्थों का भी ग्रहण इष्ट है जो इस अधिकार में नहीं कहे गए, अर्थात् उनके अनुसार यहाँ निर्दिष्ट प्रकृतियों से अनुक्त अर्थों में भी वे ही विहित प्रत्यय साधु होंगे। यथा कुक्षिं रक्षन्त्यस्माद् इति कौक्षेयकः कृपाणः। कलिं कुर्वन्त्यस्मा इति कालेयं गन्धद्रव्यम्। अग्निः पतत्यस्माद् इत्याग्नेयो ग्रावा। नद्यः स्यन्दन्तेऽस्मादिति नादेयः शैलः। यह भोजराज की स्वतन्त्रता अथवा राजतामात्र है। **प्रमाणाभाव में इस व्याख्यान को स्वीकार नहीं किया जा सकता।**

शैषिक प्रत्ययों के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि शैषिक प्रत्यय होने पर पुनः सरूप=समानरूप शैषिक नहीं होता—शालायां भवो घटः **शालीयः** (छ प्रत्यय)। शालीये घटे भवमुदकं **शालीयम्**। यहाँ पुनः 'छ' नहीं होता, यद्यपि प्राप्ति है। विरूप अण् होता है। **तत्र घोरं रघोर्जन्यं पार्वतीयैर्गणैरभूत्** (रघु० ४।७७)। पर्वतस्यायं पर्वतीयो राजा। (छ)। पर्वतीयस्य राज्ञ इमे गणाः पार्वतीयाः। छप्रत्ययान्त से विरूप अण् हुआ है। इसी प्रकार अहिच्छत्त्रे भवम् आहिच्छत्त्रम्। तत्र भवम् आहिच्छत्त्रीयम्। अणन्त से विरूप 'छ' प्रत्यय हो गया।

घ—राष्ट्रे जातः=राष्ट्रियः। राष्ट्रे भवः=राष्ट्रियः। राष्ट्रं भक्तिरस्य =राष्ट्रियः (देशभक्त)। **राष्ट्रे संभवति=राष्ट्रियः**, जो राष्ट्र में समा जाता है। **राष्ट्रे प्रायेण भवति=राष्ट्रियः। राष्ट्राद् आगतम्=राष्ट्रियम्। राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियम्। राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः। राष्ट्रे क्रीतम्=राष्ट्रियम्। राष्ट्रे लब्धम्=राष्ट्रियम्। राष्ट्रे कुशलः=राष्ट्रियः।**[1] 'घ' को 'इय' आदेश।

ख—अवारे जात इत्यादिः=अवारीणः। पारे जात इत्यादिः पारीणः। अवारपारयोर्जात इत्यादिः=अवारपारीणः। पारावारयोर्जात इत्यादिः पारावारीणः। 'ख' को 'ईन' आदेश।

---

१. राष्ट्रावार-पाराद् घ-खौ (४।२।९३)। इस शेषाधिकार में जहाँ कहीं प्रत्यय-विधान करते हुए आचार्य ने प्रत्ययार्थ का निर्देश नहीं किया वहाँ यथासम्भव इन्हीं अर्थों में प्रत्यय समझना चाहिये। अजादि तद्धित परे होने पर पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है और भ-संज्ञक के अन्त्य अ, इ का लोप हो जाता है। राष्ट्र—घ (इय) राष्ट्र् इय=राष्ट्रिय।

य, खञ्—ग्रामे जात इत्यादिः=**ग्राम्यः । ग्रामीणः ।**[1]

ढकञ्—**पुष्करे जात इत्यादिः=पौष्करेयकः ।**[2] **नगरे=पाटलिपुत्रे जात इत्यादिः=नागरेयकः ।** माहिष्मती नगरी, तस्यां जात इत्यादिः=**माहिष्मतेयः । कुल्यायां जात इत्यादिः=कौलेयकः ।** यहाँ कुल्या के 'य्' का लोप भी होता है । 'ढ' को 'एय' आदेश होता है । 'ञ्' वृद्धि के लिए है । ञित् णित् तद्धित परे प्रातिपदिक के आदि अच् को वृद्धि होती है ।

कुल, कुक्षि, ग्रीवा से तत्र जात इत्यादि अर्थ में ढकञ्, यदि प्रत्ययान्त का क्रम से कुत्ता, खड्ग तथा अलंकार अर्थ हो[3]—**कौलेयकः=श्वा=कुत्ता । कुक्षौ भवः=कौक्षेयकः=खड्ग । ग्रीवायां भवं ग्रैवेयकं=कण्ठभूषा ।**

ढक्—नद्या इदम्=**नादेयम् ।**[4] नादेयं जलम् । **नद्यां भवानि सत्त्वानि=नादेयानि,** नदी में होने वाले जन्तु । **पूर्वनगरी निवासोऽस्य=पौर्वनगरेयः । पूर्निवासोऽस्य=पौरेयः । वने जाताः पादपा वानेयाः । गिरौ जातं भवं वा गैरेयम्** (धातु विशेष, गेरू) । **वाराणस्यां भवः, वाराणस्यां जातः, वाराणस्या आगतः=वाराणसेयः । वाडवेयो वृषः ।** वाडवेय बैल को कहते हैं । कित् तद्धित होने पर प्रातिपदिक के आदि अच् को वृद्धि होती है ।

त्यक्—दक्षिणा (आच्-प्रत्ययान्त अव्यय) **भवः=दाक्षिणात्यः**[5] **। पश्चाद्भवः=पाश्चात्यः । पुरो भवः=पौरस्त्यः ।** पश्चात् का अर्थ पश्चिम दिशा भी है और पुरस् (=पुरस्तात्) का अर्थ पूर्व दिशा भी है, अतः पाश्चात्याः=पश्चिमदिग्भवाः । पौरस्त्याः=पूर्वदिग्भवाः ।

ष्फक्—कापिशी नगरी विशेष का नाम है । **कापिश्यां भवं तत आगतं वा मधु कापिशायनम्**[6] **। कापिशायनी द्राक्षा ।** 'फ' को 'आयन' आदेश होता है । प्रत्यय को षित् किया है स्त्रीत्व में ङीष् करने के लिये ।

अण्, ष्फक्—रङ्कु स्थानविशेष का नाम । तत्र भवो **राङ्कवो गौः ।** अण् परे रहते पूर्व 'रङ्कु' की भ-संज्ञा । भ-संज्ञक होने से 'उ' को गुण ।

---

१. ग्रामाद्य-खञौ (४।२।९४) ।
२. क त्र्यादिभ्यो ढकञ् (४।२।९५) ।
३. कुल-कुक्षि-ग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु (४।२।९५) ।
४. नद्यादिभ्यो ढक् (४।२।९७) ।
५. दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक् (४।२।९८) ।
६. कापिश्याः ष्फक् (४।२।९९) ।

अवादेश । **राङ्कवायणो गौः**[1] । ष्फक् । मनुष्य अभिधेय होगा तो (४।२।१३४) से वुञ् होकर **राङ्कवको मनुष्यः** ऐसा रूप होगा ।

यत् (य)—दिव्—यत्=दिव्य । **दिवि भवं दिव्यम्** । प्राच्—**प्राच्य** । **प्राचि भवं प्राच्यम्** । **प्राचि देशे काले वा भवो मनुष्यः प्राच्यः** । अपाच्—**अपाच्य** । अपाच्यः=पश्चाद्भवः, पश्चिमदिग्भवः; । उदच्—उदीच्य । प्रत्यच्—**प्रतीचि भवः=प्रतीच्यः** ।[2] कालवाची प्राच् आदि अव्ययों से तो ट्यु, ट्युल् होकर प्राक्तन आदि रूप होंगे । संस्काराः प्राक्तना इव । (रघु० १।२०) ।

ठक् (इक)—**कन्था नाम नगरविशेषः, तत आगतः कान्थिकः** ।[3]

वुक् (अक)—वर्णु नदी के समीपवर्ती देश को भी वर्णु (बन्नू) कहते हैं। उस देश में होने वाले कन्था नामक नगर में होने वाले द्रव्यविशेष को **'कान्थक'** कहते हैं ।[4] कन्था—वुक् । आदि वृद्धि । **तथाहि जातं हिमवत्सु कान्थकम्** (काशिका) ।

त्यप् (त्य)—अमा (=समीप), इह, क्व, तसिप्रत्ययान्त, त्रल् प्रत्ययान्त नि, निस्—अव्ययों से त्यप् ।[5] **अमा समीपे भवः=अमात्यः । इहत्य । क्वत्य । इतस्त्य । तत्रत्य । यत्रत्य । अत्रत्य । नित्य । निस्—निष्ट्य** । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यः=निष्ट्यः चण्डालादिः । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते (८।३।१०१) से षत्व । **यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति** (ऋ० ६।७५।१९) । **यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान**(वा० सं० ५।२३)। अमात्य=एक ही घर में साथ रहने वाला । इन अव्ययों को छोड़कर **उपरिष्टाद्भवः=औपरिष्टः, पुरस्ताद्भवः=पौरस्तः । परस्ताद् भवः=पारस्तः** । यहाँ उपरिष्टात् आदि से प्राग्दीव्यतीय अण् हुआ है । अव्यय जो भसंज्ञक हों उनकी 'टि' का लोप हो जाता है सो यहाँ 'आत्' मात्र का लोप हुआ है । अव्यय के वृद्ध (आदि अच् के वृद्धि-संज्ञक) होने पर तो वृद्धाच्छः (४।२।११४) से 'छ' प्रत्यय होगा—**आराद् भवः=आरातीयः**=पड़ोसी । अव्ययानां भमात्रे टि-लोपः इस वचन के अनित्य होने से यहाँ टि का लोप नहीं हुआ ।

---

१. रङ्कोरमनुष्येऽण् च (४।२।१००) ।
२. द्यु-प्राग्-अपाग्-उदक्-प्रतीचो यत् (४।२।१०१) ।
३. कन्थायाष्ठक् (४।२।१०२) ।
४. वर्णौ वुक् (४।२।१०३) ।
५. अव्ययात्त्यप् (४।२।१०४) ।

ण—**अरण्ये भवाः सुमनसः**(=कुसुमानि)=**आरण्याः**[1] । सुमनस्,स्त्री० ।

एत्य—**दूराद् आगतः**=**दूरेत्यः**[2] पथिकः ।

अञ्—**उत्तराहे** (=उत्तरस्मिन्नहनि=आगामिनि वासरे) **भवं कृत्यम् औत्तराहम्** [3]।

त्यप् (त्य)—ऐषमस् (इस वर्ष), ह्यः, श्वस् से विकल्प से[4]—**ऐषमस्त्य । ह्यस्त्य । श्वस्त्य ।** पक्ष में ट्यु ट्युल् होकर **ऐषमस्तन । ह्यस्तन । श्वस्तन ।** श्वस् से ठञ् भी होता है और साथ ही तुट् (त्) आगम भी—**श्वोभवम्=शौवस्तिकम्** । द्वारादीनाम् (७।३।४) से ऐजागम ।

ञ—पूर्वा चासौ शाला च=पूर्वशाला । **पूर्वशालायां भवः**=**पौर्वशालः । दाक्षिणशालः । आपरशालः**[5] । यहाँ दिग्वाची पूर्वपद है । तद्धित प्रत्यय की प्रकृति किसी की संज्ञा नहीं । संज्ञा होगी तो अण् होगा—**पूर्वेषुकामशम्यां भवः**=**पूर्वैषुकामशमः** । प्राचां ग्रामनगराणाम् (७।३।१४) से उत्तरपद वृद्धि । यहाँ पूर्वेषुकामशमी पूर्वदेश की एक नगरी का नाम है । दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२।१।५०) से समास हुआ है ।

अण्—गोत्र प्रत्ययान्त कण्वादि (गर्गाद्यन्तर्गण) से[6]—कण्वस्य गोत्रापत्यं काण्व्यः, तस्येमे छात्राः=**काण्वाः** । आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति (६।४।१५१) से आपत्य (अपत्यार्थक) यकार का लोप । गोत्र प्रत्ययान्त के वृद्ध होने से 'छ' की प्राप्ति थी । उसका यह अपवाद है ।

गोत्र में जो इञ्, तदन्त से[7]—दाक्षिः (दक्षस्य गोत्रापत्यम्) । तस्येमे छात्राः=**दाक्षाः । आपिशलेश्छात्रा आपिशलाः** । पाणिनि शब्द में इञ् युवापत्य में है अतः अण् की प्राप्ति न होने से यथाप्राप्त 'छ' होगा—**पाणिनेश्छात्राः पाणिनीयाः** ।

छ (ईय)—वृद्ध प्रातिपदिक से (चाहे वह गोत्रप्रत्ययान्त हो चाहे अगोत्र-

---

१. अरण्याण्णो वक्तव्यः (वा०) ।
२. दूराद् एत्यः (वा०) ।
३. उत्तराहाद् अञ् (वा०) ।
४. ऐषमोह्यः-श्वसोऽन्यतरस्याम् (४।२।१०५) । श्वसस्तुट् च (वा०) ।
५. दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः (४।२।१०७) ।
६. कण्वादिभ्यो गोत्रे (४।२।१११) ।
७. इञश्च (४।२।११२) ।

प्रत्ययान्त)[१]—**गार्ग्यस्याऽयं गार्गीयः।** **वात्स्यस्यायं वात्सीयः।** आपत्य तद्धित यञ् का लोप। **शालाया अयं शालीयः। शालायां भवः=शालीयः। शालाया आगतः=शालीयः।** माला—**मालीय। मालाया इमानि मालीयानि सुमानि** (=कुसुमानि)। जो वृद्ध नहीं पर संज्ञा है उसकी भी विकल्प से वृद्ध संज्ञा मानी है[२]—**देवदत्तस्यायं देवदत्तीयः। दैवदत्तः। ततः प्रभग्ना सहसा महाचमूः सा पाण्डवी तेन नराधिपेन** (भा० ६।१०७४)। यहाँ छ प्रत्यय करके 'पाण्डवीया' न कहकर औत्सर्गिक अण् किया है। 'क्वचिदपवादविषयेप्युत्सर्गोऽभिनिविशते' इस न्याय से।

ठक्, छस्—भवतोऽयं भावतकः[३]। यहाँ ठक् को 'इक' आदेश नहीं हुआ किन्तु इसुसुक्तान्तात्कः (७।३।५१) से 'क' हुआ है। भवत् तान्त है। **भवतोऽयं भवदीयः** (छस्)। यहाँ 'स्' अनुबन्ध इसलिए लगाया है कि तद्धित छ (ईय) से पूर्व प्रातिपदिक की 'भ' संज्ञा न होकर 'सिति च' (१।४।१६) से 'पद' संज्ञा हो, जिसके फल-स्वरूप यहाँ भवत् के त् को जश्त्व होने से द् हुआ है। भवत् के त्यदादि* होने से वृद्ध संज्ञा होकर 'छ' प्राप्त था।

ठञ्, ञिठ—काशि (देश-विशेष) आदि शब्दों से[४]=**काशिषु भवः=काशिकः** (ठञ्)। **काशिषु भवा स्त्री=काशिकी** (ङीप्)। ञिठ प्रत्यय होने पर स्त्रीलिङ्ग में '**काशिका**' रूप होगा। **आपत्कालिकी** (ठञ्)[५]। **आपत्कालिका**[५]। **और्ध्वकालिकी। और्ध्वकालिका।** काश्यादिगण में आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात्—यह गणसूत्र पढ़ा है।

वुञ् (अक)—धन्ववाची, यकारोपध देशवाची से[६]—**पारेधन्वनि भवः=पारेधन्वकः।** 'धन्वन्'(पुं०) मरुभूमि का नाम है। यकारोपध—**सांकाश्ये भवः, सांकाश्यं निवासोऽभिजनो वाऽस्य=सांकाश्यकः। काम्पिल्ये भवः, काम्पिल्यं निवासोऽभिजनो वाऽस्य काम्पिल्यकः।** साङ्काश्य कुशध्वज की राजधानी का नाम था। काम्पिल्य पञ्चाल देश के नगर विशेष का नाम था।

---

१. वृद्धाच्छः (४।२।११४)।
२. वा नामधेयस्य वृद्ध-संज्ञा वक्तव्या (वा०)।
३. भवतष्ठक् छसौ (४।२।११५)। *त्यदादीनि च (१।१।७४)।
४. काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ (४।२।११६)।
५. आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात् (वा०)।
६. धन्व-योपधाद् वुञ् (४।२।१२१)।

रोपध तथा ईकारान्त पूर्वदेशवाची से[१]—पाटलिपुत्रे भवः=पाटलिपुत्रकः। पाटलिपुत्रं निवासोऽभिजनो वाऽस्य=पाटलिपुत्रकः। पाटलिपुत्रादागतः=पाटलिपुत्रकः। एकचक्रा (कीचक लोगों की एकनगरी। एङ् प्राचां देशे (१।१।७५) से 'एकचक्रा' वृद्ध है। एकचक्रायां भव इत्यादिः =ऐकचक्रकः। ईकारान्त—काकन्दी। ककन्देन निर्वृत्ता नगरी काकन्दी। तत्र भव इत्यादिः=काकन्दकः।

वुञ्—वृद्ध जनपदवाची तथा जनपदावधि (जनपद) से[२]—काश्मीरेषु भवः काश्मीरकः। आभिसारे भवः=आभिसारकः। आदर्शे भवः=आदर्शकः। जनपदरूपावधि से भी—श्यामायनेऽवधिभूते जनपदे भवः=श्यामायनकः।

वृद्ध हो चाहे अवृद्ध, जो बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है ऐसे जनपद और अवधिभूत जनपद-वाची शब्द से[३]—अङ्गानां क्षत्रियाणां निवासो जनपदः= अङ्गाः। अङ्गेषु भवः, जातः, तत आगतः=आङ्गकः। बङ्गाः—बाङ्गकः। कलिङ्गाः—कालिङ्गकः। अवृद्ध जनपदावधि से—अजमीढाः, तत्र भवः= आजमीढकः। अजमीढाः यह अवधिभूत बहुवचनविषयक जनपद का नाम है। वृद्ध जनपद—दार्वाः। जाम्बाः। तत्र भवः=दार्वकः। जाम्बकः।

देशवाची धूम आदि शब्दों से[४]—धूमाख्ये देशे भवः=धौमकः। खण्डाख्ये देशे भवः=खाण्डकः। यहाँ विदेह और आनर्त शब्द पढ़े हैं। उनसे अदेशवाची होने पर प्रत्यय विवक्षित है—विदेहानां क्षत्रियाणां स्वं वैदेहकम्। आनर्तानां क्षत्रियाणां स्वम् आनर्तकम्। पाथेय शब्द से योपध होने से प्रत्यय सिद्ध था, उसका भी यहाँ अदेशार्थ पाठ है। पथि साधु पाथेयम्। तत्र भवं पाथेयकम्। समुद्र शब्द से 'नौ' तथा 'मनुष्य' अभिधेय होने पर प्रत्यय होता है[५]— सामुद्रिका नौः। सामुद्रको मनुष्यः। अन्यत्र समुद्रस्येदं सामुद्रं जलम् (अण्)। सामुद्रं लवणम्। कूले भवः कौलकः (सुवीरदेशसम्बन्धी कौलक)। अन्यत्र कौल। अण्।

नगर से जाताद्यर्थ में वुञ्, जब प्रत्ययान्त से कुत्सा अथवा प्रवीणता की

---

१. रोपधेतोः प्राचाम् (४।२।१२३)।
२. जनपद-तदवध्योश्च (४।२।१२४)।
३. अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् (४।२।१२५)।
४. धूमादिभ्यश्च (४।२।१२६)।
५. समुद्रान्नावि मनुष्ये च (वा०)।

प्रतीति हो[1]—**नगरे जातः कुत्सितः=नागरकः। नगरे जातः प्रवीणः=नागरकः।** कुत्सादि अर्थ को वाक्य-द्वारा इस प्रकार झलकाया जाता है—

केनायं मुषितः पान्थो गात्रे पक्ष्मालिधूसरः (इस यात्री को, जिसके शरीर में बरौनियाँ धूलिधूसर हो गई हैं, किसने लूटा है), **इह नागरकेण** (यहीं शहरिये ने)। **चौरा हि नागरका भवन्ति** (शहरिये चोर होते हैं न)। काशिका वृत्ति में जो पाठ मुद्रित चला आ रहा है वह ऐसे है—केनायं मुषितः पन्था गात्रे पक्ष्मालिधूसरः। यह पाठ प्रामादिक है। मार्ग का लूटे जाना और बरौनियों में धूसर होना कैसे संगत हो सकता है। सो हमने इसे शुद्ध कर दिया है। 'पन्थाः' के स्थान पर 'पान्थः' पढ़ने से एकदम अर्थ लग जाता है। प्रवीणता (चातुर्य) को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है—**केनेदं लिखितं चित्रं मनोनेत्रविकासि यत्। इह नागरकेण। प्रवीणा हि नागरका भवन्ति।** बुद्धस्वामी के वृहच्छ्लोकसंग्रह (९।१०२) में 'नागरकता' का चतुराई (चालाकी, वञ्चकता, विप्रलम्भकता) अर्थ में प्रयोग आया है—**तस्मादाप्तोपदेशोऽयं न नागरकता मम।**

अरण्य से मनुष्य अभिधेय होने पर[2]—**अरण्ये जातः, अरण्ये भवः, अरण्यं निवासोऽस्य=आरण्यकः।** यह वार्तिक द्वारा विहित 'ण' का अपवाद है। पथिन्, अध्याय, न्याय, विहार, हस्तिन् के अभिधेय होने पर भी[3]—**आरण्यकः पन्थाः। आरण्यकोऽध्यायः,** एकान्त स्थान में पाठ। अरण्य में पढ़े जाने वाला उपनिषद्भाग 'आरण्यक' कहलाता है। **आरण्यको न्यायः,** जंगल का ढंग। **आरण्यको विहारः,** जंगल में क्रीडा, सैर। **आरण्यको हस्ती,** जंगली हाथी। 'गोमय' से वुञ् विकल्प से[4]—**आरण्यका गोमयाः। आरण्या गोमयाः। आरण्याः पशवः**—यहाँ 'ण' ही होगा।

कुरु, युगन्धर (जनपदवाची शब्द) से[5]—**कुरुषु जनपदे जातः, भवः=कौरवकः** (वुञ्)। **कौरवः** (अण्)। **यौगन्धरकः। यौगन्धरः।** कुरु शब्द कच्छादिगण (४।२।१३३) में पढ़ा है उससे अण् सिद्ध ही था।

---

१. नगरात्कुत्सन-प्रावीण्ययोः (४।२।१२८)।
२. अरण्यान्मनुष्ये (४।२।१२९)।
३. पथ्यध्याय-न्याय-विहार-मनुष्य-हस्तिषु इति वाच्यम् (वा०)।
४. वा गोमयेषु (वा०)।
५. विभाषा कुरु-युगन्धराभ्याम् (४।२।१३०)।

कन्—मद्र, वृजि (देशवाची) शब्दों से[1]—**मद्रेषु जातः=मद्रकः। वृजिषु जातः=वृजिकः।** जनपदलक्षण वुञ् का अपवाद।

अण्—कोपध (देशवाची) से[2]—**ऋषिकेषु जातः=आर्षिकः। महिषिकेषु जातः=माहिषिकः। इक्ष्वाकुषु जातः=ऐक्ष्वाकः।** दाण्डिनायनहास्तिनायन—(६।४।१७४) से इक्ष्वाकु के 'उ' का लोप निपातन किया है।

कच्छ आदि देशवाची शब्दों से[3]—**कच्छे भवः=काच्छः। सिन्धुषु भवः=सैन्धवः। वर्णुषु भवः=वार्णवः।** ओर्देशे (४।२।११९) से ढञ् प्राप्त था। **गन्धारेषु जातः=गान्धारः। कम्बोजेषु जातः=काम्बोजः। कश्मीरेषु भवं काश्मीरं कौशेयम्,** कश्मीरी रेशम।

वुञ्—कच्छ आदि से वुञ्, जब मनुष्य अथवा मनुष्यस्थ पदार्थ अभिधेय हो[4]—**काच्छको मनुष्यः। काश्मीरको मनुष्यः। काच्छकं काश्मीरकं वाऽस्य** हसितं जल्पितं वा, इसका हँसना और बोलना कच्छ निवासी अथवा काश्मीर निवासी का सा है। सिन्धु—**सैन्धवको मनुष्यः। सैन्धविका चूडा।**

छ—देशवाची गर्तोत्तरपद वाले प्रातिपदिक से[5]—वृकगर्त—**वृकगर्तीयम्। शृगालगर्तीयम्।** पर **बाहुगर्तः।** यहाँ ईषदसमाप्ति (किञ्चिदूनता) अर्थ में बहुच् प्रत्यय है पर इसका पर-प्रयोग न होकर पूर्व में ही प्रयोग होता है। अतः 'गर्त' उत्तरपद नहीं। छ की प्राप्ति न होने से सामान्य-विहित अण् हुआ।

गह आदि प्रातिपदिकों से[6]—गह=गुफा। **गहे भवः=गहीयः। अन्तःस्थे भवः=अन्तःस्थीयः।** मध्य—**मध्यमीयाः।** मध्य (=पृथिवी मध्य) शब्द को मध्यम आदेश होता है। **मध्यमीयाः=पृथिवीमध्ये भवाः। पृथिवीमध्यं निवास एषां कठादीनां चरणानां ते माध्यमाः**[7]। अण् होता है, 'छ' नहीं। **मुखतो=**

---

१. मद्र-वृज्योः कन् (४।२।१३१)।
२. कोपधादण् (४।२।१३२)।
३. कच्छादिभ्यश्च (४।२।१३३)।
४. मनुष्य-तत्स्थयोर्वुञ् (४।२।१३४)।
५. गर्तोत्तरपदाच्छः (४।२।१३७)।
६. गहादिभ्यश्च (४।२।१३८)।
७. मध्यमध्यमं चाण् चरणे (गण सू०)। मुखपार्श्वतसोर्लोपश्च (ग० सू०)। कुग्जनस्य परस्य च (ग०स०)। देवस्य चेति वक्तव्यम् (वा०)।

मुखे भवं मुखतीयम् । **पार्श्वतः=पार्श्वे भवम्=पार्श्वतीयम्** । यहाँ 'तस्'के 'स्' का लोप होता है । **जनानामिदं जनकीयम्** । (परस्य) **परेषामिदं परकीयम्** । **देवस्येदं देवकीयम्** । जन और पर को तथा देव को कुक् (क्) आगम भी होता है । **मदीयमिदं धनं न जनकीयं भवति । गहनं नाम देवकीयं चरितं विरुद्धाभासमपि भवतीति नानुष्ठेयं मनुष्यैः । पूर्वपक्षस्येदम्=पूर्वपक्षीयम् । अपरपक्षस्येदम् अपरपक्षीयम् । अग्निशर्मण इदम्=अग्निशर्मीयम् । देवशर्मण इदं देवशर्मीयम्** । तद्धित परे रहते भ-संज्ञक के 'टि' अन् का लोप । **अन्तरे भवम् अन्तरीयम्**=परिधानीयम् । गहादि आकृतिगण है । **मतुबर्थे भवम्=मतुबर्थीयम्** । स्वार्थिक कन्नन्त 'स्वक' से **स्वकीय** । अन्तरा=बिना । न अन्तरा—नान्तरा (सुप्सुपा) भवम्=नान्तरीयम् । स्वार्थ में कन् करने पर **नान्तरीयकम्**= अविनाभूतम्, जिसके बिना जो नहीं होता वह तन्नान्तरीयक होता है । गहादियों में यथासंभव 'देश' विशेषण होता है ।

छण्—वेणुक—**वैणुकीय** । वेत्र—**वैत्रकीय** (छण्) ।[1]

राजन् से वृद्ध होने से 'छ' प्रत्यय सिद्ध ही है । छ प्रत्यय के सन्नियोग से अन्त्य 'न्' को 'क्' हो जाता है[2]—**राज्ञ इदं राजकीयं शासनम्** ।

पर्वत से छ, मनुष्य-भिन्न अभिधेय हो तो विकल्प से[3]—**पर्वतीयो राजा । पर्वतीयो मनुष्यः । पर्वतीयानि फलानि । पार्वतानि फलानि** । (अण्) **पर्वतीयमुदकम् । पार्वतमुदकम्** । (अण्) ।

छ, खञ्, अण्—युष्मद्, अस्मद् (जो त्यदादि होने से 'वृद्ध' हैं) से यथाप्राप्त 'छ', खञ् विकल्प से होते हैं, पक्ष में प्राग्दीव्यतीय अण्[4]—**युष्मदीय । अस्मदीय । यौष्माकीण । आस्माकीन** । अण्—**यौष्माक । आस्माक** । खञ् तथा अण् परे रहते युष्मद् और अस्मद् को क्रम से 'युष्माक' 'अस्माक' आदेश होते हैं ।[5]

एकत्व के वाचक युष्मद् अस्मद् को 'तवक', 'ममक' आदेश होते हैं खञ्

---

१. वेणुकादिभ्यश्छण् (ग० सू०) ।
२. राज्ञः क च (४।२।१४०) ।
३. पर्वताच्च (४।२।१४३) । विभाषाऽमनुष्ये (४।२।१४४) ।
४. युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च (४।३।१) ।
५. तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ (४।३।२) ।

तथा अण् होने पर[1]—**तावकीन । मामकीन । कुतस्त्योऽयं तावकीनो बुद्धिविपर्ययः । ममेमे मामकाः । मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।** छ प्रत्यय परे रहते एकत्व में वर्तमान युष्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त भाग को 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) से 'त्व', 'म' हो जाने से (त्वद् ईय) **त्वदीय** तथा **मदीय** रूप होंगे ।

यत्—अर्धे भवम्=अर्ध्यम् ।[2]

ठञ्—पूर्वपद होने पर अर्धान्त से ठञ्[3]—**बालेयार्धिक । बल्यर्थं वस्तु** बालेयम्, तस्यार्धम्=एकदेशः, तत्र भवम् बालेयार्धिकम् ।

यत्—पर, अवर, अधम, उत्तम इनके पूर्वपद होने पर अर्धान्त से यत् ही होता है[4]—**परार्ध्य । अवरार्ध्य । अधमार्ध्य । उत्तमार्ध्य ।** अर्ध शब्द एकदेश (एकभाग) का वाचक है । **अग्निर्वै देवानामवरार्द्ध्यो विष्णुः परार्द्ध्यः** (छां० उ० १।१।३) । अग्नि सब देवों में नीचे (भूमिष्ठ) है और विष्णु (सूर्य) ऊपर है ।

यत्, ठञ्—परादि से भिन्न दिग्वाची पूर्वपद होने पर तो ठञ् भी[5]—पूर्वार्ध्य । पौर्वार्धिक । दक्षिणार्ध्य । दाक्षिणार्धिक ।

अञ्, ठञ्—ग्राम अथवा जनपद (=ग्रामसमुदाय) के एकदेश के अभिधेय होने पर यदि परादि से भिन्न दिग्वाची पूर्वपद हो तो 'अर्ध' से अञ् और ठञ्[6]—इमे खल्वस्माकं ग्रामस्य जनपदस्य वा **पौर्वार्धाः पौर्वार्धिका वा । दाक्षिणार्धाः, दाक्षिणार्धिका वा ।**

म—मध्ये भवः=मध्यमः ।[7] **आदौ भवः=आदिमः ।**[8] अवः[9] (अवस्ताद्) भवः=**अवमः । अग्निर्वै देवानामवमः** (विष्णुः परमः)—(ऐतरेय ब्रा०) ।

---

१. तवकममकावेकवचने (४।३।३) ।
२. अर्धाद्यत् (४।३।४) ।
३. सपूर्वपदाट् ठञ् वक्तव्यः (वा०) ।
४. परावराधमोत्तमपूर्वाच्च (४।३।५) ।
५. दिक्पूर्वपदाट् ठञ् च (४।३।६) ।
६. ग्राम-जनपदैकदेशाद् अञ्-ठञौ (४।३।७) ।
७. मध्यान्मः (४।३।८) ।
८. आदेश्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।
९. अवोधसोर्लोपश्च (वा०) ।

अग्नि (पृथिवीस्थान होने से) देवताओं में सबसे नीचे है (और विष्णु=सूर्य सबसे ऊँचा है।) **अधः (=अधस्ताद्) भवः=अधमः।** यहां अवस् और अधस् के 'स्' का लोप भी होता है।

अ—मध्य शब्द से जब जातादि अर्थ 'साम्प्रतिक=न्याय्य, युक्त, उचित है' ऐसा कहने की इच्छा हो[१]—**मध्यो वैयाकरणः**=नात्युत्कृष्टो नात्यपकृष्टः। **मध्यं काष्ठम्**=नातिह्रस्वं नातिदीर्घम्।

यञ्—समुद्र-समीप-वर्ती 'द्वीप' से[२]—**द्वैप्य। द्वैप्यं भवन्तोऽनुचरन्ति चक्रम्।** (काशिका)। कच्छादिगण (४।२।१३३) में द्वीप शब्द पढ़ा है उससे अण् प्राप्त था और मनुष्यतत्स्थयो र्वुञ् (४।२।१३४) से वुञ्। उन दोनों का अपवाद है। सूत्र में 'अनुसमुद्रम्' अनुर्यत्समया (२।१।१५) से समीप अर्थ में अव्ययीभाव समास है।

ठञ्—काल विशेषवाची शब्दों से[३]—**मासे भवं मासिकम्। संवत्सरे भवं सांवत्सरिकम्। वर्षे भवं वार्षिकम्। मासान्ते संवत्सरान्ते वर्षान्तेपि यद्भवति तदपि मासिकम् इत्याद्युच्यते। श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्** (मनु० ३।१२२)। मासश्चानुमासश्च मासानुमासौ, तयोर्भवं मासानुमासिकम्। **सायम्प्रातर्भवो विहारः=सायम्प्रातिको विहारः।** अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। **पुनः पुनर्भवतीति पौनः पुनिकः।** यहाँ पुनः पुनः शब्द मुख्य वृत्ति से काल का प्रतिपादक नहीं है, गौणवृत्ति से काल बोधक है सो इससे भी प्रत्यय हुआ है। **अद्रोहेण भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्** (मनु० ४।१४८)—यहाँ 'पूर्व' जो पूर्वकाल का बोधक है से प्रत्यय हुआ। **प्रास्थानिकं मङ्गलम्।** यहाँ प्रस्थान=प्रस्थान-काल। **कादम्बपुष्पिक उत्सवः।** यहाँ भी कदम्बपुष्प=कदम्बपुष्पकाल, कदमों के खिलने का समय। शार्वरं तमः=शर्वर्यां भवं तमः। शार्वरस्य तमसो निषिद्धये (कुमार० ८।५८)। यहाँ अण् की प्राप्ति नहीं। अतः यह प्रमादवचन है। इसी प्रकार समानकालीन, प्राक्कालीन इत्यादि प्रयोग भी प्रामादिक हैं। सूत्र में काल-विशेषवाची का ही ग्रहण इष्ट है ऐसा काशिका तथा पदमञ्जरी में स्पष्ट कहा है, परन्तु दीक्षित तथा तत्त्वबोधिनीकार स्वरूपग्रहण भी स्वीकार करते हैं—कालिकः सम्बन्धः। कालिकी व्याप्तिः।

---

१. अ साम्प्रतिके (४।३।९)।

२. द्वीपादनुसमुद्रं यञ् (४।३।१०)।

३. कालाट् ठञ् (४।३।११)।

शरद् से श्राद्ध अभिधेय होने पर[1]—**शरदि भवं शारदिकं श्राद्धम्**। अन्यत्र **शारदाः शालयः** (अण्)। आगे (४।३।१६) में ऋतु-विशेषवाची से अण् का विधान करेंगे उसका यह अपवाद है।

रोग और आतप अभिधेय हो तो शरद् से ठञ् विकल्प से[2]—**शारदिको रोगः। शारदिक आतपः। शारदो रोगः। शारद आतपः।** शरद् ऋतु में नाना रोग उत्पन्न होते हैं। अतः जीवेम शरदः शतम् ऐसी वेदोक्त प्रार्थना है।

निशा तथा प्रदोष (प्रारम्भो दोषायाः) शब्दों से विकल्प से[3]—**नैशिकम्। नैशम्** (अण्)। **प्रादोषिकम्। प्रादोषम्। नैशिकं सन्तमसम्**, रात का गाढ़ा अन्धकार। **प्रादोषिकम् अवतमसम्**, सायं काल का थोड़ा सा अन्धकार।

श्वस् शब्द से भी विकल्प से ठञ्[4]—**श्वोभवं शौवस्तिकम्।** प्रत्यय परे होने पर इसे तुट् (त्) आगम भी होता है। द्वारादीनां च (७।३।४) से 'व्' से पूर्व ऐच् आगम। **श्वस्त्य** (त्यप्)। **श्वस्तन** (ट्यु, ट्युल्)।

अण्—सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पञ्चदशी, प्रतिपद्, पौर्णमासी—इन से अण् तथा ऋतु और नक्षत्र विशेषवाचियों से भी[5]—**सान्धिवेलोऽरुणिमा क्षितिजस्य**, दिक्चक्र की सन्धिवेला में होने वाली लाली। **सान्ध्यो देवोपासनविधिः। आमावस्योऽन्धकारः। चातुर्दशोऽनध्यायः। अदृश्यः प्रातिपदश्चन्द्रः। पौर्णमासं व्रतम्।** ऋतु-विशेषवाची शब्दों से—**शिशिरस्येदं शीतं शैशिरम्। ग्रीष्मस्येदमौष्ण्यं ग्रैष्मम्।** नक्षत्रवाचियों से—**पुष्ये नक्षत्रे भवो राज्याभिषेकः=पौषः। तिष्ये भवः=तैषः।** तिष्य और पुष्य के 'य्' का लोप हो जाता है नक्षत्रवाची से परे विहित अण् परे होने पर[6]। पौर्णमासी शब्द वृद्ध है उससे 'छ' का प्रसंग था, उसको वारण करने के लिए 'पौर्णमासी' का यहाँ पाठ किया है।

'संवत्सर' से अण् हो यदि फल अथवा पर्व अभिधेय हो[7]—**सांवत्सरं**

---

१. श्राद्धे शरदः (४।३।१२)।
२. विभाषा रोगातपयोः (४।३।१३)।
३. निशाप्रदोषाभ्यां च (४।३।१३)।
४. श्वसस्तुट् च (४।३।१५)।
५. सन्धिवेलाद्यृतु-नक्षत्रेभ्योऽण् (४।३।१६)।
६. तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राणि (वा०)।
७. संवत्सरात् फल-पर्वणोः (ग० सू०)।

शरीरवान् नभ्यगात्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः (भा० विराट० ६३।५)।

फलम्, वर्ष में (के भीतर) पकने वाला फल। सांवत्सरं पर्व, वर्ष में होने वाला उत्सव।

एण्य—प्रावृषि भवाः पर्जन्याः=प्रावृषेण्याः[1]। बरसात के बादल।

ठक्—वर्षा (=बरसात)। **वर्षासु भवा अब्दा वार्षिकाः**[2]। **श्रावण इति प्रथमो वार्षिको मासः,** श्रावण (सावन) बरसात का पहला महीना होता है। **वार्षिकं धनुः** (इन्द्रधनुः)।

ठञ्, अण्—हेमन्त (ऋतु) से—**हैमन्तिकमुष्णं वासः। हैमनमुपलेपनम्** (हेमन्त में कस्तूरी आदि का लेप)[3]। यहाँ अण् परे होने पर 'त' का लोप भी होता है। पूर्व कहे गए ऋत्वण् (४।३।१६) से अण् होने पर तो 'त' का लोप नहीं होगा—**हैमन्ती कुररपङ्क्तिः**।

ट्यु, ट्युल्—साय, चिर, प्राह्ण, प्रग और अव्ययों से—**सायन्तनी देवतार्चा,** सायं काल में होने वाली देवपूजा। **चिरन्तनः सखा,** पुराना मित्र। यहाँ साय (घञन्त) दिवसावसान वाची शब्द है, मकारान्त अव्यय सायम् नहीं, किन्तु प्रत्यय-संनियोग से वह मान्त हो जाता है। ऐसे ही चिर के विषय में भी जानें। **प्राह्णेतनं भोजनम्। प्रगेतनो विहारः।** प्रातः की सैर। यहाँ प्रत्यय-संनियोग से प्राह्ण (=पूर्वाह्ण) और प्रग को एदन्त बनाया जाता है। ट्यु, ट्युल् में स्वर भेद होता है, शब्द के रूप में कुछ भेद नहीं। 'यु' को 'अन' आदेश पहले होता है। पीछे इसे तुट् (त) आगम होता है। अव्ययों से—**दिवातन। इदानीन्तन। अधुनातन। प्राक्तन। अर्वाक्तन।**

त्न—चिर—चिरत्न। परुत्(=गतवर्ष)—**परुत्न।** परारि—**परारित्न**[4]। **परुत्नः समुत्कर्षोऽस्य विद्याशालस्य सुदूरमत्यक्रामत्परारित्नम्,** इस विद्यालय का पिछले वर्ष का उत्कर्ष उससे पिछले वर्ष के उत्कर्ष से कहीं बढ़ गया।

---

१. प्रावृष एण्यः (४।३।१७)।
२. वर्षाभ्यष्ठक् (४।३।१८)।
३. सर्वत्राण् तलोपश्च (४।३।२२)। इससे पूर्व 'हेमन्ताच्च' यह छान्दस सूत्र है।
४. सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगे-ऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च (४।३।२३)।
५. चिर-परुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः (वा०)।

डिमच्—अग्र, पश्चात्, अन्त से[1]—**अग्रिम** । **पश्चिम** (टि=आत् का लोप) । **अन्तिम** ।

ट्यु ट्युल्—पूर्वाह्ण, अपराह्ण से विकल्प से (पक्ष में ठञ्)[2]—**पूर्वाह्णतनम्** । **अपराह्णतनम्** । यहाँ घ-काल-तनेषु कालनाम्नः (६।३।१७) से सप्तमी का अलुक् भी होता है । **पूर्वाह्णेतनम्** । **अपराह्णेतनम्** । पक्ष में ठञ् होकर **पौर्वाह्णिकम्**, **आपराह्णिकम्** ऐसे रूप भी होंगे ।

अण् आदि—**मथुरायां जातः=माथुरः** । **स्रुघ्ने जातः=स्रौघ्नः** । प्राग्-दीव्यतीय अण् ।[3] **उत्से जातः=औत्सः** (अञ्) । **उदपाने=कूपे जातः=औदपानो भेकः** (अञ्) । **कुरुषु जातः=कौरवः** (अञ्) । **पञ्चालेषु जातः पाञ्चालः** (अञ्) । **राष्ट्रे जाता ओषधयः=राष्ट्रियाः** (घ) । **ग्रामे जातः=ग्राम्यः** (य) । **ग्रामीणः** (खञ्) । 'तत्र जातः' इस अर्थ में यथाविहित (जो प्रत्यय जिस प्रकृति से विहित है) प्रत्यय हो रहा है ।

ठप्—**प्रावृषि जाताः प्रावृषिकाः शराः**[4] । 'एण्य' का अपवाद है ।

वुञ्—शरद् शब्द से 'तत्र जातः' इस अर्थ में, प्रत्ययान्त से यदि संज्ञा का बोध हो[5]—शरदि जाता **शारदका दर्भाः** । **शरदि जाताः शारदका मुद्गाः** । दर्भविशेष तथा मुद्ग-विशेष को 'शारदक' कहते हैं ।

वुन्—पूर्वाह्णे जातः **पूर्वाह्णकः** । **अपराह्णकः** । ठञ् तथा ट्यु ट्युल् का अपवाद । **आर्द्रानक्षत्रे** जातः=**आर्द्रकः** । **मूले नक्षत्रे जातः=मूलकः** । नक्षत्र से विहित अण् का अपवाद । प्रदोष—**प्रदोषकः** । ठञ् **और औत्सर्गिक** अण् का अपवाद । अवस्करो गूथम् । तत्र जातः क्रिमिः=**अवस्करकः**[6] । **औत्सर्गिक** अण् का अपवाद ।

पथि जातः=पन्थकः[7] । पथिन् को 'पन्थ' आदेश भी ।

---

१. अग्रादिपश्चाड्डिमच् (वा०) ।
२. विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् (४।३।२४) ।
३. तत्र जातः (४।३।२५) ।
४. प्रावृषष्ठप् (४।३।२६) ।
५. संज्ञायां शरदो वुञ् (४।३।२७) ।
६. पूर्वाह्णापराह्णार्द्रा-मूल-प्रदोषाऽवस्कराद् वुन् (४।३।२८) ।
७. पथः पन्थ च (४।३।२९) ।

'अमावास्या' से विकल्प से वुन्[1], पक्ष में सन्धिवेलादि होने से अण्—**अमावास्यायां जातः=अमावास्यकः ।** वुन् । **आमावास्यः** (अण्) । एकदेश विकृतमनन्यवद् भवति इस न्याय से 'अमावस्या' शब्द से भी ये प्रत्यय होंगे—**अमावस्यकः । आमावस्यः ।** अमावास्या (तथा अमावस्या) से 'अ' प्रत्यय भी होता है[2]—**अमावास्यायां जातः अमावास्यः** (अ) । **अमावस्यायां जातः=अमावस्यः ।**

कन्—सिन्धु, अपकर से कन्[3]—**सिन्धुषु जातः सिन्धुकः । अपकरकः ।**

अण्, अञ्—**सिन्धुषु जातः सैन्धवः । अपकरे जातः=आपकरः ।**[4]

अण् लुक्—श्रविष्ठा फल्गुनी आदि से 'तत्र जातः' इस अर्थ में उत्पन्न हुए प्रत्यय (नक्षत्राण्) का लुक् हो जाता है ।[5] तद्धित-प्रत्यय का लुक् हो जाने पर स्त्री-प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है[6]—**श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठः ।** स्त्रीत्व विवक्षा में पुनः टाप्—श्रविष्ठा (काचित् कन्या) । फल्गुनी—**फाल्गुन ।** अनुराधा—**अनुराध ।** स्वाति—**स्वाति ।** तिष्य—**तिष्य ।** पुनर्वसु—**पुनर्वसु ।** हस्त—**हस्त ।** विशाखा—**विशाख ।** अषाढा—**अषाढ ।** बहुला (=कृत्तिका)—**बहुल ।** बहुलासु जातः=**बहुलः ।** बहुला (कृत्तिका) नाम के छः नक्षत्र हैं ।

लुक् प्रकरण में चित्रा, रेवती, रोहिणी नक्षत्रवाची शब्दों से 'तत्र जातः' अर्थ में आए हुए प्रत्यय का लुक् वार्तिककार को इष्ट है, जब स्त्री अपत्य को कहना है[7]—**रेवत्यां जाता रेवती । चित्रा । रोहिणी ।**

ट, अन्—फल्गुनी, अषाढा से[8]—**फल्गुन्यां जाता कन्या फल्गुनी ।** टित् होने से ङीप् । **अषाढायां जाता=अषाढा** (अन्) । न् स्वर के लिए है ।

प्रत्यय लुक्—स्थानान्त प्रातिपदिक से, गोशाल, खरशाल—इनसे भी

---

१. अमावास्याया वा (४।३।३०) ।
२. अ च (४।३।३१) ।
३. सिन्ध्वपकराभ्यां कन् (४।३।३२) ।
४. अणञौ च (४।३।३३) ।
५. श्रविष्ठा-फल्गुन्यनुराधा-स्वाति-तिष्य-पुनर्वसु-हस्त-विशाखाऽषाढा-बहुलाल्लुक् (४।३।३४) ।
६. लुक् तद्धितलुकि (१।२।४९) ।
७. लुक् प्रकरणे चित्रा-रेवती-रोहिणीभ्य उपसंख्यानम् (वा०) ।
८. फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ (वा०) ।

तत्र जातः अर्थ में आए हुए प्रत्यय (अण्) का लुक्[1]—**गोस्थाने जातः=गोस्थानः। गोशाले जातः=गोशालः। खरशाले जातः=खरशालः।** गवां शाला गोशालम्। खराणां शाला खरशालम्। समास के नपुं० होने से ह्रस्व।

नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से जातार्थ प्रत्यय का बहुलतया लुक् होता है[2]—**रोहिण्यां जातः=रोहिणः। रौहिणः** (नक्षत्राण्)। मृगशिरा नाम नक्षत्रम्। तत्र जातः **मृगशिराः। मार्गशीर्षः।** अचि शीर्षः (६।१।६२) से शिरस् को शीर्ष आदेश होता है।

अणादि और इस प्रकरण में कहे घादि प्रत्यय यथाविहित (जिस प्रकृति से जो विधान किया गया है) कृत, लब्ध, क्रीत, कुशल[3], प्रायभव[4] तथा सभूत[5] अर्थों में भी आते हैं—**स्रुघ्ने कृतो वा लब्धो वा क्रीतो वा कुशलो वा स्रौघ्नः।** एवं **माथुरः।** अण्। **राष्ट्रे कृतादिः=राष्ट्रियः** (घ)। **स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्नः** (कदाचिन्न भवतीत्यपि)। एवं **माथुरः।** प्राय-भवः=अनित्यभवः। **राष्ट्रे प्रायेण भवति** (कदाचित्ततो बहिरपि) **इति राष्ट्रियः।** ग्रामे प्रायेण भवति (कदाचिन्नगरेपि) इति **ग्राम्यः। ग्रामीणः।** 'संभूत' का अर्थ 'समाया हुआ' है। **स्रुघ्ने संभवति सैन्यम्=स्रौघ्नम्। राष्ट्रे संभवति राष्ट्रियम्।**

ढञ्—कोशे संभूतं **कौशेयं वस्त्रं।** (वस्त्र जो कोश में समाता है)। कौशेयं कृमिकोशोत्थम्—ऐसा अमर कोष में पाठ है। इसके अनुसार 'कौशेय' कीड़ों से बने हुए रेशम का नाम है। श० ब्रा० ५।२।१८ में **कौशं वासः** प्रयोग आया है। वहाँ कोशस्येदं कोशस्य विकारो वा ऐसा अर्थ समझना चाहिए। शैषिक अण् अथवा विकार अर्थ में अण्।

ठञ्, अण्—कालवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, साधु, पुष्प्यत् (खिल रहा है), पच्यमान (पक रहा है) इन अर्थों में[7]—**हेमन्ते साधुः**

---

१. स्थानान्त-गोशाल-खरशालाच्च (४।३।३५)।
२. नक्षत्रेभ्यो बहुलम् (४।३।३७)।
३. कृत-लब्ध-क्रीत-कुशलाः (४।३।३८)।
४. प्रायभवः (४।३।३९)।
५. संभूते च (४।३।४१)।
६. कोशाड् ढञ् (८।३।४२)।
७. कालात् साधु-पुष्प्यत्-पच्यमानेषु (४।३।४३)।

प्राकारः—हैमन्तिकः । हैमन्तः । हैमनः । ठञ्, अण्, अण् और तलोप । (वह) दीवार जो हेमन्त में साधु=हित=उपकारक है, शीत-वारक होने से। **शैशिरमनुलेपनम्,** जो लेप शिशिर ऋतु में साधु है । अण् । **वसन्ते पुष्यन्ति वासन्त्यो लताः,** जो वेलें वसन्त में खिलती हैं । ऋत्वण् । **शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः ।** ऋत्वण् ।

कालवाची से 'उप्त' अर्थ में भी यथाविहित प्रत्यय[1]—**हेमन्त उप्यन्ते हैमन्ता यवाः,** जौ जो हेमन्त में बोए जाते हैं । **ग्रीष्म उप्यन्त इति ग्रैष्मा व्रीहयः ।**

वुञ्—'आश्वयुजी' से 'उप्त' अर्थ में वुञ्[2]—**आश्वयुज्यामुप्ता माषा आश्वयुजकाः ।** अश्वयुज्=अश्विनी । अश्विनीभ्यां युक्ता पौर्णमासी आश्वयुजी ।

ग्रीष्म, वसन्त से 'उप्त' अर्थ में विकल्प से[3]—**ग्रैष्मं सस्यं ग्रैष्मकं वा । वासन्तं वासन्तकं वा ।**

कालवाची से 'देयम् ऋणम्' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय[4]—**मासे देयमृणं मासिकम् ।** ठञ् । **आर्धमासिकम् । सांवत्सरिकम् ।**

वुन्—गौणवृत्ति से कालवाची कलापिन्, अश्वत्थ, यवस–से 'देयम् ऋणम्' इस अर्थ में[5]—जिस काल में कलापी (मोर) कलापी=नये पंखों वाले होते हैं उसे कालपी कह दिया है । जिस काल में अश्वत्थ (पीपल) फलवान् होते हैं उसे 'अश्वत्थ' कह दिया है। जिस काल में यवस (घास, चारा) उत्पन्न हो जाता है उसे यवस कह दिया है । जिस काल में बुस (भूसा) तैयार हो जाता है उसे गौणवृत्ति से बुस कह दिया है। **कलापिनि काले देयमृणं कलापकम् । अश्वत्थकम् । यवसकम् । बुसकम् ।**

अण्, ठञ्—कालवाची से यथाविहित प्रत्यय हो, 'व्याहरति मृगः' (मृग बोलता है) इस अर्थ में[6]–**निशायां व्याहरति शब्दायते इति नैशो मृगः, नैशिक**

---

१. उप्ते च (४।३।४४) ।
२. आश्वयुज्या वुञ् (४।३।४५) ।
३. ग्रीष्म-वसन्तादन्यतरस्याम् (४।३।४६) ।
४. देयमृणे (४।३।४७) ।
५. कलाप्यश्वत्थ-यवस-बुसाद् वुञ् (४।३।४७) ।
६. व्याहरति मृगः (४।३।५१) ।

इति वा । जो मृग रात को बोलता है उसे नैश (अण्) अथवा नैशिक (ठञ्) कहते हैं। इसी प्रकार **प्रादोषो मृगः । प्रादोषिको मृगः** ।

निशा-सहचरितमध्ययनं निशा । निशा=रात भर जो अध्ययन है उसे भी 'निशा' कह दिया है । जो इस अध्ययन को सहता है उसे नैशिक तथा नैश (ठञ् और अण् करके) कहेंगे । **नैशो नैशिको वा[1] ब्रह्मचारी** ।

यहाँ कालात्साधु—(४।३।४३) से आया हुआ कालाधिकार समाप्त हुआ ।

अण्, घ—'तत्र भवः' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है—**स्रुघ्ने भवः=स्रौघ्नः । मथुरायां भवः=माथुरः** । अण् । **राष्ट्रे भवः=राष्ट्रियः** (घ) । **विगततरणौ व्यर्के पाताले भवा वैतरणी** (नदी) । अण् । ङीप् ।

यत्—दिश् इत्यादि शब्दों से 'तत्र भवः' अर्थ में यत्[3]—**दिशि भवः=दिश्यः । वर्गे भवः=वर्ग्यः । सर्वे वर्ग्याः समं विचक्षणाः स्युरिति नियमो न । सेनामुखे भवाः सेनामुख्याः सैनिका यथा सांयुगीनास्तथा सेनाजघने भवाः सेनाजघन्या अपि** । सांयुगीन=युद्ध में विशारद । **पक्षे भवः=पक्ष्यः । केचित् कृष्णपक्ष्याः, केचित्कंसपक्ष्याः** । रहस्—**रहसि भवं रहस्यम्** । गुप्त, गुप्त बात । रहस्यानि च लोमानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् (मनु० ४।१४४) । रहस्यानि= गुह्याङ्गेषु भवानि । **आदौ भवम्=आद्यम् । अन्ते भवम्=अन्त्यम् । यूथे भवः=यूथ्यः । अयं च यूथ्यो गजः, अयं च यूथभ्रष्टः । वंशे भवः=वंश्यः । राजवंश्यः** । यह षष्ठीसमास है । राज्ञो वंश्य इति राजवंश्यः । 'राजवंश' से तो वृद्धाच्छः से 'छ' होगा—राजवंशीय । **अप्सु भवा अप्या जन्तवः**, जो जन्तु पानी में होते हैं वे 'अप्य' नाम से कहे जाते हैं । **शब्द इत्याकाश्यो गुणः । आकाशे भवः । उदके भवा=उदक्या** (रजस्वला) । वस्तुतः यह रूढि शब्द है प्रकृति प्रत्ययादि कुछ भी नहीं । यौगिक अर्थ में तो अण् होकर **औदकः सत्त्वः**, जल में होने वाला जीव, ऐसा कहेंगे । **मर्तो नाम लोकः, तत्र भवो मर्त्यः** ।

शरीरावयववाची से भी[4]—**दन्तेषु भवं दन्त्यम् । लृकारस्तवर्गो लकारः**

---

१. तदस्य सोढम् (४।३।५२) ।
२. तत्र भवः (४।३।५३) ।
३. दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) । 'उदकात्संज्ञायाम्'
४. शरीरावयवाच्च (४।३।५५) ।

सकारश्चेति दन्त्या वर्णाः । ओष्ठयोर्भवम् ओष्ठ्यम् । मुखे भवम् मुख्यम् । **न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति** (ग० ध० सू० १।१।४४) । मुख से गिरी हुई बूंदें (खाते समय मुख से गिरी हुई बूंदें जिस भोज्य पदार्थ पर पड़ें उसे) जूठा नहीं बनातीं । **नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः** (मनु० ५।१४१) । **तस्य मुख्यान्** (=मुखे भवान्) **प्राणान्त्संस्पृशन्** (गो० गृ० २।८।१३) । **शिरसि भवानि** (खानि) **शीर्षण्यानि** । ये च तद्धिते (६।१।६१) से शिरस् को शीर्षन् आदेश । ये चाभाव-कर्मणोः(६।४।१६८) से प्रकृतिभाव । **खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि** (गौ० ध० १।१।३८) । वा केशेषु(वा०)से शिरस् को विकल्प से शीर्षन् आदेश—**शीर्षण्याः केशाः । शिरस्याः ।** पदमञ्जरीकार हरदत्त का कहना है कि शिरस्य शब्द केशार्थ में रूढ़ है इसके अनन्तर केश (विशेष्य) का प्रयोग नहीं करना चाहिए । **नासिकायां भवं नस्यम् ।** नासिका को नस् आदेश । **नासिकायां भवा रज्जुः=नस्या ।** यत्, तस्, क्षुद्र परे रहते नासिका को नस् आदेश होता है । नस्यया उतः=नस्योतः, नुकेल वाला । **पादे भवः स्फोटः पद्यः**, पाओं में फोड़ा । अतदर्थं (तस्या इदं तदर्थम्) में यत् प्रत्यय परे होने पर पाद को पद्[1] । **दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पद्याः ।** विंशो वै पुरुषो दश हि हस्त्या अङ्गुल्यो दश पाद्याः (तां ब्रा० २३।१४।५) । यहाँ 'पाद्य' आर्ष है, पाणिनीय नहीं ।

ढञ्—दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति, अहि से 'तत्र भवः' अर्थ में[2]—**दृतौ भवं दार्तेयं तैलम् । कौक्षेयी वेदना**, कुक्षि में होने वाली पीड़ा । **कलशौ भवं कालशेयं दण्डाहतम्**, मटकी में मथानी से मथा हुआ दही । **वस्तौ भवं वास्तेयम् ।** नाभि के नीचे का भाग 'वस्ति' है । अस्ति तिङन्त-प्रतिरूपक अव्यय है । **अस्तिभवम् आस्तेयम् ।** यहाँ अस्ति=धन, यथा अस्तिमान्=धनवान् । यहाँ । **बहुला ह्यास्तेया दोषा भवन्ति । अहौ भवम् आहेयं विषम् ।**

ढञ्, अण्—ग्रीवासु (=धमनीषु=धमनीसंघाते) **भवं ग्रैवेयम् । ग्रैवम्**[3] । **नास्त्रसत्करिणां ग्रैवम्** (रघु० ४।४८) ।

ञ्य—गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम्[4] । बहिस्, देव, पञ्चजन से भी[5]—

---

१. पद्यत्यतदर्थे (६।३।५३) ।
२. दृति-कुक्षि-कलशि-वस्त्यस्त्यहेर्ढञ् (४।३।५६) ।
३. ग्रीवाभ्योऽण् च (४।३।५७) ।
४. गम्भीराञ्ञ्यः (४।३।५८) ।
५. बहिर्देव-पञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।

१ परि प्रत्यादिभ्यश्च — यह ज्ञातव्य है।

बहिर्भवं बाह्यम्। पञ्चजनेषु=सनिषादेषु ब्राह्मणादिषु चतुर्षु भवम् पाञ्चजन्यम्। 'बहिस्' के 'टि' का लोप। प्राग्दीव्यतीय अर्थों में बहिस् से यञ् तथा देव से अञ् का विधान हो चुका है।

परिमुख आदि १ अव्ययीभावों से[1]—**परिमुखं भवः=पारिमुख्यः।** यदि 'परि' वर्जन अर्थ में है तो अप-परि-बहिरञ्चवः पञ्चम्या (२।१।१२) से अव्ययीभाव। यदि 'परि' सर्वतो-भाव अर्थ में है तो इसी निपातन से अव्ययीभाव है। यदि परिमुख अव्ययीभाव न होगा तो 'ञ्य' प्रत्यय नहीं होगा। परि गतो मुखं परिमुखः (प्रादिसमास), तत्र भवः=पारिमुखः (अण्)। उपसीरम् (सीरस्य समीपे) भवम् **औपसीर्यम्। परिहनु भवं पारिहनव्यम्,** हनु=जबड़े के चारों ओर होने वाला। ओर्गुणः (६।४।१४६) से गुण होकर वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९) से 'ओ' को अवादेश। **प्रतिशाखं भवम्=प्रातिशाख्यम्।** परिपार्श्वं भवः=पारिपार्श्विकः। **एवमुक्त्वा तु तान्सर्वान् राक्षसान्पारिपार्श्विकान्** (रा० ६।२१।१७)। परन्तु उपकूलं भवम् औपकूलम्—यहाँ परिमुखादि गण में पठित न होने से ञ्य न होकर शैषिक अण् हुआ।

ठञ्—'अन्तः' पूर्वपद होने पर अव्ययीभाव से 'तत्र भवः' अर्थ में[2]—अन्तर्वेश्म (अन्तर्वेश्मम्) भवाः=**आन्तर्वेश्मिका राजदाराः।** वेश्मन् नपुं० प्रातिपदिक है। अतः नपुंसकादन्यतरस्याम् (५।४।१०९) से विकल्प से टच् समासान्त होता है। **अन्तर्गेहे भवं पारिणाह्यम्=आन्तर्गेहिकम्।** पारिणाह्य=गृहोपकरण।

समान शब्द से—**सामानिको गुणः** (समानेषु भवः)।

समानान्त से भी—**समानग्रामे भवः=सामानग्रामिकः। देवदत्तो यज्ञदत्तश्च सामानग्रामिकौ। समानदेशे भवः=सामानदेशिकः। भारतं वर्षं नः समानो देश इति सामानदेशिका वयम्।**

अध्यात्म आदि अव्ययीभावों से 'तत्र भवः' अर्थ में[3]—अध्यात्म आदि विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव हैं। 'अनः' (५।४।१०८) टच् समासान्त। **अध्यात्मम् भवम् आध्यात्मिकं दुःखम्।** आत्मा=शरीर। शारीरिक दुःख। अनुशतिकादि होने से उभयपद-वृद्धि। **अधिदेवं भवम् आधिदैविकम्।** देवा इन्द्रि-

---

१. अव्ययीभावाच्च (४।३।५९)।

२. अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् (४।३।६०)।

३. अध्यात्मादिभ्यश्च (इ०)।

याणि । देवाः सूर्यचन्द्रादयः । **अधिभूतं भवम्=आधिभौतिकम्** । अध्यात्मादि आकृतिगण है । **औत्पादिकी शास्त्रसमुद्भवा च सांसर्गिकी धीः** (का० नी० १६।३३) । उत्पादे जन्मनि भवा=**औत्पादिकी** । ऊर्ध्वंदम=ऊर्ध्वं । **ऊर्ध्वंदमे भवः=और्ध्वंदमिकः । ऊर्ध्वं देहे भवः=और्ध्वंदेहिकः** । उपरते प्राणिनि याः क्रियाः शास्त्रतः क्रियन्ते ता और्ध्वंदेहिक्यः । **प्रतिपुरुषं भवाः प्रातिपौरुषिका गुणाः । स्थित्वा पथि प्राथमकल्पिकानां राजर्षभाणां यशसान्वितानाम्** (बुद्ध० २।४६) । **प्रथमे कल्पे भवाः प्राथमकल्पिकाः । एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः** (मनु० २।६८) । उभयपद वृद्धिः । अथ **सामयाचारिकान्धर्मान्व्याख्यास्यामः** । समयः=पौरुषेयी व्यवस्था । तन्मूला आचाराः=समयाचाराः । तेषु भवाः सामयाचारिकाः । अवेशेऽगृहे भवः=**आवेशिकः**, अतिथिः । सन्दृष्टौ प्रत्यक्षे भवं **सान्दृष्टिकम्**=सद्यः फलम्, तात्कालिक फल । लोकोत्तरपद वाले समास से—**इहलोके भवम् ऐहलौकिकम् ऐश्वर्यम् । परलोके भवं पारलौकिकम्** । उभयपद-वृद्धि ।

ईय—तसन्त मुख और पार्श्व से—**मुखतो भवं मुखतीयं तेजः । पार्श्वतो भवः । पार्श्वतीयार्तिः**, पार्श्व भाग में होने वाली पीड़ा । तस् यहाँ सप्तम्यर्थ में हुआ है । मुखतः=मुखे । पार्श्वतः=पार्श्वे । अव्ययानां भ-मात्रे टि-लोपः से टि=अस् का लोप ।

मण्, मीय—मध्ये भवम्=माध्यमम् । मध्यमीयम् ।[1] त्वां च मां चान्तरा कमण्डलुरिति **माध्यमः** स भवति । **मध्यमीयो** वा । ईय भी—**मध्यीय** ।

दिनण्—मध्ये वियन्मध्ये भवः=माध्यन्दिनः सूर्यः । यहाँ 'मध्य' को मध्यम् आदेश भी होता है ।

प्रत्यय-लुक्—अश्वस्य स्थाम (बलम्) अस्येति अश्वत्थामा । पृषोदरादि होने से 'स्' को 'त्' । **अश्वत्थाम्नि भवः=अश्वत्थामा** । 'तत्र भवः' इस अर्थ में 'स्थाम्नोऽकारः' से आए हुए 'अ' प्रत्यय का लुक् हो जाता है ।[2]

ठञ्—परि-अनुपूर्व 'ग्राम' से—**पारिग्रामिकः । आनुग्रामिकः । आनुग्रामिकी कुल्या**, ग्राम के साथ-साथ बहने वाली नहर ।[3]

छ—जिह्वामूल और अङ्गुलि से 'तत्र भवः' अर्थ में—**जिह्वामूले भवः=**

---

१. मध्यादीयः । मण्मीयौ च प्रत्ययौ वक्तव्यौ (वा) ।

२. स्थाम्नो लुग्वक्तव्यः (वा०) ।

३. ग्रामात्पर्यनुपूर्वात् (४।३।६१) ।

जिह्वामूलीयस्तवर्गः । अङ्गुलौ भवम् अङ्गुलीयम्[1], **तदेवाङ्गुलीयकम् ।**

वर्गान्ति से भी—**कवर्गीय ।** ककार इति कवर्गीयो वर्णः ।[2]

यत्, ख—शब्द-भिन्नवाच्य होने पर वर्गान्त से यत् तथा ख[3]—**वासुदेव-वर्गे भवः=वासुदेववर्ग्यः । वासुदेववर्गीणः । एते तृतीयवर्ग्याश्छात्राः । एते चतुर्थवर्गीणाः ।**

कन्—कर्ण, ललाट से 'तत्र भवः' अर्थ में जब अलंकार अभिधेय हो[4]—**कर्णे भवोऽलङ्कारः कर्णिका । ललाटे भवोऽलङ्कारो ललाटिका ।** ये स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं । अलङ्कार से अन्यत्र **कर्णे भवं कर्ण्यं किट्टम्** (मलम्) । **ललाटे भवं ललाट्यं तिलकम् ।** यत् ।

अण्—(व्याख्येय के) व्याख्यान रूप ग्रन्थ के अभिधेय होने पर व्याख्येय ग्रन्थ के नाम से यथा-विहित प्रत्यय होता है और उसी से 'तत्रभवः' अर्थ में भी[5]—**सुपां व्याख्यानो ग्रन्थः सौपः ।** अण् प्राग्दीव्यतीय । व्याख्यान शब्द में करण में ल्युट् है । **तिङां व्याख्यानो ग्रन्थः तैङः । कृतां व्याख्यानो ग्रन्थः कार्तः ।** भव अर्थ में भी—**सुप्सु भवा विधयः=सौपाः । तिङ्क्षु भवाः कार्य-विशेषाः=तैङाः ।** पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसला, यहाँ सुकोसला को देखकर पता चलता है कि पाटलिपुत्र इस प्रकार के संनिवेश वाला है, पर पाटलिपुत्र व्याख्येय ग्रन्थ का नाम नहीं है । अतः यहाँ अण् का अपवाद वृद्धाच्छः नहीं होगा, वाक्य ही रहेगा ।

ठञ्—अन्तोदात्त बह्वच् व्याख्यातव्य नाम प्रकृति से ठञ्[6]—षत्वं च णत्वं च षत्वणत्वे, तयोर्व्याख्यानो ग्रन्थः **षात्वणत्विकः ।** नतोऽनुदात्तः, अनत उदात्तः, तयोर्नतानतयोः स्वरयोर्व्याख्यानो ग्रन्थः=**नातानतिकः ।** संहिता बह्वच् तो है पर गतिरनन्तरः (६।२।४९) से गति का स्वर होने से आद्युदात्त है । अतः ठञ् न होकर प्राग्दीव्यतीय अण् होगा—संहिताया व्याख्यानो ग्रन्थः **सांहितः ।** संहितायां भवं **सांहितम् ।**

---

१. जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः (४।३।६२) ।
२. वर्गान्ताच्च (४।३।६३) ।
३. अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम् (४।३।६४) ।
४. कर्ण-ललाटात् कनलङ्कारे (४।३।६५) ।
५. तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः (४।३।६६) ।
६. बह्वचोऽन्तोदात्ताट् ठञ् (४।३।६७) ।

वसिष्ठेन दृष्टो मन्त्रो वसिष्ठ उपचारात्। विश्वामित्रेण दृष्टो मन्त्रो विश्वामित्र उपचारात्। वसिष्ठस्य व्याख्यातव्यनाम्नो व्याख्यानोऽध्यायः= **वासिष्ठिकः। वैश्वामित्रिकः।** यहाँ व्याख्यान अध्याय रूप होना चाहिए तभी प्रत्यय होगा।[1]

यत् अण्—छन्दस् शब्द से तस्य व्याख्यानः, तत्रभवः इन अर्थों में[2]— **छन्दस्यः** (यत्)। **छान्दसः** (अण्)।

ठक्—द्व्यच्क (=द्व्यक्षर) प्रातिपदिक, ऋकारान्त, ब्राह्मण, ऋक्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नाम, आख्यात—इनसे भव-व्याख्यान अर्थों में ठक्[3]—**इष्टेर्व्याख्यानो ग्रन्थः=ऐष्टिकः। पशोः पशुयज्ञस्य व्याख्यानो ग्रन्थः =पाशुकः।** ऋकारान्त—**चातुर्होतृकः। पाञ्चहोतृकः।** ब्राह्मणस्य व्याख्यातव्यस्य व्याख्यानो ग्रन्थो **ब्राह्मणिकः। ऋचां व्याख्यानो ग्रन्थः=आर्चिकः।** प्रथम—**प्राथमिकः।** अध्वर—**आध्वरिकः।** पुरश्चरण—**पौरश्चरणिकः।** पुरश्चरण यज्ञ की प्रारम्भिक विधि को कहते हैं। नामन्—**नामिकः। नाम्नां व्याख्यानो ग्रन्थः।** आख्यात—**आख्यातिकः। नामाख्यातिकः।** सूत्र में 'नामाख्यात' सङ्घात का भी ग्रहण इष्ट है। ऐसे ही इन सबसे 'भव' अर्थ में प्रत्यय जानें।

अण्—ऋगयन आदि से भव-व्याख्यान अर्थों में[4]—ऋचामयनम् ऋगयनम्। **ऋगयनस्य व्याख्यानो ग्रन्थः=आर्गयनः।** पदव्याख्यान—**पादव्याख्यान।** वास्तुविद्याया व्याख्यानो ग्रन्थः=**वास्तुविद्यः।** व्याकरणस्य व्याख्यानो ग्रन्थः =**वैयाकरणः।** व्याकरणे भवः=वैयाकरणो योगः। निगम=(वेदमन्त्र)— **नैगमः।** यथा यास्कीये निरुक्ते नैगमं काण्डम्। (निगमव्याख्यानं काण्डं नैगमम्)।

यहाँ भव-व्याख्यान अर्थों में विहित-प्रत्यय समाप्त हुए।

अण्—'तत आगतः' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है[5]—**स्रुघ्नाद्**

---

१. अध्यायेष्वेवर्षेः (४।३।६९)।

२. छन्दसो यदणौ (४।३।७१)।

३. द्व्यजृद्-ब्राह्मणर्क्-प्रथमाऽध्वर-पुरश्चरण-नामाऽऽख्याताट्ठक् (४।३।७२)।

४, अणृगयनादिभ्यः (४।३।७३)।

५. तत आगतः (४।३।७४)।

आगतः=स्रौघ्नः (अण् प्राग्दीव्यतीय)। **मथुराया आगतः=माथुरः**। अण्। **राष्ट्राद् आगतः=राष्ट्रियः** (घ)।

ठक्—'तत आगतः' इस अर्थ में आय-स्थानों से[1]—**शुल्कशालाया आगतो धनराशिः=शौल्कशालिकः**। आकरादागतम् **आकरिकं** लवणम्, खनिज नमक।

वुञ्—जो विद्या-निमित्त से अथवा योनि-निमित्त से सम्बन्धी हैं, तद्वाची शब्दों से 'तत आगतः' अर्थ में वुञ्[2]—**उपाध्यायादागतः=औपाध्यायकः। यदिदं परिच्छेदे पाण्डित्यमस्मिञ्छिष्ये लक्ष्यते स औपाध्यायको गुणो न, किन्तर्हि शिष्यस्य सहजः। आचार्यादागता प्रौढिर् आचार्यिका। अस्य पैतामहकमौदार्यम्, मातामहकं च चापलम्**, इसकी उदारता (बहुप्रदता=दानशीलता) पितामह से आई है और चञ्चलता मातामह से। **अस्य तु मातुलकः संकोचः**।

ठञ्—'विद्या-योनि द्वारक सम्बन्धी' इस अर्थ वाले ऋकारान्त शब्दों से 'तत आगतः' अर्थ में[3]—**होतुरागतं हौतृकम्। भ्रातुरागतं भ्रातृकम्। स्वसुरागतं स्वासृकम्। मातुरागतं मातृकम्। पैतृकं गतमश्वा अनुहरन्ते मातृकं गावः**, घोड़े पिता से प्राप्त हुई चाल का परिशीलन करते हैं और बैल माता की। यहाँ ऋकारान्तों से 'ठ' को इसुसुक्तान्तात् कः (७।३।५१) से 'क' आदेश हुआ है।

यत्, ठञ्—पितृ शब्द से ठञ् भी और यत् भी[4]—**पैतृकम्। पित्र्यम्। आङ्गलेषु पैतृकमृक्थं ज्येष्ठ एव सुतोऽर्हति नेतरः। विद्यायामभिरुचिरिति पित्र्योऽस्मिन्कुमारे गुणः**। यत् प्रत्यय परे होने पर पितृ के 'ऋ' को री(ङ्) आदेश होता है और उसकी 'ई' का भसंज्ञा होने से 'यस्येति च' से लोप हो जाता है।

अण्, वुञ्—अपत्यप्रत्ययान्त से 'तत आगतः' अर्थ में दो प्रत्यय होते हैं—अण् जो साक्षात् विहित है अथवा गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) से जो वुञ् तस्येदम् इस अर्थ में विहित होकर 'अङ्क' अर्थ को भी कहता है[5]। **बिदेभ्य**

---

१. ठगायस्थानेभ्यः (४।३।७५)।
२. विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ् (४।३।७७)।
३. ऋतष्ठञ् (४।३।७८)।
४. पितुर्यच्च (४।३।७९)।
५. गोत्रादङ्कवत् (४।३।८०)।

आगतं बैदम्। गोत्र में अञ्प्रत्ययान्त 'बैद' से जैसे सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञ्-इञामण्(४।३।१२७)से 'अङ्क' अर्थ में अण् होता है वैसे ही यहाँ 'तत आगतः' अर्थ में हुआ। उपगोरपत्यम् औपगवः। औपगवानामङ्कः=औपगवकः। वुञ्। एवम् **औपगवेभ्य आगतम् औपगवकम्।** गर्गाणामङ्कः=गार्गः। यञन्त गार्ग्य से अण्। आपत्य यकार का लोप। एवं **गर्गेभ्य आगतं गार्गम्।** नाडायनानामङ्कः=नाडायनकः। **नाडायनेभ्य आगतं नाडायनकम्।**

रूप्य—हेतु वचनों से तथा मनुष्यवाचियों से 'तत आगतः' अर्थ में विकल्प से 'रूप्य'[1]—**समादागतं समरूप्यम्। विषमादागतं विषमरूप्यम्।** पक्ष में गहादि गण के आकृतिगण होने से 'छ'—**समीय। विषमीय। देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम्। यज्ञदत्तरूप्यम्।** पक्ष में प्राग्दीव्यतीय अण्—**दैवदत्तम्। याज्ञदत्तम्।**

मयट्—इनसे मयट् भी[2]—**समादागतं सममयम्। विषममयम्। देवदत्तमयम्। यज्ञदत्तमयम्।**

'तत आगतः' यह अधिकार समाप्त हुआ।

अण्—पञ्चम्यन्त से 'प्रभवति' (प्रकट होता है) इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय (प्राग्दीव्यतीय अण्) होता है[3]—**हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा।**

ञ्य—विदूर से 'प्रभवति' अर्थ में ञ्य[4]—**विदूरात् प्रभवति वैदूर्यो मणिः।** यहाँ यह शङ्का होती है कि मणि वालवाय-नामक पर्वत से उपलब्ध होती है, विदूर-नामक नगर में तो उसे संस्कृत (परिशुद्ध) किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि जैसे वाराणसी को बनिये 'जित्वरी' नाम से पुकारते हैं ऐसे ही वैयाकरणों में वालवाय को विदूर नाम से कहने की प्रथा है।

अण्—तद् गच्छति(उसको जाता है, प्राप्त होता है)इस अर्थ में द्वितीयान्त से यथाविहित (प्राग्दीव्यतीय अण्) प्रत्यय होता है, यदि जो जाता है वह या तो रास्ता हो या दूत[5]—**स्रुघ्नं गच्छति पन्था दूतो वा स्रौघ्नः। मथुरां गच्छति पन्था दूतो वा माथुरः।**

---

१. हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्याम् (४।३।८१)।
२. मयट् च (४।३।८२)।
३. प्रभवति (४।३।८३)।
४. विदूराञ्ञ्यः (४।३।८४)।
५. तद् गच्छति पथि-दूतयोः (४।३।८५)।

अण्, घ आदि––अभिनिष्क्रामति (उसकी ओर निकलता है=खुलता है) अर्थ में द्वितीयान्त से यथाविहित अण्, घ प्रत्यय होते हैं[1]—**स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति कान्यकुब्जद्वारं स्रौघ्नम्**, कन्नौज का जो दर्वाज़ा स्रुघ्न की ओर खुलता है उसे स्रौघ्न कहते हैं। द्वितीयान्त स्रुघ्न से यथाविहित प्राग्दीव्यतीय अण् हुआ। **माथुरम्। राष्ट्रमभिनिष्क्रामति द्वारं राष्ट्रियम्।** घ।

अण्, छ आदि—तदधिकृत्य (उसे विषय बनाकर) जो ग्रन्थ बनाया जाता है उसे कहने के लिए द्वितीयान्त से यथाविहित अण् घ आदि प्रत्यय होते हैं[2]—**सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः। ज्योतिर्नक्षत्रादि तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्।** अण्। संज्ञापूर्वक विधि होने से वृद्धि नहीं हुई। कुत्सितं शरीरं शरीरकम्। तस्यायं शारीरको=जीवात्मा। तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः। शारीरकं भाष्यम्—यहाँ प्रत्यय नहीं किया गया। शारीरकीय अर्थ में अभेदोपचार से 'शारीरक' का प्रयोग है। आख्यायिका वाच्य होने पर बहुलतया प्रत्यय का लुप् होता है।[3] लुप् होने पर प्रकृति के लिङ्ग वचन होते हैं—**वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता।** कहीं लुप् नहीं भी होता—भीमरथीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका **भैमरथी।** अण्।

छ—शिशुक्रन्द (बच्चों का रोना), यमसभ (=यमस्य सभा), द्वन्द्व, इन्द्रजनन आदि द्वितीयान्त शब्दों से 'तदधिकृत्य कृते ग्रन्थे' अर्थ में छ प्रत्यय उत्पन्न होता है[4]—**शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः=शिशुक्रन्दीयः। यमसभम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—यमसभीयः। वाक्यं च पदं च वाक्यपदे, ते अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—वाक्यपदीयम्। किरातश्चार्जुनश्चेति किरातार्जुनौ। तावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम्। राघवांश्च पाण्डवांश्चाधिकृत्य कृतो ग्रन्थो राघवपाण्डवीयम्। इन्द्रजननमधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इन्द्रजननीयम्।** इन्द्रजननादि आकृतिगण है। **विरुद्धभोजनीयम्। सीतान्वेषणीयं काव्यम्। प्रद्युम्नागमनीयम्।** यमसभम्—यहीं निपातन से नपुं०।

'देवासुर' आदि जो द्वन्द्व उनसे 'छ' नहीं होता[5]—**देवाश्चासुराश्च, देवासुराः**

---

१. अभिनिष्क्रामति द्वारम् (४।३।८६)।

२. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४.३।८७)।

३. लुबाख्यायिकार्थस्य प्रत्ययस्य बहुलम् (वा०)।

४. शिशु-क्रन्द-यमसभ-द्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः (४।३।८८)।

५. द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः (वा०)।

(द्वन्द्व) । **देवासुरानधिकृत्य कृतो ग्रन्थो दैवासुरम्** । अण् । **रक्षांसि चासुराश्च =रक्षोऽसुराः । तानधिकृत्य कृतो ग्रन्थो राक्षोऽसुरम् । गौणं च मुख्यं च= =गौणमुख्यम् । तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थो गौणमुख्यम्** । यहाँ सर्वत्र प्राग्दीव्य-तीय अण् हुआ है ।

अण्, घ आदि—'सोऽस्य निवासः' (वह इसका निवास स्थान है) इस अर्थ में प्रथमान्त से यथाविहित अण्, घ आदि प्रत्यय होते हैं[1]—**स्रुघ्नो-निवासोऽस्य=स्रौघ्नः** । अण् । **मथुरा निवासोऽस्य माथुरः । राष्ट्रं निवासो-ऽस्येति राष्ट्रियः** । निवास शब्द में अधिकरण में घञ् है ।

अण्, घ आदि—'सोऽस्याभिजनः' (यह वह स्थान है जहाँ इसके पूर्वज रहे, अर्थात् जहाँ वह स्वयम् अब नहीं रहता) इस अर्थ में प्रथमान्त से यथा-विहित अण्, घ आदि प्रत्यय होते हैं[2]—**स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य=स्रौघ्नः । माथुरः । राष्ट्रियः** । अभिजायते येभ्यस्तेऽभिजनाः पूर्वबान्धवाः पित्रादयः । उनसे सम्बद्ध होने से 'देश' को भी 'अभिजन' कह दिया है ।

अण्, अञ्—सिन्ध्वादि प्रातिपदिकों से अण् तथा तक्षशिलादि प्राति-पदिकों से अञ् होता है 'सोऽस्याभिजनः' इस अर्थ में[3]—**सैन्धवः** (अण्) । वर्णु—**वार्णवः** (अण्) । कश्मीर—**काश्मीर । काश्मीरा ह्येते नेहरु-सप्रु-प्रभृतयो लोकनायकाः । तक्षशिलाऽभिजनोऽस्य ताक्षशिलः** । अञ् ।

छण्—शलातुरम् अभिजनोऽस्य भगवतः पाणिनेः शालातुरीयः[6] ।

अण्, घ—स्रुघ्नो भक्तिरस्य=स्रौघ्नः[4] । यथाविहित प्राग्दीव्यतीय अण् । मथुरा भक्तिरस्य=**माथुरः** । राष्ट्रं भक्तिरस्य **राष्ट्रियः** । घ । भक्ति शब्द में क्तिन् कर्म में है—भज्यते सेव्यते इति भक्तिः ।

ठक्—देश काल से भिन्न अचेतनपदार्थवाची से 'सोऽस्य भक्तिः' इस अर्थ में ठक्[5]—अपूपा भक्तिरस्य=**आपूपिकः**, पूओं को सप्रेम सेवन करने वाला । शष्कुलयो भक्तिरस्य=**शाष्कुलिकः**, कचौरियों का प्यारा । पयो भक्तिरस्य=**पायसिकः**, दूध का प्यारा ।

---

१. सोऽस्य निवासः (४।३।८९) ।
२. अभिजनश्च (८।३।९०) ।
३. सिन्धु-तक्षशिलाभ्यो ऽणञौ (८३।९१) ।
४. भक्तिः (४।३।९५) ।
५. अचित्ताददेश-कालाट्ठक् (४।३।९६) ।

ठञ्—महाराजो भक्तिरस्य **माहाराजिकः**[1]। प्रत्यय-भेद स्वर के लिए है। ठञ् के ञित् होने से 'माहाराजिक' आद्युदात्त होगा।

वुन्—वासुदेवो भक्तिरस्य **वासुदेवकः**। कृष्णभक्त। अर्जुनो भक्तिरस्य **अर्जुनकः**।[2]।

जो जनपदिन्=क्षत्रिय-वाची शब्द बहुवचन में जनपद शब्द के साथ समानश्रुति हैं, जैसे अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र, उनसे सोऽस्य भक्तिः' अर्थ में वे ही प्रत्यय होते हैं जो जनपद-तदवध्योः(४।२।१२४) इस अधिकार में तत्र जातः, तत्र भवः, सोऽस्य भक्तिः आदि अर्थों में जनपदवाची शब्दों से विधान किए हैं—जैसे अङ्गा जनपदो भक्तिरस्येत्याङ्गकः। वाङ्गकः। कालिङ्गकः। सौह्मकः। पौण्ड्रकः में अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् (४।२।१२५) से वुञ् हुआ वैसे ही **अङ्गाः** (जनपदिनः) क्षत्रिया **भक्तिरस्येत्याङ्गकः। वाङ्गकः। कालिङ्गकः। सौह्मकः। पौण्ड्रकः** में भी वुञ् होता है। जैसे मद्रा जनपदो भक्तिरस्येति मद्रकः। वृजयो जनपदो भक्तिरस्येति वृजिकः। यहाँ मद्रवृज्योः (४।२।१३१) से कन् हुआ वैसे ही मद्रा जनपदिनः क्षत्रिया भक्तिरस्येति **मद्रकः** इत्यादि में भी कन् होता है। सूत्र में 'वति' सर्वसादृश्य के लिए है। इससे न केवल प्रत्यय का अतिदेश है, प्रकृति का भी। अतः आङ्गः क्षत्रियो भक्तिरस्य। यहाँ भी वुञ् 'अङ्ग' से होगा, न कि 'आङ्ग' से। इसी प्रकार माद्रः क्षत्रियो भक्तिरस्य—यहाँ भी कन् (अतिदिष्ट) 'मद्र' (जो जनपदवाची से भक्ति अर्थ में प्रत्ययविधान की प्रकृति है) से ही होगा न कि 'माद्र' से —मद्रकः। वार्ज्यो भक्तिरस्य=वृजिकः। मद्र से द्व्यञ्-मगध-कलिङ्ग-सूरमसाद् अण् (४।१।१७०) से अपत्यार्थ में अण् होता है। वृजि से वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् (४।१।१७१) से ञ्यङ्। वृजेरपत्यं पुमान् वार्ज्यः। बहुवचन में अण् व ञ्यङ् की 'तद्राज' संज्ञा होने से इनका लुक् हो जाता है। मद्राः। वृजयः।[4]

---

१. महाराजाट्ठञ् (४।३।९७)।
२. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४।३।९८)।
३. जनपदिनां जनपदवत् सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने (४।३।१००)।
४. अङ्गानां क्षत्रियाणां निवासो जनपदः=अङ्गाः। सोऽस्य निवासः। जनपदे लुप्। निवास अर्थ में आए हुए अण् का जनपद वाच्य होने पर लुप् हो जाता है। लुबन्त के लिंग व वचन वे ही होते हैं जो प्रकृति के।

अण्, छ—तेन प्रोक्तम् इस अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।[1] अध्यापनेनार्थव्याख्यानेन वा प्रकर्षेण उक्तं प्रोक्तम्। अन्येन कृतां माथुरेण प्रोक्ता **माथुरी** वृत्तिः। कलापिनोऽण् (४।३।१०८) में अण्ग्रहण अधिक विधान के लिए है ऐसा मानकर यहाँ 'छ' के विषय में अण् हुआ है। आपिशलिना प्रोक्तम् **आपिशलम्**। काशकृत्स्निना प्रोक्तं **काशकृत्स्नम्**। इन दोनों में इञश्च (४।२।११२) से अण् हुआ है। पाणिनिना प्रोक्तं **पाणिनीयम्**। वृद्धाच्छः।

छण्—तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक, उख से 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में[2]—तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते **तैत्तिरीयाः**। **वारतन्तवीयाः**। **खाण्डिकीयाः**। **औखीयाः**। जो प्रोक्त हो वह छन्दस्=वेद हो तभी यह प्रत्ययविधि है। श्लोकादि प्रोक्त होने पर छण् प्रत्यय नहीं होगा। अण् भी नहीं होगा। अनभिधानात्, ऐसा व्यवहार न होने से।

इस सूत्र को तथा प्रोक्त-प्रत्ययविषयक अगले सूत्रों को शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६) यहाँ पढ़ना चाहिए ताकि छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६) से प्रोक्त प्रत्ययान्तों का अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्ययान्त होकर ही प्रयोग हो, स्वतन्त्र प्रयोग मत हो। ऐसा ही उदाहरणों से स्पष्ट है। सूत्र में तद् शब्द से अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय का परामर्श है। विषय का 'अन्यत्राभाव' अर्थ है।

णिनि—काश्यपेन प्रोक्तं सूत्रमधीयते=काश्यपिनः। कौशिकेन प्रोक्तं सूत्रमधीयते कौशिकिनः[3]। यहाँ भी इस सूत्र के छन्दोऽधिकारस्थ होने से तद्विषयता होती है। यद्यपि जो प्रोक्त है वह छन्द नहीं। प्रोक्त-प्रत्ययान्त से परे अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

कलापिन् तथा वैशम्पायन के शिष्यों के वाचक शब्दों से तेन प्रोक्तम् अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है और प्रोक्त प्रत्ययान्त से अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय का लुक् हो जाता है[4]—कलापिन् के शिष्य (अन्तेवासिन्) चार हैं—हरिद्रु, छगलिन्, तुम्बुरु, उलप। वैशम्पायन के नौ हैं—

---

१. तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१)।
२. तित्तिरि-वरतन्तु-खण्डिकोखाच्छण् (४।३।१०२)।
३. काश्यप-कौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः (४।३।१०३)।
४. कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४)। प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६४)।

आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ, कलापिन्। यद्यपि कलापिन् वैशम्पायन का अन्तेवासी है, इसलिए जो कलापिन् के अन्तेवासी हैं वे वैशम्पायन के भी अन्तेवासी हैं, पर कलापिन् के शिष्यों का पृथक् ग्रहण किया है, इससे सूत्र में साक्षात् शिष्यों का ही ग्रहण इष्ट है, शिष्य के शिष्यों का नहीं ऐसा ज्ञापित होता है। **हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः।** और्गुणः। **तौम्बुरविणः। औलपिनः। छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिनः** (ढिनुक्)। **आलम्बिना प्रोक्तमधीयते आलम्बिनः। पालङ्गिनः। कामलिनः। आर्चाभिनः।** ऋचाभ से प्रोक्तार्थ में णिनि। **आरुणिनः। ताण्डिनः।** ताण्ड्य से प्रोक्तार्थ में णिनि। अपत्यार्थ में आए 'यञ्' का लोप। **श्यामायनिनः। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः।** 'कठ' से प्रोक्त-प्रत्यय का लुक् आगे कहेंगे।

चिरन्तन मुनि से प्रोक्त होने पर णिनि, यद्यपि जो प्रोक्त हो वह चाहे ब्राह्मण हो चाहे कल्प[1]—**भल्लुना प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लविनः। शाट्यायनेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते शाट्यायनिनः। ऐतरेयेण प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ऐतरेयिणः।** प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्दस् तथा ब्राह्मणों की तद्विषयता है, न कि 'कल्प' की भी। अतः **पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः=पैङ्गी। अरुणपराजेन प्रोक्तः कल्पः=आरुणपराजी। याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि=याज्ञवल्कानि।** काशिकावृत्ति के अनुसार याज्ञवल्क्यादि चिरन्तनमुनि नहीं हैं क्योंकि ऐसा भारतादि आख्यानों में कथन है। और इस कथन का आलम्बन करके सूत्रकार 'प्रोक्त' को 'पुराण' से विशिष्ट कर रहे हैं। यद्यपि याज्ञवल्क्य-प्रोक्त ब्राह्मण भी दूसरे ब्राह्मणों के समकाल हैं। याज्ञवल्क्य गोत्रप्रत्ययान्त कण्वादि है, अतः 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' से (अण्) हुआ। णिनि न हो पर तद्विषयता क्यों न हो। प्रोक्तार्थ ब्राह्मण होने पर 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में जो णिनि विधान किया है उसी की तद्विषयता है। गोत्रप्रत्ययान्त 'याज्ञवल्क्य' से तो कण्वादि होने से 'तस्येदम्' इस अर्थ में अण् हुआ है वह शैषिक होने से प्रोक्तार्थ को भी कह देगा। साक्षात् ब्राह्मण प्रोक्तार्थ में प्रत्यय विधान नहीं।

शौनकादि शब्दों से 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में, यदि जो प्रोक्त है वह छन्दः हो[2]—**शौनकेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते शौनकिनः। वाजसनेयेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते**

१. पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु (४।३।१०५)।

२. शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६)।

वाजसनेयिनः । कठशाठाभ्यां प्रोक्तमधीयते काठशाठिनः । खाडायनेन प्रोक्तं छन्दोधीयते खाडायनिनः । तलवकारेण प्रोक्तं छन्दोऽधीयते तालवकारिणः । आदि वृद्धि ।

प्रत्यय-लुक्—कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । यहाँ प्रोक्त प्रत्यय का भी लुक् होता है ।[1] चरक वैशम्पायन का नाम है । **चरकेण प्रोक्तमधीयते चरकाः ।** प्रोक्त प्रत्यय का भी लुक् । अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय का तो प्रोक्त प्रत्ययान्त से लुक् हुआ ही करता है ।

अण्—कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः[2] । इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव प्राप्त था पर 'नान्तस्य टि-लोपे सब्रह्मचारि-पीठसर्पि-कलापि-कौथुमि-तैतलि-जाजलि-जाङ्गलि-लाङ्गलि-शिलालि-शिखण्डि-सूकरसद्म-सुपर्वणा-मुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से टि-लोप होता है । वार्तिक में पढ़े सब्रह्मचारिन् आदि सभी इन्नन्त हैं । केवल सूकरसद्मन् और सुपर्वन् (=देवता) अन्नन्त है । सूत्र में अण् विधान अधिक विधान के लिए है । 'कलापिनः' इतना कहने पर भी जो प्राग्दीव्यतीय अण् कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४) से विहित णिनि से बाधित हो गया, वही होना था, तो फिर जो इस सूत्र में अण् ग्रहण किया है वह अधिक विधान के लिए है, अर्थात् जहाँ प्राप्त नहीं वहाँ भी कुछेक लक्ष्यों में होता है—**मुदेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते मौदाः । पिप्पलादेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते पैप्पलादाः । शाकल्येन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते शाकलाः ।** आपत्य यञ् का लोप । **जाजलिना प्रोक्तं छन्दोधीयते जाजलाः ।** प्रकृतिभाव का वार्तिकोक्त अपवाद टिलोप ।

ढिनुक्—छगलिन् शब्द से[3]—**छगलिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते छागलेयिनः ।** 'ढ' को एय् । एयिन् प्रत्यय है । 'नस्तद्धिते' से टिलोप ।

णिनि—पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं (ब्रह्मसूत्रं वेदान्तशास्त्रम्) **अधीयते पाराशरिणः ।**[4] आपत्य यञ् का लोप । **शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमधीयते शैलालिनः ।** टिलोप । सूत्रों को भी छन्दः मानकर यहाँ तद्विषयता होती है,

---

१. कठचरकाल्लुक् (४।३।१०७) ।
२. कलापिनोऽण् (४।३।१०८) ।
३. छगलिनो ढिनुक् (४।३।१०९) ।
४. पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षु-नट-सूत्रयोः (४।३।११०) ।

प्रोक्त-प्रत्ययान्त का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। यदि जो प्रोक्त है वह भिक्षु-सूत्र अथवा नटसूत्र नहीं है तो णिनि नहीं होगा और तद्विषयता भी नहीं होगी —पाराशर्येण प्रोक्तं धर्मशास्त्रं पाराशरम्। कण्वाद्यण्। शिलालिना प्रोक्तम् =शैलालम्। अण् (प्राग्दीव्यतीय)। इन्नन्त होने से अण् प्रत्यय परे प्रकृति-भाव प्राप्त था, पर नान्तस्य टिलोपे—इत्यादि वार्तिक से टिलोप हो जाता है।

इनि—कर्सन्द, कृशाश्व से[1]—**कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः। कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनो नटाः**। यहाँ भी तद्विषयता होती है।

प्रोक्ताधिकार समाप्त।

अण्—तेनैक दिक्(४।३।११२) उसके साथ समान दिशा वाला, इस अर्थ में तृतीयान्त से यथाविहित अण् प्रत्यय होता है[2]—**सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक् =सौदामनी**। अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव। सौदामनी=विद्युत्। **हिमवता एकदिक्=हैमवती**।

तसि—तेनैकदिक् अर्थ में तसि प्रत्यय भी होता हैं।[3] तसिप्रत्ययान्त अव्यय होता है—**सुदामतः। हिमवत्तः**।

यत्, तसि—उरस् से 'तेनैकदिक्' इस अर्थ में[4]—**उरस्यः। उरस्तः**।

तेनोपज्ञातम् (उसने पहली बार बिना दूसरे से सीखे जाना) इस अर्थ में यथाविहित अण्, छ आदि प्रत्यय होते हैं[5]—**पाणिनिना उपज्ञातम् आदौ ज्ञातं स्वयमेव सम्बद्धमकालकं व्याकरणम् पाणिनीयम्**। वृद्धाच्छः। पाणिनीय व्याकरण को 'अकालक' इसलिए कहा है क्योंकि इसमें वर्तमान कालादि का लक्षण नहीं किया। **काशकृत्स्निना उपज्ञातं गुरुलाघवम्=काशकृत्स्नम्**। अण्। गुरुलाघवम् नाम का अर्थशास्त्र था जिसमें उपायों की गुरुता लघुता पर विचार किया गया था। **आपिशलिना उपज्ञातं दुष्करणं व्याकरणम् आपिशलम्**। अण्। जैसे पाणिनीय व्याकरण में गणादि की समाप्ति को 'वृत्' से संकेतित किया जाता है वैसे ही आपिशल व्याकरण में 'दुप्' शब्द से किया जाता था।

---

१. कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः (४।३।१११)।
२. तेनैकदिक् (५।३।११२)।
३. तसिश्च (४।३।११३)।
४. उरसो यच्च (४।३।११४)।
५. उपज्ञाते (४।३।११५)।

अण् आदि—'तेन कृते ग्रन्थे' उससे ग्रन्थ बनाया गया' इस अर्थ में यथा-विहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं[1]—**वररुचिना कृताः श्लोकाः=वाररुचाः। वाररुचं काव्यम्।**

मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधु।[2] **सरघाभिः कृतं सारघम् मधु। पुत्तिकाभिः कृतं पौत्तिकम् मधु।** ये सब मधु की संज्ञाएँ हैं।

वुञ्—कुलाल आदि शब्दों से[3]—**कुलालेन कृतं कौलालकम्। वरुडेन कृतं वारुडकम्। निषादेन कृतं नैषादकम्। चण्डालेन कृतं चाण्डालकम्। कर्मारेण कृतं कार्मारकम्।** कर्मार=लोहार।

अञ्—क्षुद्रा (छोटी शहद की मक्खी), भ्रमर, वटर, पादप से[4]—**क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रं मधु। भ्रमरैः कृतं भ्रामरम्। वटरैः कृतं वाटरम्। पादपेन कृतं पादपम्।** वटर=सुगन्धि घास।

अण् आदि तथा घादि—'तस्येदम्' इस अर्थ में अण् आदि पञ्च महोत्सर्ग (अण्, अञ्, ण्य, नञ्, स्नञ्) तथा घ आदि प्रत्यय यथाविहित होते हैं[5]—**उपगोरिदम् औपगवम्।** कपटु—**कपटोरिदं कापटवम्। दशतय ऋग्वेदः। तस्येयं दाशतयी ऋक्।** अण्। **राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियम्।** घ। **अवारपारयोरिदम् अवारपारीणम्।** ख। देवदत्तस्यानन्तरम् इत्यादि अर्थ में प्रत्यय नहीं होगा। अनभिधानात्। व्यवहार न होने से। **संवोढुः स्वं सांवहित्रम्।** यहाँ तृच् को इट् आगम का वार्तिकद्वारा विधान किया है।[6] अण् तो सिद्ध है। ढत्वादि के असिद्ध होने से पहले इट् होगा। इट् होने पर ढत्वादि का निमित्त न रहेगा तो वे नहीं होंगे। संवोढृ=संयन्तृ, सारथि।

अग्निमिन्धे इत्यग्नीत्। **अग्नीधः शरणं (गृहम्)=आग्नीध्रम्।**[7] रण् (र) प्रत्यय। प्रत्यय परे होने पर पूर्व की 'भ' संज्ञा। जिससे 'ध्' को जश्त्व (द्) न हुआ।

---

१. कृते ग्रन्थे (४।३।११६)।
२. संज्ञायाम् (४।३।११७)।
३. कुलालादिभ्यो वुञ् (४।३।११८)।
४. क्षुद्रा-भ्रमर-वटर-पादपादञ् (४।३।११९)।
५. तस्येदम् (४।३।१२०)।
६. वहेस्तुरण् इट् च (वा०)।
७. अग्नीधः शरणे रण् भं च (वा०)।

समिधाम् अयम् आधानो मन्त्रः=सामिधेन्यः।[1] समिध्यतेऽनयेति समित्। सम्पदादि होने से करणे क्विप्। आधीयतेऽनेनेति आधानः। करणे ल्युट्। यहाँ षेण्यण् (एन्य) प्रत्यय हुआ। णित् होने से आदि वृद्धि। षित् होने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष्—**सामिधेनी ऋक्**। हलस्तद्धितस्य से य-लोप।

मा दम्पती पौत्रमघं निगाताम् (अथर्व० १२।३।१४)। **पुत्त्रस्येदं पौत्रम्।** अघं=व्यसनं=विनाशम्। **शुनोऽयं संकोचः शौवः।** यहाँ वार्तिक से अन् (टि) का लोप हुआ। द्वारादीनां च (७।३।४) से ऐच् आगम। **स्वरस्येयं सप्तमी=सौवरी सप्तमी।** सौवर्यः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यः। **समन्तायाः स्वदेशाव्यवहिताया भूमे राजा सामन्तः। पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी** (मनु० ३।१४६)। **सप्तपुरुषाणामियं साप्तपौरुषी।** द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से द्विगुनिमित्त तद्धित का लुक् नहीं किया। स्वच्छन्दवाच ऋषयः।

यत्—रथस्येदं रथ्यम्[2], रथ का चक्र अथवा युग।

अञ्—पत्त्रपूर्वक रथ से अञ्[3]। पत्त्र अश्वादि वाहन को कहते हैं। पत्त्र शब्द से अश्वादि का ग्रहण है। **अश्वरथस्येदम्=आश्वरथम्।** अञ्। यत् का अपवाद। **औष्ट्ररथम्। गार्दभरथम्।**

पत्त्र=वाहन, तद्वाची प्रातिपदिक से, अध्वर्यु, परिषद् से 'तस्येदम्' अर्थ में अञ्[4]। **अश्वस्येदं वाह्यम्=आश्वम्,** जिसे घोड़ा ढो सकता है या खींच सकता है। **औष्ट्रम्। गार्दभम्** (गर्दभस्य वहनीयम्)। **अध्वर्योर् इदं कर्मादि आध्वर्यवम्। परिषद इयं कृतिः पारिषदी।**

ठक्—हलस्येदं हालिकम्[5]। **सीरस्येदं सैरिकम्।** सीर=हल।

वुन्—द्वन्द्व से वैर तथा मैथुनिका (विवाह-सम्बन्ध) अर्थ में[6]—बाभ्रव्य=गर्गादि यञन्त। बहुवचन में बभ्रवः। बभ्रवश्च शालङ्कायनाश्च बाभ्रव्यशालङ्कायनाः, **तेषां वैरं बाभ्रव्यशालङ्कायनिका।** काकाश्च उलूकाश्च=

---

१. समिधामाधाने षेण्यण् (वा०)।
२. रथाद्यत् (४।३।१२१)।
३. पत्त्रपूर्वादञ् (४।३।१२२)।
४. पत्त्राध्वर्यु-परिषदश्च (४।३।१२३)। पत्त्राद् वाह्ये (वा०)।
५. हल-सीराट्ठक् (४।३।१२४)।
६. द्वन्द्वाद् वुन् वैर-मैथुनिकयोः (४।३।१२५)। वैरे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।

काकोलूकम्, तस्य **वैरं काकोलूकिका**। 'वैर' यद्यपि नपुं० है, वुन्नन्त स्वभाव से स्त्रीलिंग होते हैं।

मैथुनिका—अत्रयश्च भरद्वाजाश्च=अत्रिभरद्वाजाः, **तेषां मैथुनिका विवाहसम्बन्धः=अत्रिभरद्वाजिका**। कुत्साश्च कुशिकाश्च=कुत्सकुशिकाः, **तेषां मैथुनिका=कुत्सकुशिकिका**। पर **देवासुराणां वैरं दैवासुरम्**। यहाँ वुञ् नहीं होता, अण् होता है।

वुञ्—गोत्रवाची तथा चरणवाची प्रातिपदिक से 'तस्येदम्' अर्थ में[1]—**औपगवस्येदम् औपगवकम्**। अपत्याधिकार से अन्यत्र गोत्र से अपत्यमात्र लिया जाता है। चरण=शाखाध्येता। चरणवाची से धर्म तथा आम्नाय (=वेद शाखा) अर्थ में ही प्रत्यय इष्ट है—**कठानां धर्म आम्नायो वा काठकम्। कालापानां धर्म आम्नायो वा कालापकम्**। ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं चाधीयते (भाष्य)। **मौदानां धर्म आम्नायो वा मौदकम्। पैप्पलादानां धर्म आम्नायो वा पैप्पलादकम्**।

अण्—तस्येदम् इस अर्थ के विशेषणभूत सङ्घ, अङ्क, लक्षण के वाच्य होने पर अञन्त, यञन्त तथा इञन्त से अण्[2]—बिदानां सङ्घः=**बैदः**। अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (४।१।१०४) से ऋषिवाचक 'बिद' से गोत्रापत्य में अञ्। अञन्त बैद से अण्। **बैदोङ्कः**। **बैदं लक्षणम्**। वार्तिककार के अनुसार घोष (=आभीर पल्ली) वाच्य होने पर भी अञन्त से अण् होता है—**बैदो घोषः**। यञन्त गार्ग्य से भी—गर्गाणां सङ्घः=**गार्गः**। आपत्य तद्धित का लुक्। गार्गोङ्कः। गार्गं लक्षणम्। गार्गो घोषः। इञन्त से भी—दक्षस्यापत्यं दाक्षिः। इञ्। **दाक्षीणां संघो दाक्षः। दाक्षोङ्कः। दाक्षं लक्षणम्। दाक्षो घोषः**। अङ्क और लक्षण में क्या भेद है। लक्षण तो लक्ष्य की अपनी वस्तु होती है जैसे बैद लोगों की विद्या उनका लक्षण (चिह्न) है, यह दूसरों से भेद करने वाली वस्तु उनकी अपनी है। अङ्क (चिह्न) गौ आदि के शरीर पर होता हुआ भी उनकी अपनी वस्तु नहीं है।

अण्, वुञ्—शाकल से सङ्घादि अर्थों में अण् विकल्प से होता है, पक्ष

१. गोत्र-चरणाद् वुञ् (४।३।१२६)। चरणाद् धर्माम्नाययोरिष्यते (इ०)।

२. सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञ्-इञामण् (४।३।१२७)।

में चरणवाची होने से गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) से वुञ्[1]—शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकलाः। शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः। दोनों तरह से 'शाकल' शब्द की व्युत्पत्ति हो सकती है। शाकल शब्द चरणवाची है। **शाकलानां सङ्घः शाकलः। शाकलकः। शाकलोऽङ्कः। शाकलकोऽङ्कः। शाकलं लक्षणम्। शाकलकं लक्षणम्।** चरणवाची से धर्म तथा आम्नाय अर्थ में प्रत्यय इष्ट है—**शाकलो धर्मः। शाकलको धर्मः। शाकल आम्नायः। शाकलक आम्नायः।**

ञ्य—छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच, नट से तस्येदम् इस अर्थ में[2]। छन्दोग आदि चरणवाची हैं उनके साथ नट शब्द पढ़ा हुआ है जो चरण-वाची नहीं है। चरणवाचियों से धर्म तथा आम्नाय वाच्य होने पर प्रत्यय होता है, 'नट' से भी इन्हीं अर्थों में—**छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम्।** औक्थिक्यमधीते औक्थिकः। **औक्थिकानां धर्म आम्नायो वा औक्थिक्यम्।** यज्ञमधीते वेद वा याज्ञिकः। **याज्ञिकानां धर्म आम्नायो वा याज्ञिक्यम्।** बह्वय ऋचः सन्त्येषां ते बह्वृचाः। **बह्वृचानां धर्म आम्नायो वा बाह्वृच्यम्। नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम्।**

वार्तिककार के अनुसार तस्येदम् अर्थ में 'आथर्वणिक' से अण् होता है, तथा इसके 'इक' का लोप हो जाता है[3]—'आथर्वणिक' चरणवाची शब्द है। **आथर्वणिकस्यायं धर्म आम्नायो वा आथर्वणः।**

यहाँ शैषिक प्रकरण समाप्त हुआ।

विकारावयवार्थक तद्धित

अण्—'तस्य विकारः' इस अर्थ में षष्ठयन्त से[4]—**अश्मनो विकार आश्मः, आश्मनः।** 'अश्मनो विकारे टि-लोपो वा वक्तव्यः' इस वार्तिक[5] से अन् (६।४।१६७) से नित्य प्रकृतिभाव न होकर पाक्षिक टि-लोप होता है। प्रकृति (कारण) के अवस्थान्तर=अन्यथाभाव, परिवर्तन को विकार कहते

---

१. छन्दोगौक्थिक-याज्ञिक-बह्वृच-नटाञ्ञ्यः (४।३।१२९)।
२. आथर्वणिकस्येकलोपश्च (वा०)।
३. शाकलाद् वा (४।३।१२८)।
४. तस्य विकारः (४।३।१३४)।
५. अश्मनो विकारे टिलोपो वा वक्तव्यः (वा०)।

हैं। **भस्मनो विकारः=भास्मनः**। यहाँ प्रकृतिभाव होता है। अश्मन्, भस्मन्—दोनों अप्राणी हैं, अवृद्ध (आदि में वृद्धि-रहित) तथा मनिन्प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त हैं। अतः इनसे वक्ष्यमाण अञ्, मयट् तो हो नहीं सकते। औत्सर्गिक अण् होता है। **मृत्तिकाया विकारः=मार्त्तिकः**। यहाँ भी प्रत्यय तिकन् के नित् होने से आदिभूत 'ऋ' उदात्त है। **चपस्य विकारः=चापम्**। **कृमुकस्य विकारः=कार्मुकम्** (धनुष्)। धनुष उपादानभूतः सारवान् वृक्षविशेषः क्रमुक इति सायणः। **सा** (समित्) **कार्मुकी स्यात्** (श० ब्रा० ६।६। २।११)। **चर्मणो विकारः कोशः=चार्मः**। यहाँ टि-लोप होता है।[१] **शिलाया विकारः शैली प्रतिमा**, पत्थर की मूर्ति। **हिरण्यस्य विकारः=हैरण्यम्**। **हैरण्य कक्षग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान्** (रा० १।५३।१७)। शेषाधिकार की निवृत्ति हो जाने से 'घ' आदि प्रत्यय विकार तथा अवयव अर्थों में नहीं होते—**हलस्यायमवयवो विकारो वा हालः**। **सीरस्यायमवयवो विकारो वा सैरः**। अण्। शैषिक ठक् नहीं हुआ।

प्राणी, ओषधि, वृक्षवाची शब्दों से विकार तथा अवयव अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं[१]—प्राणियों से अञ् विधान करेंगे—**कपोतस्य विकारोऽवयवो वा=कापोतः**। **मयूरस्य विकारोऽवयवो वा=मायूरः**। **तैत्तिरः**। ओषधि—**मूर्वाया विकारो मौर्वी=ज्या**। **मौर्वं भस्म**। **मौर्वं काण्डम्**। मूर्वा शब्द तृणवाची द्व्यच्क होने से आद्युदात्त है। सो औत्सर्गिक अण् हुआ। वृक्ष—**खदिरस्य विकारोऽवयवो वा खादिरः**। पलाशादियों में खदिर पढ़ा है। सो इससे पाक्षिक अञ् होता है। इससे आगे दोनों अर्थों में प्रत्यय होते हैं। पर प्राणी, ओषधि तथा वृक्षों से ही, अन्यत्र केवल विकार अर्थ में ही।

अण्—बिल्व आदि शब्दों से विकार, अवयव में अण्[२]—**बिल्वस्यावयवो विकारो वा बैल्वः**। व्रीहि—**व्रैहः**। मुद्ग—**मौदगः**। कर्पासी—**कार्पासः**। वेणु—**वैणवः**। अञ् तथा मयट् का यथायोग अपवाद। यहाँ पाटली (जातिलक्षण ङीषन्त) पढ़ा है उससे अनुदात्तादिलक्षण अञ् प्राप्त हुआ उसे वृद्ध होने से मयट् ने बाधा। मयट् को बाधने के लिए अण् का विधान किया है। **पाटलः**।

ककारोपध से विकार अवयव अर्थों में[३]—तर्कु—**तार्कवम्**। तिन्तिडीक

---

१. अवयवे च प्राण्योषधि-वृक्षेभ्यः (४।३।१३५)।

२. बिल्वादिभ्योऽण् (४।३।१३६)।

३. कोपधाच्च (४।३।१३७)।

--**तैन्तिडीकम्** । तिन्तिडीक इमली का नाम है । मण्डूक--**माण्डूकम्** । दर्दरूक--**दार्दरूकम्** । मधूक--**माधूकम्** । मधूक=महोवा । तर्कु से उकारान्त होने से अञ् प्राप्त था । तिन्तिडीकादि मध्योदात्त होने से अनुदात्तादि हैं, सो इनसे भी अञ् प्राप्त था । उसका अपवाद अण् विधान किया है ।

त्रपु, जतु से अण्, प्रत्यय-संनियोग से इन्हें षुक् आगम भी[1]--**त्रपुणो विकारः=त्रापुषम्** । जतुनो विकारः=**जातुषम्** । जतु=लाक्षा=लाख । **त्रापुषाणि पात्राण्यनार्या उपयुञ्जते । जातुषा अलंकारा वह्नितापं न सहन्ते ।**

अञ्--उकारान्त प्रातिपदिक से[2]--देवदारु--**देवदारोर्विकारोऽवयवो वा=दैवदारवम्** । **भद्रदारोर्विकारोऽवयवो वा भाद्रदारवम्** । देवदारु तथा भद्रदारु दोनों आद्युदात्त हैं ।

अनुदात्तादि प्रातिपदिक से[3]--**कपित्थस्य विकारोऽवयवो वा कापित्थम्** ।

पलाश आदि प्रातिपदिकों से विकल्प से[4]--**पलाशस्य विकारोऽवयवो वा पालाशम्** । **खादिरम्** । **यावासम्** । शिंशपा--**शिंशपाया विकारोऽवयवो वा शांशपः** । **शांशपश्चमसः** । शिंशपा के आदि अच् को वृद्धि प्रसंग में 'आ' होता है । देविकाशिंशपा--(७।३।१) । यह उभयत्र विभाषा है । पलाश, खदिर, शिंशपा, स्यन्दन इनके अनुदात्तादि होने से अञ् प्राप्त था औरों से अप्राप्त था ।

ट्लञ्--शमी से विकार अवयव अर्थों में[5]--**शामीलं भस्म** । **शामीली स्रुक्** । दीक्षित 'शम्याः ष्लञ्, ऐसा सूत्रपाठ स्वीकार करते हैं ।

मयट्--प्रकृतिमात्र से विकार, अवयव अर्थ में मयट् (मय) विकल्प से होता है यदि भक्ष्य तथा आच्छादन वाच्य न हो[6]--**अश्मनो विकारः=अश्ममयम्** । **आश्मनम्** । **आश्मम्** (टिलोप) । **मूर्वामयम्** । **मौर्वम्** । **मौद्गः सूपः** । **मुद्गानां विकारः** । भक्ष्य होने से मयट् नहीं हुआ । बिल्वादि होने से अण् हुआ है । **कार्पासमाच्छादनम्** । **कृपास्या विकारः=कार्पासम्** । **कपोत-**

---

१. त्रपु-जतुनोः षुक् (४।३।१३८) ।

२. ओरञ् (४।३।१३९) ।

३. अनुदात्तादेश्च (४।३।१४०) ।

४. पलाशादिभ्यो वा (४।३।१४१) ।

५. शम्याष्ट्लञ् (४।३।१४२) ।

६. मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः (४।३।१४३) ।

वैदूर्यान् काञ्चनान्दान्ताम् .... लौहिताक्षांश्च निर्वत्स्यो मनोरमान् (भा० विराट० २।२५)।

मयम् । **कापोतम्** । **मयूरमयम्** । **मायूरम्** । **लौहम्** । रजतादि होने से अञ् ।

वृद्ध प्रातिपदिक तथा शरादि शब्दों से नित्य मयट्[1]—**आम्रमयम्** । **शालमयम्** । **शाकमयम्** । **दारुमयम्** । **ईशस्य हि वशे सर्वं योषा दारुमयी यथा** (भाग० १।६।७) । **अचकात् काञ्चनमयः श्रीमुक्ताकेशवो हरिः** (राजत० ४।१९६) । पर **काञ्चनी वासयष्टिः** (मेघ०) यहाँ औत्सर्गिक अण् हुआ, अपवाद मयट् नहीं। ऐसा कहीं-कहीं हो जाता है—क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते । शर आदि शब्दों से—**शरमयम्** । **दर्भमयम्** । मृद्—**मृन्मयम्** । नत्व के असिद्ध होने से णत्व नहीं होता । अतः 'मृण्मय' यह अपशब्द है। **मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्** (ऋ० ७।८९।१) । हे वरुण राजन् मैं मिट्टी के घर को प्राप्त न होऊँ । एकाच् से नित्य मयट् इष्ट है—**त्वङ्मयम्** । **स्रङ्मयम्** । **वाङ्मयम्** ।

गो शब्द से 'तस्येदम्' अर्थ में जब प्रत्ययार्थ पुरीष हो[2]—**गोमयम्**, गोबर ।

'पिष्ट' से नित्य मयट्[3]—**पिष्टमयं भस्म** ।

कन्—'पिष्ट' से विकार अर्थ में संज्ञाविषय में कन्[4] । **पिष्टकः** । मयट् का अपवाद ।

मयट्—व्रीहि से विकार अर्थ में पुरोडाश वाच्य होने पर[5] । **व्रीहिमयः पुरोडाशः** । अन्यत्र **व्रैहम्** । बिल्वादि होने से अण् ।

तिल तथा यव शब्दों से विकार अर्थ में यदि प्रत्ययान्त संज्ञा न हो[6]—**तिलमयम्** । **यवमयम्** । संज्ञा में जो अण् होगा—**तैलम्** । **यवानां विकारो यावकः** । 'यावादिभ्यः कन्' (५।४।२९) से कन् ।

अण्—ताल आदि प्रातिपदिकों से विकार अवयव अर्थों में[7]—**तालस्य**

---

१. नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः (४।३।१४४) ।
२. गोश्च पुरीषे (४।३।१४५) ।
३. पिष्टाच्च (४।३।१४६) ।
४. संज्ञायां कन् (४।३।१४७) ।
५. व्रीहेः पुरोडाशे (४।३।१४८) ।
६. असंज्ञायां तिलयवाभ्याम् (४।३।१४९) ।
७. तालादिभ्योऽण् (४।३।१५२) ।

विकारो धनुः—तालं धनुः । 'तालाद् धनुषि' यह गणसूत्र पढ़ा है अतः धनुः से अन्यत्र यथाप्राप्त मयट् होगा—**तालमयं व्यजनम् । बर्हिणो विकारोऽवयवो वा बार्हिणम् ।** प्राणिरजतादिभ्योञ् (४।३।१५४) से अञ् । **बार्हिणस्य विकारो बार्हिणम् ।** यहाँ ञितश्च तत्प्रत्ययात् (४।३।१५५) से अञ् प्राप्त था । प्रकृत सूत्र से अण् हुआ । **इन्द्रायुधस्य विकार ऐन्द्रायुधम् ।** अण् ।

सुवर्णवाची शब्दों से परिमाण-रूप विकार में[1]—**हाटको निष्कः । हाटकं कार्षापणम् । जातरूपम् । तापनीयम् ।** तपनीय=सुवर्ण । निष्क=१६ बड़ी रत्तियाँ । कार्षापण=१६ माशे ।

अञ्—प्राणिवाची तथा रजत आदि शब्दों से विकार या अवयव अर्थ में[2] —**कापोतम् । मायूरम् । तैत्तिरम् । शुनोऽवयवो मांसं शौवम् ।** द्वारादीनां च (७।३।४) से ऐजागम । श्व-युव-मघोनामतद्धिते (६।४।१३३) में तद्धित का पर्युदास होने से यहाँ सम्प्रसारण नहीं हुआ । रजत=**राजतम् । राजती मुद्रा ।** सीस—**सैसम् ।** लोह=**लौहम् । लौह उदञ्चनः ।** उदुम्बर—**औदुम्बरम् । औदुम्बरो दण्डः ।** उदुम्बर=गूलर । विभीतक—**वैभीतकम् ।** बिभीतक=बहेड़ा । नीलदारु—**नैलदारवम् ।** पीतदारु—**पैतदारवम् ।**

विकार, अवयव अर्थ में जो भी ञित् प्रत्यय है, तदन्त से विकार, अवयव में ही पुनः अञ् होता है, मयट् नहीं ।[3] **दैवदारवस्य विकारोऽवयवो वा दैवदारवम् । पालाशस्य पालाशम् । शामीलस्य शामीलम् । कापोतस्य कापोतम् ।** इत्यादि ।

परिमाणवाची शब्दों से जो 'क्रीत' अर्थ में ठञ् आदि प्रत्यय विधान किये गये हैं वे विकार में भी होते हैं[4] । परिमाण से संख्या का भी ग्रहण है, रूढि-परिमाण का ही नहीं—जैसे, निष्केण क्रीतं नैष्किकम्, यहाँ ठञ् होता है, वैसे ही **निष्कस्य विकारो नैष्किकः**, यहाँ भी । शतेन क्रीतं शत्यम्, शतिकम् । **शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः ।**

वुञ्—उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकः[5] ।

---

१. जातरूपेभ्यः परिमाणे (४।३।१५३) ।
२. प्राणि-रजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५४) ।
३. ञितश्च तत्प्रत्ययात् (४।३।१५५) ।
४. क्रीतवत् परिमाणात् (४।३।१५६) ।
५. उष्ट्राद् वुञ् (४।३।१५७) ।

उमा (सन), ऊर्णा (ऊन) से विकल्प से वुञ्[1]—**उमाया विकारोऽवयवो वा औमकम् । औमम्** (अण्) । **ऊर्णाया विकारोऽवयवो वा और्णकम् । और्णम्** (अञ्) । **यथौर्णकानि वासांस्युष्णानि भवन्ति न तथौमकानि ।**

ढञ्—एणी=मृगी । **एण्या विकारोऽवयवो वा ऐणेयम् मांसम्**[2] । अञ् का अपवाद । पुंल्लिग 'एण' से अञ् ही होगा—**ऐणं मांसम्** ।

यत्—गो, पयस् से विकार, अवयव में[3]—**गोर्विकारोऽवयवो वा गव्यः । पयसो विकारोऽवयवो वा पयस्यः** । यत् प्रत्यय परे होने पर 'गो' के 'ओ' को वान्तो यि प्रत्यये(६।१।७६)से अवादेश हुआ । किसी भी अर्थ में अजादि प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'गो' से यत् ही होता है[4] । पर मयट् तो अजादि नहीं, अतः उसके विषय में भी यत् ही हो, इसलिए इस सूत्र का आरम्भ हुआ है ।

द्रु (=वृक्ष) से विकार या अवयव में[5]—**द्रोर्विकारोऽवयवो वा द्रव्यम्** । ओर्गुणः (६।४।१४६) । वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७६) से ओ को अवादेश यादि प्रत्यय परे होने पर ।

प्रत्यय-लुक्—विकार अथवा अवयव यदि फल हो तो प्रत्यय का लुक् हो जाता है[6]—आमलकी=आमला (वृक्ष) । **आमलक्याः फलम् आमलकम् ।** बदरी=बेर (वृक्ष) । **बदर्याः फलम् बदरम्** । तद्धित-प्रत्यय का लुक् होने से स्त्रीप्रत्यय ङीष् का भी लुक् हो जाता है । लुक् तद्धितलुकि (१।२।४६) । फल (नपुं०) वाच्य होने से आमलक आदि का नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयोग होता है ।

अण्—प्लक्ष आदि शब्दों से फल-रूप विकार अथवा अवयव-अर्थ में अण् होता है और उसका विधान-सामर्थ्य से पूर्वसूत्र से लुक् नहीं होता[7]—**प्लक्षस्य फलमवयवो विकारो वा प्लाक्षम् । न्यग्रोधस्य फलमवयवो विकारो वा**

---

१. उमोर्णयोर्वा (४।३।१५८) ।
२. एण्या ढञ् (४।३।१५६) ।
३. गोपयसोर्यत् (४।३।१६०) ।
४. गोरपत्यं गव्यः (वत्सः) । गोरिदं गव्यम् । गवि भवं गव्यम् । गौर्देवताऽस्य गव्यो बलिः ।
५. द्रोश्च (४।३।१६१) ।
६. फले लुक् (४।३।१६३) ।
७. प्लक्षादिभ्योऽण् (४।३।१६४) ।

नैयग्रोधम् । 'न्यग्रोध' में 'य' पदान्त है अतः उससे पूर्व ऐच्-आगम हुआ, आदि अच् को वृद्धि नहीं हुई । इङ्गुदी (गोंदी) । **इङ्गुद्याः फलम् ऐङ्गुदम्** ।

अण्, प्रत्यय का लुक्—जम्ब्वाः फलम् । **जाम्बवम्** (जम्बू=जामुन का फल) । प्रत्यय का लुक् करने पर **जम्ब्वाः फलं जम्बु** । **जम्ब्वाः फलानि जम्बूनि** ।[1] नपुंसक होने से ह्रस्व हो जाता है । यहाँ 'ओरञ्' से जो अञ् हुआ है उसका फल-विवक्षा में लुक् हो जाता है न कि अण् का, अन्यथा अण्-विधान व्यर्थ हो जाए ।

लुप्—फल वाच्य होने पर 'जम्बू' (स्त्री०) से विकार व अवयव अर्थ में आये हुए प्रत्यय का विकल्प से लुप् हो जाता है ।[2] 'लुप्' होने पर प्रकृति के लिङ्ग-वचन लुबन्त के होते हैं—**जम्ब्वाः फलं जम्बूः** (स्त्री०) **फलम्** । जम्बु फलम् (लुक्) । जाम्बवं फलम् । अण् ।

व्रीहि, यव, माष, मुद्ग आदि ओषधियों से भी फल में आए हुए प्रत्यय (अण्) का विकार-अवयव के फलरूप से विवक्षित होने पर लुप् होता है ।[3] **व्रीहीणां फलानि व्रीहयः । यवानां फलानि यवाः । माषाः । मुद्गाः** ।

पुष्प तथा मूल वाच्य होने पर बहुलतया प्रत्यय का लुप् होता है[4]—**मल्लिकायाः पुष्पं मल्लिका । नवमल्लिकायाः पुष्पं नवमल्लिका । विदार्या मूलं विदारी । बृहत्या मूलं बृहती** । कहीं नहीं भी होता—**पाटलायाः पुष्पाणि पाटलानि** । बिल्वादि होने से अण् और उसका लुप् नहीं हुआ । बहुल कहने से **कदम्बस्य पुष्पं कदम्बम् । अशोकस्य पुष्पम् अशोकम्** । यहाँ अनुदात्तादेरञ् से हुए अञ् का लुक् । **बैल्वानि फलानि**—यहाँ बिल्वाद्यण् का न लुक् हुआ और न लुप् ।

प्रत्यय-लुक्—हरीतकी आदि शब्दों से फल में आये हुए प्रत्यय का लुप् होता है ।[5] लुप् की प्रकृति का जो लिङ्ग वही लुबन्त का, पर वचन अभिधेय

---

१. जम्ब्वा वा (४।३।१६५) ।
२. लुप् च (४।३।१६६) ।
३. फल-पाक-शुषामुपसंख्यानम् (वा०) । फलपाकशुषः=फलपाकान्ता व्रीह्यादय ओषध्यः ।
४. पुष्पमूलेषु बहुलम् (वा०) ।
५. हरीतक्यादिभ्यश्च (४।३।१६८) ।

फल के अनुसार होता है—**हरीतक्याः फलं हरीतकी। हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः।**

यञ्, अञ्—कंसीय (कंस—छ), परशव्य (परशु—यत्) से विकार अर्थ में क्रम से यञ् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं और इनके संनियोग से कंसीय के 'छ' और परशव्य के यत् का लुक् हो जाता है[1]। **कंसाय पानपात्राय हितं कंसीयम्,** प्याला बनाने के लिए अच्छी कांसी। **कंसीयस्य विकारः=कांस्यम्।** 'छ' का लुक्। **परशवे हितम् परशव्यम्,** कुल्हाड़ा बनाने के लिए अच्छा लोहा। **परशव्यस्य विकारः=पारशवः।** यत् का लुक्।

विकारावयवार्थक तद्धित समाप्त।

ठगधिकारः (चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः)

तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् (४।४।७६)। इस सूत्र तक ठक् प्रत्यय अधिकृत है, ऐसा जानना चाहिए।

ठक् प्रकरण में मा शब्द आदि से तदाह (उसे कहता है) अर्थ में भी ठक् का विधान करना चाहिए, ऐसा वार्तिककार कहते हैं।[2] यह वाक्य से प्रत्यय-विधि है—**मा शब्दः कारि इत्याह** (शोर मत करो, यह कहता है)= **माशब्दिकः। नित्यः शब्द इत्याह=नैत्यशब्दिकः** (जो शब्द नित्य है यह कहता है अर्थात् वैयाकरण)। **कार्यः शब्द इत्याह=कार्यशब्दिकः** (जो शब्द कार्य=अनित्य है ऐसा कहता है, अर्थात् नैयायिक)। **स्वागतमित्याह स्वागतिकः।** स्वागतादीनां च (७।३।७) से ऐजागम नहीं हुआ, आदिवृद्धि ही हुई।

प्रभूत-आदि क्रियाविशेषणों से 'आह' इस अर्थ में ठक् कहना चाहिए[3]—**प्रभूतं (यथा स्यात् तथा) आह=प्राभूतिकः,** जो बहुत बोलता है। **पर्याप्तमाह =पार्याप्तिकः,** जो पर्याप्त बोलता है।

सुस्नात आदि द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पृच्छति अर्थ में[4]—**सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः,** जो पूछता है कि क्या स्नान हो चुका? **सुखशयनं पृच्छतीति सौखशायनिकः,** जो पूछता है कि शयन सुखपूर्वक तो हुआ है न?

---

१. कंसीय-परशव्ययोर्यञञौ लुक् च (४।३।१६८)।

२. ठक्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।

३. आहौ प्रभूतादिभ्यः (वा०)।

४. पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः (वा०)।

यहाँ अनुशतिकादि होने से उभयपद-वृद्धि हुई। परदार आदि द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'गच्छति' अर्थ में[1]—**परदारान् गच्छतीति पारदारिकः**, जो परस्त्रीगमन करता है। **गुरुतल्पं गच्छतीति गौरुतल्पिकः**। तल्पं शय्याट्टदारेषु —अमर। यहाँ तल्प=स्त्री।

तृतीयान्त प्रातिपदिक से दीव्यति=खेलता है, खनति=खोदता है, जयति=जीतता और जितम्=जीता गया—इन अर्थों में ठक्-प्रत्यय होता है[2]—**अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः**, जो पासों से खेलता है। **शलाकाभिर्दीव्यति= शालाकिकः**। **अभ्र्या खनति=आभ्रिकः**। अभ्रिः (स्त्री०)=काष्ठकुद्दालः, कुद्दालमात्रं वा। **कुद्दालेन खनति=कौद्दालिकः**। **अक्षैर्जितम् आक्षिकम्**, जो धनादि पासों से जीता गया वह आक्षिक है। सभी उदाहरणों में 'करण' में तृतीया विभक्ति जाननी चाहिए। देवदत्तेन जितम्—यहाँ प्रत्यय नहीं होता, कारण कि इस अर्थ को शिष्ट व्यवहार में प्रत्यय से नहीं कहा जाता।

तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' (उत्कृष्ट बनाया गया) अर्थ में[3]—दध्ना संस्कृत ओदनः=दाधिकः। **मरिचैः संस्कृतं दधि=मारिचिकम्**, काली मिरच से संस्कार किया हुआ दही। **शृङ्गवेरेण=आर्द्रकेण संस्कृतः शाकः= शार्ङ्गवेरिकः**।

अण्—कुलत्थ तथा कोपध (क उपधावाले) तृतीयान्त से[4]—**कुलत्थेन= चक्षुष्येण संस्कृतं गोधूमचूर्णम्=कौलत्थम्**। ककारोपध—**तिन्तिडीकेन संस्कृता शर्करा=तैन्तिडीकी**। यह ठक् का अपवाद है।

ठक्—तृतीयान्त से तरति (तैरता है) अर्थ में[5]—**काण्डप्लवेन तरति काण्डप्लविकः** (वृक्ष-स्कन्ध-रूप नौका से तैरता है)। **उडुपेन तरति औडुपिकः**। उडुप=नौका। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् (रघु०)।

ठञ्—गोपुच्छेन तरति गौपुच्छिकः[6], गौ की पूँछ का अवलम्बन कर जो तैरता है। प्रत्ययान्तर स्वर-भेद के लिए किया है।

---

१. गच्छतौ परदारादिभ्यः (वा०)।
२. तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२)।
३. संस्कृतम् (४।४।३)।
४. कुलत्थ-कोपधादण् (४।४।४)।
५. तरति (४।४।५)।
६. गोपुच्छाट्ठञ् (४।४।६)।

ठन्—'नौ' तथा द्वयच्क (द्वयक्षर) प्रातिपदिक से 'तरति' अर्थ में[१]—नावा तरति नाविकः। द्वयच्क—घटेन तरति घटिकः। प्लवेन तरति प्लविकः। बाहुभ्यां तरति बाहुकः। उगन्त होने से 'ठ' को 'क' आदेश। स्त्रीत्व में बाहुका। टाप्। न नदीं बाहुकस्तरेत् (नदी को बाहुओं से तैर कर पार न करे) बौधा० धर्म सूत्र २।३।२६॥ सूत्र में 'ष्' सांहितिक है (संहिता से बना है, प्रत्यय का अनुबन्ध नहीं)।

आकर्षात् पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च।
आवसथात्किशरादेः षितः षडेते ठगधिकारे॥

अर्थात्, आकर्ष से जो प्रत्यय विधान किया है, जो पर्पादि से, जो भस्त्रादि से, जो कुसीददशैकादशात् सूत्र में, जो आवसथ से और जो किशरादि प्रातिपदिकों से विधान किया है वही इस ठगधिकार में षित् है दूसरा कोई नहीं।

ठक्—तृतीयान्त से चरति (=भक्षयति, गच्छति) अर्थ में[२]—दध्ना चरति भक्षयति दाधिकः। दध्ना चरन्ति तण्डुलान् इति दाधिकाः प्रायेण दाक्षिणात्याः। हस्तिना चरति गच्छतीति हास्तिकः। हास्तिका राजस्थान-राजन्याः। शकटेन चरन्ति गच्छन्तीति शाकटिकाः कृषाणाः। विमानेन चरतीति वैमानिकः। वैमानिका देवाः। वीतंसो बन्धनोपायः, तेन चरति वैतंसिकः=व्याधः। वागुरया=जालेन चरति वागुरिकः=जालिकः।

ष्ठल्—आकर्षेण निकषोपलेन चरति व्यवहरति इत्याकर्षिकः[३]। स्त्रीत्व में आकर्षिकी। षित् होने से ङीष्। ठक् का अपवाद है।

ष्ठन्—पर्पादि प्रातिपदिकों से[४]—पर्पेण चरति पर्पिकः। येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति स पर्पः, जिस पीठ (पङ्गु पीठ) का सहारा लेकर लँगड़े चलते हैं उसे 'पर्प' कहते हैं। सूत्र में 'ष्' स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीष् के लिए है—पर्पिकी। 'न्' स्वर के लिए है। पर्पिक आद्युदात्त होगा। अश्वेन चरति अश्विकः, जो घुड़सवारी करता है। रथेन चरति रथिकः। जालेन चरति जालिकः, जो जाल से काम लेता है। पादाभ्यां चरति पदिकः, जो पैदल

१. नौ-द्वयचष्ठन् (४।४।७)।
२. चरति (४।४।८)।
३. आकर्षात्ष्ठल् (४।४।९)।
४. पर्पादिभ्यः ष्ठन् (४।४।१०)।

चलता है। यहाँ 'पाद' को 'पद्' आदेश भी होता है। ठक् का अपवाद।

ठञ्, ष्ठन्—श्वगणेन चरतीति श्वागणिकः।[1] श्वागणिकी (ङीप्)।

ष्ठन्—श्वगणिकः। श्वगणिकी(ङीष्)। जो कुत्तों के गण को साथ लेकर चलता है, व्याध, शिकारी। ठञ् प्रत्यय परे होने पर द्वारादि होने पर भी ऐजागम नहीं होता, श्वादेरिञि (७।३।८) सूत्र पर 'इकारादि ग्रहणं च कर्तव्यं श्वागणिकाद्यर्थम्' यह निषेध-वार्तिक पढ़ा है। 'एकीभूय यदेकत्र सामन्तैः सामवायिकैः। शक्तिशौचयुतैर्यानं संभूयगमनं हि तत्' (का० नी० ११।६)। **समवायेन प्रत्यंशग्रहणेन चरन्तीति सामवायिकाः।** (उपाध्यायनिरपेक्षा टीका)।

ठक्—वेतनादि तृतीयान्त शब्दों से 'जीवति' अर्थ में[2]—**वेतनेन जीवति वैतनिकः।** वेतन (=भृति=निर्वेश) से जो निर्वाह करता है वह 'वैतनिक' कहाता है। **जालेन जीवति जालिकः। धनुषा जीवति धानुष्कः।** 'ठ' को 'क' आदेश। आदि-वृद्धि। **दण्डेन जीवति दाण्डिकः। शक्त्या जीवति शाक्तिकः,** बर्छी चलाने से जो जीविका सम्पन्न करता है। उपनिषत्—**उपनिषदा जीवति औपनिषत्कः। स्रक्—स्रग्भिः स्रजां सङ्ग्रथनेन जीवति स्राग्निकः। नैकग्रामीणम-**तिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा (मनु० ३।१०३,। संगतया वृत्त्यर्थिनम् (कुल्लूक)।

ठन्—वस्न, क्रय, विक्रय से 'जीवति' अर्थ में—**वस्नेन(=मूल्येन)जीवति वस्निकः।** क्रयेण जीवति क्रयिकः, वस्तुओं के खरीदने से जीविका बनाता है, बनिया। विक्रयेण जीवति विक्रयिकः, चीजों की बिक्री करके जीविका सम्पन्न करता है। क्रयविक्रयाभ्यां जीवति क्रयविक्रयिकः, जो क्रय-विक्रय से जीता है, वणिक्। सूत्र में क्रय-विक्रय का संघात (इकट्ठा) तथा विगृहीत (जुदा-जुदा) ग्रहण विवक्षित है। ऐसे ही उदाहरण दिए हैं।

छ, ठन्—आयुधेन जीवति आयुधीयः। आयुधिकः। ठन्।[4] शस्त्राजीव, सिपाही, सैनिक।

ठक्—उत्सङ्ग आदि तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'हरति=प्रापयति=ले जाता है' अर्थ में[5]—**उत्सङ्गेन हरति=औत्सङ्गिकः,** गोद में रखकर ले जाता

---

१. श्वगणाट् ठञ् च (४।४।११)।
२. वेतनादिभ्यो जीवति (४।४।१२)।
३. वस्न-क्रय-विक्रयाट्ठन् (४।४।१३)।
४. आयुधाच्छ च (४।४।१४)।
५. हरत्युत्सङ्गादिभ्यः (४।४।१५)।

है। **उडुपेन हरति=औडुपिकः**। छोटी नाव से ले जाता है। तद्धित स्वभाव से सत्त्वप्रधान होते हैं अतः औडुपिक उडुप से देशान्तर (दूसरी जगह) पहुँचाने वाले को कहते हैं। ऐसा ही सर्वत्र समझो। **पिटकेन हरतीति पैटकिकः**, जो पिटारी में रखकर ले जाता है।

ष्ठन्—भस्त्रा आदि तृतीयान्त से 'हरति' अर्थ में[1]—**भस्त्रया हरति भस्त्रिकः**। स्त्रीत्व में भस्त्रिकी (ङीष्)। भस्त्रा=चर्ममय जलपात्र, मशक।

ष्ठन्, ठक्—विवध तथा वीवध शब्द से 'हरति' अर्थ में[2]—**विवधेन हरति विवधिकः**। स्त्री **विवधिकी** (ङीष्)। **वीवधेन हरति वीवधिकः**। **स्त्री वीवधिकी** (ङीष्)। ठक्—**विवधेन वीवधेन वा हरतीति वैवधिकः**। **स्त्री वैवधिकी** (ङीप्)। विवध, वीवध बेंहगी को कहते हैं। पर्याहारश्च मार्गश्च विवधौ वीवधौ च तौ—अमर। इस अमर वचन के अनुसार इन दोनों का 'मार्ग' अर्थ भी है।

अण्—कुटिलिका=वक्रगति अथवा लोहार की भट्ठी में से शस्त्र को खींचने के लिए प्रयुक्त लोहे की टेढ़ी यष्टिका। **कुटिलिकया हरति मृगो व्याधम्=कौटिलिको मृगः**[3], जो मृग व्याध को अपनी वक्रगति से दूर ले जाता है उसे 'कौटिलिक' कहते हैं। टेढ़ी लोहयष्टि द्वारा जो लोहार भट्ठी से अंगारों अथवा शस्त्र को बाहर खींचता है उसे भी 'कौटिलिक' यह उपाधि देते हैं। **कुटिलिकया हरत्यङ्गारान् शस्त्रं वा कौटिलिकः** कर्मारः।

ठक्—अक्षद्यूत आदि प्रातिपदिकों से 'तेन निर्वृत्तम्'(उससे बनाया गया) इस अर्थ में[4]—**अक्षद्यूतेन निर्वृत्तं वैरम् आक्षद्यूतिकम्**। पासों से जुआ खेलने से जो वैर उत्पन्न हुआ उसे 'आक्षद्यूतिक' कहेंगे। **जङ्घाप्रहृतेन** (=जङ्घा-प्रहारेण) **निर्वृत्तं वैरं जाङ्घाप्रहृतिकम्**। **जानुप्रहृतेन निर्वृत्तं वैरं जानुप्रहृतिकम्**। **गतागताभ्यां निर्वृत्तं मैत्रकं गातागतिकम्**। **यातोपयाताभ्यां निर्वृत्तः परिचयो यातोपयातिकः**। **कालेन निर्वृत्तः कृतः कालिकः**। विशेषः कालिको ऽवस्था—अमर। कार्मिके रोमबद्धे च (याज्ञ० २।१८०)। यत्र निष्पन्ने पटे

१. भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् (४।४।१६)।
२. विभाषा विवधात् (४।४।१७)। वीवधादपि वक्तव्यम् (वा०)।
३. अण् कुटिलिकायाः (४।४।१८)।
४. निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः (४।४।१९)।

चक्रस्वस्तिकादिकं सूत्रैः क्रियते तत्कार्मिकमुच्यते। **कर्मणा चित्रेण निर्मितमिति कार्मिकमुच्यते**—मिताक्षरा। कालिक तथा कार्मिक तभी सिद्ध होते हैं जब अक्षद्यूतादि को आकृतिगण माना जाए।

मप्—कृत् प्रत्यय 'क्त्रि' जो ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८) से विहित किया गया है उससे मप् (म) तद्धित-प्रत्यय नित्य आता है।[1] अर्थात् क्त्रि-प्रत्ययान्त का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता किन्तु मप्प्रत्ययान्त होकर ही होता है—डुपचष् पाके। पच् ड्वित् है इससे क्त्रिप्रत्यय होकर मप् होगा—**पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्। इमानि पक्त्रिमाणि फलानि, इमानि शलाटूनि**, ये पके हुए फल हैं और ये कच्चे। डुवप्—उप्त्रिमम्। **इम उप्त्रिमा व्रीहयः, इमे चारण्या अकृष्टपच्याः श्यामाकाः**, ये बोने से निर्वृत्त (सिद्ध) चावल हैं और ये बिना बोये उगे हुए जंगली स्वाँक हैं।

इमप्—भावप्रत्ययान्त से इमप् होता है[2]—**पाकेन निर्वृत्तम् पाकिमम्** (=पक्त्रिमम्)। **त्यागेन निर्वृत्तं त्यागिमम्। त्यागिमोऽस्य महिमा मुनेः**, इस मुनि की महिमा का आधार त्याग है। **सेकेन निर्वृत्तं सेकिमम्। सेकिमं शैत्यमस्यागारस्य**, इस कमरे में जल छिड़कने से शीतलता आई है। **कुट्टेन निर्वृत्तं कुट्टिमम्।** कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः (अमर), पक्का फर्श।

कक्, कन्—'अपमित्य' (मेङ् से ल्यबन्त) तथा 'याचित' से 'तेन निर्वृत्तम्' इस अर्थ में क्रम से कक्, कन् होते हैं[3]—**अपमित्य (=अपमाय) निर्वृत्तम् आपमित्यकम्**, जो विनिमय से सिद्ध, प्राप्त हुआ। **देवदत्तरूप्यमिदं क्षेत्रं यज्ञदत्तस्य त्वापमित्यकम्**, यह खेत पहले देवदत्त का था, पर (अब यह) बदले में दिए जाने से यज्ञदत्त का हो गया। **याचितेन याच्ञया निर्वृत्तं याचितकम्। विष्णुमित्रस्य याचितकमिदं द्रव्यं न तु तेनेदमर्जितम्।**

ठक्—'तेन संसृष्टम्' अर्थ में तृतीयान्त से[4]—**दध्ना संसृष्टं दाधिकम्।** यहाँ संस्कार की अविवक्षा में संसर्गमात्र की विवक्षा में प्रत्यय विधि है। **दाधिकोप्योदनो न स्वदते, पर्युषितत्वाद् दध्नः**, दही-मिश्रित भात भी स्वादु नहीं है, कारण कि दही बासा है। **पिप्पलीभिः संसृष्टं पयः पैप्पलिकं गुणाय**

---

१. क्त्रेर्मम्नित्यम् (४।४।२०)।

२. भावप्रत्ययान्ताद् इमप् वक्तव्यः (वा०)।

३. अपमित्य-याचिताभ्यां कक्-कनौ (४।४।२१)।

४. संसृष्टे (४।४।२२)।

भवति । शृङ्गवेरम्=आर्द्रकम् । शृङ्गवेरेण संसृष्टं शाङ्गवेरिकं शाकम् । शाङ्गवेरिकं शाकं वातिकं न भवति ।

इनि—चूर्णेन संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः ।[1]

ठक्-लुक्—लवणेन संसृष्टः सूपः=लवणः[2], सूप जिसमें नमक मिलाया गया है। इसी प्रकार **लवणं शाकम् । लवणा यवागूः ।** यहाँ लवण शब्द द्रव्यवाची है, गुणवाची नहीं। गुणवाची होने पर तो द्रव्य सूपादि के साथ अभेदोपचार से इष्ट-सिद्धि हो जाती।

अण्—मुद्गैः संसृष्ट ओदनः=मौद्गः[3], मूँग से मिला हुआ भात, खिचड़ी।

ठक्—तृतीयान्त व्यञ्जनवाची शब्दों से 'उपसिक्त' अर्थ में[4]—**दध्ना उपसिक्त ओदनो दाधिकः । सूपेनोपसिक्तः शाकः सौपिकः ।** दही का छौंक दिया गया है जिस ओदन में, वह दाधिक कहलाता है। उपसेचन तरल द्रव्य का द्रव्यान्तर पर गिराने का नाम है।

तृतीयान्त ओजस्, सहस्, अम्भस् से 'वर्तते' (प्रवृत्त होता है) अर्थ में[5]—**ओजसा वर्तते औजसिकः शूरः ।** ओजो बलम् । **सहसा वर्तते साहसिकश्चौरः । अम्भसा वर्तत आम्भसिको मत्स्यः ।** 'अम्भसा' में सहार्थ में तृतीया है।

ठक्—प्रति व अनु-पूर्वक द्वितीयान्त ईप, लोम, कूल से 'वर्तते' इस अर्थ में[6]—**प्रति—प्रतीपं** (यथा स्यात् तथा) **वर्तते इति प्रातीपिकः । अनु—अन्वीपं वर्तत इत्यान्वीपिकः । प्रतिलोमं** (यथा स्यात्तथा) **वर्तते प्रातिलोमिकः । अनुलोमं वर्तते=आनुलोमिकः ।** (अनुकूल व्यवहार करने वाला)। **प्रतिकूलं** (यथा स्यात्तथा) **वर्तत इति प्रातिकूलिकः । अनुकूलं वर्तते इत्यानुकूलिकः ।** क्रियाविशेषण भी धातुओं का कर्म होते हैं, अतः प्रतीप आदि से द्वितीया होती है।

---

१. चूर्णादिनिः (४।४।२३)।
२. लवणाल्लुक् (४।४।२४)।
३. मुद्गादण् (४।४।२५)।
४. व्यञ्जनैरुपसिक्ते (४।४।२६)।
५. ओजःसहोऽम्भसा वर्तते (४।४।२७)।
६. तत्प्रत्यनु-पूर्वमीप-लोम-कूलम् (४।४।२८)।

परिमुख (अव्ययीभाव) से 'वर्तते' इस अर्थ में[1]--**परिमुखं वर्तते पारिमुखिकः।** 'परि' वर्जन-अर्थ में है। स्वामिमुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्तते स पारिमुखिकः। जो सेवक कामचोर होने से स्वामी के सामने नहीं आता, वह 'पारिमुखिक' है। अथवा 'परि' शब्द सर्वतोभाव में है और परिमुख प्रादि समास है। परिगतो मुखं परिमुखः। यतो यतः स्वामिनो मुखं वर्तते ततस्ततो यः सेवको वर्तते स पारिमुखिकः। सूत्र में 'च' अनुक्त समुच्चय के लिए है। **परिपार्श्वं** (=पार्श्वे, विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव) **वर्तते पारिपार्श्विकः**। नाटकों में सूत्रधार का सहायक। **एवमुक्त्वा तु तान्सर्वान् राक्षसान् पारिपार्श्विकान्** (रा० ६।२१।१७)। यहाँ पारिपार्श्विक=सहायक, अनुग।

गर्ह्य (=निन्द्य) वाची द्वितीयान्त से 'प्रयच्छति' अर्थ में[2]—द्विगुणार्थं धनं द्विगुणम्। तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्, जो जिसके लिए होता है उसे उसी शब्द से कहने की रीति है। **द्विगुणं प्रयच्छति द्वैगुणिकः। त्रिगुणं प्रयच्छति त्रैगुणिकः।** जो धनिक धन को द्विगुण या त्रिगुण करने के लिए ऋण-रूप से दूसरे को देता है उसे द्वैगुणिक एवं त्रैगुणिक कहते हैं। वृद्धि (सूद) के लिए जो धन का प्रयोग करता है उसे **'वार्द्धुषिक'** कहते हैं—वृद्ध्यर्थं धनं वृद्धिः। तां प्रयच्छति। यहाँ 'वृद्धि' को 'वृधुषि' आदेश होता है। वृद्धि अर्थ में 'वृधुषि' एक स्वतन्त्र शब्द है, ऐसा भी मत है।

ष्ठन्, ष्ठच्—द्वितीयान्त कुसीद, दशैकादशन् शब्दों से 'प्रयच्छति' अर्थ में क्रम से[3]—कुसीदं वृद्धिः। तदर्थं द्रव्यमपि कुसीदम्। **कुसीदं प्रयच्छति--कुसीदिकः।** स्त्रीत्व में **कुसीदिकी** (ब्याज पर धन देने वाली स्त्री)। अन्यत्र 'कुसीद' का अर्थ 'वृद्धि के हेतु धन का प्रयोग' भी है--कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यम् (मनु० ८।१५१) पर टीकाकार कुल्लूक का वचन है--वृद्ध्या धनप्रयोगः कुसीदम्। दशैकादश शब्द से ष्ठच्--एकादशार्था दश दशैकादशशब्देनोच्यन्ते (काशिका)। एकादशार्थत्वादेकादश, ते च वस्तुतो दश चेति समासः। छोटी संख्या का समास में पूर्वनिपात होता है अतः 'दशन्' को पूर्व पढ़ा है। दस देकर ग्यारह जो लिये जाते हैं उन्हें 'दशैकादश' कहा है। **दशैकादश प्रयच्छति दशैकादशिकः।** स्त्रीत्व में **दशैकादशिकी** (ङीष्)।

---

१. परिमुखं च (४।४।२९)।

२. प्रयच्छति गर्ह्यम् (४।४।३०)।

३. कुसीद-दशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ (४।४।३१)।

ठक्—द्वितीयान्त से 'उञ्छति' (कण-कण चुनता है) अर्थ में[1]—**बदराणि** (एकैकशः) **उञ्छति=बादरिकः। श्यामाकानुञ्छति श्यामाकिकः।** यति लोग शिलोञ्छ-वृत्ति होते हैं। उन्हें ही बादरिक व श्यामाकिक कहा है।

द्वितीयान्त से रक्षति अर्थ में[2]—**समाजं रक्षति सामाजिकः।** समाज ब्राह्मणादि के समुदाय का नाम है। **संनिवेशं रक्षति सान्निवेशिकः।** संनिवेश नानार्थक है। संनिवेश=समुदाय, निवासस्थान (झोंपड़ी), नगरसमीपवर्ती विहारार्थ मैदान, जिसे निकर्षण भी कहते हैं।

शब्द और दर्दुर से 'करोति' अर्थ में[3]—**शब्दं करोति=व्याकरोति शाब्दिको वैयाकरणः,** जो शब्दों का प्रकृतिप्रत्ययादि विभाग द्वारा व्याख्यान करता है वह शाब्दिक (वैयाकरण) होता है। कवि तो सामान्य रूप से शब्द (ध्वनि) करने वाले को भी 'शाब्दिक' मानकर प्रयोग करते हैं, यह उनकी निरंकुशता है—**शाब्दिकान्वीक्षणात् पश्यन् दिशो दश सविस्मयः।** यहाँ शाब्दिक =शब्दकार। 'दर्दुर' वाद्यभाण्ड को कहते हैं, जिसे गाते समय बजाया जाता है। **दर्दुरान् करोति दार्दुरिको कुम्भकारः।**

ठक्—पक्षिन्, मत्स्य, मृग—इन द्वितीयान्तों से 'हन्ति' अर्थ में[4]। यहाँ सूत्र में स्वरूप, पर्याय और पक्ष्यादि के विशेषों का ग्रहण इष्ट है—**पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः।** पर्याय—**शकुनान् हन्ति शाकुनिकः।** पक्षिविशेष—**मयूरान् हन्ति मायूरिकः। तित्तिरान् हन्ति तैत्तिरिकः।** मत्स्य—**मत्स्यान् हन्ति मात्स्यिकः।** पर्याय—**मीनान् हन्ति मैनिकः।** तद्विशेष—**शफरान् हन्ति शाफरिकः। शकुलान् हन्ति शाकुलिकः।** मृग—**मृगान् हन्ति मार्गिकः।** पर्याय —**हरिणान् हन्ति हारिणिकः।** तद्विशेष—**सूकरान् हन्ति सौकरिकः।** सूकर हरिण-विशेष का भी नाम है। **सारङ्गान् हन्ति सारङ्गिकः।** सारङ्ग बारा-सिंगा को कहते हैं। यद्यपि अजिह्म तथा अनिमिष मत्स्य-पर्याय ही हैं तो भी अजिह्मान् हन्ति, अनिमिषान् हन्ति यहाँ वाक्य ही रहेगा, प्रत्यय करके आजिह्मिक तथा आनिमिषिक नहीं कह सकते।

---

१. उञ्छति (४।४।३२)।
२. रक्षति (४।४।३३)।
३. शब्द-दर्दुरं करोति (४।४।३४)।
४. पक्षि-मत्स्य-मृगान् हन्ति (४।४।३५)।

द्वितीयान्त 'परिपन्थ' शब्द से 'तिष्ठति' अर्थ में[1]—**परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः**, लुटेरा जो मार्ग घेर कर खड़ा हो जाता है। 'परिपन्थ' शब्द जब अव्ययीभाव है तब 'परि' वर्जन अर्थ में है। जब तत्पुरुष, तब परि=परितः। अव्ययीभाव पक्ष में क्रियाविशेषण होने से द्वितीया समर्थ-विभक्ति उत्पन्न होती है। तत्पुरुष पक्ष में 'कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इस वचन से कर्मत्व होने से। 'परिपन्थ' शब्द 'परिपथ' के अर्थ में स्वतन्त्र प्रकृति है, 'परिपथ' का आदेश नहीं। अतः विषयान्तर में भी इसका प्रयोग हो सकता है। सूत्र में 'च' पूर्वसूत्र के प्रत्ययार्थ को समुच्चित करने के लिए है, अतः **परिपन्थं हन्ति पारिपन्थिकः** ऐसा भी प्रयोग शास्त्र-सम्मत होगा।

माथ (=पथिन्) उत्तरपद वाले प्रातिपदिक से, पदवी तथा अनुपदम् (=पश्चात्) (पश्चात् अर्थ में अव्ययीभाव) से धावति (दौड़ता है) अर्थ में[2]—**दण्डमाथं धावति=दाण्डमाथिकः**, जो सीधा रास्ता दौड़ता है। 'पदवी' मार्ग का नाम है—'पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः' (रघु० ३।५०)। **पदवीं (=मार्गम्) धावति पादविकः। अनुपदं धावति=आनुपदिकः। देवदत्तो जङ्घालत्वात् पूर्वसरः, यज्ञदत्तादय आनुपदिकाः।**

ठक्, ठञ्—द्वितीयान्त आक्रन्द से धावति अर्थ में ठञ् भी[3]—**आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः**। 'आक्रन्द' यहाँ आर्तायन=शरण अर्थ में है। आक्रन्द्यत आहूयत इत्याक्रन्दः, जिसे पुकारा जाता है, अर्थात् शरण=रक्षक। आक्रन्द्यतेऽत्रेति वाऽऽक्रन्दः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आक्रन्द युद्ध का नाम है। आक्रन्दो दारुणे रणे—विश्व। प्रक्रियासर्वस्वकार 'आर्तायन' का 'दुःखिनां रोदनस्थानम्' ऐसा अर्थ समझते हैं—

आक्रन्द-देशमाधावन् पार्थ आक्रन्दिकोऽभवत्।
तं रक्षितारं धावन्त आसन्नाक्रन्दिका द्विजाः॥

ठक्—'पद' शब्द उत्तरपद वाले प्रातिपदिक से 'गृह्णाति' अर्थ में[4]—

---

१. परिपन्थं च तिष्ठति (४।४।३६)।
२. माथोत्तरपद-पदव्यनुपदं धावति (४।४।३७)।
३. आक्रन्दाट् ठञ् च (४।४।३८)।
४. पदोत्तरपदं गृह्णाति (४।४।३९)।

न तु विषयानुष्ठानात् कश्चिद् धार्मिकः । न हि प्रतिग्रहणम् पिबन्ता सुरां धार्मिक इति लोके प्रसिद्धः (प्रा० प० ७।२।२१ इत्यत्रोज्ज्वलायां हरदत्तः)।

पूर्वपदं गृह्णाति पौर्वपदिकः । उत्तरपदं गृह्णाति औत्तरपदिकः ।

प्रतिकण्ठ (अव्ययीभाव), अर्थ, ललाम (नपुं०, पुच्छ)— इनसे 'गृह्णाति' अर्थ में[1]—**प्रतिकण्ठं** (कण्ठं कण्ठं प्रति) **गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः**, आभिमुख्येन वा कण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः। **अर्थं गृह्णाति आर्थिकः**, धनिक, बुद्धिमान् । **ललामं गृह्णाति लालामिकः**, पुच्छग्राही ।

धर्मं चरतीति धार्मिकः ।[2]—यहाँ चर् आसेवा (परिशीलन, अभ्यास, बार-बार करना) अर्थ में है अनुष्ठानमात्र में नहीं । वार्तिककार के अनुसार 'अधर्म' से भी इसी अर्थ में प्रत्यय होता है[3]—**अधर्मं चरतीति आधर्मिकः** (—पापः) । अधर्म=पाप । **तद्वन्निहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतोराधर्मिकः किल ततोस्मि न ते मृगघ्नाः** (सुतसोमजातक, ५०) । धार्मिक का नञ् के साथ समास होकर जो 'अधार्मिक' शब्द सिद्ध होता है उसका 'जो धर्म नहीं करता' ऐसा अर्थ है, 'पाप करता है' ऐसा नहीं ।

द्वितीयान्त 'प्रतिपथ' से 'एति' (जाता है) अर्थ में ठक् होता है, ठन् भी[4]—**प्रतिपथमेति प्रातिपथिकः** (ठक्) । **प्रतिपथिकः** (ठन्), जो आवृत्तिपथ (लौटने के मार्ग) का आश्रयण करता है ।

समवाय (—समूह) वाची द्वितीयान्त से 'समवैति' (मिल जाता है, अङ्ग बन जाता है) इस अर्थ में[5]—**समवायं समवैति सामवायिकः । समाजं समवैति सामाजिकः । संनिवेशं(=समुदायं)समवैति सान्निवेशिकः ।** सूत्र में 'समवायान्' इस द्वितीया-प्रयोग पर पदमञ्जरीकार का कहना है—'गुणभूतसमागमापेक्षया समवायान् इति द्वितीयानिर्देशः । लोके तु प्रायेण सप्तमी प्रयुज्यते द्रव्ये गुणाः समवयन्तीति', अर्थात् सूत्र में 'समवायान्' में जो द्वितीया का प्रयोग हुआ है वह गुणीभूत सम्पर्क को दृष्टि में रखकर किया गया है, लोक में तो प्रायः सप्तमी का प्रयोग देखा जाता है जैसे, 'द्रव्ये गुणाः समवयन्ति' इस वाक्य में । तात्पर्य यह है कि अयुत-सिद्धता (अपृथग्भाव) में सप्तमी होती है, अन्यत्र द्वितीया ।

---

१. प्रतिकण्ठार्थ-ललामं च (४।४।४०) ।
२. धर्मं चरति (४।४।४१) ।
३. अधर्माच्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।
४. प्रतिपथमेति ठंश्च (४।४।४२) ।
५. समवायान् समवैति (४।४।४३) ।

ण्य—परिषदं समवैति पारिषद्यः[1]=सदस्य=मेम्बर। ठक् का अपवाद।

ठक्, ण्य—'सेना' से विकल्प से ण्य—**सेनां समवैति सैनिकः** (ठक्)। **सैन्यः** (ण्य), जो सेना में भरती होता है।

ठक्—ललाट, कुक्कुटी—इन द्वितीयान्तों से 'पश्यति' (देखता है) अर्थ में ठक् होता है जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[3]—**ललाटं पश्यति लालाटिको भृत्यः**, 'लालाटिक' ऐसे भृत्य को कहते हैं जो दूर से स्वामी के ललाट (मस्तक) को देखकर कार्य में उपस्थित नहीं होता वरन् परे टल जाता है। यह वृत्ति, पदमञ्जरी, न्यास, कौमुदी आदि के अनुसार अर्थ है। कोषकार 'लालाटिकः प्रभोर्भालदर्शी कार्याक्षमश्च यः' (अमर) (यहाँ पाठान्तर भावदर्शी भी है।) लालाटिकः सदालस्यप्रभुभावनिदर्शिनि (अजय) ऐसा पढ़ते हैं। उनके अनुसार लालाटिक उस सेवक को भी कहते हैं जो स्वामी के भाव को एकदम जानकर कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। 'कुक्कुटी' शब्द से कुक्कुटीपात लक्षित होता है। जितनी-थोड़ी सी जगह में कुक्कड़ी उड़ती है वह 'कुक्कुटी-पात' है। प्रकृत में अल्पदेश से अभिप्राय है। **कुक्कुटीं पश्यति कौक्कुटिको भिक्षुः**, जो भिक्षु अपने चरण-विक्षेप-स्थल में आँखों को जमाकर चलता है, इधर-उधर नहीं देखता, उसे 'कौक्कुटिक' कहते हैं। कुछ लोग 'कुक्कुटी दाम्भिकी चेष्टा' ऐसा मानकर 'कौक्कुटिक' का 'दाम्भिक' अर्थ समझते हैं। अमर का पाठ भी है—'स्याद् दाम्भिकः कौक्कुटिको यश्चादूरेरितेक्षणः।'

षष्ठचन्त से 'धर्म्यम्' इस अर्थ में[4]—**शुल्कशालाया धर्म्यम्=शौल्क-शालिकम्**। 'धर्म्य' नाम 'परम्परा-प्राप्त जो आचार उससे युक्त' का है। **आकरस्य धर्म्यम् आकरिकम्**, जो खान के लिए आचार (रिवाज) से प्राप्य है।

अण्—महिषी आदियों से 'तस्य धर्म्यम्' अर्थ में अण्[5]। ठक् का अपवाद है। **महिष्या धर्म्यम् माहिषम्**—जो द्रव्यादि महिषी रानी को धर्म के अनुसार मिलना चाहिए। प्रजावती=भ्रातृजाया=भाभी। प्रजावत्या

१, परिषदो ण्यः (४।४।४४)।
२. सेनाया वा (४।४।४५)।
३. संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति (४।४।४६)।
४. तस्य धर्म्यम् (४।४।४७)।
५. अण् महिष्यादिभ्यः (४।४।४८)।

धर्म्यम् प्राजावतम् । पुरोहितस्य धर्म्यम् पौरोहितम्, जो प्रथा के अनुसार पुरोहित को मिलना चाहिए ।

अञ्—ऋकारान्त प्रातिपदिक से 'तस्य धर्म्यम्' अर्थ में[1]—**पोतुर्धर्म्यं= पौत्रम् ।** पोतृ ऋत्विग्विशेष का नाम है । **उद्गातुर्धर्म्यम् औद्गात्रम् ।** उद्गातृ =सामग पुरोहित ।

'नर' शब्द से भी इस अर्थ में[2]—**नरस्य धर्म्या नारी,** मनुष्य को धर्म के अनुसार प्राप्य है ।

ठक्—षष्ठयन्त से अवक्रय (चुंगी, महसूल) अर्थ में[3]—**शुल्कशालाया अवक्रयः=शौल्कशालिकः । आकरस्यावक्रयः=आकरिकः ।** अवक्रय में 'अव' शब्द क्रय की अवमता, निकृष्टता, न्यूनता को कहता है । तैल-धान्यादि को जो बनिया व्यापार के लिए देशान्तर ले जा रहा है उसे शुल्कशाला में जो अपना द्रव्य (द्रव्यांश) देना होता है, उसे अवक्रय कहते हैं । यहाँ अपने द्रव्य (द्रव्यांश) को देकर अपना ही द्रव्य अपने अधिकार में करता है, यही यहाँ क्रय की अवमता है, इसी से उसे अवक्रय कहते हैं । अन्यत्र 'अवक्रय' किराये को कहते हैं, वहाँ न्यूनः (अपूर्णः) क्रयः ऐसा अर्थ होता है । अवक्रीणीतेऽनेनेत्यवक्रयः ।

प्रथमान्त से 'तदस्य पण्यम्' (वह=प्रथमान्त-वाच्य इसका पण्य है) इस अर्थ में[4]—**अपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः,** पूए बेचने वाला । **शष्कुलयः पण्यमस्य शाष्कुलिकः,** कचौड़ियाँ बेचने वाला । **मोदकाः पण्यमस्य मौदकिकः,** लड्डू बेचने वाला । **मांसं पण्यमस्य मांसिकः ।**

ठञ्—लवण से ।[5] **लवणं पण्यमस्य लावणिकः ।** प्रत्ययान्तर स्वर के लिए किया है । ठञ् होने पर 'लावणिक' आद्युदात्त होगा और ठक् होने पर कितः (६।१।१६५) से अन्तोदात्त ।

---

१. ऋतोऽञ् (४।४।४९) ।
२. नराच्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।
३. अवक्रयः (४।४।५०) ।
४. तदस्य पण्यम् (४।४।५१) ।
५. लवणाट्ठञ् च (४।४।५२) ।

ष्ठन्—किशर आदि से 'तदस्य पण्यम्' इस अर्थ में।[1] किशर पुं० गन्ध-द्रव्य-विशेष। **किशराः पण्यमस्य किशरिकः। किशरिकी** (ङीष्)। **नलदाः पण्यमस्य नलदिकः। तगराः पण्यमस्य तगरिकः। हरिद्रा पण्यमस्य हरिद्रिकः,** हल्दी बेचने वाला।

ठक्—प्रथमान्त से तदस्य शिल्पम् (प्रथमान्तवाच्य इसका शिल्प=हुनर है) इस अर्थ में[2]—**मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। मार्दङ्गिकी कन्या। पणववादनं शिल्पमस्य पाणविकः।** पणव=छोटा ढोल। **वीणावादनं शिल्पमस्य वैणिकः,** वीणा बजाने वाला। इन उदाहरणों में मृदङ्गादि शब्द मृदङ्गादिवादन में उपचरित हुए हैं। **घण्टा=घण्टावादनं शिल्पमस्येति घाण्टिकः,** घड़ियाल बजाने वाला। **राज्ञः प्रबोधसमये घण्टाशिल्पास्तु घाण्टिकाः।** शिल्प अर्थ तद्धितवृत्ति के अन्तर्भूत होने से पृथक् शब्द से नहीं कहा जाता।

प्रथमान्त से 'तदस्य प्रहरणम्' (प्रथमान्त-वाच्य इसका प्रहरण=शस्त्र है) अर्थ में[3]—**असिः प्रहरणमस्य आसिकः,** तलवार चलाने वाला। **प्रासः प्रहरणमस्य प्रासिकः,** भाला चलाने वाला। कुन्त—**कौन्तिकः।** चक्र—**चाक्रिकः। चाक्रिको भगवान् विष्णुः। धनुः प्रहरणमस्य धानुष्कः। धानुष्को ऽर्जुनः।**

'परश्वध' (परशु=फरसा) से ठञ् भी[4]। स्वर में भेद होता है। **परश्वधः प्रहरणमस्य पारश्वधिको रामः।**

ईकक्—शक्ति (बर्छी) तथा यष्टि से ईकक् (ईक)[5]—**शक्तिः प्रहरणमस्य शाक्तीकः।** प्रत्यय के कित् होने से आदि वृद्धि। **यष्टिः प्रहरणमस्य याष्टीकः। याष्टीकोऽयं पेलवतनुः कुमारः, न दाण्डिको न चासिकः।**

ठक्—अस्ति (निपात) नास्ति (निपात) तथा दिष्ट—इन प्रथमा-समर्थों से 'मतिर्यस्य' इस अर्थ में[6]—**अस्ति मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्ति मतिर्यस्य स नास्तिकः।** मति-सत्ता-मात्र को कहने में प्रत्यय-विधि नहीं है, किन्तर्हि

---

१. किशरादिभ्यः ष्ठन् (४।४।५३)।
२. शिल्पम् (४।४।५५)।
३. प्रहरणम् (४।४।५७)।
४. परश्वधाट् ठञ् च (४।४।५८)।
५. शक्ति-यष्ट्योरीकक् (४।४।५९)।
६. अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः (४।४।६०)।

विषय-विशेष परलोक (=जन्मान्तर) में मति है जिसकी उसे आस्तिक कहेंगे—परलोकोऽस्तीति यस्य मतिः स आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः। **नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी**—ऐसा गौ० ध० सू० (२।६।१५) पर हरदत्त का वचन है। जो अस्ति नास्ति को निपात नहीं मानते उनके मत में आख्यात और वाक्य से प्रत्यय-विधि हुई है। **दिष्टं (=दैवम्) मतिर्यस्य स दैष्टिकः।** दैवप्रामाण्यवादी। वृत्तिकार 'प्रमाणानुपातिनी मतिर्यस्य' ऐसा विग्रह करते हैं जिसका पदमञ्जरीकार दैववित् अर्थ समझते हैं, पर दैष्टिक दैवज्ञ अर्थ में अत्यन्त अप्रसिद्ध है। माघ कवि तो दैवप्रामाण्यवादी अर्थ में दैष्टिक शब्द का प्रयोग करता है—नालम्बते दैष्टिकतां न सीदति पौरुषे। शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते (२।८६)॥

प्रथमान्त से 'तदस्य शीलम्' (प्रथमान्तवाच्य इसका शील=स्वभाव है) अर्थ में[1]—**अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिको वैश्यः। पयोभक्षणं शीलमस्य पायसिको ब्राह्मणबटुः। परुषवचनं शीलमस्य पारुषिकः। करुणाशीलमस्य कारुणिकः। आक्रोशः शीलमस्य आक्रोशिकः।**

ण—छत्त्रादि शब्दों से 'तदस्य शिल्पम्' अर्थ में 'ण'।[2] ठक् का अपवाद। **छत्त्रं शीलमस्य छात्रः।** छादनादावरणाच्छत्त्रम्। गुरु कार्य में अवहित और गुरु के छिद्रों को छिपाने की प्रवृत्ति वाला 'छात्र' कहलाता है। **चुरा शीलमस्य चौरः।** णेऽपि क्वचिदण् कार्यं भवति—इस वचन से स्त्रीत्व में ङीप् होगा—चौरी। **तपः शीलमस्य तापसः। कर्म शीलमस्य कार्मः।** कार्मस्ताच्छील्ये (६।४।१७२) से ण प्रत्यय परे होने पर टि-लोप का निपातन।

ठक्—प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में ठक् होता है जब प्रथमान्त का वाच्य कर्म (स्खलन रूप) हो जो अध्ययनविषय में हुआ।[3] **एकमन्यद् अध्ययने कर्म वृत्तमस्य ऐकान्यिकः,** जिससे परीक्षा-समय पढ़ते हुए (उच्चारण करते हुए) एक स्खलन हो गया उसे ऐकान्यिक कहा जाएगा। इसी प्रकार दो स्खलन करने वाले को **द्वैयन्यिक,** तीन स्खलन करने वाले को **त्रैयन्यिक** कहेंगे। एकम् अन्यद् ऐसा विग्रह करके तद्धितार्थ में समास है। फिर ठक् प्रत्यय होता है। अध्ययने कर्म वृत्तम्—यह सब तद्धित वृत्ति में अन्तर्भूत हो जाता है।

---

१. शीलम् (४।४।६१)।

२. छत्त्रादिभ्यो णः (४।४।६२)।

३. कर्माऽध्ययने वृत्तम् (४।४।६३)।

ठच्—यदि पूर्वपद बह्वच् हो तो 'तदस्य कर्माध्ययने वृत्तम्' इस अर्थ में ठच् होता है[1]। ठक् का अपवाद। **द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य=द्वादशान्यिकः।**

ठक्—प्रथमासमर्थ से ठक् हो 'इसके लिए' इस अर्थ में जब प्रथमासमर्थ का वाच्य हितकर भक्ष्य हो[2]। हित के योग में चतुर्थी होती है अतः पूर्वानुवृत्त 'अस्य' इस षष्ठी को '**अस्मै**' इस चतुर्थी में बदल दिया जाता है—**अपूपभक्षणं हितमस्मै आपूपिकः। मौदकिकः। शाष्कुलिकः।** हितार्थ और क्रिया (भवति) तद्धितवृत्ति में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। शब्द से पृथक् नहीं कही जातीं।

प्रथमासमर्थ से अस्मै (इसे) इस अर्थ में ठक् होता है जब प्रथमासमर्थ का वाच्यार्थ नियमेन अथवा नित्य दिया जाता है[3]—**अग्रेभोजनमस्मै नियुक्तं दीयते इत्याग्रभोजनिकः,** जिसे नियम से सबसे पहले खिलाया जाता है (ऐसा कभी नहीं होता कि उसका अग्रेभोजन न हो) उसे आग्रेभोजनिक कहते हैं। अथवा जिसे नित्य (प्रतिदिन) अग्रभोजन दिया जाता है उसे आग्रेभोजनिक कहते हैं।

टिठन्—श्राणा (=यवागू), मांस, ओदन, मांसोदन 'तदस्मै दीयते नियुक्तम्' इस अर्थ में[4]—**श्राणा दीयतेऽस्मै नियुक्तम्=श्राणिकः। मांसिकः। ओदनिकः। मांसौदनिकः।** टिठन् में इकार उच्चारणार्थ है। ट् ङीप् के लिए। श्राणिकी स्त्री। नकार स्वर के लिए है।

अण्, ठक्—**भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम् इति भाक्तः**[5]। **भाक्तिकः।** ठक्। **भाक्ता (भाक्तिका वा) एते कृषाणाः साधु बीजा कुर्वन्ति क्षेत्राणि क्षेत्रिणः,** ये किसान जिन्हें नित्य भात दिया जाता है क्षेत्र स्वामी के खेतों में बीज डालने के साथ-साथ अच्छी तरह हल चला रहे हैं।

ठक्—सप्तमीसमर्थ से नियुक्त इस अर्थ में[6]—**शुल्कशालायां नियुक्तः**

---

१. बह्वच्-पूर्वपदाट् ठच् (४।४।६४)।
२. हितं भक्षाः (४।४।६५)।
३. तदस्मै दीयते नियुक्तम् (४।४।६६)।
४. श्राणामांसौदनाट् टिठन् (४।४।६७)।
५. भक्तादणन्यतरस्याम् (४।४।६८)।
६. तत्र नियुक्तः (४।४।६९)।

विषय-विशेष परलोक (=जन्मान्तर) में मति है जिसकी उसे आस्तिक कहेंगे—परलोकोऽस्तीति यस्य मतिः स आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः। **नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी**—ऐसा गौ० ध० सू० (२।६।१५) पर हरदत्त का वचन है। जो अस्ति नास्ति को निपात नहीं मानते उनके मत में आख्यात और वाक्य से प्रत्यय-विधि हुई है। **दिष्टं (=दैवम्) मतिर्यस्य स दैष्टिकः।** दैवप्रामाण्यवादी। वृत्तिकार 'प्रमाणानुपातिनी मतिर्यस्य' ऐसा विग्रह करते हैं जिसका पदमञ्जरीकार दैववित् अर्थ समझते हैं, पर दैष्टिक दैवज्ञ अर्थ में अत्यन्त अप्रसिद्ध है। माघ कवि तो दैवप्रामाण्यवादी अर्थ में दैष्टिक शब्द का प्रयोग करता है—नालम्बते दैष्टिकतां न सीदति पौरुषे। शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते (२।८६)॥

प्रथमान्त से 'तदस्य शीलम्' (प्रथमान्तवाच्य इसका शील=स्वभाव है) अर्थ में[1]—**अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिको वैश्यः। पयोभक्षणं शीलमस्य पायसिको ब्राह्मणबटुः। परुषवचनं शीलमस्य पारुषिकः। करुणाशीलमस्य कारुणिकः। आक्रोशः शीलमस्य आक्रोशिकः।**

ण—छत्रादि शब्दों से 'तदस्य शिलपम्' अर्थ में 'ण'।[2] ठक् का अपवाद। **छत्त्रं शीलमस्य छात्रः।** छादनादावरणाच्छत्त्रम्। गुरु कार्य में अवहित और गुरु के छिद्रों को छिपाने की प्रवृत्ति वाला 'छात्र' कहलाता है। **चुरा शीलमस्य चौरः।** णेऽपि क्वचिदण् कार्यं भवति—इस वचन से स्त्रीत्व में ङीप् होगा—चौरी। **तपः शीलमस्य तापसः। कर्म शीलमस्य कार्मः।** कार्मस्ताच्छील्ये (६।४।१७२) से ण प्रत्यय परे होने पर टि-लोप का निपातन।

ठक्—प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में ठक् होता है जब प्रथमान्त का वाच्य कर्म (स्खलन रूप) हो जो अध्ययनविषय में हुआ।[3] **एकमन्यद् अध्ययने कर्म वृत्तमस्य ऐकान्यिकः,** जिससे परीक्षा-समय पढ़ते हुए (उच्चारण करते हुए) एक स्खलन हो गया उसे ऐकान्यिक कहा जाएगा। इसी प्रकार दो स्खलन करने वाले को **द्वैयन्यिक,** तीन स्खलन करने वाले को **त्रैयन्यिक** कहेंगे। एकम् अन्यद् ऐसा विग्रह करके तद्धितार्थ में समास है। फिर ठक् प्रत्यय होता है। अध्ययने कर्म वृत्तम्—यह सब तद्धित वृत्ति में अन्तर्भूत हो जाता है।

---

१. शीलम् (४।४।६१)।
२. छत्त्रादिभ्यो णः (४।४।६२)।
३. कर्माऽध्ययने वृत्तम् (४।४।६३)।

ठच्—यदि पूर्वपद बह्वच् हो तो 'तदस्य कर्माध्ययने वृत्तम्' इस अर्थ में ठच् होता है[1]। ठक् का अपवाद। **द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य=द्वादशान्यिकः।**

ठक्—प्रथमासमर्थ से ठक् हो 'इसके लिए' इस अर्थ में जब प्रथमासमर्थ का वाच्य हितकर भक्ष्य हो[2]। हित के योग में चतुर्थी होती है अतः पूर्वानुवृत्त 'अस्य' इस षष्ठी को 'अस्मै' इस चतुर्थी में बदल दिया जाता है—**अपूपभक्षणं हितमस्मै आपूपिकः। मौदकिकः। शाष्कुलिकः।** हितार्थ और क्रिया (भवति) तद्धितवृत्ति में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। शब्द से पृथक् नहीं कही जातीं।

प्रथमासमर्थ से अस्मै (इसे) इस अर्थ में ठक् होता है जब प्रथमासमर्थ का वाच्यार्थ नियमेन अथवा नित्य दिया जाता है[3]—**अग्रेभोजनमस्मै नियुक्तं दीयते इत्याग्रभोजनिकः,** जिसे नियम से सबसे पहले खिलाया जाता है (ऐसा कभी नहीं होता कि उसका अग्रेभोजन न हो) उसे आग्रेभोजनिक कहते हैं। अथवा जिसे नित्य (प्रतिदिन) अग्रभोजन दिया जाता है उसे आग्रेभोजनिक कहते हैं।

टिठन्—श्राणा (=यवागू), मांस, ओदन, मांसौदन 'तदस्मै दीयते नियुक्तम्' इस अर्थ में[4]—**श्राणा दीयतेऽस्मै नियुक्तम्=श्राणिकः। मांसिकः। ओदनिकः। मांसौदनिकः।** टिठन् में इकार उच्चारणार्थ है। ट् ङीप् के लिए। श्राणिकी स्त्री। नकार स्वर के लिए है।

अण्, ठक्—भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम् इति भाक्तः[5]। भाक्तिकः। ठक्। **भाक्ता (भाक्तिका वा) एते कृषाणाः साधु बीजा कुर्वन्ति क्षेत्राणि क्षेत्रिणः,** ये किसान जिन्हें नित्य भात दिया जाता है क्षेत्र स्वामी के खेतों में बीज डालने के साथ-साथ अच्छी तरह हल चला रहे हैं।

ठक्—सप्तमीसमर्थ से नियुक्त इस अर्थ में[6]—**शुल्कशालायां नियुक्तः**

---

१. बह्वच्-पूर्वपदाट् ठच् (४।४।६४)।
२. हितं भक्षाः (४।४।६५)।
३. तदस्मै दीयते नियुक्तम् (४।४।६६)।
४. श्राणामांसौदनाट् टिठन् (४।४।६७)।
५. भक्तादणन्यतरस्याम् (४।४।६८)।
६. तत्र नियुक्तः (४।४।६९)।

(अधिकृतः, व्यापारितः)=**शौल्कशालिकः**। **आकरे नियुक्तः=आकरिकः**। **गुल्मे नियुक्तः=गौल्मिकः**, थानेदार। **द्वारे नियुक्तः=दौवारिकः**। आदि वृद्धि न होकर द्वारादीनां च (७.३।४) से ऐजागम होता है। **व्यपनिन्युः सुदुःखार्ता कौसल्यां व्यावहारिकाः** (रा० २।६६।१३)। व्यवहारे नियुक्ताः = व्यावहारिकाः (अमात्यादयः)।

ठन्—अगारान्त से 'नियुक्तः' इस अर्थ में[1]—**देवागारे नियुक्तः=देवागारिकः**। देवमन्दिर में नियुक्त देवलक आदि। **कोष्ठागारे नियुक्तः कोष्ठागारिकः**, संग्रहागार अथवा भाण्डागार में अधिकृत। **भाण्डागारिकः**। एकदेशविकृतमनन्यवत् इस न्याय से 'अभ्यागार' से भी ठन् हो जाएगा—**अभ्यागारे नियुक्तोऽभ्यागारिकः**, कुटुम्ब के पालनपोषण में लगा हुआ। कुटुम्बव्यापृतस्तु यः। स्यादभ्यागारिकः—अमर।

ठक्—सप्तम्यन्त, प्रतिषिद्ध देश और काल वाची प्रातिपदिकों से 'अध्यायी' (पढ़ने वाला) इस अर्थ में[2]—**श्मशानेऽधीते श्माशानिकः**। शास्त्र श्मशान में पढ़ने का निषेध करता है। **चतुष्पथेऽधीते चातुष्पथिकः**, चौराहे में पढ़ने वाला। चौराहे में पढ़ना निषिद्ध है। **चतुर्दश्यामधीते चातुर्दशिकः**। **अमावास्यायामधीत आमावास्यिकः**। चतुर्दशी में तथा अमावास्या में पढ़ने का निषेध है। चतुर्दशी गुरुं हन्ति इत्यादि वचन निषेध-परक प्रसिद्ध हैं।

कठिनशब्दान्त प्रातिपदिक, प्रस्तार, संस्थान—इन सप्तम्यन्तों से 'व्यवहरति' इस अर्थ में[3]—**कठिना** (काठे) **वंशा अस्मिन्देश इति वंशकठिनो देशः**। आहिताग्न्यादि होने से विशेषण का परनिपात। प्रस्तार और संस्थान दोनों मैदान अर्थ के वाचक हैं। संनिवेशे च संस्थानम् (अमर)। 'व्यवहरति' यथायोग्य व्यवहार करता है, जो जहाँ युक्त है वैसा वहाँ आचरण करता है। इसी को काशिका में 'क्रियातत्त्व' कहा है। अनुष्ठेय कार्य को शास्त्रानुकूल अविगीत (अनिन्दित) रूप से करता है। **वंशकठिने** (देशे) **व्यवहरति=वांशकठिनिकः**। वर्ध्रः (=वर्ध्री=चर्मविकारः) कठिनो यस्मिन् देशे स वर्ध्रकठिनः। तत्र व्यवहरति **वार्ध्रकठिनिकः**। **प्रस्तारे व्यवहरति प्रास्तारिकः**। **संस्थाने व्यवहरति सांस्थानिकः**।

---

१. अगारान्ताट् ठक् (४।४।७०)।
२. अध्यायिन्य-देश-कालात् (४।४।७१)।
३. कठिनान्त प्रस्तार-संस्थानेषु व्यवहरति (४।४।७२)।

सप्तम्यन्त निकट शब्द से वसति (रहता है) इस अर्थ में[६]—**निकटे वसति नैकटिको भिक्षुः।** जिस आरण्यक भिक्षु को शास्त्र के अनुसार ग्राम से एक कोस की दूरी पर रहना होता है उसकी उपाधि 'नैकटिक' है।

ष्ठल्—सप्तम्यन्त 'आवसथ' से 'वसति' अर्थ में ष्ठल् (ठ) होता है[१]। यह ठक् का अपवाद है। आवसत्येतम् आवसथः। एत्य वा वसत्यत्रेत्यावसथः, यात्रियों का विश्रामगृह, ब्रह्मचारियों तथा यतियों का मठ। **आवसथे वसति=आवसथिकः।** आवसथिक गृही का भी नाम है।

यहाँ ठक् अधिकार समाप्त हुआ।

प्राग्घितीय प्रत्यय (यत् का अधिकार)

तस्मै हितम् (५।१।५) से पूर्व यत् प्रत्यय अधिकृत जानना चाहिए। जो प्रत्यय इस अधिकार में विधान किए जायेंगे वे प्राग्घितीय कहलाते हैं।

यत्—द्वितीयान्त रथ, युग, प्रासङ्ग से वहति (खींचता है) उठाता है अर्थ में यत् प्रत्यय होता है[२]—**रथं वहति रथ्योऽश्वः। युगं वहति युग्यो बलीवर्दः। प्रासङ्गं वहति प्रासङ्ग्यो गौः।** भार ढोने वाला बैल। आधुनिक कोषकार युग और प्रासङ्ग में कुछ भेद नहीं करते। अमर का पाठ है—प्रासङ्गो ना युगान्तरम्। युगान्तर=द्वितीयं युग। जो रथ का अंग नहीं। हेम चन्द्राचार्य इसका उत्काण्ठं वत्सानां दमनकाले स्कन्ध आसज्यते ऐसा अर्थ समझते हैं।

यत्, ढक्—**धुरं वहति धुर्यः** (यत्)। **धौरेयः।** ढक्[3]। धुर् (स्त्री०) युग का पर्याय है। उपचार से धुर्, भार, कृत्य-भार, अग्रभाग आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। अतः जहाँ धुर्या धौरेया वा अश्वा (वृषा वा) ऐसा कहते हैं वहाँ पुरुष-श्रेष्ठ, अगुआ, कृत्यभार को उठाने वाला, मुख्य आदि अर्थ में भी धुर्य (और धौरेय) का प्रयोग होता है—तस्य भवानपरधुर्यपदावलम्बी (रघु० ५।६६)। **न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय** (रघु० ७।७१)।

ख—सर्वधुरा शब्द से वहति अर्थ में ख[४]—**सर्वधुरां वहति सुर्वधुरीणः।**

---

१. निकटे वसति (४।४।७३)।
२. आवसथात् ष्ठल् (४।४।७४)।
३. तद् वहति रथ-युग-प्रासङ्गम् (४।४।७६)।
४. धुरो यड्ढकौ (४।४।७७)।
५. खः सर्वधुरात् (४।४।७८)।

यहाँ 'ख:' यह योगविभाग किया जाता है ताकि उत्तरधुरीण, दक्षिणधुरीण आदि इष्ट रूपों का संग्रह हो सके।

ख, खलुक्—एकधुरां वहति एकधुरीणः। एकधुरः। लुक्।[1]

अण्—शकटं वहति शाकटो गौः[2], छकड़े को खींचने वाला बैल।

ठक्—हलं वहति हालिकः[3]**। सीरं वहति सैरिकः।** सीर=हल। **हालिको गौः।** जब हालिक का अर्थ कृषक हो तो हलेन खनति ऐसा विग्रह होगा। तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२) से ठक्। इदं नामाऽऽपांसुलपादहालिकात्सर्वस्य विदितम्।

यत्—जनी (=वधू) से वहति अर्थ में, जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[4]—**जनीं वहति प्रापयति जन्या,** जामाता की सखी, वह विहारादि में (नव) वधू को उसके पास पहुँचाती है। कालिदास तो यातेति जन्यानवदत् कुमारी (रघु) में जन्य (पुं०) का प्रयोग वधू-बन्धु अथवा बधू-भृत्य अर्थ में करता है। विश्व और केशव इन अर्थों का समर्थन करते हैं—जन्यो वरवधूज्ञातिप्रियतुल्यहितेपि च—विश्व। भृत्याश्चापि नवोढायाः (केशव)। अमर—'जन्याः स्निग्धा वरस्य ये' ऐसा पढ़ता है, अर्थात् वर के प्रिय मित्र अथवा ज्ञाति। धरणिकोष के अनुसार जन्या (स्त्री०) माता की सखी, वर की सहेली, जननी तथा जनक (इस अर्थ में पुं०) का नाम है—जन्या मातृवयस्या स्याज्जन्या जनीवरप्रिया। जननी जनयित्रीश्च···। रघुवंश में याहीति जन्यामवदत्कुमारी ऐसा पाठान्तर भी है।

द्वितीयासमर्थ से विध्यति (बींधता है) अर्थ में जब वेधन का करण धनुष् न हो[5]—**पादौ** (द्वितीयान्त) **विध्यन्ति शर्कराः पद्याः,** जो कंकड़ पाओं को छलनी कर देते हैं वे 'पद्याः' कहलाते हैं। ऊरू (द्वितीया द्वि०) विध्यन्ति **ऊरव्याः कण्टकाः।** यत् प्रत्यय परे होने पर गुण से प्राप्त जो ओकार उसे वान्तादेश। धनुष् प्रतिषेध से जहाँ (जिस व्यधन-क्रिया में) धनुष् की करणता

---

१. एकधुराल्लुक् च (४।४।७९)।
२. शकटादण् (४।४।८०)।
३. हलसीराट् ठक् (४।४।८१)।
४. संज्ञायां जन्याः (४।४।८२)।
५. विध्यत्यधनुषा (४।४।८३)।

की सम्भावना नहीं, वहीं प्रत्यय होता है। अतः चौरं विध्यति, शत्रुं विध्यति आदि में प्रत्यय नहीं होता, वाक्य ही रहता है। धनुष्प्रतिषेध से धनुष् की करणता के प्रतिषेध में तात्पर्य नहीं किन्तु व्यधन विशेष की उपलक्षणता में, अतः शर्कराभिः पादौ विध्यति इत्यादि में भी प्रत्यय नहीं होगा।

द्वितीयान्त धन, गण से 'लब्धा' (लभ् से तृन्प्रत्यय, प्र० ए०) अर्थात् प्राप्त करने के स्वभाव वाला अर्थ में[1]—**धनं लब्धा=धन्यः**=धन-प्राप्ति-शीलः। लब्धा के तृन्नन्त होने से द्वितीया हुई, षष्ठी नहीं। धन्य शब्द का यह मूलार्थ है। भाग्यवान् अर्थ तो गौण-व्यवहार-निमित्तक है—धन्य इव धन्यः। गण—**गणं लब्धा=गण्यः**। पदानुक्रमात्मकः पादानुक्रमात्मक इति वा। इला येषां गण्या माहिना गीः (ऋ० ३।७।५)।

ण—अन्नं लब्धा=आन्नः। अन्नं लभत इत्येवंशीलः।[2]

यत्—वशं गतः=वश्यः।[3] विधेय इत्यर्थः। वश=इच्छा। प्रकृत में परेच्छा से तात्पर्य है। वश्यः=परेच्छानुगामी।

प्रथमान्त पद (लक्ष्म, पाद-चिह्न) से 'अस्मिन् दृश्यम्' इसमें देखा जा सकता है, अर्थ में[4]—**पदमस्मिन्दृश्यं द्रष्टुं शक्यमिति पद्यः पङ्कः**, कीचड़ जिसमें पाओं का निशान देखा जा सकता है अर्थात् जो न बहुत तरल है और न बहुत सूखा। पद्याः पांसवः, रेत जिसमें पाओं का चिह्न देखा जा सकता है जो न तो अत्यल्प है और न बहुत अधिक। जो प्रतिमुद्रा उत्पादन के योग्य है। कीचड़ और रेत की अवस्था-विशेष को कहा जा रहा है।

प्रथमान्त मूल शब्द से षष्ठ्यर्थ में यत्, जब मूल आवर्ही (उत्पाटन-योग्य) हो[5]—वृह तुदा० उद्यमन ऊपर को खींचना, उखाड़ना अर्थ में पढ़ी है। आङ् उपसर्ग इसी अर्थ का द्योतक है, अन्यत्र इसी अर्थ में प्रायः उद् देखा जाता है। आवर्हः (घञन्त)=आवर्हणम् उद्बर्हणम् उत्पाटनम् अस्यास्तीति आवर्हि (नपुं०, मूल का विशेषण)। **मूल्या मुद्गाः**, मूंग जो इतने पक गए हैं कि बिना

---

१. धन-गणं लब्धा (४।४।८४)।
२. अन्नाण्णः (४।४।८५)।
३. वशं गतः (४।४।८६)।
४. पदमस्मिन् दृश्यम् (४।४।८७)।
५. मूलमस्यावर्हि (४।४।८८)।

मूल (जड़) को उखाड़े संगृहीत नहीं किए जा सकते, मध्य में काटने से कोशस्थ भी गिर जाएँगे ऐसी शङ्का होती है।

'धेनुष्या' यह यत्प्रत्ययान्त संज्ञाविषय में निपातन किया है।[१] जो गौ उत्तमर्ण को ऋण चुकाने के हेतु दुग्ध-दोहन के लिए दी जाती है उसे 'धेनुष्या' कहते हैं। यहाँ षुक् आगम निपातित है और अन्तोदात्तता भी। प्रत्यय तो अधिकृत ही है। इसकी 'दुग्धदोहा' इस नाम से भी प्रसिद्धि है।

ञ्यः—तृतीयान्त 'गृहपति' से, संयुक्त इस अर्थ में[२]—**गृहपतिना संयुक्तोऽग्निर् गार्हपत्यः।** संज्ञाविषय में ही प्रत्यय विधि है। अग्नि को ही गार्हपत्य कहते हैं और कोई पदार्थ गृहपति से भले ही संयुक्त हो उसे 'गार्हपत्य' नहीं कहेंगे।

यत्—तृतीयान्त नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला से क्रम से तार्य (=तरीतुं शक्यम्), तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य (अभिभवनीय, शेषीकरणीय), सम, समित (=संगत), सम्मित (=तुल्य) अर्थों में[३]—**नावा तार्या नदी नाव्या,** जिस नदी को नौ से पार कर सकते हैं। **वयसा तुल्यः=वयस्यः सखा।** संज्ञाधिकार होने से वयसा तुल्यः शत्रुः यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। **धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्। धर्म्यः स्वर्गादिः।** फल की सिद्धि होने पर धर्म किया हुआ नष्ट (क्षीण) हो जाता है, अतः 'धर्मादनपेतः' इस अर्थ में यहाँ यत् नहीं किया जा सकता। इसी कारण 'प्राप्य' अर्थ में यहाँ यत् का विधान उपपन्न होता है। **विषेण वध्यः=विष्यः,** जो विष देकर मारने योग्य है। **मूलेनानाम्यं मूल्यम्।** वणिक् लोग पट आदि के बनवाने में जितना द्रव्य खर्च करते हैं वह 'मूल' है, वह प्रधान अर्थ है। उससे जो द्रव्य (विक्रय करने पर मूल से अतिरिक्त प्राप्त होता है वह उपकारक होने से अप्रधान हो जाता है यही उसका अभिभव है। वह मूल से मिलकर मूल को बढ़ा देता है यही उसकी उपकारकता है। शास्त्र में ऐसा व्यवहार है कि जो उपकारक हो वह शेष (गौण, अप्रधान) होता है और जो उपकार्य, वह शेषी (प्रधान) माना जाता है। यहाँ 'मूल्य' लाभ का पर्याय है। लोक में मूल और लाभ के

---

१. संज्ञायां धेनुष्या (४।४।८९)।
२. गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः (४।४।९०)।
३. नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्यानाम्य-सम-समित-सम्मितेषु (४।४।९१)।

समुदाय को 'मूल्य' (कीमत) कहते हैं। 'मूल' से सम (समान) अर्थ में भी यत् होता है—**मूलेन समो मूल्यः पटः।** जिसकी खरीदने की कीमत के बराबर लाभ हो (उपादानेन समानफलः)। **सीतया समितं** (=सङ्गतम्) **सीत्यं क्षेत्रम्।** रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ—इस वचन के अनुसार सीतान्त से भी यत् प्रत्यय होगा—**द्वाभ्यां सीताभ्यां समितं द्विसीत्यम्।** सीता=हलाग्र। तुला—**तुलया सम्मितः** (समानः)=**तुल्यः।** जैसे तुला पदार्थ का परिच्छेद (तोलमाप) करती है वैसे ही जो तुल्य है वह दूसरे पदार्थ का परिच्छेद करता है।

धर्म, पथिन्, अर्थ, न्याय—इन पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से अनपेत (=अवियुक्त, अपृथग्भूत) अर्थ में[1]—**धर्मादनपेत आचारो धर्म्यः। शठे शठवदाचरणं धर्म्यमिति केचिद्, नेत्यपरे।** पथिन्—**पथोऽनपेतं पथ्यं भोजनम्।** आयुर्वेदोक्त मार्ग से जो परे नहीं गया। अर्थ—**अर्थादनपेतम् अर्थ्यम्। अर्थ्यं वचः। अर्थ्या वाक्** (अर्थवती)। न्याय—**न्यायाद् अनपेतम्=न्याय्यम्। न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।**

तृतीयान्त छन्दस् (=इच्छा) शब्द से निर्मित (उत्पादित) अर्थ में[2]—**छन्दसा निर्मितश् छन्दस्यः।** इच्छया कृतः। यहाँ सकारान्त छन्दस्=इच्छा। अन्यत्र छन्द (अदन्त) इच्छा का पर्याय होता है।

यत्, अण्—उरसा निर्मित औरसः पुत्रः। उरस्यः पुत्रः।[3] संज्ञाधिकार होने से पुत्र को ही औरस कहते हैं। जिसे माता ने अपनी छाती का दूध पिलाकर पाला है वह औरस है, कृतक, दत्तक आदि से भिन्न।

यत्—हृदयस्य प्रियं हृद्यम्।[4] हृदय को यत् प्रत्यय परे रहते हृद् आदेश हुआ करता है। **हृद्यो देशः। हृद्यं वनम्।** संज्ञाधिकार होने से हृद्यः पुत्रः नहीं कह सकते।

हृदयस्य बन्धनमृषिः=हृद्यः[5]। वेदमन्त्र जिससे दूसरे के हृदय को बाँधा

---

१. धर्म-पथ्यर्थ-न्यायादनपेते (४।४।९२)।
२. छन्दसो निर्मिते (४।४।९३)
३. उरसोऽण् च (४।४।९४)।
४. हृदयस्य प्रियः (४।४।९५)।
५. बन्धने चर्षौ (४।४।९६)।

जाता है। ऋषि=वेद। ऋषि मन्त्र द्रष्टा हैं (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। उन ऋषियों से देखे हुए मन्त्र को भी उपचार से ऋषि कहते हैं। बन्धन शब्द करण में ल्युडन्त है—बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्।

मत, जन, हल से करण, जल्प, कर्ष अर्थों में[1]—**मतं ज्ञानं तस्य करणं मत्यम्**। ज्ञान का भाव अथवा साधन। **जनस्य जल्पः=जन्यः**=जनवाद, निर्वाद। अमर इसे पुंल्लिङ्ग में पढ़ता है, दूसरे कोषकार नपुंसकलिङ्ग में पढ़ते हैं—जन्यं निर्वादयुद्धयोः—धरणि। **हलस्य कर्षः कर्षणम्=हल्यः**, हल का चलाना।

सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण, योग्य) अर्थ में[2]—**सामसु साधुः सामन्यः**। सामवेद में चतुर। ये चाभावकर्मणोः (६।४।१६८) से अन् को प्रकृतिभाव। **नायं नियमो बह्वृचाः सामन्या अपि स्युरिति। वेमनि (वेम्नि) साधुः= वेमन्यः**, खड्डी में चतुर। कर्मन्—**कर्मण्यः**, कर्मणि कुशलः। **कर्मण्य एष कर्मकरः स्वामिनः प्रियः**, यह नौकर कर्म में निपुण है अतः स्वामी को प्यारा है। **शरणे त्राणे साधुः=शरण्यः**। शरण का प्रसिद्ध अर्थ त्राता और गृह है —शरणं गृहरक्षित्रोः (अमर)। इसका त्राण (रक्षण, रक्षा) भी अर्थ है— **शरणं ते प्रदास्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव** (रा० १।५६।२)। **मालायां साधूनि योग्यानि कुसुमानि माल्यानि। बन्धे साधुः=बन्ध्या। पृष्ठे साधुः पृष्ठ्यः स्थौरी**, बोझा ढोने वाला घोड़ा, टट्टू।

खञ्—प्रतिजन आदि शब्दों से 'तत्र साधुः' अर्थ में[3]—**प्रतिजनं जने जने साधुः=प्रातिजनीनः। सर्वजने यः साधुः**(=हितः, उपकारकः) **स सार्वजनीनः। सार्वजनीनमुद्यानम्**। विश्वजन—**वैश्वजनीनं विद्याशालम्**। यहाँ भी साधु= हित, उपकारक के अर्थ में है। **इदंयुगे साधवो हिता ऐदंयुगीना आचाराः**। चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चमो वर्णः, ते इमे पञ्चजनाः, तेषु साधुः=हितः **पाञ्चजन्यः। पाञ्चजन्यो न्यायः। पाञ्चजन्यो विधिः। संयुगे=रणे साधुः कुशलः सांयुगीनः**। अमर का पाठ भी है—सांयुगीनो रणे साधुः।

---

१. मत-जन-हलात् करण-जल्प-कर्षेषु (४।४।९७)।
२. तत्र साधुः (४।४।९८)।
३. प्रतिजनादिभ्यः खञ् (४।४।९९)।

ण—भक्ते साधवो योग्यास्तण्डुला भाक्ताः।[1] भात बनाने के योग्य चावल। **भाक्तः शालिः।**

ण्य—परिषदि साधुः **पारिषद्यः**[2], सभा में बैठने योग्य। 'ण' प्रत्यय भी इष्ट है—**परिषदि साधुः पारिषदः।**

ठक्—कथादि शब्दों से 'तत्र साधुः' अर्थ में[3]—**कथायां साधुः कुशलः काथिकः**, बात करने में कुशल। व्यर्था कथाऽप्रासङ्गिकी वा कथा=विकथा। **विकथायां साधुः कुशलः=वैकथिकः।** पक्षशून्यो जल्पो वितण्डा। **वितण्डायां साधुः कुशलो वैतण्डिकः। जनवादे साधुः कुशलः=जानवादिकः।** जनवादः प्रवादः। **वृत्तौ साधुः कुशलः=वार्त्तिकः।** वृत्तिर्व्याख्यानम्। **आयुर्वेदे कुशल आयुर्वैदिकः।**

ठञ्—गुड आदि शब्दों से[4]—**गुडे साधुर्योग्यः समर्थ इक्षुः=गौडिकः। कुल्माषे साधुः कौल्माषिको मुद्गः। सक्तुषु साधुर्योग्यो यवः=साक्तुकः।** उगन्त होने से ठक् को 'क' आदेश। **सङ्ग्रामे साधुः कुशलः साङ्ग्रामिकः।**

ढञ्—पथिन्, अतिथि, वसति, स्वपति से 'तत्र साधुः' अर्थ में[5]—यहाँ साधु=हित, उपकारक। **पथि साधु=पाथेयम्। पथिकः पाथेयवान्स्यादितीष्यते।** पाथेय=पथ (मार्ग) में उपकारक खाद्य आदि सामग्री। **अतिथिषु साधुर् आतिथेयः। पाञ्चनदा आतिथेया इति प्रथन्ते,** पंजाब के लोग आतिथ्य के लिए प्रसिद्ध हैं। **वासे साधु वास्तेयम्**, रहने के योग्य गृहादि। वासतेयी रात्रि को कहते हैं। **स्वपतौ साधु=स्वापतेयं धनम्।** धन स्वामी धनवान् का उपकारक होता है अतः उसे 'स्वापतेय' कहते हैं।

य—सभायां साधुः सभ्यः।[6] सभा के योग्य, सभासद्।

यत्—समानतीर्थ से 'वासी' (रहता है, रहने वाला) अर्थ में[7]—तीर्थं गुरुः। तरत्यनेन। यथा नद्यास्तीर्थम्। **समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्यः**, एक

---

१. भक्ताण्णः (४।४।१००)।
२. परिषदो ण्यः (४।४।१०१)। ण-प्रत्ययोप्यत्रेष्यते।
३. कथादिभ्यष्ठक् (४।४।१०२)।
४. गुडादिभ्यष्ठञ् (४।४।१०३)।
५. पथ्यतिथि-वसति-स्वपतेर्ढञ् (४।४।१०४)।
६. सभाया यः (४।४।१०५)।
७. समानतीर्थे वासी (४।४।१०७)।

ही गुरु के समीप रहने वाला। जो ब्रह्मचारी एक ही गुरु के पास रहकर उससे पढ़ते हैं वे सतीर्थ्य कहलाते हैं। 'समान' को 'स' आदेश होता है।

सप्तम्यन्त समानोदर शब्द से शयितः (=स्थितः) अर्थ में[1]—**समानोदरे शयितः=समानोदर्यो भ्राता**, भाई जो एक ही माँ के पेट से उत्पन्न हुआ।

य—'सोदर' शब्द से 'शयितः' अर्थ में[2]—**सोदरे शयितः सोदर्यः**। विभाषोदरे (६।३।८८) सूत्र से यकारादि प्रत्यय की विवक्षा होते ही (प्रत्यय आने से पहले ही) समान को 'स' आदेश हो जाता है।

इससे आगे पाद की समाप्ति तक छान्दस सूत्र हैं। वे इस पुस्तक का विषय नहीं हैं। अतः उनका व्याख्यान नहीं किया जा रहा।

चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ पाद समाप्त हुआ।

प्राक्क्रीतीयाः प्रत्ययाः । छ प्रत्ययाधिकारः

तेन क्रीतम् (५।१।३७) इस अर्थ-निर्देश से पहले-पहले जो हितादि अर्थ कहे हैं उनमें 'छ' प्रत्यय अधिकृत जानना। समान अर्थ में प्रकृति-विशेष से उत्पन्न हुआ यत् आदि प्रत्यय अधिकृत 'छ' का अपवाद होगा।

यत्—उवर्णान्त प्रातिपदिक से तथा गो आदि प्रातिपदिकों से प्राक्क्रीतीय अर्थों में यत् होगा[3]—शङ्कु (खूँटा)। **शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु**, लकड़ी जो खूँटा बनाने के लिए अच्छी है। 'शङ्कु' के 'उ' को गुण होकर अवादेश हुआ। पिचुः=तूलः। रूई। **पिचवे हितः कार्पासः पिचव्यः**, कपास जिसकी बढ़िया रूई बनेगी। कमण्डलुः। **कमण्डलवे हिता मृत्तिका**, कमण्डलु बनाने के लिए अच्छी मिट्टी। कमण्डलु विकृति है। मृत्तिका प्रकृति है और वह विकृति कमण्डलु के लिए है। गो—**गवे हितं गव्यम्। गव्यानि शष्पाणि**। चरु—**चरव्यास्तण्डुलाः**, चरु बनाने में उपकारक चावल। अनवस्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चरुरिति याज्ञिकाः, याज्ञिक लोग ऐसे भात को 'चरु' कहते हैं जिसमें माँड नहीं निकाली गई और जो भीतरी भाप से पका है। कैयट का कथन है—स्थालीवाची चरुशब्दस्तास्थ्यादोदने भाक्त इति। कैयट 'चरु' का मुख्यार्थ पाक-पात्र समझता है और उसमें होने से ओदन को भी 'चरु' कहते हैं ऐसा मानता

---

१. समानोदरे शयित ओ चोदात्तः (४।४।१०८)।
२. सोदराद्यः (४।४।१०९)।
३. उ-गवादिभ्यो यत् (५।१।२)।

है। क्षीरस्वामी इसके विपरीत चरु को पक्व हविस् समझता है और उसके पाकाधिकरण स्थाली को भी गौण रूप से चरु शब्दार्थ मानता है—पक्वं होतव्यं चरुः। चर्यते रध्यत इति। स्थाल्यपि चरुः, होतव्यस्य पाकोऽत्रेति। **सक्तव्याः धानाः**, सत्तु बनाने में उपकारक भुने हुए जौ। **नाभये हितोऽक्षो नभ्यः**। चक्र की नाभि के लिए अच्छा अक्ष (धुरा)। 'नाभि' को 'नभ' आदेश होता है। यहीं यह आदेश होता है। जो शरीरावयव नाभि है उसे नहीं। हविस्—**हविषे हितं हविष्यम् आज्यम्**। श्वन् से यत् होने पर सम्प्रसारण और सम्प्रसारण को विकल्प से दीर्घ—**शुने हितं शुन्यम्। शून्यम्**। सूनी जगह जो कुत्ते के लेटने आदि के लिए अच्छी है। ऊधस् को अनङादेश भी होता है। अनङ् (अन्) ङित् होने से अन्त्य 'स्' को होगा—**ऊधसे हितः कूप ऊधन्यः**। ऊधन् के अन् को प्रकृतिभाव। ये चाभावकर्मणोः (६।४।१६८)।

'कम्बल' से प्राक्क्रीतीय अर्थों में, जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[1]—**कम्बलाय हितं कम्बल्यम्** =ऊर्णापलशतम्।

छ आदि यथाविहित—'तस्मै हितम्' अर्थ में[2]—वत्सेभ्यो हितो गोधुक् =वत्सीयः, बछड़ों का हिती गोप। **पटवे हितं पटव्यम्** (उकारान्त से यत्)। **गवे हितं गव्यम्**।

यत्——हविर्विशेषवाची प्रातिपदिकों से तथा अपूपादि से प्राक्-क्रीतीय अर्थों में विभाषा[3]—आमिक्षा—**आमिक्षायै हितं दधि=आमिक्ष्यम्** (यत्)। **आमिक्षीयम्** (छ)। आमिक्षा बनाने में उपकारक दही। उबाले हुए ठंडे दूध में दही मिलाने से जो दूध फट जाता है उसे आमिक्षा कहते हैं—आमिक्षा सा शृतोष्णे या क्षीरे स्याद् दधियोगतः (अमर)। यहाँ अमर ने फटे हुए दूध को आमिक्षा कह दिया है। याज्ञिक लोग तो फटे हुए दूध के द्रव भाग को आमिक्षा कहते हैं और स्थूल भाग को वाजिन (नपुं०) कहते हैं। **पुरोडाश्यास्तण्डुलाः। पुरोडाशीयास्तण्डुलाः**। अपूप—**अपूप्यम्** (यत्)। **अपूपीयम्। अवचूर्णितो गोधूमो न तथाऽपूप्यो यथा संचूर्णितः**, मोटा-मोटा पीसा गेहूँ का आटा पूए बनाने के लिए इतना अच्छा नहीं होता जितना

---

१. कम्बलाच्च संज्ञायाम्। (५।१।३)।
२. तस्मै हितम् (५।१।५)।
३. विभाषा हविरपूपादिभ्यः (५।१।४)।

बारीक पीसा हुआ। पृथुक (पुं०) चिउड़े। **पृथुक्या इमे तण्डुलाः (पृथुकीया वा)**। सूप—**सूप्याः सूपीया वा मुद्गा भवन्ति**। अन्न-विकारवाचियों से भी—**सुरायै हितास्तण्डुलाः सुर्याः। सुरीयाः**। 'सुर्याः' में न भकुर्छुराम् (८।२।७९) से उपधा उ को दीर्घ-निषेध हो गया।

शरीर=प्राणिकाय। शरीरावयव-वाची प्रातिपदिक से प्राक् क्रीतीय अर्थों में[1]—**दन्त्यम् मञ्जनम्। कण्ठ्यः कषायः**, काढ़ा जो गले के लिए अच्छा है। **ओष्ठ्यो रागः। नाभये हितं तैलम्=नाभ्यम्**। यहाँ 'नाभि' को 'नभ' आदेश नहीं होता। मूर्धन्—**मूर्धन्यश्चन्दनलेपः। नासिकाभ्यां हितं नस्यम्** (नुसवार)। नस् नासिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु—इस वचन से यहाँ नासिका को 'नस्' आदेश हुआ। (५।१।२०) में 'असमासे' ग्रहण करने से पूर्वत्र तदन्तविधि इष्ट है यह ज्ञापित होता है। अतः सुगव्यम्,यवापूप्यम्,यवापूपीयम्, राजदन्त्यम् इत्यादि सिद्ध होते हैं।

खल, यव, माष, तिल, वृष, ब्रह्मन् से भी[2]—**खलाय हिता भूः खल्या**, खलिहान के योग्य भूमि। **यवेभ्यो हिता भूः=यव्या। माष्या। तिल्या। वृषाय हितो घासः=वृष्यः**। वृषन् (नकारान्त) से प्रत्यय नहीं होता—वृष्णे हितम् वाक्य ही रहेगा। ब्रह्म=ब्राह्मण जातिः। **ब्रह्मणे हितो राजा ब्रह्मण्यः**। ब्राह्मणेभ्यो हितः। यहाँ 'छ' प्रत्यय भी नहीं होगा, वाक्य ही रहेगा। सूत्र में 'च' अनुक्त संग्रह के लिए पढ़ा है। रथ से भी यत् होता है—**रथाय हिता रथ्या**, खुला मार्ग जिस पर रथ चल सकता है। तदन्त विधि भी होती है—**द्विरथाय हिता=द्विरथ्या**।

थ्यन्—अज, अजा, अवि (भेड़)—से थ्यन् (थ्य)[3]—**अजेभ्योऽजाभ्यो वा हिताः=अजथ्या विटपा गुल्मा वा**। स्त्रीलिङ्ग 'अजा' से प्रत्यय होने पर तसिलादियों में थ्यन् का परिगणन होने से पुंवद्भाव हो गया। सूत्र में प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा से अज और अजा दोनों का ग्रहण है।

ख—आत्मन्, विश्वजन, तथा भोगोत्तर पद वाले प्रातिपदिक से प्राक्-क्रीतीय अर्थों में[4]—**आत्मने हितः=आत्मनीनः**। आत्माध्वानौ खे

१. शरीरावयवाद्यत् (५।१।६)।
२. खल-यव-माष-तिल-वृष-ब्रह्मणश्च (५।१।७)।
३. अजाविभ्यां थ्यन् (५।१।८)।
४. आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तर-पदात् खः (५।१।९)।

(६।४।१६९) से प्रकृतिभाव । **कस्यायमात्मनीनः कितवो हताशः । आत्मा हि सर्वस्य प्रियः । यो ह्यनात्मनीनानि कार्याणि कुरुते सोऽधन्यः ।** विश्वो जनः=विश्वजनः (कर्मधारय) । **विश्वजनाय हितः=विश्वजनीनः । यो ह्यात्मनीनं कर्म समाचरन् विश्वजनीनमपि चरति स धन्यः ।** भोगः=शरीरम् । **मातृभोगाय हितः=मातृभोगीणः । पितृभोगीणः ।** माता के शरीर के लिए अच्छा । पिता के शरीर के लिए अच्छा । **आचार्यभोगीनः ।** यहाँ णत्व नहीं होता । पञ्चजनाः । दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२।१।५०) से संज्ञा में समास है । ब्राह्मणादयश्चत्वारो निषादश्च पञ्चमः, ते पञ्चजनाः । **पञ्चजनेभ्यो हितम्=पञ्चजनीनम् । सन्ति नाम कानिचित्पञ्चजनीनानि कर्माणि कूपारामतटाकादिनिर्माणानि ।**

ठञ्, ख—'सर्वजन' (कर्मधारय) से ठञ् तथा ख[1]—**सार्वजनिकम् । (सर्वजनाय हितम्)। सर्वजनीनम् (ख) । राजा सार्वजनिकीं (सर्वजनीनां) सभामकारयत्,** राजा ने सबके हित के लिए सभा बुलाई ।

ठञ्—महाजन से नित्य ठञ् होता है[2]—**महाजनाय हितं माहाजनिकम् ।**

ण, ढञ्—'सर्व' से ण, 'पुरुष' से ढञ्[3]—**सर्वस्मै हितः सार्वः शर्वः,** भगवान् शिव सबके हितकारी हैं । **तान्यनुतिष्ठन्विधिना सार्वगामी भवति** (आप० ध० १।२३।१४) । सर्वस्मै हितः सार्व आत्मा । **पुरुषाय हितम् पौरुषेयम् (ढञ्) । विधिकृता सर्वा व्यवस्था पौरुषेयी भवतीति शब्दप्रमाणकाः प्रतिपन्नाः,** वेदमानी लोग ऐसा मानते हैं कि विधाता से की गई सभी व्यवस्था पुरुष के लिए हितकारी है ।

'सर्व' से 'ण' विकल्प से हो, पक्ष में अधिकार-प्राप्त छ हो ऐसा वार्तिककार का वचन है[4]—**सार्वम् (ण) । सर्वीयम् (छ) ।**

'परुष' से वध, विकार, समूह, तेन कृतम् इन अर्थों में भी ढञ् होता है[5]—**पुरुषस्य वधः पौरुषेयो वधः**=नरहत्या । **लुण्टाकैर्न केवलं धनमपहृतं**

---

१. सर्वजनाट्ठञ् खश्च (वा०) ।
२. महाजनान्नित्यं ठञ् वक्तव्यः (वा०) ।
३. सर्व-पुरुषाभ्यां णढञौ (५।१।१०) ।
४. सर्वाण्णस्य वा वचनम् (वा०) ।
५. पुरुषाद् वध-विकार-समूह-तेनकृतेष्विति वक्तव्यम् (वा०) ।

पौरुषेयो वधोपि कृतो नृशंसैः। **पौरुषेयो विकार एष** यदनृतिकत्वम्, मिथ्या-भाषित्व मनुष्य की विकृति है (प्रकृति नहीं)। **पुरुषाणां समूहः पौरुषेयः।** **किंकृतोऽयं पौरुषेयः समूहो विशिखायाम्,** यह मुहल्ले में पुरुषों का जमघट किस कारण से है? पुरुषेण कृतं पौरुषेयम्। **वेदा अपौरुषेया इति मीमांसकाः,** वेद पुरुष ने नहीं बनाये ऐसा मीमांसक कहते हैं। **समयः पौरुषेयी व्यवस्था,** पुरुषकृत व्यवस्था को 'समय' कहते हैं। (गौ० ध० १।८।११ पर हरदत्त का वचन)। **नाराशंस्यः पौरुषेय्यो यज्ञगाथाः**(याज्ञ० १।४५ पर विश्वरूप का वचन)।

खञ्—माणव, चरक से खञ्[1]—**माणवाय हितं व्याकरणाध्ययनम् माणवीनम्।** चरका भिषज इति प्रक्रियासर्वस्वम्। **चरकेभ्यो हितो रोग-विसर्पः=चारकीणः।**

छ—चतुर्थ्यन्त विकृतिवाचक प्रातिपदिक से यथाविहित 'छ' प्रत्यय होता है जब उस विकृति की प्रकृति वाच्य हो[2]—**अङ्गारेभ्य इमानि काष्ठानि अङ्गारीयाणि,** ये लकड़ियाँ कोयला बनाने के लिए हैं। अङ्गार विकृति हैं और काष्ठ (लकड़ियाँ) उस विकृति की प्रकृति हैं। कुछ लोग 'तस्मै हितम्' की यहाँ अनुवृत्ति करते हैं—**अङ्गारेभ्यो हितानि काष्ठानि अङ्गारी-याणि।** वस्तुतः प्रकृति विकृतिभाव होने पर योग्यता, हितार्थता की प्रतीति होती ही है। हर प्रकार की लकड़ी के तो कोयले बनेंगे नहीं। जब लकड़ी कोयले बनाने के लिए है ऐसा कहा जाता है तब कोयले बनाने में उपकारक लकड़ी ही ली जाती है। **प्राकारीया इष्टकाः,** ईंटे जिनसे दीवार बनेगी, अर्थात् दीवार बनाने में उपकारक। शङ्कु—**शङ्कव्यं दारु।** **पिचव्यः कार्पासः।**
उदकार्थः कूपः। कूप उदक की प्रकृति है। उदक के क्षारत्वादि गुणों की उत्पत्ति का आधार होने से। उपादान कारण नहीं। सूत्र में विकृति ग्रहण से तदर्थ प्रकृति (उपादान) ही ली जाती है। उदक कूप की विकृति नहीं है, कूप और उदक का अत्यन्त-भेद होने से। अतः यहाँ उदक से प्रत्यय नहीं होगा।

ढञ्—छदिस्, उपधि, बलि से तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ (विकारार्थ प्रकृति के वाच्य होने पर)[3]—छदिस्=छत। **छदिष इमानि तृणानि छादिषेयाणि।**

---

१. माणव-चरकाभ्यां खञ् (५।१।११)।
२. तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ (५।१।१२)।
३. छदिरुपधि-बलेर्ढञ् (५।१।१३)।

उपधि शब्द से स्वार्थ में प्रत्यय इष्ट है—**उपधिरेव औपधेयम्**=रथाङ्गम्=चक्रम्। **बलिभ्यस्तण्डुलाः=बालेयाः**।

ञ्य—ऋषभ, उपानह् से विकारार्थक प्रकृति के वाच्य होने पर[1]—विकार दो प्रकार का होता है, (१) जहाँ प्रकृति का उच्छेद हो जाता है (२) जहाँ प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है। दूसरे अर्थ में ऋषभ एक ऐसे वत्स (बछड़े) की विकृति=अवस्थान्तर रूपान्तरप्राप्ति) है जो महाप्राण, सुडौल शरीर वाला है जिसे ऋषभ बनाने के लिए पाला जाता है। अतः 'ऋषभ' से प्रत्यय होगा—**आर्षभ्यो वत्सः**। उपानह (जूता) स्त्री। **उपानहे मुञ्जः=औपानह्यो मुञ्जः**। यदि चर्म भी प्रकृति होगी तो भी पूर्वविप्रतिषेध (पूर्व-विधि को बलवत्तर मानने) से उपानह् से 'ञ्य' ही होगा, परसूत्र से प्राप्त अञ् नहीं—**औपानह्यं चर्म**।

अञ्—वद्ध्र्यै चर्म **वार्ध्रं चर्म**[2]। **वरत्रायै चर्म=वारत्रं चर्म**। वर्ध्री नद्ध्री वरत्रा स्यात्—अमर। वर्ध्री, वरत्रा चाम की पेटी का नाम है जो रथादियुक्त पशुओं की छाती के नीचे बाँधी जाती है।

छ—प्रथमान्त से यथाविहित 'छ' प्रत्यय होता है जब प्रथमान्त का वाच्यार्थ 'इसका अथवा इसमें सम्भावित है' ऐसा अर्थ कहने की इच्छा हो।[3] यहाँ प्रकृति-विकृतिभाव तथा तादर्थ्य की विवक्षा नहीं, केवल योग्यता विवक्षित है। सूत्र में 'स्यात्' संभावना में लिङ् है। **प्राकार आसाम् इष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टकाः**=प्राकार (दीवार) निर्माण के योग्य ईंटें। संभावना है इन ईंटों से प्राकार बन जाएगा। अर्थात् ये प्राकार के लिए पर्याप्त होंगी। **प्रासादोऽस्य दारुणः स्यादिति प्रासादीय दारु** (काष्ठ)। **प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यात् इति प्राकारीयो देशः**, देश=स्थान (वास्तु) को देख यह कहा जा सकता है कि यहाँ प्राकार बन सकेगा। **प्रासादोऽत्र स्यादिति प्रासादीया भूमिः**, यह भूमि इस योग्य है कि इस पर प्रासाद बनाया जा सकेगा।

ढञ्—परिखाऽस्या अस्यां वा स्यादिति पारिखेयी[4] भूमिः।

यहाँ छ और यत् की अवधि पूर्ण हुई।

---

१. ऋषभोपानहोर्ञ्यः (५।१।१४)।
२. चर्म्मणोऽञ् (५।१।१५)।
३. तदस्य तदस्मिन्स्यादिति (५।१।१६)।
४. परिखाया ढञ् (५।१।१७)।

आर्हीय ठगाद्यधिकारः

प्राग्वतेष्ठञ् । तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः (५।१।११५) सूत्र तक ठञ् प्रत्यय का अधिकार है । इस अधिकार के अन्तर्गत तदर्हति (५।१।६३) सूत्र के अर्थ में प्रत्यय-विधायक सूत्रों को अभिव्याप्त करके ठक् का अधिकार है[1] अर्थात् यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (५।१।७१) सूत्र तक यह अधिकार चलता है। सूत्र में आङ् अभिविधि में है । पर आर्हीय अर्थों में भी गोपुच्छ, संख्यावचन, परिमाण विशेषवाची से तो ठञ् ही आता है—**गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम्** । संख्या—**षष्ट्या क्रीतम्=षाष्टिकम्** । **षाष्टिकी कौशेयबृहतिका**, साठ (रुपये) से खरीदी हुई रेश्मी चादर । परिमाण—**प्रस्थेन क्रीतं प्रास्थिकम्** । भेद की गणना एक, द्वि, त्रि आदि संख्या है । भार (वज़न) जिससे मापा जाता है वह पल आदि 'उन्मान' है । आयाम (लम्बाई) का मानसाधन वितस्ति (बालिश्त) आदि 'प्रमाण' है । आरोह (ऊँचाई) तथा परिणाह (घेरा) जिससे मापा जाता है वह प्रस्थ आदि 'परिमाण' है ।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात्संख्या बाह्या तु सर्वतः ।।

ठक्—असमासान्त निष्क आदि से आर्हीय अर्थों में[2]—**निष्केण क्रीतं नैष्किकम्** । निष्क सुवर्ण का सिक्का है जो सुवर्ण, भार, १६ माशे के बराबर है । यह प्रायिक है । समास में तो परमनैष्किकम् । उत्तमनैष्किकम्—यहाँ ठञ् ही होगा । यहाँ परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः (७।३।१७) से उत्तर-पद को वृद्धि होती है । माष—**माषिकम्** । पाद—**पादिकम्** ।

ठन्, यत्—'शत' से आर्हीय अर्थों में जब शत अभिधेय न हो[3]—**शतेन क्रीतं शत्यम्** । **शतिकम्** (ठन्) । **शत्यं शतिकं वेदमर्धोरुकम्**=यह सौ (रुपये) से खरीदा हुआ लंहगा है । जब 'शत' अभिधेय (प्रत्ययार्थ) होगा तो प्रत्यय नहीं होगा—**शतम् अध्यायाः परिमाणमस्य निदानाख्यस्य ग्रन्थस्येति शतकं निदानम्** । यहाँ (५।१।५८) से कन् हुआ, ठन्, यत् नहीं हो सकते थे; कारण कि यहाँ प्रकृत्यर्थ 'शत' से प्रत्ययार्थ 'सङ्घ' अभिन्न है, अर्थात् शत ही है ।

---

१. आर्हादगोपुच्छ-संख्या-परिमाणाट् ठक् (५।१।१९) ।
२. असमासे निष्कादिभ्यः (५।१।२०)
३. शताच्च ठन्यतावशते (५।१।२१) ।

शत के प्रतिषेध में भी अन्यसम्बन्धी शत का प्रतिषेध नहीं ऐसा वार्तिक है*—**शत्यं शाटकशतम्। शतिकं शाटकशतम्।** यहाँ यत् और ठन् का प्रतिषेध नहीं हुआ। इत ऊर्ध्वं तु संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणं प्राग्वतेरिष्यते तच्चालुकि ऐसा वार्तिक पढ़ा है। 'इत ऊर्ध्वम्' का अर्थ है—असमासे निष्कादिभ्यः (५।१।२०) से अगले सूत्रों में। यह अप्राप्त तदन्तविधि का अभ्यनुज्ञान करता है, पर द्वौ च शतं च द्विशतम् (१०२)। **द्विशतेन क्रीतं द्विशतकम्। त्रिशतकम्**—यहाँ (५।१।२२) से कन् होता है, ठन्, यत् नहीं होते कारण कि पूर्व से 'असमासे' इसे खींचने के लिए इस सूत्र में 'च' पढ़ा है।

कन्—जो संख्यावचन ति अन्तवाला तथा शत् अन्तवाला न हो उससे आर्हीय अर्थों में[1]—**पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः।** पञ्चन् न त्यन्त है और न शदन्त है। बहु—**बहुकः।** गण—**गणकः।** शास्त्र में 'बहु' और 'गण' की संख्या संज्ञा की है।

सप्तति त्यन्त है अतः इससे यथाप्राप्त ठञ् होगा—**सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम्।** चत्वारिंशत् शदन्त है अतः इससे भी ठञ् होगा—**चत्वारिंशता क्रीतं चात्वारिंशत्कम्।** प्रकृति के तान्त होने 'ठ' को 'क'। आदि वृद्धि। अर्थवान् जो 'ति' शब्द तदन्त से कन् का निषेध है, अनर्थक 'ति' होने पर नहीं होगा—**कतिभिः क्रीतं कतिकम्।** कन्। 'कति' डतिप्रत्ययान्त है। यहाँ अति सार्थक है उसका अवयव 'ति' अनर्थक है।

कन्, इडागम—वत्वन्त की शास्त्र में संख्या संज्ञा विधान की है[2], अतः आर्हीय अर्थों में इससे कन् तो सिद्ध है, इट् का विकल्प से विधान किया जाता है[3]—**तावद्भिः क्रीतस्तावतिकः। यावद्भिः क्रीतो यावतिकः। यावतिकस्ते पटस्तावतिको ममापि, तथापि ते विशिष्यते गुणैः,** जितने मोल से तूने पट खरीदा है उतने से मैंने भी, तो भी तेरा बढ़िया है। इड् विकल्प होने से इडभाव में तावत्कः यावत्कः रूप भी होंगे।

ड्वुन्—विंशति, त्रिंशत् से आर्हीय अर्थों में ड्वुन् होता है जब प्रत्ययान्त संज्ञा न हो।[4] ड्वुन् (=वु=अक) डित् है अतः इसके परे होने पर भ-संज्ञक

---

*शतप्रतिषेधेऽन्यशतत्वेऽप्रतिषेधः (वा०)।

१. संख्याया अति-शदन्तायाः कन् (५।१।२२)।

२. बहु-गण-वतु-डति संख्या (१।१।२८)।

३. वतोरिड् वा (५।१।२३)।

४. विंशति-त्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम् (५।१।२४)।

X 'सङ्ख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि' इस वार्तिक से तदन्त-विधि होने से पञ्चविंशति वर्षाणि वयः परिमाणमस्य पञ्चविंशकः। श्रीरामायण में प्रयोग भी है — मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः (३।४७।१०)।

की 'टि' का लोप होगा। विंशति के तो 'ति' भाग का लोप होता है। ति विंशतेर्डिति—**विंशतिर्वर्षाणि वयः परिमाणमस्य=विंशकः । त्रिंशद् वर्षाणि वयः परिमाणमस्य त्रिंशकः ।** बीस बरस, तीस बरस की वय वाला। संज्ञा में तो विंशतिकः, त्रिंशत्कः, यहाँ कन् होगा। त्यन्त और शदन्त होने से कन् की प्राप्ति ही नहीं, तो कन् कैसे हुआ। इसका समाधान यही है कि योग-विभाग कर लिया जाएगा—विंशतित्रिंशद्भ्यां कन्। दूसरा सूत्र होगा—ड्वुनसंज्ञायम्। X

टिठन्—कंसेन क्रीतम्—कंसिकम् । क्रीता—**कंसिकी** ।[1] प्रत्यय में ट् ङीप् के लिए है। न् स्वर के लिए, ताकि प्रत्ययान्त आद्युदात्त हो। कंस परिमाण-वाची शब्द है इसे ठञ् प्राप्त था। **कंसः परिमाणमस्य सोमस्य कंसिकः सोमः। कंसिकी सुरा ।**

अञ्—शूर्प (परिमाणवाची) से आर्हीय अर्थों में विकल्प से। ठञ् का अपवाद है। पक्ष में ठञ् भी होगा[2]—**शूर्पेण क्रीतं शौर्पम्** (अञ्)। **शौर्पिकम्** (ठञ्)। **द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम् । त्रिभिः शूर्पैः क्रीतं त्रिशूर्पम्** । यहाँ तदन्तविधि होने से विकल्प से अञ् हुआ उसका अध्यर्ध-पूर्व-द्विगोर्लुग् असंज्ञा-याम् (५।१।२८) से लुक् हो गया। तद्धितार्थ में द्विगु है, तद्धित उसका निमित्त है। अञ् आर्हीय प्रत्यय है। पर जब 'द्विशूर्प' लुगन्त की प्रकृति होगा तो इस सूत्र में तदन्त विधि का प्रतिषेध[3] हो जाने से अञ् न हो सकेगा, सामान्य विहित ठञ् होगा—**द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकम्** । यहाँ द्विशूर्पम्= द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतम् अर्थ में द्विगु है और अञ् का लुक् होने से लुगन्त की प्रकृति है। ठञ् का लुक् इसलिए नहीं हुआ क्योंकि ठञ् द्विगु के प्रति निमित्त नहीं। द्विगु पहले ही अवस्थित है।

अण्—शतमान (परिमाण-विशेष), विंशतिक (संज्ञाशब्द), सहस्र, वसन से आर्हीय अर्थों में[4]—**शतमानेन क्रीतं शातमानं शतम्** । ठञ् का अपवाद।

---

१. कंसाट् टिठन् (५।१।२५)।

२. शूर्पादञन्यतरस्याम् (५।१।२६)।

३. इत उत्तरं संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरिष्यते। लुगन्तायास्तु प्रकृते र्नेष्यते (इ०)।

४. शतमान-विंशतिक-सहस्र-वसनादण् (५।१।२७)।

विंशत्या क्रीतं विंशतिकम् (संज्ञा)। **विंशतिकेन क्रीतं वैंशतिकम्। सहस्रेण क्रीतं साहस्रम्। वसनेन क्रीतम्=वासनम्**। ठक् का अपवाद।

आर्हीय-प्रत्यय का लुक्—अध्यर्धपूर्व प्रातिपदिक से तथा द्विगु से आर्हीय प्रत्यय का लुक्[1]—अध्यारूढमर्धम् अस्मिन् इत्यध्यर्धम् (बहुव्रीहि)। **अध्यर्ध-कंसेन क्रीतम् अध्यर्धकंसम्**। डेढ़ कंस से खरीदा हुआ। यहाँ टिठन् प्रत्यय का लुक् हुआ है। **द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्। त्रिभिः शूर्पैः क्रीतम्=त्रिशूर्पम्।** यहाँ तद्धितार्थ में समास होकर अञ् तद्धित हुआ। वह द्विगु का निमित्त है। उसका लुक् हो गया। प्रत्ययान्त यदि संज्ञा होगा तो लुक् नहीं होगा—**पञ्च लोहिन्यः परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य**—तद्धितार्थ में समास होकर तदस्य परिमाणम् (५।१।५७) से ठञ् हुआ, जिसका लुक् न हुआ—**पाञ्चलोहितिकम्। पाञ्चकलापिकम्**। यहाँ भस्याढे तद्धिते (भसंज्ञक को पुंवद्भाव होता है ढ-भिन्न तद्धित परे होने पर) से पुंवद्भाव हुआ, जिससे लोहिनी के ई तथा न् की निवृत्ति होती है। सूत्र में अध्यर्ध शब्द का पृथक् उपादान इसलिए किया है कि यद्यपि अध्यर्ध शब्द (डेढ़ का वाचक) संख्या ही है तो भी इसे सभी संख्यानिमित्तक कार्य नहीं होते। जैसे इससे कृत्वसुच् (जो संख्या शब्दों से क्रिया की अभ्यावृत्ति की गणना में होता है) नहीं होता—अध्यर्धं करोति। जब एक बार फल देने वाली क्रिया को करके दूसरी बार आधी ही करके लौट जाता है तब कृत्वसुच् का प्रसङ्ग होने पर वह नहीं होता।

अर्धपूर्वपद पूरणप्रत्ययान्त की संख्या संज्ञा होती है समास और कन् प्रत्यय के लिए ऐसा वार्तिक पढ़ा है।[2] **अर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतः=अर्धपञ्चमशूर्पः।** अञ् तथा ठञ् का लुक्। **अर्धपञ्चमकः**। कन् प्रत्यय।

अध्यर्ध पूर्व तथा द्विगु से जो कार्षापणान्त हो अथवा सहस्रान्त हो, प्रत्यय का लुक् विकल्प से होता है[3]—**अध्यर्धकार्षापणेन क्रीतम्, अध्यर्धकार्षापणः परिमाणमस्येति वा अध्यर्धकार्षापणम्** (ठञ्लुक्)। **अध्यर्धकार्षापणिकम्** (ठञ्)। **द्विकार्षापणम्** (द्विगु)। **द्विकार्षापणिकम्** (ठञ् का अलुक)।

तेन क्रीतम् (५।१।३७) इत्यादि सूत्रों से उक्त ठञादि (१३) प्रत्ययों के

---

१. अध्यर्धपूर्व-द्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८)।

२. अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यं समास-कन्विध्यर्थम् (वा०)।

३. विभाषा कार्षापण-सहस्राभ्याम् (५।१।२९)।

अर्थ कहे हैं। तेन क्रीतम् के विषय में विशेष वक्तव्य यह है कि 'तेन' यहाँ मूल्य से करण में तृतीया समझनी चाहिए। अतः देवदत्तेन क्रीतं पाणिना क्रीतम्—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा, वाक्य ही रहेगा। यह भी ध्यान देने योग्य है द्विवचनान्त वा बहुवचनान्त प्रकृति से प्रत्यय नहीं होगा—प्रस्थाभ्यां प्रस्थैर्वा क्रीतम्—यहाँ वाक्य ही रहेगा। कारण कि 'प्रास्थिकम्' कहने से प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थैः क्रीतम्, ऐसी प्रतीति नहीं होती। अनभिधान ही इसमें हेतु है। जहाँ संख्याभेद की प्रतीति होती है वहाँ द्विवचनान्त अथवा बहुवचनान्त से भी प्रत्यय होगा—**द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्। त्रिभिः क्रीतं त्रिकम्। पञ्चकम्।** यथाविहित कन्। तथा **मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्** (ठक्)। एक मुद्ग से क्रय-संभव नहीं। अतः बहुवचनान्त प्रकृति से प्रत्यय हुआ है।

षष्ठ्यन्त से तस्य निमित्तम्, उसका निमित्त, इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है यदि वह निमित्त संयोग अथवा उत्पात हो।[1] सम्बन्ध यहाँ संयोग शब्द का वाच्यार्थ है। महाभूतों के शुभाशुभ-सूचक परिणाम (विकार) को 'उत्पात' कहा है—**शतस्य निमित्तं धनपतिना संयोगः शत्यः, शतिकः** (यत्, ठन्)। **सहस्रस्य निमित्तं साहस्रम्** (अण्)। 'निमित्त' शब्द यहाँ कारक हेतु लिया जाता है। **शतस्य निमित्तमुत्पातो दक्षिणाक्षिस्पन्दनम्**, दाईं आँख का फड़कना रूप उत्पात इस बात का सूचक है कि सौ (रुपयों) का लाभ होगा। पाञ्चभौतिक शरीर में द्रव्य ही क्रियारूप से परिणत होता है। अतः दक्षिणाक्षिस्पन्दन महाभूतपरिणाम है। इस उदाहरण में निमित्त ज्ञापकहेतु लिया जाता है।

तस्य निमित्तम् इस प्रकरण में वात, पित्त, श्लेष्मन् से शमन, कोपन अर्थ में ठक् प्रत्यय हो ऐसा वार्तिककार चाहते हैं[2]—**वातस्य शमनः कोपनो वा शाको वातिकः। पैत्तिकः। श्लैष्मिकः। श्लेष्मणः शमनं श्लैष्मिकं मधु। पित्तस्य शमनं पैत्तिकं घृतम्।** 'सन्निपात' से भी प्रत्यय इष्ट है—**सन्निपातस्य शमनं कोपनं वौषधम्=सान्निपातिकम्।** वात आदि तीनों का एक साथ उद्भव सन्निपात होता है।

यत्—तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ—इस अर्थ में गो शब्द से और द्व्यच्क

१. तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ (५।१।३८)।

२. तस्य निमित्तप्रकरणे वात-पित्त-श्लेष्मभ्यः शमन-कोपनयोरुपसंख्यानम् (वा०)।

प्रातिपदिक से यत् हो।[1] ठञ् आदि का अपवाद है। **गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा गव्यः**, ऐसा संयोग अथवा उत्पात जो गोलाभ का सूचक है। द्व्यच्क—**धनस्य निमित्तं संयोगो धन्यः**। धन्या षड्ग्रही, धनविनाशसूचिका। षण्णां ग्रहाणां गुरुवर्जितानामैक्ये मही निर्धनतां प्रयाति। लग्ने चतुर्ग्रही धन्या (धनवृद्धिकरी)। **स्वर्ग्यः**। स्वर्गस्य निमित्तं संयोगः। **स्वर्ग्यः सद्भिः सङ्गः कथमपि पुण्येन भवति। आयुष्यः संयोग उत्पातो वा। यशस्यः**। पर संख्या, परिमाण, तथा अश्व आदि से यत् नहीं होता—संख्या—**पञ्चानां निमित्तं संयोग उत्पातो वा पञ्चकः। सप्तकः। अष्टकः**। कन्। परिमाण—**प्रास्थिकः**। ठञ्। अश्व—**आश्विकः** (ठक्)। ऊर्णा—**और्णिकः**। उमा—**औमिकः**।

ब्रह्मवर्चस से भी[2]—ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोगः=**ब्रह्मवर्चस्यः**। ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम्। स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनर्द्धिः—अमर।

छ, यत्—**पुत्रस्य निमित्तमुत्पातः पुत्रीयः** (छ)। **पुत्र्यः** (यत्)[3]। द्व्यच् होने से नित्य यत् प्राप्त था।

अण्, अञ्—'सर्वभूमि', तथा 'पृथिवी' से 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' इस अर्थ में क्रम से[4]—**सर्वभूम्या निमित्तं संयोग उत्पातो वा सार्वभौमः**। (अण्)। अनुशतिकादि होने से उभयपद वृद्धि। **पृथिव्या निमित्तं संयोग उत्पातो वा पार्थिवः**।

षष्ठ्यन्त से तस्येश्वरः, उसका ईश्वर, इस अर्थ में[5]—**सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः** (अण्)। **पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः** (राजा)। अञ्। स्त्रीत्व में **पार्थिवा**।

सर्वभूमि तथा पृथिवी से तत्र विदितः इस अर्थ में[6]—**सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः। इह केचित्सार्वभौमाश्शासितारोऽभूवन् मुनयश्चापि। पृथिव्यां विदितः पार्थिवः। पार्थिवोऽयमर्थः पाणिनिमुपान्ये वैयाकरणा इति**, यह बात भूमण्डल में प्रसिद्ध है दूसरे वैयाकरण पाणिनि से उतरकर हैं।

---

१. गो-द्व्यचोऽसंख्या-परिमाणाश्वादेर्यत् (५।१।३९)।
२. ब्रह्मवर्चसादुपसंख्यानम् (वा०)।
३. पुत्राच्छ च (५।१।४०)।
४. सर्वभूमि-पृथिवीभ्यामणञौ (५।१।४१)।
५. तस्येश्वरः (५।१।४२)।
६. तत्र विदित इति च (५।१।४३)।

ठञ्—'तत्र विदितः' इस अर्थ में लोक, सर्वलोक से[1]—**लोके विदितः=लौकिकः। सर्वलोके विदितः सार्वलौकिकः।** उभयपद वृद्धि। **सत्यानृते अर्थौ लौकिकौ सार्वलौकिकौ वेति शास्त्रनिरपेक्षौ।**

षष्ठ्यन्त से 'तस्य वापः' (उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम्) अर्थ में यथा-विहित ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं[2]—**प्रस्थस्य वापः क्षेत्रम् प्रास्थिकम्** (ठञ्)। **द्रौणिकम्।**

ष्ठन्—पात्र शब्द से 'तस्य वापः' अर्थ में[3]—**पात्रस्य वापः क्षेत्रम् पात्रिकम्।** पात्र परिमाणवाची शब्द है। ठञ् का अपवाद।

कन् आदि—प्रथमान्त से तत्र दीयते, उसमें दिया जाता है, इस अर्थ में यथाविहित कन् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रथमान्त का वाच्य वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क अथवा उपदा (=उत्कोच=रिशवत) हों—**पञ्च अस्मिन्ग्रामे वृद्धिर्वाऽऽयो वा लाभो वा, शुल्को वा उपदा वा दीयत इति पञ्चको ग्रामः।** वृद्धि—इसे प्रचलित भाषा में सूद कहते हैं जो अधमर्ण (ऋणी) उत्तमर्ण (धनिक, प्रयोक्ता को देता है। आय=ग्रामादि में स्वामि-ग्राह्य-भाग। शुल्क=रक्षा के निमित्त जो राजद्वारा कर लिया जाता है। इन अर्थों में **शत्यः।** यत्। **शतिकः** (ठन्)। **साहस्रः** (अण्) इत्यादि प्रयोग भी निष्पन्न होंगे।

यथाविहित प्रत्यय वृद्ध्यादि उसको दिए जाते हैं इस अर्थ में भी होते हैं[4]—**पञ्चाऽस्मै वृद्ध्यादिर्दीयत इति पञ्चको देवदत्तादिः।**

ठन्—पूरणवाची प्रातिपदिक से तथा अर्ध से 'वृद्ध्यादि उसमें अथवा उसको दिए जाते हैं' इस अर्थ में ठन् होता है[6]—**द्वितीयोवृद्ध्यादिर् अस्मिन् अस्मै वा दीयत इति द्वितीयिकः। तृतीयिकः। पञ्चमिकः। सप्ततिकः। अर्धिकः।** सूत्र में 'पूरण' से अर्थ का ग्रहण है, पूर्यते येन स पूरणः, प्रत्यय का नहीं। प्रत्यय ग्रहण होने पर 'तस्य पूरणे डट्' इस अधिकार में विहित

---

१. लोक-सर्वलोकाट् ठञ् (५।१।४४)।
२. तस्य वापः (५।१।४५)।
३. पात्रात्ष्ठन् (५।१।४६)।
४. तदस्मिन्वृद्ध्याय-लाभशुल्कोपदा दीयते (५।१।४७)।
५. चतुर्थ्यर्थे उपसंख्यानम् (वा०)।
६. पूरणार्धाट् ठन् (५।१।४८)।

प्रत्ययों का ही ग्रहण होता, जिससे पूरणाद् भागे तीयादन् (५।३।४८) से स्वार्थिक अन्नन्त से प्रत्यय (ठन्) न हो सकता। अर्ध=रूपकार्ध।

ठन्-यत्—भाग (=रूपकार्ध) से 'वृद्धयादि उसमें दिए जाते हैं, इस अर्थ में[1]—**भागो वृद्धयादिर्दीयतेऽस्मिञ्शते इति भागिकं शतम्। भाग्यं शतम्**, शत जिसमें (जिसके प्रति) भाग (रूपकार्ध) वृद्धि आदि के रूप में दिया जाता है। **भाग्या भागिका वा विंशतिः**, बीस जिसके प्रति रूपकार्ध वृद्धि आदि के रूप में दिया जाता है।

ठक्—द्वितीयान्त से उसे स्थानान्तर को ले जाता है (अथवा चुराता है) (हरति) उठाता है (वहति), उत्पन्न करता है (आवहति) अर्थों में भारान्त वंश आदि से अथवा भारभूत (बोझल) बांस आदि के वाचक वंशादि से[2]—**वंशभारं हरति वहत्यावहति वांशभारिकः। भारभूतान् वंशान् हरति वहत्यावहति वांशिकः।** कुटजभार—**कौटजभारिकः।** कुटज—**कौटजिकः।** बल्वजभार—**बाल्वजभारिकः।** बल्वज—**बाल्वजिकः।** इक्षुभार—**ऐक्षुभारिकः।** इक्षु—**ऐक्षुकः।** 'ठ' को 'क' आदेश।

ठन्-कन्—वस्न तथा द्रव्य से हरत्यादि अर्थों में[3]—**वस्निकः।** ठन्। **द्रव्यकः।** कन्। ठन् और कन् यथासंख्य होते हैं, पहले से पहला, दूसरे से दूसरा।

ठञ्—द्वितीयान्त से संभवति, अवहरति, पचति अर्थों में यथाविहित प्रत्यय[4]—**प्रस्थं संभवत्यवहरति पचति वा स्थाली प्रास्थिकी**, जिस पाक-भाजन में एक प्रस्थ-परिमित चावल आदि पूरी तरह समा जाते हैं, जिसमें समाने पर रिक्त अवकाश रहता है, और जिसमें एक प्रस्थ चावल पकते हैं उसे प्रास्थिकी कहते हैं। सूत्र में आधेय (चावल आदि) का आधार स्थाली से प्रमाण में अधिक न होना 'संभवति' का अर्थ है। प्रमाणानतिरेकपूर्वक धारण अर्थ में संभवति का प्रयोग है अतः यह यहाँ सकर्मक है। आधार से आधेय का न्यून होना अवहरण (=उपसंहरण) है। सौकर्यविवक्षया स्थाली (जो वस्तुतः अधिकरण है) पाकक्रिया की कर्त्री मानी गई है। **प्रस्थं पचति ब्राह्मणी** ऐसा भी प्रयोग है। यहाँ अनुपचरित कर्तृत्व है।

---

१. भागाद्यच्च (५।१।४९)।
२. तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः (५।१।५०)।
३. वस्न-द्रव्याभ्यां ठन्कनौ (५।१।५१)।
४. संभवत्यवहरति पचति (५।१।५२)।

अण्—द्रोणं पचतीति द्रौणी स्थाली (अण्)। यथाप्राप्त ठञ् भी होता है[1]—**द्रौणिकी**।

ख—आढक, आचित, पात्र से संभवति आदि अर्थों में विकल्प से[2]—**आढकं संभवत्यवहरति पचति वा स्थाली आढकीना। आचितीना। पात्रीणा।** पक्ष में यथाप्राप्त ठञ्—**आढकिकी। आचितिकी। पात्रिकी।**

ष्ठन्—आढकाद्यन्त द्विगु से ख और ष्ठन् विकल्प से[3]। पक्ष में यथाप्राप्त ठञ् होगा, पर उसका अध्यर्धपूर्व—से लुक् हो जायगा—**द्वे आढके संभवत्यवहरति पचति वा स्थाली द्व्याढकिकी। द्व्याचितिकी। द्विपात्रिकी।** ष्ठन्। द्व्याढकीना। द्व्याचितीना। द्विपात्रीणा। ठञ् का लुक् होने पर द्व्याढकी। द्व्याचिता। यहाँ जो द्विगोः (४।१।१२१) से ङीप् प्राप्त हुआ उसका अपरिमाणबिस्ताचित—(४।१।१२२) से निषेध हो जाने पर टाप् हुआ। द्विपात्री। ङीप्।

कन् आदि—प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है यदि प्रथमान्त का वाच्य अंश, वस्न, भृति में से कोई हो[4]—**पञ्च अंशो वस्नो भृतिर्वाऽस्य पञ्चकः पुरुषः।** वस्न=मूल। भृति=वेतन।

ठञ् आदि—प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रथमान्त परिमाणवाची हो[5]। परिमाण से यहाँ प्रमाणमात्र (=परिच्छेदक मात्र) लिया जाता है। संख्या भी परिच्छेदिका है, वह भी परिमाण शब्द से गृहीत होगी—**प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः। कुडवः परिमाणमस्य कौडविकः। द्रौणिकः। वर्षशतं परिमाणमस्य वार्षशतिकं सत्त्रम्। वर्षसहस्रं परिमाणमस्य वार्षसहस्रिकं सत्रम्।** संख्या होने से ठञ्। वर्षशतम् वर्षसहस्रम् षष्ठीतत्पुरुष है। **शतं परिमाणमस्य द्रव्यराशेः=शत्यः। शतिकः।** यत्। ठन्। **सहस्रं परिमाणमस्य द्रव्यराशेः साहस्रः।** (अण्)। **पञ्चविंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्** (भा० आदि०)। पञ्चविंशतिः सहस्राणि

---

१. तत्पचतीति द्रोणादण् च (वा०)।
२. आढकाचित-पात्रात्खोऽन्यतरस्याम् (५।१।५३)।
३. द्विगोष्ठंश्च (५।१।५४)।
४. सोऽस्यांश-वस्न-भृतयः (५।१।५६)।
५. तदस्य परिमाणम् (५।१।५७)।

परिमाणमस्याः सा पञ्चविंशतिसाहस्री । **द्वे षष्टी जीवितपरिमाणमस्य द्विषाष्टिकः । द्विसाप्ततिकः । ठञ्** । पञ्चविंशतिसाहस्री तथा द्विषाष्टिक आदि में ठञ् तथा अण् का अध्यर्धपूर्वद्विगोः—से लुक् क्यों नहीं हुआ । पुनर्विधान सामर्थ्य से । अर्थात् पूर्वसूत्र से समर्थविभक्ति और प्रत्ययार्थ की अनुवृत्ति आने से प्रथम वार जो प्रत्यय विहित हुआ उसका लुक् तो हो गया, पर दुबारा समर्थविभक्ति (प्रथमा) और प्रत्ययार्थ (अस्येति षष्ठयर्थ) के उपादान से जो प्रत्यय का पुनर्विधान हुआ उसका लुक् नहीं होता । यदि उसका भी लुक् हो जाए तो पुनर्विधान व्यर्थ हो जाय । संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च (७।३।१५) से पञ्चविंशतिसाहस्री आदि में उत्तरपद वृद्धि हुई ।

परिमाणोपाधिक प्रथमान्त प्रातिपदिक से अस्यार्थ (षष्ठ्यर्थ) में यथाविहित कन् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रत्ययार्थ (षष्ठचर्थ) के संज्ञा, सङ्घ, सूत्र, अध्ययन विशेषण हों[1]—संज्ञा में स्वार्थ में प्रत्यय होता है—**पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः । पञ्च परिमाणमस्य सङ्घस्य=पञ्चकः सङ्घः । अष्टकः ।** सङ्घ शब्द प्राणिसमूह में रूढ है । एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् । यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ।। (मनु० २।९२) । **अष्टाध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य अष्टकं पाणिनीयम् । दशकं वैयाघ्रपदीयम् ।** व्याघ्रपादो गोत्रापत्यं वैयाघ्रपद्यः (यञ्) । तस्येदं वैयाघ्रपदीयम् (छ) । **त्रिकं काशकृत्स्नम् । पञ्चकोऽधीतः पाठः । सप्तकोऽधीतः । अष्टकोऽधीतः ।** अध्ययन=अधीति । उसका संख्या-परिमाण (प्रकृत में) पाँच आवृत्तियाँ हैं । **पञ्च रूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम् ।**

ड—स्तोम (मन्त्र-समूह) अभिधेय हो तो 'तदस्य परिमाणम्' अर्थ में 'ड' होता है[2]—**पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्येति पञ्चदशः स्तोमः । सप्तदशः । एकविंशः ।** पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति, शत—ये निपातन किए हैं[3] । जो भी कार्य लक्षण (सूत्र) से अनुपपन्न है वह सब निपातन से उपपन्न जानना चाहिए । **पञ्च परिमाणमस्य पङ्क्तिश्छन्दः,** पाँचों पादों का एक वैदिक छन्द । **द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्य**

---

१. संख्यायाः संज्ञा-सङ्घ-सूत्राध्ययनेषु (५।१।५८) ।
२. स्तोमे डविधिः पञ्चदशाद्यर्थः (वा०) ।
३. पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम् (५।१।५९) ।

=विंशतिः । त्रयो दशतः परिमाणमस्य त्रिंशत् । ऐसे ही चत्वारिंशत् आदि में जानो ।

पञ्चत्, दशत् तदस्य परिमाण अर्थ में वर्ग अभिधेय होने पर निपातित किए हैं ।

डण्—त्रिंशत्, चत्वारिंशत् शब्दों से 'तदस्य परिमाणम्' अर्थ में डण् हो जब प्रत्ययान्त ब्राह्मण (=वेद व्याख्यान ग्रन्थ) का नाम हो ।[1] सूत्र में 'ब्राह्मणे' यह अभिधेय से सप्तमी है विषय में नहीं । अतः इस सूत्र की प्रवृत्ति वेद और लोक में भी निर्बाध होगी—**त्रिंशद् अध्यायाः परिमाणमस्य ब्राह्मणस्येति त्रैंशम् ऐतरेयम् । चत्वारिंशद् अध्यायाः परिमाणमस्य ब्राह्मणस्येति चात्वारिंशं कौषीतकिब्राह्मणम् ।**

ठक् आदि—द्वितीयासमर्थ से अर्हति (इसके योग्य है) अर्थ में यथाविहित ठक् आदि प्रत्यय होते हैं[2]—श्वेतच्छत्त्रमर्हति श्वैतच्छत्त्रिकः । वस्त्रयुग्मम् अर्हति **वास्त्रयुग्मिको** वरः । विवाहे हि वराय उद्गमनीयं(धौतयोर्वस्त्रयोर्युगम्) दीयते । **अभिगममर्हति इत्याभिगामिक आचार्यः,** जिससे मिलने के लिए आगे बढ़ना चाहिए, जो अभिगम्य है । शतमर्हति शत्यः । शतिकः । शत्याः शतिका वेमे ये सम्प्रश्नमेतमुक्तवन्तः ।

जो नित्य (=बार-बार) छेदन आदि क्रिया के योग्य है उसे कहने के लिए छेद आदि द्वितीयान्त प्रातिपदिकों से यथाविहित ठक् आदि प्रत्यय होते हैं[3]—**छेदं नित्यमर्हति वंशादिः=छैदिकः । भेदं नित्यमर्हति भैदिकः शात्रवगणः । द्रोहं नित्यमर्हन्ति द्रौहिका आततायिनः । सम्प्रयोगं (=संसर्ग) नित्यमर्हन्ति साम्प्रयोगिकाः सन्तः । वैप्रयोगिका वैप्रकर्षिका वाऽसन्तः ।**

ठक्, यत्—शीर्षच्छेद से 'नित्यमर्हति' अर्थ में[4]—**शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शैर्षच्छेदिकः । शीर्षच्छेद्यः** (यत्) । प्रत्यय-संनियोग से शिरस् को 'शीर्ष' आदेश । **शीर्षच्छेद्यस्ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम्** (उत्तर० रा०) ।

---

१. त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण् (५।१।६२) ।
२. तदर्हति (५।१।६३) ।
३. छेदादिभ्यो नित्यम् (५।१।६४) ।
४. शीर्षच्छेदाद्यच्च (५।१।६५) ।

यत्—दण्ड आदि द्वितीयान्त से अर्हति अर्थ में[1]—**दण्डमर्हति दण्ड्यः**। कशाम् अर्हति **कश्योऽश्वः। अर्घमर्हति अर्घ्यः**, मातुलादिः। **मधुपर्कमर्हति मधुपर्क्यः**, वरादिः। **वधमर्हति वध्यः। वध्यस्तस्कर** इति स्मृतिः।

छ, यत्—कडङ्कर (बुस, माष मुद्ग आदि का काष्ठ) और दक्षिणा से[2]—**कडङ्करमर्हति कडङ्करीयः** (गोमहिष्यादिः)। **कडङ्कर्यः। दक्षिणामर्हति दक्षिण्यो ब्राह्मणः। दक्षिणीयः।** (छ)।

घ, खञ्—यज्ञ, ऋत्विज् (द्वितीयान्त) से यथाक्रम[3]—**यज्ञमर्हति यज्ञियो ब्राह्मणः**, जो यज्ञ का अधिकारी है। ऋत्विज्—**ऋत्विजमर्हति आर्त्विजीनो ब्राह्मणः**, (खञ्=ईन) जिसे याग कर्म के लिए ऋत्विक् (याजक) मिल सकता है। वह यज्ञिय है अतः आर्त्विजीन भी है। आर्त्विजीन में प्रत्यय के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई है।

यज्ञ तथा ऋत्विज् से तत्कर्म (=यज्ञ-कर्म, ऋत्विक् कर्म) अर्हति—इस अर्थ में भी उक्त प्रत्यय होते हैं[4]—**यज्ञं यज्ञकर्म अर्हति यज्ञियो देशः**, जो भूमि यागानुष्ठान के योग्य है। **ऋत्विक् कर्म अर्हति आर्त्विजीनो ब्राह्मणः**, जो ऋत्विक् बनाने के योग्य है।

आर्हीय ठक् अधिकार समाप्त हुआ।

ठञ्—पारायण, तुरायण, चान्द्रायण—इन द्वितीयान्त प्रातिपदिकों से वर्तयति (निर्वर्तयति=अनुतिष्ठति=साधयति) अर्थ में अधिकृत ठञ् प्रत्यय होता है[5]—**पारायणं निर्वर्तयति पारायणिकश्छात्रः**। आदि से अन्त तक निरन्तर वेदाध्ययन को पारायण (नपुं०) कहते हैं। उसे यद्यपि गुरु और शिष्य दोनों साधते हैं तो भी प्रत्यय छात्र विषय में ही इष्ट है। **तुरायणं निर्वर्तयति तौरायणिको द्विजः**। तुरायण एक वर्ष में साध्य एक हविर्यज्ञ का नाम है। **चान्द्रायणं निर्वर्तयति चान्द्रायणिकस्तपस्वी**।

द्वितीयान्त 'संशय' से आपन्न (प्राप्त) अर्थ में[6]—**संशयमापन्नः सांशयिकः**

---

१. दण्डादिभ्यः (५।१।६६)।
२. कडङ्कर-दक्षिणाच्छ च (५।१।६९)।
३. यज्ञर्त्विग्भ्यां घ-खञौ (५।१।७१)।
४. यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम् (वा०)।
५. पारायण-तुरायण-चान्द्रायणं वर्तयति (५।१।७२)।
६. संशयमापन्नः (५।१।७३)।

स्थाणुः । **सांशयिकस्तृतीयः पादः**(निरुक्त) । सांशयिक=संशयास्पद । अमर तो संशयिता (संशय करने वाला) अर्थ में प्रत्यय समझता है क्योंकि उसका पाठ है—सांशयिकः संशयापन्नमानसः ।

द्वितीयान्त 'योजन' शब्द से 'गच्छति' अर्थ में[1]—**योजनं गच्छति=यौजनिकः** । वार्तिककार क्रोशशत, योजनशत से भी प्रत्यय चाहते हैं—**क्रोशशतं गच्छति क्रौशशतिकः । यौजनशतिकः** । योजन=चार क्रोश, कोस । वार्तिककार क्रोशशत तथा योजनशत से इतनी दूरी से जो अभिगम्य है अर्थात् जो इतना आगे बढ़कर मिलने के योग्य है, इस अर्थ में भी प्रत्यय चाहते हैं—**क्रोशशताद् अभिगमनमर्हति क्रौशशतिको जननायकः । योजनशताद् अभिगमनमर्हति यौजनशतिको महात्मा । यौजनशतिक आचार्यः** ।

ष्कन्—द्वितीयासमर्थ पथिन् से 'गच्छति' अर्थ में[2]—**पन्थानं गच्छति पथिकः** । स्त्रीत्व-विवक्षा में षित् होने से ङीष् होकर **'पथिकी'** ।

ण—पन्थानं नित्यं गच्छतीति पान्थः ।[3] जो नित्य यात्रा करता रहता है वह पान्थ है जैसे सूर्य । अथवा जैसे यायावर (याहि याहीति याति), जिसका घर-घाट कुछ नहीं अतः जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता रहता है ।

ठञ्—तृतीयान्त उत्तरपथ से आहृत (लाया गया) अर्थ में अथवा 'गच्छति' अर्थ में अधिकृत प्रत्यय (ठञ्) होता है[4]—**उत्तरपथेनाहृतं पण्यम् औत्तरपथिकम्** । उत्तरपथेन गच्छति=औत्तरपथिकः । वार्तिककार के अनुसार ठञ् वारिपथ, जङ्गलपथ, स्थलपथ, कान्तारपथ से भी इसी अर्थ में आता है—**वारिपथेनाहृतः क्रेयार्थराशिः=वारिपथिकः । वारिपथेन गच्छति वारिपथिकः । जाङ्गलपथिकः । स्थालपथिकः । कान्तारपथिकः** । सूनी, अथवा कृषिरहित भूमि को 'जङ्गल' कहा है । कान्तार (पुं० नपुं०) महारण्य और दुर्गपथ का नाम है ।

---

१. योजनं गच्छति (५।१।७४) ।
२. पथः ष्कन् (५।१।७५) ।
३. पन्थो ण नित्यम् (५।१।७६) ।
४. उत्तरपथेनाहृतं च (५।१।७७) ।

अण्—स्थलपूर्वपद पथिन् से आहृत अर्थ में अण् होता है यदि जो आहृत हो वह मधुक (महोवा) अथवा मरिच हो[1]—**स्थालपथिकं मधुकं मरिचं वा।**

ठञ् अधिकार में कालाधिकार—

कालात् (५।१।७८)। यहाँ से व्युष्टादिभ्योऽण् (५।१।९७) तक कालाधिकार है। इसमें भी ठञ् का अधिकार जानना।

ठञ्—तृतीयान्त कालवाची शब्द से तेन निर्वृत्तम्, उस काल में बनाया गया, (साधा गया, समाप्त किया गया) अर्थ में[2]—**अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम्** जितना कार्य एक दिन में समाप्त हुआ उसे 'आह्निक' कहा जाता है। जैसे व्याकरण महाभाष्य में आह्निक हैं। **अर्धमासेन निर्वृत्तम् आर्धमासिकम्। संवत्सरेण निर्वृत्तं सांवत्सरिकम्। सांवत्सरिकं विश्वविद्यालयस्येदं महासदनम्।**

द्वितीयान्त कालवाची प्रातिपदिक से अधीष्टः (सत्कारपूर्वं व्यापारितः), भृतः (वेतनादिना नियुक्तः), भूतः (स्वसत्तया व्याप्तकालः), भावी (तादृश एवानागतः) अर्थों में।[3] यहाँ कालाध्वनोः—(२।३।५) से अत्यन्त संयोग में द्वितीया है। **मासमधीष्टोऽध्यापकः=मासिकोऽध्यापकः**, जो सत्कारपूर्वक प्रार्थना किया हुआ एक मास तक पढ़ाता है। **मासं भृतः कर्मकरः=मासिकः कर्मकरः**, जो मज़दूर एक मास के लिए नौकर रखा गया है। यद्यपि अध्येषणा (=प्रार्थना) और भरण (भृति देना) क्षणिक क्रियाएँ हैं, तो भी इनकी फलभूत क्रिया व्यापार है उससे मास की व्याप्ति होती है, उसी से द्वितीया उपपन्न होती है। **मासं भूतो मासिको व्याधिः**, जो रोग एक मास तक रहा। **मासं भावी उत्सवः=मासिक उत्सवः**, जो उत्सव एक मास तक मनाया जायगा।

यत्, खञ्—वय के वाच्य (विशेष्य) होने पर द्वितीयान्त मास से[4]—**मासं भूतः=मास्यः शिशुः। मासीनः** शिशुः (खञ्), जो बच्चा अभी एक महीने का हुआ है।

यप्—मासान्त द्विगु से वय के वाच्य (विशेष्य) होने पर[5]—**द्वौ मासौ**

---

१. मधुक-मरिचयोरण् स्थलात् (वा०)।
२. तेन निर्वृत्तम् (५।१।७९)।
३. तमधीष्टो भृतो भूतो भावी (५।१।८०)।
४. मासाद् वयसि यत्खञौ (५।१।८१)।
५. द्विगोर्यप् (५।१।८२)।

भूतः=द्विमास्यः शिशुः । तद्धितार्थ में समास होकर यप् प्रत्यय होता है। **त्रीन् मासान् भूतः त्रिमास्यः ।**

यप्, ण्यत्, ठञ्—षण् मासान् भूतः षण्मास्यः (यप्) । **षाण्मास्यः** (ण्यत्) । **षाण्मासिकः**[1] । ये सभी प्रत्यय 'वय' में होते हैं।

ण्यत्, ठञ्—जब वय वाच्य न हो तो षण्मास से पूर्वसूत्र से इस सूत्र में चकार द्वारा समुच्चित ण्यत् होता है और ठन् भी[2]—**षण्मासान् भूतः षाण्मास्यो रोगः** (छः महीनों का पुराना रोग) । ण्यत् । **षण्मासिको रोगः ।** ठन् ।

ख—'तमधीष्टः' इत्यादि अर्थों में समा (=वर्ष) से ख (ईन)[3]—**समाम् अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा समीन आचार्यादिः ।**

ख, ठञ्—समान्त द्विगु से विकल्प से ख ।[4] पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, कारण कि तेन तुल्यम्—(५।१।११५) तक ठञ् के अधिकार में तदन्त विधि अभ्यनुज्ञात है—**द्विसमीनः । द्वैसमिकः** (ठञ्) । 'समा' शब्द का एकवचन और द्विवचन में भी प्रयोग होता है।

रात्र्यन्त, अहर् अन्त, संवत्सरान्त द्विगु से 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यादि अर्थों में ख और ठञ् होते हैं[5]—**द्वाभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्तं द्विरात्रीणम् । द्वैरात्रिकम् । द्विरात्रीणो निबन्धः । द्वैरात्रिको निबन्धः**, जो निबन्ध दो रातों में लिखा गया है । **द्वे रात्री अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा आचार्यादिः=द्विरात्रीणः । द्वैरात्रिकः । द्वाभ्याम् अहोभ्यां निर्वृत्तं द्व्यहीनम् ।** 'अह्नष्टखोरेव' (६।४।१४५) से ख परे होने पर 'टि' लोप । यह नियम है अतः ठञ् परे होने पद टि (अन्) का लोप नहीं होगा—**द्वाभ्याम् अहोभ्यां निर्वृत्तं द्वैयह्निकम्**, जो कार्य दो दिन में किया गया । द्वैयह्निक में अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से अन् के 'अ' का लोप होता है । आदि वृद्धि के स्थान में ऐच् आगम हुआ है । **त्र्यहीणः । त्रैयह्निकः । द्विसंवत्सरीणः । द्विसांवत्सरिकः । त्रिसांवत्सरिकः ।** 'संख्यायाः संवत्सर-संख्यस्य च' (७।३।१५) से उत्तरपदवृद्धि ।

---

१. षण्मासाण्ण्यच्च (५।१।८३) ।
२. अवयसि ठंश्च (५।१।८४) ।
३. समायाः खः (५।१।८५) ।
४. द्विगोर्वा (५।१।८६) ।
५. रात्र्यहःसंवत्सराच्च (५।१।८७) ।

ख, ठञ्, लुक्—वर्षान्त द्विगु से निर्वृत्त आदि अर्थों में ख, ठञ् होते हैं। पक्ष में इनका लुक् भी हो जाता है[1]—**द्विवर्षीणो व्याधिः। द्विवार्षिकः। द्विवर्षः। त्रिवर्षीणः। त्रिवार्षिकः। त्रिवर्षः।** द्विवार्षिक, त्रिवार्षिक में उत्तर-पद-वृद्धि हुई। भावी रोगादि में तो पूर्वपद में ही वृद्धि होगी—

यस्य **त्रैवर्षिकं** धान्यं निहितं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥ (मनु० ११।६)

लुक्—चित्तवान् (=सेन्द्रिय) पदार्थ के अभिधेय होने पर वर्षान्त द्विगु से निर्वृत्त आदि अर्थों में आए हुए प्रत्यय का नित्य लुक् हो जाता है। पूर्वसूत्र से वैकल्पिक लुक् प्राप्त था[2]—**द्विवर्षो दारकः। द्वे वर्षे भूतः=द्विवर्षः,** जो दो वर्ष का हो गया है। **अशीतिवर्षो जरठः,** अस्सी वर्ष का बूढ़ा। **क्व च त्वं दशवर्षीयः क्व चैतद् दारुणं तपः** (विष्णु पु० ५।१२।१७)। यहाँ 'दशवर्षीय' निश्चित ही अपाणिनीय है। छ प्रत्यय का प्रसङ्ग ही नहीं। प्राप्त ठञ्, ख का नित्य लुक् विहित है। त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् (मनु० ९।९४)। यहाँ द्वादशवार्षिकी भी निःसन्देह अपाणिनीय है। लुक् के नित्य होने से।

निपातन—'षष्टिकाः' यह 'षष्टिरात्रेण पच्यन्ते' इस अर्थ में निपातन किया है।[3] कन् प्रत्यय। रात्र शब्द का लोप। **षष्टिरात्रेण पच्यन्ते षष्टिकाः।** यह धान्य विशेष की संज्ञा है, जिसे लोक में आजकल साठी के चावल कहते हैं।

ठञ्—तृतीयासमर्थ से परिजय्य (जीता जा सकता है), लभ्य (प्राप्त किया जा सकता है), कार्य (किया जा सकता है), सुकर (आसानी से किया जा सकता है) इन अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होता है[4]—**मासेन परिजय्यो जेतुं शक्यो व्याधिः=मासिको व्याधिः,** ऐसा रोग जिसपर एक महीने में वश पाया जा सकता है। **सांवत्सरिकः। मासेन लभ्यः पटो मासिकः। मासेन कार्यं मासिकं चान्द्रायणम्,** जो चान्द्रायण व्रत एक मास में सम्पन्न किया जा सकता है वह 'मासिक' है। **मासेन सुकरं गेहकम्,** एक महीने में जो छोटा सा घर आसानी से बनाया जा सकता है।

---

१. वर्षाल्लुक् च (५।१।८८)।
२. चित्तवति नित्यम् (५।१।८९)।
३. षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते (५।१।९०)।
४. तेन परिजय्यलभ्यकार्यसुकरम् (५।१।९३)।

कालवाची द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'इसका' (ब्रह्मचारी का) इस अर्थ में ठञ्, यदि काल व्यापी ब्रह्मचर्य हो।[1] 'ब्रह्मचर्य' काल का व्यापक होने से उससे सम्बद्ध है और प्रत्ययार्थ=ब्रह्मचारी का तो स्व ही है—**मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी**, जिसका एक महीना भर ब्रह्मचर्य है, मैथुन परिहार है वह मासिक ब्रह्मचारी होता है। इसी प्रकार **आर्धमासिकः, सांवत्सरिकः** इत्यादि।

इस सूत्र की प्रकारान्तर से भी व्याख्या की जाती है—कालवाची प्रथमान्त से इसका (ब्रह्मचर्य का) इस अर्थ में ठञ्—**मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य, मासिकं ब्रह्मचर्यम्**, एक मास भर का ब्रह्मचर्य। **आर्धमासिकम्**। **सांवत्सरिकम्**। दोनों व्याख्याएँ प्रमाण हैं।

महानाम्नी नामक ऋचाएँ (जो ऐ० आ० ४।१ में) 'विदा मघवन्' से प्रारम्भ होती हैं, तत्-सम्बन्धी व्रत (ब्रह्मचर्य) को जो धारण करता है उसे कहने के लिए 'महानाम्नी' शब्द से ठञ् होता है।[2] महानाम्नी ऋचाओं के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्रत को भी 'महानाम्न्यः' नाम से कह दिया है। ताश्चरति **माहानामिकः**। भस्याढे तद्धिते से पुंवद्भाव होकर 'टि' का लोप। **आदित्यव्रतं चरति आदित्यव्रतिकः**।

अष्टाचत्वारिंशत् शब्द से व्रतं चरति अर्थ में ड्वुन् (अक) तथा डिनि (इन्) प्रत्यय होते हैं।[3] प्रत्यय के डित् होने से 'टि' का लोप। **अष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणि व्रतं चरति अष्टाचत्वारिंशकः**(ड्वुन्)। **अष्टाचत्वारिंशी** (डिनि)। बहुवचनान्त 'चातुर्मास्य' शब्द से चरति अर्थ में ड्वुन्, तथा डिनि प्रत्यय होते हैं, चातुर्मास्य शब्द के 'य' का लोप भी होता है[4]—**चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासकः**। **चातुर्मासी**।

चतुर्मास से ण्य प्रत्यय, चतुर्मास में होने वाले यज्ञ के अभिधेय होने पर[5]—**चतुर्मासे भवो यज्ञः चातुर्मास्यः**।

---

१. तदस्य ब्रह्मचर्यम् (५।१।९४)।
२. महानाम्न्यादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
३. अष्टाचत्वारिंशतो ड्वुंश्च डिनिश्च वक्तव्यः (वा०)।
४. चातुर्मास्यानां यलोपश्च ड्वुंश्च डिनिश्च वक्तव्यः (वा०)।
५. चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्रभवे (वा०)।

'चतुर्मास' से 'तत्र भवः' में अण् होता है संज्ञा विषय में[1]—**चतुर्षु मासेषु भवा चातुर्मासी पूर्णिमा ।**

ठञ्—वाजपेय आदि 'यज्ञविशेषों की दक्षिणा' इस अर्थ में वाजपेयादि से[2]—**वाजपेयस्येयं वाजपेयिकी दक्षिणा । अग्निष्टोमस्य दक्षिणाऽऽग्निष्टोमिकी । राजसूयिकी ।** सूत्र में आख्या (नाम) ग्रहण इस लिए किया है कि अकाल (जो कालवाची नहीं) यज्ञ से भी प्रत्यय हो जाए अन्यथा कालाधिकार में एकाह, द्वादशाह आदि कालवाची यज्ञविशेषों से ही प्रत्यय हो सकता। तदन्तविधि होती है ऐसा पूर्व कह आए हैं अतः कालाधिकार में भी द्वादश आदि से प्राप्ति है हि ।

ठञ् आदि—सप्तमी समर्थ से तत्र दीयते (उसमें दिया जाता है), तत्र कार्यम् (उसमें कार्य किया जाता है) इन अर्थों में जिस-जिस प्रकृति से जो-जो प्रत्यय 'तत्र भवः' अर्थ में शैषिक प्रकरण में विधान किए गए हैं, वे-वे होते हैं[3]—मासे भवम् मासिकम् (ठञ्) । संवत्सरे भवं सांवत्सरिकम् (ठञ्) । इसी प्रकार मासे दीयते, मासान्त में दिया जाता है, **मासिकं वेतनम् । संवत्सरे देयं सांवत्सरिकम् ।** एवं **मासे कार्यमपि मासिकम् । संवत्सरे कार्यमपि सांवत्सरिकम् ।** प्रावृषि भवं प्रावृषेण्यम् (एण्य)। **प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यम् । वासन्तिकम् ।** (ठञ्) । **वासन्तम्** (ऋत्वण्) । **हैमनम् । हैमन्तम् । हैमन्तिकम् ।** हेमन्ते भवं हैमनं वासः (वस्त्रम्) । अण्, तलोप । तत्र दीयते तत्र कार्यम् इन अर्थों में भी हेमन्त से ये ही प्रत्यय होंगे और अण् के संनियोग से तलोप भी होगा । **अग्निष्टोमे यज्ञे दीयत इत्याग्निष्टोमिकम्** (ठञ्) **भक्तम् । राजसूयिकम् ।** यहाँ तत्र कार्यम् इस अर्थ में प्रत्यय नहीं होता ।

यहाँ कालाधिकार समाप्त हुआ ।

अण्—तत्र दीयते, तत्र भवः इन अर्थों में व्युष्टादि प्रातिपदिकों से[4]—**व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम् ।** व्युष्टम्=प्रभातम् । विपूर्वक उच्छी विवासे इस धातु से क्त । आदि वृद्धि न होकर ऐच आगम हुआ । नित्य—नैत्यम् ।

---

१. संज्ञायामण् वक्तव्यः (वा०) ।
२. तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः (५।१।९५) ।
३. तत्र च दीयते कार्यं भववत् (५।१।९६) ।
४. व्युष्टादिभ्योऽण् (५।१।९७) ।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं (स्वार्थे कन्) **विधिमास्थितः** (मनु० २।१०४)। **तीर्थे दीयते कार्यं वा तैर्थम्। सङ्घाते दीयते साङ्घातमन्नम्, गणान्नम्। उपवासे यद् दीयते तत्र कार्यं वा औपवासम्।**

ण, यत्—तृतीया समर्थ यथाकथाच और हस्त शब्द से दीयते कार्यम् इन अर्थों में क्रम से ण तथा यत् प्रत्यय होते हैं।[1] 'यथाकथाच' यह अव्यय-समुदाय है और इसका अर्थ अनादर है। तृतीया का यहाँ अर्थमात्र ही संभव है, तृतीया समर्थ विभक्ति नहीं—**यथाकथाच दीयते कार्यं व याथाकथाचम्। न हि याथाकथाचं दानमश्राद्धस्य फलाय भवति। न वा याथाकथाचं कार्यं कर्तुरुदश्चयति मानम्।** श्रद्धाहीन का जैसे तैसे दिया हुआ दान फल नहीं देता और अनादर (लापरवाही) से किया हुआ कर्म कर्ता के मान को नहीं बढ़ाता है। **हस्तेन दीयते हस्तेन कार्यं वा हस्त्यम्। हस्त्यं वानं यान्त्रिकाद् वरीयः,** हाथ की बुनाई मशीन की बुनाई से अच्छी है।

ठञ्—तृतीया-समर्थ से 'सम्पादि', अवश्य शोभा पाता है, इस अर्थ में[2]—**कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं कार्णवेष्टकिकम्।** कर्णवेष्टक=कुण्डल। सूत्र में 'सम्पादि' पद में आवश्यक अर्थ में णिनि है। सम्पद्यतेऽवश्यं शोभत इति सम्पादि।

यत्—कर्मन् (शारीर व्यायाम) तथा वेष (भेस, कृत्रिम आकार) से सम्पादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है[3]—**कर्मणा व्यायामेन सम्पद्यते, कर्मण्यं शरीरम्। कर्मण्यं शरीरमिति प्रायेण प्रस्मरन्ति शास्त्रशीलिनश्छात्राः,** व्यायाम से शरीर सुन्दर (सुडौल) बनता है इस बात को शास्त्राभ्यास में लगे हुए छात्र प्रायः भूल जाते हैं। **वेषेण सम्पद्यते वेष्यो नटः,** नट की शोभा वेष से होती है। **न खलु नटैरिव वेष्यत्वं कामनीयं विद्याकामैः कुमारैः,** विद्या को चाहने वाले कुमारों को नटों की तरह वेष से उत्पन्न होने वाली शोभा की कामना नहीं करनी चाहिये।

ठञ्—चतुर्थ्यन्त सन्ताप आदि प्रातिपदिकों से तस्मै प्रभवति (उसके लिए समर्थ है) इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।[4] यहाँ अलमर्थ में चतुर्थी है—**सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः। सान्तापिका विप्रयोगा मनुजानाम्। सान्ता-**

---

१. तेन यथाकथाच-हस्ताभ्यां णयतौ (५।१।९८)।
२. सम्पादिनि (५।१।९९)।
३. कर्म-वेषाद्यत् (५।१।१००)।
४. तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः (५।१।१०१)।

हिकः क्षत्रियकुमारः, जो क्षत्रियकुमार सन्नाह (=कवच) धारण करने को समर्थ है। **सङ्ग्रामाय प्रभवति साङ्ग्रामिको योधः।** उपसर्ग उपद्रवः, रोग-जनितं रोगान्तरम्, तस्मै प्रभवति **औपसर्गिकः खलसम्पर्कः। मांसाय प्रभवति मांसिकः। औदनिकः। मांसौदनिकः।**

यत्, ठञ्—योगाय प्रभवति योग्यः। यौगिकः।[1]

उकञ्—कर्मणे प्रभवति **कार्मुकम्**[2]। धनुष् से अन्यत्र इसका प्रयोग नहीं होता, ऐसा वृत्तिकार का वचन है। पर चरक (सूत्रस्थान में) **न तु गुण-प्रभावादेव कार्मुकाणि भवन्ति** (द्रव्याणि) में कर्म में समर्थ, शक्त अर्थ में 'कार्मुक' शब्द का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः क्रमुक-नामक वृक्ष की लकड़ी से बना हुआ होने से धनुष् को कार्मुक कहते थे—क्रमुकस्य विकारः कार्मुकम्। ऐसे ही वेद भाष्य में सायणाचार्य कार्मुक की व्युत्पत्ति करते हैं।

ठञ्—प्रथमान्त समय शब्द से अस्य (इसका) अर्थ में ठञ् होता है जब समय प्राप्त=आ गया है ऐसा कहना हो[3]—**समयः प्राप्तोऽस्य कार्यस्य सामयिकं कार्यम्।** उपनतकालमित्यर्थः। **सामयिकी वृष्टिरुपस्कुरुते सस्यस्य,** समय पर आई हुई वृष्टि खेती की उपकारक होती है। **देवि सामयिका भवामः,** मालविकाग्निमित्र नाटक में सामयिकाः यह अपपाठ है, कारण कि सामयिक का अर्थ 'समय पर (बिना समय का अतिक्रम किए) कार्य करने वाला' नहीं। **अण्—ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम्।**[4] **आर्तवं पुष्पम्। अनार्तवं वर्षम्=** अकालवृष्टिः। **उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम्=उपवासः।** उपवस्तृ= उपवास करने वाला। **प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम्**=ब्रह्मभाग, यज्ञ में हवि का ब्राह्मण का भाग। प्राशितृ=खाने वाला।

यत्—काल शब्द से यत् 'तदस्य प्राप्तम्' इस विषय में[5]—**कालः प्राप्तो-ऽस्य काल्यस्तापः,** समय पर आई गरमी। **काल्यं शीतम्।** सूत्रकार का अपना प्रयोग भी है—**उपसर्या काल्या प्रजने** (३।१।१०४)। काल्या=प्राप्तकाला।

---

१. योगाद्यच्च (५।१।१०२)।
२. कर्मण उकञ् (५।१।१०३)।
३. समयस्तदस्य प्राप्तम् (५।१।१०४)।
४. ऋतोरण् (५।१।१०५)।
५. कालाद्यत् (५।१।१०७)।

ठञ्—जब कालशब्द प्रकृष्टकाल (दीर्घकाल) को कहे तो अस्य (इसका) इस अर्थ में ठञ् होता है[1]—**प्रकृष्टः कालोऽस्येति कालिकमृणम्**, चिरकाल से लिया हुआ ऋण। **कालिकं वैरम्**, पुराना वैर। **कालिको रोगः**, पुराना रोग।

प्रथमासमर्थ से अस्य (षष्ठ्यर्थ) में ठञ् होता है यदि प्रथमान्त प्रयोजन हो[2]—सूत्र में 'प्रयोजन' से हेतु और फल दोनों का ग्रहण है। हेतु—**विवाहः प्रयोजनमस्य वैवाहिक उत्सवः**, विवाह के कारण जो उत्सव मनाया जा रहा है। यहाँ प्रयोजन=प्रयोजक। **ऐन्द्रमहिकाः** (इन्द्रमह इन्द्रोत्सवः प्रयोजनमेषाम्) **प्रकृता महान्तः संभाराः**, इन्द्रोत्सव के लिए बड़ी तैयारियाँ की जा रही हैं। **यच्च द्वितीयविवाहार्थिना पूर्वस्त्रियै पारितोषिकं धनं दत्तं तदाधिवेदनिकम्** (विष्णुस्मृति)। **परितोषः प्रयोजनं फलमस्य पारितोषिकम्। अधिवेदनमिति प्रयोजनमस्य आधिवेदनिकम्। यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्त्रार्थमागता** (रा० १।८।१३)। धार्मिकी=धर्मप्रयोजना। प्रत्यक्षानुमानाभ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणमन्वीक्षा। **अन्वीक्षा प्रयोजनमस्या आन्वीक्षिकी** न्यायविद्या। **अत्ययः प्रयोजनं फलमस्य आत्ययिकं कार्यम्**, अत्यावश्यक कर्म जिसके न किए जाने से अत्यय (विनाश, अनिष्ट, हानि) होगा। **आत्ययिके च** (गौ० ध० २।४।३०)। **दृढकारी प्रारब्धस्य समापयिता न प्राक्रमिकः** (प्रक्रमस्य प्रयोजको जनकः कारकः)। (गौ० ध० १।६।७३) पर हरदत्त का वचन। **सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम्** (मनु० ११।१)। सान्तानिकः सन्तानप्रयोजनो विवाहार्थी, विवाहस्य सन्तानप्रयोजनत्वात्। सन्तान के लिए विवाह होता है, इसलिए सान्तानिक से विवाहार्थी लिया जाता है। अभिगमः (आगे बढ़कर मिलना, सत्कार करना) प्रयोजनं फलमेषां गुणानां ते **आभिगामिका** गुणाः (का० नी० सा०)। **हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्** (मनु० ४।३०)। हेतुः प्रयोजनः प्रयोजक एषां ते हैतुकाः। 'ठ' को 'क' आदेश। **प्रायौगिकं मात्सरिकं माध्यस्थं पाक्षपातिकम्** (वचः) (का० नी० सा० ८।१३।८३)। मत्सरः प्रयोजनः प्रयोजकोऽस्य तद् मात्सरिकं वचः। पक्षपातः प्रयोजनः प्रयोजकोऽस्य पाक्षपातिकं वचः, जो पक्षपात को आश्रित करके कहा गया।

---

१. प्रकृष्टे ठञ् (५।१।१०८)।
२. प्रयोजनम् (५।१।१०८)।

साहित्य में 'आत्ययिक' शब्द ऐसे प्रयुक्त हुआ है—**कृत्यमात्ययिकं त्वया** (रा० २।७०।३)। यहाँ आत्ययिकम्=असह्यकालातिपातम्, जिसमें कालात्यय=विलम्ब किया नहीं जा सकता। **किंचिदात्ययिकं** कार्यं तेषां त्वं दर्शनं कुरु (रा० ६।३२।३७)। कार्यगौरवाद् **आत्ययिकवशेन** वा (कौट० अ० १।१९)। तां हत्वा पुनरेवाहं कृत्य**मात्ययिकं** स्मरन् (रा० ५।५८।४६)।

अण्—विशाखा और आषाढा से क्रम से मन्थ और दण्ड अभिधेय होने पर[1]—**वैशाखो मन्थः। आषाढो व्रतिनां दण्डः।** वैशाख तथा आषाढ रूढि शब्द हैं इन की ज्यों त्यों व्युत्पत्ति की जा रही है ऐसा पदमञ्जरीकार हरदत्त मानता है। 'मन्थ' से कोई लोग मन्थ दण्ड लेते हैं, कोई उसके अवक्षार-नामक अधोभाग को और कोई दोनों को एकसाथ। भाषावृत्ति के टीकाकार सृष्टिधर का कहना है कि पूर्वाषाढा (नक्षत्र) में यति लोग दण्ड ग्रहण करते हैं अतः पूर्वाषाढा उसका प्रयोजन है। **चूडा प्रयोजनमस्य चौडं (चौलं) कर्म। श्रद्धा प्रयोजनं कारणमस्य श्राद्धं कर्म।**

छ—अनुप्रवचन आदि प्रातिपदिकों से तस्य प्रयोजनम् इस विषय में[2]—**अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्यानुप्रवचनीयम्**, पश्चात् व्याख्यान जिसका प्रयोजन है। **अनुप्रवचनीय उत्तरार्धेऽस्य मन्त्रस्तोमस्य सन्निवेशः। उत्थापनं प्रयोजनमेषां वैतालिकश्लोकानाम् इति उत्थापनीया वैतालिकश्लोकाः।**

सपूर्वपद ल्युडन्त विश्, पूरि, पद्, रुह् से तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में[3]—**गृहप्रवेशनं प्रयोजनमस्य संस्कारस्येति गृहप्रवेशनीयः संस्कारः। प्रपा-प्रपूरणं प्रयोजनमस्येति प्रपाप्रपूरणीयं कूपादुदकोदञ्चनम्। अश्वप्रपदनम् अश्वाश्रयणं प्रयोजनं नोऽनेन मार्गेण प्रस्थानस्येत्यश्वप्रपदनीयं प्रस्थानम्। प्रासादारोहणीया निःश्रेणिः**, प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी।

यत्—स्वर्ग आदि शब्दों से 'तदस्य प्रयोजनम्' इस विषय में[4]—**स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम्। यशः प्रयोजनमस्य यशस्यम्। धनं प्रयोजनमस्य धन्यम्। स एष शूलगवो धन्यो लोक्यः पुत्र्यः पशव्य आयुष्यो यशस्यः** (आश्व० गृ० ४।१०।३१)। **धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम्** (मनु० ३।१०६)।

---

१. विशाखाषाढादण् दण्ड-मन्थयोः (५।१।११०)।
२. अनुप्रवचनादिभ्यश्छः (५।१।१११)।
३. विशि-पूरि-पदि-रुहि प्रकृतेरनात्संपूर्वपदादुपसंख्यानम् (वा०)।
४. स्वर्गादिभ्यो यद् वक्तव्यः (वा०)।

गृहे पारावता धन्याः (भा० १३।५०६८)। (रा० १।१५।१३)।

प्रत्यय-लुक्—'पुण्याहवाचन' आदि शब्दों से प्राप्त ठञ् प्रत्यय का लुक् होता है[1]—**पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य मन्त्रजातस्य पुण्याहवाचनम्** मन्त्र-जातम्। **स्वस्तिवाचनं प्रयोजनमस्येति स्वस्तिवाचनं कर्म**।

छ—समापन शब्द से जिससे पहले पूर्वपद (समास का प्रथम अवयव) हो, तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में[2]—**छन्दः समापनं प्रयोजनमस्य रात्रिजागरण-स्येति छन्दः समापनीयं रात्रिजागरणम्। व्याकरणसमापनं प्रयोजनमस्या-नन्तरायस्याध्ययनस्येति व्याकरणसमापनीयमध्ययनम्**।

ठञ्—'ऐकागारिकट्' यह चौर अर्थ में ठञन्त निपातन किया है।[3] ट् अनुबन्ध है। 'चौर' में ही इसका प्रयोग हो इसलिए निपातन किया है, अन्यथा 'प्रयोजनम्' से ठञ् सिद्ध ही था। इस नियम से **ऐकागारिकश्चौरः** (एकमागारं प्रयोजनमस्य, जो एक घर में ही चोरी करता है) ऐसा कहेंगे, पर एकमागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोः (जो भिक्षु एक घर से ही भिक्षा लेता है, दो वा तीन से नहीं) यहाँ ठञ् करके ऐकागारिक नहीं कह सकते। कोई लोग इकट्-प्रत्यय और वृद्धि निपातन करके ऐकागारिक शब्द की सिद्धि मानते हैं।

आकालिकट् शब्द निपातन किया जाता है।[4] ट् अनुबन्ध है। इकट् प्रत्यय निपातन किया है। समानकाल शब्द को 'आकाल' आदेश भी निपातन किया है। यह 'आद्यन्त' का विशेषण है। **समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयित्नुः**, उत्पन्नमात्रविनाशी। कल जिस समय (मध्याह्न आदि) में गर्जन करने वाले मेघ का उदय हुआ, आज उसी समय उसका अन्त हुआ, उसे भी आकालिक कहेंगे। **आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्** (४।१०३)। निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत्स कालस्तावत्पर्यन्तम् (कुल्लूक), अर्थात् कल जिस निमित्त से अनध्ययन प्रारम्भ हुआ, उसके समय से आज उसी समय तक जो अनध्ययन रहेगा उसे 'आकालिक' कहेंगे। परन्तु **आकालिकी विद्युत्** यहाँ ऐसा अर्थ संगत नहीं होता। यहाँ काशिकाकार ने समानकालावाद्यन्ताव् अस्या आकालिकी, जन्मना तुल्यकालविनाशा, उत्पन्न होते ही जो नष्ट हो गई, यही

---

१. पुण्याहवाचनादिभ्यो लुग्वक्तव्यः (वा०)।
२. समापनात्सपूर्वपदात् (५।१।११२)।
३. ऐकागारिकट् चौरे (५।१।११३)।
४. आकालिकडाद्यन्तवचने (५।१।११४)।

एक अर्थ दिया है। वैजयन्ती कोष में आकालिकी शतावर्ता जलदा जल-पालिका—ये विद्युत् के पर्याय पढ़े हैं।

यहाँ ठञ् की अवधि पूर्ण हुई।

वति—तृतीयासमर्थ से 'तुल्य' इस अर्थ में वति (वत्) प्रत्यय आता है, यदि जो तुल्य है वह क्रिया हो[1]—**ब्राह्मणेन तुल्यं वर्तते, ब्राह्मणवद् वर्तते,** ब्राह्मण-जैसा व्यवहार करता है। **ब्राह्मणवदधीते क्षत्रियः,** क्षत्रिय ब्राह्मण की तरह पढ़ता है। यहाँ ब्राह्मण के व्यवहार और अध्ययन के साथ क्षत्रिय के व्यवहार और अध्ययन को तुल्य कहा है। यहाँ क्रिया की तुल्यता क्रिया के ही साथ हो सकती है। ब्राह्मणवदधीते यहाँ ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनक्रिया-वृत्ते ब्राह्मणशब्दाद् वतिः, अर्थात् ब्राह्मण से किए गए अध्ययन में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग हो रहा है और उससे वति-प्रत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। ब्राह्मणवदधीते का अर्थ है ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनेन तुल्यं यथा स्यात्तथाऽधीते। इसी प्रकार पुत्त्रं मित्त्रवदाचरेत् का अर्थ है मित्त्रकर्मकाचरणक्रियया तुल्यं यथा स्यात्तथा पुत्त्रमाचरेत्। गुरुवद् गुरुपुत्त्रे वर्तितव्यम्—यहाँ भी गुरुरूप वैषयिकाधिकरण में जो वर्तन (व्यवहार) है वही गुरुपुत्त्र के विषय में भी करना चाहिए ऐसा अर्थ है। पूर्ववत्सनः (१।३।६२) इस सूत्र का अर्थ है सन् से पूर्व जो धातु उससे जो निमित्त-विशेषानुरोध से आत्मनेपद का होना वैसे ही सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो। यहाँ भी उभयत्र आत्मनेपद-भवन-क्रिया तुल्य है। **न ह्यकूपारवत् कूपा वर्धन्ते विधुकान्तिभिः** (हितोपदेश)। समुद्र की तरह चन्द्र-किरणों से कुएँ नहीं बढ़ते (उछलते)। वतिप्रत्ययान्त अव्यय होता है। गुण वा द्रव्य तुल्य हो तो वति नहीं होगा—पुत्त्रेण सह स्थूलः। पुत्त्रेण तुल्यः पिङ्गलः (गुण)। पुत्त्रेण तुल्यो गोमान् (द्रव्य)।

सप्तमीसमर्थ से तथा षष्ठीसमर्थ से इवार्थ में[2]—**मथुरायामिव स्रुघ्ने प्राकारः मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः,** मथुरा में जैसे प्राकार है वैसे स्रुघ्न में। **पाटलिपुत्त्रवत्साकेते परिखा,** पाटलिपुत्त्र में जैसे खाई है वैसे अयोध्या में। **देवदत्तस्येव देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य दन्ताः,** देवदत्त की तरह यज्ञदत्त के दांत

१. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११५)।

२. तत्र तस्येव (५।१।११६)।

हैं। **देवदत्तस्येव देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य गावः**, जैसे देवदत्त के पास गौएं हैं वैसे यज्ञदत्त के पास। **पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः** (रघु० ११।७५)। कक्षवत्=कक्षे इव। अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् (७।२।६१) इस सूत्र में **तास्वत्**=तासाविव। सप्तम्यन्त से वति प्रत्यय हुआ है।

द्वितीयासमर्थ से अर्हम् (अर्हतीति) अर्थ में। यहाँ 'क्रिया' इसकी अनुवृत्ति है। राजानमर्हति **राजवत्** पालनं प्रजानाम्। **राजवदस्य** समादरः क्रियतां कारागृहीतस्यापि राज्ञः, बन्दी किए हुए इस राजा का वह सम्मान किया जाए जो राजा के योग्य है। **ऋषिवच्चेष्टते** कण्वो दुष्यन्ताय सन्दिशन्, दुष्यन्त को सन्देश भेजते हुए कण्व ऋषि ऋषि के योग्य व्यवहार करते हैं। **पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय। राजवद्राजसिंहस्य** (भा० आ० १२७।१)॥

यथावत्—यहाँ यथा शब्द के असत्त्ववचन होने से द्वितीय का प्रसङ्ग नहीं, तो वति कैसे हुआ। उत्तर—वृत्तिविषय में **यथाशब्द सत्त्ववचन** भी देखा जाता है, अतः 'यथात्व' इत्यादि में भाव-वाचक 'त्व' संगत होता है।

भाव-कर्म-वाचक तद्धित

जिस गुण के कारण किसी द्रव्य (सत्त्वपदार्थ) में किसी शब्द का प्रयोग होता है उसे **भाव** कहते हैं। अथवा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त को **भाव** कहते हैं। कर्म क्रिया का नाम है। इन दो अर्थों को कहने के लिए शास्त्र में कुछ तद्धित प्रत्यय विधान किए हैं।

त्व, तल्—ये भाव में प्रातिपदिक मात्र से होते हैं[1]। त्व-प्रत्ययान्त नपुंसकलिंग होता है और तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग। तल् में ल् इत्संज्ञक (अनुबन्ध) है। इसका लोप होने पर अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय आता है—**गोर्भावः=गोत्वम्। गोता। पुरुषत्वम्। पुरुषता। पञ्चानां भावः=पञ्चत्वम्। पञ्चता**=मृत्युः। यह देह पाँच महाभूतों से बना है। इसका मरण यही है जो प्रत्येक भूत का अपने अंश में जा मिलना। **नातिक्रामति पञ्चताम्**(मनु०८।१५१)।(कुसीदवृद्धि) पञ्चगुणता को नहीं लाँघती। तस्य भावस्त्वतलौ(५।१।११९)यह अधिकार सूत्र है। जहाँ अपवाद रूप से दूसरे

---

१. तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११९)। आ च त्वात् (५।१।१२०)। ब्रह्मणस्त्वः (५।१।१३६) सूत्र तक यह अधिकार है।

प्रत्यय विधान किये जायेंगे वहाँ भी ये औत्सर्गिक प्रत्यय होंगे, अर्थात् उनके साथ इनका समावेश होगा। इतना ही नहीं। भाव में विधान किए हुए ये कर्म अर्थ में भी आ जाते हैं—**कवेर्भावः कवित्वम्। कविता। कवेः कर्म=कवित्वम्। कविता**=काव्य। **सहायस्य कर्म सहायता। सहस्राणामपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः। अथवायुतान्येव नास्ति तेषु सहायता॥** (रा० २।१००।२३)। **अर्थितां ते करिष्यामि** (भा० उद्योग०)। अर्थिनः कर्म=अर्थिता=अभ्यर्थना। स्त्री, पुम्स् शब्दों से विशेष-विहित नञ्, स्नञ् प्रत्ययों के साथ भी इनका समावेश इष्ट है—**स्त्रिया भावः स्त्रैणम्। स्त्रीत्वम्। स्त्रीता। पुंसो भावः पौंस्नम्। पुंस्त्वम्। पुंस्ता।**

और भी ध्यान देने योग्य बात हैं—पत्यन्त आदि प्रकृतियों से विशेष-विहित यक् आदि प्रत्ययों का उस-उस प्रकृति के नञ् पूर्वपद होकर तत्पुरुष समास होने पर जो निषेध किया है[1] उस निषेध के विषय में भी ये त्व, तल् निर्बाध प्रवृत्त होते हैं—**अपतेर्भावः=अपतित्वम्। अपतिता।** अपति नञ्-पूर्वपद तत्पुरुष है। यहाँ पत्यन्त से विहित यक् का निषेध हो गया। (पत्यन्त अपति से यक् नहीं हुआ), पर त्व, तल् हो गये। **अपटोर्भावः=अपटुत्वम्। अपटुता।** यहाँ लघुपूर्व इगन्त प्रकृति से प्राप्त अण् का निषेध हो गया, पर त्व, तल् नहीं रुके। **अरमणीयस्य भावः=अरमणीयत्वम्। अरमणीयता।** यहाँ योपध गुरूपोत्तम होने से 'अरमणीय' से जो वुञ् प्राप्त था, उसका निषेध हो गया पर सामान्य-विहित त्व, तल् का बाध नहीं हुआ।

इमनिच्—पृथु आदि शब्दों से भाव में विकल्प से इमनिच् (इमन्) प्रत्यय होता है।[2] पक्ष में यथाप्राप्त अण् आदि भी होंगे—**पृथोर्भावः प्रथिमा। मृदोर्भावः=म्रदिमा। भृशस्य भावः=भ्रशिमा** (=बहुत्व)। **दृढस्य भावः=द्रढिमा। परिवृढस्य भावः परिव्रढिमा** (=स्वामित्व)। **कृशस्य भावः क्रशिमा** (दुबलापन)। इन पृथु आदि शब्दों के 'ऋ' को 'र्' हो जाता है इष्ठ, इमनिच् और ईयस् परे होने पर—

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान्रविधौ स्मरेत्॥

---

१. न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुर-संगत-लवण-वट-बुध-कत-रस-लसेभ्यः (५।१।१२१)।

२. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (५।१।१२२)।

पृथ्वादिषु स्थिरशब्दस्यापाठात् स्थेमेति न सिध्य

इस रविधि के लिए सूत्रकार र ऋतो हलादेर्लघोः (६।४।१६१) ऐसा सूत्र पढ़ते हैं। इसकी प्रवृत्ति के लिए अङ्ग हलादि होना चाहिए और 'ऋ' लघु होना चाहिए। अतः **ऋजोर्भावः=ऋजिमा**। यहाँ हलादि न होने से 'र्' नहीं हुआ। **कृष्णस्य भावः=कृष्णिमा**। यहाँ 'ऋ' के गुरु होने से 'र्' नहीं हुआ। **महतो भावः=महिमा**। यहाँ 'टि' (अत्) का लोप हुआ है। टि लोप इष्ठ, इमनिच्, ईयस् प्रत्ययों के परे रहते होता है।[1] **पटोर्भावः पटिमा** (चतुराई)। **तनोर्भावः तनिमा** (कार्श्य, दुबलापन)। **लघोर्भावः=लघिमा** (लाघव, छोटाई)। **बहु—बहोर्भावः भूमा**। यहाँ बहु को 'भू' आदेश और इमनिच् के 'इ' का लोप होता है।[2] **ह्रस्वस्य भावः=ह्रसिमा**। ह्रस्व को ह्रस् आदेश होता है।[3] **दीर्घस्य भावः=द्राघिमा** (लम्बाई)। दीर्घ को द्राघ् आदेश होता है। **गुरोर्भावः=गरिमा**। गुरु को गर् आदेश होता है। **प्रियस्य भावः=प्रेमा**। प्रिय को 'प्र' आदेश होता है और वह एकाच् होने से प्रकृत्या (अपने स्वरूप में) अवस्थित रहता है अर्थात् 'टि' लोप नहीं होता। प्रेमन् (नपुं०) तो प्रीञ् से औणादिक मनिन् प्रत्यय से व्युत्पन्न होता है। **उरोर्भावः=वरिमा** (चौड़ाई)। उरु को 'वर्' आदेश होता है। **स्थिरस्य भावः=स्थेमा** (=स्थिरता)। यहाँ स्थिर को 'स्थ' आदेश होता है। ह्रस्व आदि को ये आदेश ईयस्, इष्ठ प्रत्ययों के परे रहते भी होते हैं। त्व, तल् सर्वत्र निर्बाध होंगे—**पृथुत्वम्**। **पृथुता**। **मृदुत्वम्**। **मृदुता**। **महत्—**महत्त्वम्। **महत्ता**। इत्यादि।

स्मरण रहे सभी इमनिच्प्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग होते हैं। इनके प्रथिमा। प्रथिमानौ। प्रथिमानः। महिमा। महिमानौ। महिमानः ऐसे रूप चलते हैं। एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः (ऋ० १०।९०।३)।

अण्—लघु-पूर्व जो इक् तदन्त से भाव में अण्[4]—**पृथोर्भावः पार्थवम्**। **मृदोर्भावः=मार्दवम्** (मृदुता)। **गुरोर्भावः=गौरवम्**। **लघोर्भावः=लाघवम्**।

---

१. टेः (६।४।१५५)।

२. बहोर्लोपो भू च बहोः (६।४।१५८)।

३. स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व० (६।४।१५६)। प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणाम्० (६।४।१५७)।

४. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (५।१।१३१)।

पटोर्भावः पाटवम् । **तनोर्भावः=तानवम्** । **ऋजोर्भावः=आर्जवम्** (सरलता) । **सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्। एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति** (भा० आश्वमे० ११।४) ।। अण् प्रत्ययान्त नियम से नपुंसकलिङ्ग होते हैं। गौरव आदि सभी उदाहरणों में आदि वृद्धि और अङ्ग के 'भ' संज्ञक होने से 'उ' को गुण होकर अवादेश हुआ है। सामान्य-विहित त्व, तल् भी होंगे—पृथुत्वम् । पृथुता । मृदुत्वम् । मृदुता । महत्त्वम् । महत्ता ।

ष्यञ्—वर्ण-वाची प्रातिपदिकों से तथा दृढ आदि प्रातिपदिकों से 'भाव' में ष्यञ् (य) प्रत्यय होता है और इमनिच् भी[1]—**शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्** । **शुक्लिमा** । **कृष्णस्य भावः=कार्ष्ण्यम्** (कालापन) । **कृष्णिमा** (इमनिच्) । **श्वेतस्य भावः श्वैत्यम्** । **श्वेतिमा** (इमनिच्) । दृढ आदि शब्दों से—**दृढस्य भावः=दार्ढ्यम्** । **द्रढिमा** (इमनिच्) । **शीतस्य भावः शैत्यम्** । **शीतिमा** । **उष्णस्य भावः=औष्ण्यम्** । **उष्णिमा** । **जडस्य भावः=जाड्यम्** । **जडिमा** । (मूर्खता, अचेतनता) । **मधुरस्य भावः=माधुर्यम्** । **मधुरिमा** । **बधिरस्य भावः=बाधिर्यम्** । **बधिरिमा** (बहरापन) । **वियातस्य भावः=वैयात्यम्** । **वियातिमा** (धृष्टता) । **विमतेर्भावः=वैमत्यम्** । **विमतिमा** (विप्रतिपत्ति, मतविरोध) । **विमनसो भावः=वैमनस्यम्** । **विमनिमा** । **सुमनसो भावः=सौमनस्यम्** । **सुमनिमा** (टि=अस् का लोप) । **विशारदस्य भावः=वैशारद्यम्** । **विशारदिमा** (चातुर्य) । **पण्डितस्य भावः पाण्डित्यम्** । **पण्डितिमा** । माधुर्य से स्त्रीत्वविवक्षा में **माधुरी** (मिठास) तथा वैशारद्य से **वैशारदी** रूप होंगे। प्रत्यय के षित् होने से ङीष् होकर हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) से तद्धित 'य' का लोप होगा।

सामान्य-विहित त्व, तल् तो सर्वत्र निर्बाध होंगे—शुक्लत्वम् । शुक्लता । दृढत्वम् । दृढता । शीतत्वम् । शीतता । मधुरत्वम् । मधुरता । वियातत्वम् । वियातता ।

गुणवचन तथा ब्राह्मण आदि शब्दों से भाव तथा कर्म में ष्यञ् होता है[2]—**जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्** (मूर्खता अथवा मूर्ख की चेष्टा) । **अलसस्य भावः कर्म वा आलस्यम्** (सुस्ती) । **निपुणस्य भावः कर्म वा नैपुण्यम्** (चतुराई, चतुर की क्रिया) । **चपलस्य भावः कर्म वा चापल्यम्** । **उचितस्य भावः कर्म वा**

---

१. वर्ण-दृढादिभ्यः ष्यञ् च (५।१।१२३) ।

२. गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५।१।१२४) ।

औचित्यम् । **अर्हतो भावः कर्म वा आर्हन्त्यम्** । अर्हत् को नुम् आगम भी होता है। आर्हन्त्यम्=योग्यता । **दीर्घस्य भावः=दैर्घ्यम्** । **मन्दस्य भावः= मान्द्यम्** । **स्थिरस्य भावः=स्थैर्यम्** । **बहुलस्य भावः=बाहुल्यम्** । **ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम्** । **ऋत्विजो भावः कर्म वा आर्त्विज्यम्** । **राजपुरुषस्य भावः=राजपौरुष्यम्** । अनुशतिकादि होने से उभयपद-वृद्धि । कुमारान् बिभर्तीति कुमारभृत्, तस्य कर्म **कौमारभृत्यम्**, बच्चों का पालन-पोषण शिक्षादि कर्म । **आस्तिकस्य भाव आस्तिक्यम्** । **नास्तिकस्य भावः=नास्तिक्यम्** । **माणवस्य भावः कर्म वा माणव्यम्** । कुत्सितो मूढो वा मानवः= माणवः । **अधिराजस्य भावः कर्म वा आधिराज्यम्** । गणपति—**गाणपत्यम्** । अधिपति—**आधिपत्यम्** । नरपति—**नारपत्यम्** । धनपति—**धानपत्यम्** । दायाद—**दायाद्यम्** (पितृ ऋक्थ का भागी होना) । **तस्करस्य भावः कर्म वा तास्कर्यम्** (चोरी) । **प्रत्यक्षमेतत्तास्कर्यं यद्देवन-समाह्वयौ** (मनु० ९।२२२) । प्राणि और अप्राणिद्यूत साक्षात् चोरी है । **ईश्वरस्य भावः कर्म वा ऐश्वर्यम्** । **सर्वासामैश्वर्यं कुरु जानकि** (रा० ५।२०।३१) । ऐश्वर्यम्=ईश्वरस्य कर्म= शासन । विधुर—**वैधुर्यम्** । विवर्ण=**वैवर्ण्यम्** (पीलापन) । विधवा—**वैधव्यम्** । कुनख—**कौनख्यम्** । पूतिनासिक=**पौतिनासिक्यम्** (सड़े हुए नाक वाला होना) । (मनु० ११।४९, ५०) । दुश्चर्मन्—**दौश्चर्म्यम्** (कुष्ठ) । स्वं स्वं लक्षणम् असाधारणी वृत्तिर्येषां ते स्वलक्षणाः, तेषां भावः **स्वालक्षण्यम्** । **स्वतन्त्रस्य भावः स्वातन्त्र्यम्** । स्वशब्द का द्वारादिगण (७।३।४) में पाठ होने से ऐजागम होकर सौवतन्त्र्यम् ऐसा बनना चाहिए । इस आपत्ति के वारण के लिए 'स्वतन्त्र' शब्द को स्वागतादिगण (७।३।७) में पढ़ना चाहिए । स्वागतादि आकृतिगण है ऐसा गणरत्नमहोदधिकार का मत है । द्वौ राजानावत्रेति द्विराजा देशः । तस्य भावः=**द्वैराज्यम्** । **तत्रभवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोस्मि** (मालविका) । सुहृदय—**सौहृदय्यम्** । **सौहार्द्यम्** । यहाँ वा शोक-ष्यञ्रोगेषु (६।३।५१) से 'हृदय' को विकल्प से 'हृद्' आदेश होता है । आदेश होने पर उभयपद वृद्धि होती है । **सहितस्य भावः कर्म वा साहित्यम्** । सहित=संहित । सहभावः=**साह्यम्** । (साथ, सहायता) । **एकस्य भावः=ऐक्यम्** । **तत्परस्य भावः तात्पर्यम्** । **इदम्परस्य भावः=ऐदम्पर्यम्** (=अभिप्राय) । **पुनः पुनर्भावः=पौनः पुन्यम्** । अव्ययानां भ-मात्रे टिलोपः । **प्रकामम् भावः=प्राकाम्यम्** । प्राकाम्यं च विभूतिषु । **पूर्वापरस्य भावः=पौर्वापर्यम्** । **उत्तराधरस्य भावः=औत्तरा-**

धर्यम् (उलट-पुलट) । **इतिह-भावः=ऐतिह्यम्** । **युगपद्भावः=यौगपद्यम्** । प्रतिभू (=लग्नक) । **प्रतिभुवो भावः प्रातिभाव्यम्** । आदि वृद्धि । गुण । वान्तादेश । सुहित (=तृप्त) । **सुहितस्य भावः सौहित्यम्** । (तृप्ति) । **यथाकामंभावः=याथाकाम्यम्** । **अयथातथंभावः=आयथातथ्यम्** । **अयाथातथ्यम्** (ठीक-ठीक न होना) ।

ष्यञ्प्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग होते हैं पर कुछेक से स्त्रीत्व विवक्षा भी होती है (सभी से नहीं) । तब प्रत्यय के षित् होने से ङीष् (स्त्रीप्रत्यय) आता है । तद्धित 'य' का हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) से लोप हो जाता है— **उचितस्य भावः=औचित्यम्** । **औचिती** । **अर्हतो भावः=आर्हन्त्यम्** । **आर्हन्ती** । **निपुणस्य भावः=नैपुण्यम्** । **नैपुणी** । **चतुरस्य भावः=चातुर्यम्** । **चातुरी** । **यथाकामं भावः=याथाकाम्यम्** । **याथाकामी** । **आचार्याधीनत्वाद् ब्रह्मचारिणो याथाकामी वार्यते** । आचार्य के अधीन होने से ब्रह्मचारी की मनमानी चेष्टा रुक जाती है । पर ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम् । यहाँ ङीष् करके 'ब्राह्मणी' नहीं कह सकते । व्यवहार न होने से । ब्राह्मणादि आकृतिगण है । गण पाठ प्रदर्शनार्थ है ।

चातुर्वर्ण्य आदि शब्दों में ष्यञ् स्वार्थिक है[1]—चतुर्णां वर्णानां समाहारः चतुर्वर्णम् । तदेव **चातुर्वर्ण्यम्** । चतुर्णाम् आश्रमाणां समाहारः=चतुराश्रमम् । तदेव **चातुराश्रम्यम्** । द्वयो रूपयोः समाहारः=**द्विरूपम्** । **तदेव द्वैरूप्यम्** । **त्रैरूप्यम्** । **चातूरूप्यम्** । त्रयाणां लोकानां समाहारः=**त्रिलोकी** । **सैव त्रैलोक्यम्** । भ-संज्ञा होने से 'ईकार' का लोप । षण्णां गुणानां समाहारः= **षड्गुणम्** । **तदेव षाड्गुण्यम्** । सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, समाश्रय—ये नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध छः गुण हैं । चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्, चत्वार्येव रूपाणि चातूरूप्यम् । षड् एव गुणाः षाड्गुण्यम्—इत्यादि विग्रह-वाक्य नहीं हैं, व्याख्यान मात्र हैं । ष्यञ् की प्रकृति चतुर्वर्ण आदि है न कि वाक्य । **समीपमेव सामीप्यम्** । **सन्निधिरेव सान्निध्यम्** (निकटता) । **उपमा एव औपम्यम्** । **सुखमेव सौख्यम्** । **स्वभाव एव स्वाभाव्यम्** । इदं वस्तुस्वाभाव्यं यदग्निर्दहत्यापश्च शमयन्ति । **समानो धर्मः सामान्यम्** । **सेना एव सैन्यम्** । **मत्सर एव मात्सर्यम्** । **विशेष एव वैशेष्यम्** । **संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्**

---

१. चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्याम् (वा०) ।

(ब्र० सू० १।२।८)। **अन्यभाव एव आन्यभाव्यम्।** **चर्चिका एव चार्चिक्यम्** (चन्दनादिलेप)। चर्चा तु चार्चिक्यम्—अमर। विशतीति विट् (क्विप्)। स्वार्थ में ष्यञ् होने पर 'वैश्य' ऐसा रूप होता है। **विडेव वैश्यः।** **अतिरेक एव आतिरैक्यम्।** **आतिरैक्यं तु मिश्रकः** (मनु० ११।५०)। **कुलमेव कौल्यम्।** **अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च** (भा० ५।१२३३)। **सहितौ शब्दार्थौ साहित्यम्।** निर्दोषौ गुणसम्पन्नौ सालङ्कारौ रसान्वितौ। शब्दार्थौ सहितौ काव्यमतः साहित्यमुच्यते॥ **आप्लाव एव आप्लाव्यम्।** बाडृ आप्लाव्ये (धातुपाठ)। **मङ्गलमेव माङ्गल्यम्।** षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च (धातुपाठ)।

यत्—स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् (चोरी)[1]। यहाँ 'न' का लोप भी होता है। कुछ वैयाकरण 'स्तेन' से ष्यञ् करके 'स्तैन्य' रूप भी इष्ट मानते हैं।

य—सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम्[2]। भ-संज्ञक होने से इकार का लोप।

दूतस्य भावः कर्म वा दूत्यम्। **वणिजो भावः कर्म वा वणिज्या**[3] (बनियापन, बनिये का व्यापार)। 'वणिज्या' स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग है।

ढक्—कपेर्भावः कर्म वा कापेयम्[4]। 'ढ' को एय आदेश। आदि वृद्धि। ज्ञाति=बन्धु। **ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम्** (बन्धुता)। **एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति** (महाभाष्य)। यह इसका कपिभाव (अनुकरणशीलता) है जो यह सूर्योपस्थान सा कर रहा है।

यक्—पत्यन्त शब्दों से तथा पुरोहित आदियों से[5]—**सेनापतेर्भावः कर्म वा सैनापत्यम्।** **गृहपतेर्भावः कर्म वा गार्हपत्यम्** (गृहस्थता)। **प्रजापतेर्भावः कर्म वा प्राजापत्यम्।** **पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम्** (पुरोहिताई, पुरोहित का कर्म)। **राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम्।** राजस्व अथवा राजकर्म=प्रशासन)।

अञ्=प्राणिजातिवाची शब्दों से, वयोवाचकों से, उद्गातृ आदि शब्दों से अञ्[6]—**अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम्।** उष्ट्र—**औष्ट्रम्।** वयोवाचक—

---

१. स्तेनाद्यन्नलोपश्च (५।१।१२५)।
२. सख्युर्यः (५।१।१२६)।
३. दूतवणिग्भ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४. कपिज्ञात्योर्ढक् (५।१।१२७)।
५. पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यो यक् (५।१।१२८)।
६. प्राणभृज्जाति-वयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् (५।१।१२९)।

किशोरस्य भावः कर्म वा कैशोरम् (बाल्य, बालक्रीडा)। **कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम्** (लड़कपन, लड़के की चेष्टा)। **उद्गातुर्भावः कर्म वा औद्गात्रम्**। उद्गाता=सामगः। **अध्वर्योर्भावः कर्म वा आध्वर्यवम्** (यजुर्वेदी ऋत्विक् का भाव व कर्म)। **सुष्ठुभावः=सौष्ठवम्**। **दुष्ठुभावः=दौष्ठवम्**। ओर्गुणः।

अण्—हायनान्त तथा युवन् आदि शब्दों से[1]—द्वे हायने वयसः प्रमाणमस्य=द्विहायनः। तस्य भावः कर्म वा **द्वैहायनम्**। त्रिहायणः—**त्रैहायणम्**। युवन्—**यूनो भावः कर्म वा यौवनम्**। श्व-युव-मघोनामतद्धिते (६।४।१३३) सूत्र में तद्धित-पर्युदास होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ। **स्थविरस्य भावः कर्म वा स्थाविरम्** (वृद्धावस्था)। होतृ—**होतुर्भावः कर्म वा हौत्रम्** (ऋग्वेद सम्बन्धी ऋत्विक् का भाव व कर्म)। **पुरुषस्य भावः कर्म वा पौरुषम्** (पुरुषत्व, उद्योग)। सुहृद् (मित्र)—**सौहार्दम्** (मित्रता)। दुर्हृद्—**दौहार्दम्** (शत्रुता)। यहाँ हृद्-भग-सिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च (७।३।१९) से उभयपद वृद्धि हुई। सुहृदय—**सौहृदम्**। दुर्हृदय—**दौर्हृदम्**। यहाँ हृदयस्य हृल्लेख-यद्-अण्-लासेषु (६।३।५०) से 'हृदय' को अण् परे रहते 'हृद्' आदेश हुआ। यहाँ उभयपद वृद्धि नहीं होती, उसके लिए प्रतिपदोक्त हृद् शब्द चाहिए, लक्षण से निष्पन्न नहीं। सुहृदय=अच्छे हृदय वाला, प्रीतिमान्। केवल 'हृदय' से भी अण् होता है—**हृदयस्य कर्म=हार्दम्** (प्रेम)। शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता। **सुभ्रातुर्भावः कर्म वा सौभ्रात्रम्**। **सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि** (रघु० १६।१)। इनका शोभन भ्रातृ-सम्बन्ध कुल में आ रहा है। कुशल—**कौशलम्** (चातुर्य)। श्रोत्रिय=वेदपाठी। **श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रौत्रम्**। श्रोत्रिय के 'य' का लोप हो जाता है। 'य' का लोप होने पर भ-संज्ञक अङ्ग के 'इ' का लोप हो जाता है। चपल—**चापलम्** (चञ्चलता)। पिशुन—**पैशुनम्** (चुगलखोरी)। निपुण—**नैपुणम्**।

लघुपूर्व इगन्त अङ्ग से भी[2]—शुचि—**शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्** (पवित्रता)। मुनि—**मुनेर्भावः कर्म वा मौनम्** (चुप्पी)। मुनिर्मन्ता भवति, मुनि विचारशील होता है, अतः स्वभाव से ही बहुत कम बोलता है, मौनी रहता है।

---

१. हायनान्त-युवादिभ्योऽण् (५।१।१३०)। श्रोत्रियस्य यलोपश्च वक्तव्यः (वा०)।

२. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (५।१।१३१)।

वुञ्—योपध शब्दों से जिनके अन्त्य अक्षर से पूर्व गुरु हो[1]—**रमणीयस्य भावः=रामणीयकम्** (सौन्दर्य)। **कमनीयस्य भावः=कामनीयकम्** (कमनीयता, प्रियता, सुभगता)। **आचार्यस्य भावः कर्म वा आचार्यकम्** (आचार्य का भाव वा कर्म=अनुशासन)। **आचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत्** (मालती २।२६)। **उपाध्यायस्य भावः कर्म वा औपाध्यायकम्। औपाध्यायकं शीलयद्भ्यः कुलेभ्य उपाध्यायाः सङ्ग्राह्याः। दर्शनीयस्य भावः=दार्शनीयकम्। अभिधानीयस्य भावः=आभिधानीयकम्** (अभिधेयता, वाच्यता)। 'सहाय' से वुञ् विकल्प से होता है[2]—**साहायकम्। साहाय्यम्** (ष्यञ्)।

द्वन्द्व से तथा मनोज्ञ आदि शब्दों (जो योपध नहीं है) से भी[3]—शिष्यश्च उपाध्यायश्च शिष्योपाध्यायौ। तयो र्भावः कर्म वा **शैष्योपाध्यायिका** (शिष्य व गुरु का सम्बन्ध)। कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन इस वचन के अनुसार समास से विहित भाव-प्रत्यय सम्बन्ध को कह रहा है। कुमारसम्भव के बलाहकच्छेदविभक्तरागां......धातुमत्तां शिखरैर्बिभर्ति—इस पद्यांश में धातुमत्ता=धातुसम्बन्धः=सम्बद्धधातवः। यहाँ तद्धितान्त धातुमत् से तल् भाव-प्रत्यय हुआ है। **गोपालपशुपालानां भावः कर्म वा गौपालपशुपालिका** (गोपालों और पशुपालों का सम्बन्ध)। द्वन्द्व से वुञन्त स्वभावतः स्त्रीलिङ्ग होते हैं! **मनोज्ञस्य भावः कर्म वा मानोज्ञकम्** (मनोहरता)। अभिरूप—**आभिरूपकम्** (सौन्दर्य, विद्वत्ता)। **बहुलस्य भावः=बाहुलकम्। कल्याणस्य भावः कर्म वा काल्याणकम्। वृद्धस्य भावः=वार्द्धकम्।** वार्धकम् (बुढ़ापा)। **वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्** (रघु० १।८)। **अवश्यं भावः=आवश्यकम्।** आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः (३।३।१७०) सूत्र में आवश्यक शब्द भाव में वुञ्प्रत्ययान्त है। आवश्यकं कृत्वा स्नायात्—यहाँ कर्म में वुञ् प्रत्यय है। आवश्यकम्=मलोत्सर्गः। आवश्यक में अवश्यम् के टि (अम्) का लोप हुआ है—अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। मूल में यह शब्द भाव-वाचक था (और कर्म-वाचक भी), पर कालान्तर में इसका विशेषण-रूप से प्रयोग होने लगा। 'आवश्यक' से अर्श आदि अच् करके आवश्यकमस्यास्तीत्यावश्यकम् इस प्रकार विशेषण बनाकर प्रयोग होने लगा। विशेषण रूप से प्रयुक्त हुए

---

१. योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् (५।१।१३२)।
२. सहायाद्वेति वक्तव्यम् (वा०)।
३. द्वन्द्व-मनोज्ञादिभ्यश्च (५।१।१३३)।

इसका स्त्रीलिङ्ग क्या है इस विषय में विद्वानों का मत-भेद है। नागेश 'आवश्यकी' गौरादि ङीषन्त बनाकर प्रयोग करते हैं और दूसरे टाप् करके 'आवश्यिका' ऐसा रूप स्वीकार करते हैं। **चोरस्य भावः कर्म वा चौरिका** (चोरी)। यह स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग है। **आहोपुरुषिका** (दर्प से अपने प्रति आदर)। **मिथुनस्य भावः कर्म वा=मैथुनिका** (विवाह-सम्बन्ध)।

वुञ्—गोत्रवाची तथा चरण-वाची प्रातिपदिक से भाव व कर्म में वुञ् होता है जब श्लाघा (=विकत्थन, डींग मारना), अत्याकर (=पराधिक्षेप =पर तिरस्कार) और तदवेत (=तत्प्राप्त अथवा तज्ज्ञ=उसको जानने वाला) के विषय में वुञ्प्रत्ययान्त का प्रयोग हो[1]—**गार्ग्यस्य भावः कर्म वा गार्गिका। गार्गिकया श्लाघते**=गार्ग्य होने से (गर्ग गोत्रज होने से) डींग मारता है। **काठिकया श्लाघते**=कठ=कठशाखाध्यायी होने से डींग मारता है। वेदशाखाध्यायी का 'चरण' कहते हैं। **गार्गिकयाऽत्याकुरुते**=गार्ग्य होने से दूसरों का तिरस्कार करता है। **काठिकयाऽत्याकुरुते**=कठशाखाध्यायी होने से दूसरों का अपमान करता है। **गार्गिकाम् अवेतः। काठिकाम् अवेतः।** गार्ग्यत्व, कठत्व को प्राप्त अथवा जो उसे जान गया है। श्लाघादि विषयभूत न होंगे तो वुञ् नहीं होगा—गार्ग्यत्वम्। कठत्वम्। 'गार्गिका' में 'आपत्यस्य' —(६।४।१५१) से आपत्य 'य' का लोप हुआ है।

छ—होत्रा (स्त्री०) ऋत्विग्विशेषवाची प्रातिपदिक से भाव, व कर्म में[2]—**अच्छावाकस्य भावः कर्म वा अच्छावाकीयम्। मित्रावरुणस्य भावः कर्म वा मित्रावरुणीयम्। ब्राह्मणाच्छंसिनो भावः कर्म वा ब्राह्मणाच्छंसीयम्। अग्नीध्रस्य भावः कर्म वा अग्नीध्रीयम्। पोतुर्भावः कर्म वा पोत्रीयम्।**

त्व—ब्रह्मा ऋत्विग्विशेषः, तस्य भावः कर्म का **ब्रह्मत्वम्।**[3] **अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते** (गोपथ)। यहाँ दूसरा कोई प्रत्यय नहीं होता।

कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन, अर्थात् कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त तथा समस्त पदों से जो भाव प्रत्यय होता है वह सम्बन्ध का अभिधायक होता है। तस्मा इदं तदर्थम्। तस्य भावः तादर्थ्यम्। यहाँ उपकार्योपकारक-भाव-सम्बन्ध अभिधेय है। यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां

---

१. गोत्र-चरणाच्छ्लाघाऽत्याकारतदवेतेषु (५।१।१३४)।

२. होत्राभ्यश्छः (५।१।१३५)।

३. ब्रह्मणस्त्वः (५।१।१३६)।

सम्पादयित्रीं शिखरै बिभर्ति । बलाहकच्छेदविभक्तरागां त्रिकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ।। (कुमार० १४)। यहाँ 'धातुमत्ता' पद तद्धितान्त 'धातुमत्' से भाववाचक तल् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। धातुमत्ता=धातुओं का आधाराधेयभाव सम्बन्ध । धातुसम्बन्ध= सम्बद्धधातु । भाव यह है कि हिमालय अपने शिखरों पर बहुत से धातुओं को धारण कर रहा है जो इसके साथ नित्य सम्बद्ध हैं।

इति भाव-कर्मणोस्तद्धिताः ।

अथ तद्धितेषु पाञ्चमिकाः ।

यहाँ उन तद्धितों को संगृहीत किया है जिनका अधिकार के बिना प्रतिपद विधान हुआ है।

षष्ठीसमर्थ धान्यविशेषवाचियों से भवन अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है जब भवन क्षेत्र हो।[1] भवत्यस्मिन्निति भवनम् । अधिकरण में ल्युट् । **मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम्** । कुलत्थ—**कौलत्थीनम्** । गोधूम—**गौधूमीनम्** । कोद्रव—**कौद्रवीणम्** । उमा=अतसी=अलसी । उमा—**औमीनम्** । स्कन्दपुराण में ये अठारह धान्य गिनाए गए हैं—

यवगोधूमधान्यानि तिलाः कङ्गु कुलत्थकः ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्यामसर्षपाः ।।१।।
गवेधुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः ।
चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टादशैव तु ।।२।।

सूत्र में धान्यग्रहण से तृणानां भवनं क्षेत्रम्—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा।

ढक्—व्रीहि, शालि से 'भवने क्षेत्रे' अर्थ में[2]—**व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं व्रैहेयम् । शालेयम्** ।

यत्—यव, यवक, षष्टिक से भवने क्षेत्रे अर्थ में[3]—**यवानां भवनं क्षेत्रं यव्यम् । यवक्यम् । षष्टिक्यम्** ।

यत्, खञ्—तिल, माष, उमा, भङ्गा, अणु से विकल्प से यत्, पक्ष में खञ्[4]—**तिलानां भवनं क्षेत्रं तिल्यम् । तैलीनम्** । माष—**माष्यम् । माषीणम्** । उमा—**उम्यम् । औमीनम्** । भङ्गा (भंग, कार्पास)—**भङ्ग्यम् । भाङ्गीनम्** । अणु—(चीणक=चीणा) **अणव्यम् । आणवीनम्** (गुण, आदि वृद्धि)।

---

१. धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१)।
२. व्रीहि-शाल्योर्ढक् (५।२।२)।
३. यव-यवक-षष्टिकाद्यत् (५।२।३)।
४. विभाषा तिल-माषोमा-भङ्गाणुभ्यः (५।२।४)।

ख, खञ्—तृतीयासमर्थ सर्वचर्मन् शब्द से 'कृतः' अर्थ में।[1] सूत्र में सर्वचर्मणः—यह असमर्थ समास है। 'सर्व' का कृत के साथ सम्बन्ध है—**सर्वश्चर्मणा कृतः=सर्वचर्मीणः। सार्वचर्मीणः। सार्वचर्मीणोऽयं समुद्गक इति मिथ्या प्रतिजानीते वाणिजः**, यह सन्दूक सारा चाम का ही बना हुआ है, यह बनिये की मिथ्या प्रतिज्ञा है।

ख—यथामुख संमुख इन षष्ठीसमर्थ शब्दों से 'दर्शनः' अर्थ में[2]। यथामुखम्। यह सादृश्य अर्थ में अव्ययीभाव निपातन किया है। **मुखस्य सदृशं यथामुखं** प्रतिबिम्बम्। दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनः। अधिकरण में ल्युट्। **यथामुखं दर्शन आदर्शादिः=यथामुखीनः**, शीशा (दर्पण) जिसमें मुख का प्रतिबिम्ब दीखता है। **सम्मुखस्य (=सर्वस्य मुखस्य) दर्शन आदर्शादिः=सम्मुखीनः**। यहाँ सम =सर्व। प्रत्ययसन्नियोग से इसके अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है। भट्टि काव्य में **यथामुखीनः सीतायाः पुप्लुवे बहु लोभयन् (५।४८)** इस पद्य में यथा शब्द का पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में समास मानकर 'ख' प्रत्यय किया है। यह वृत्ति, न्यास, पदमञ्जरी आदि के विरुद्ध है। इस अर्थ में 'दर्शनः' पद की संगति भी नहीं। इसी प्रकार संयुगे **संमुखीनं तमुद्गदं प्रसहेत कः**—यहाँ भी संमुखीन का 'प्रत्यक्ष, सामने आया हुआ' अर्थ में प्रयोग उच्छृङ्खलता का निदर्शन मात्र है।

द्वितीया-समर्थ सर्वादि पथिन्-अङ्ग-कर्म-पत्त्र-पात्रान्त प्रातिपदिक से व्याप्नोति (व्यापता है) अर्थ में[3]—**सर्वपथान् व्याप्नोति सर्वपथीनो रथः**, जो रथ सभी रास्तों पर चलता है। **सर्वपथीना धिषणा**, बुद्धि जो सभी मार्गों (विषयों) पर चलती है। **सर्वाङ्गीणोऽस्य तापोऽत्यारूढो ज्वर इति कथयति। ह्रीनिषेवाभिः कुलाङ्गनाभिः सर्वाङ्गीणं वासो वसनीयं विशेषतो निर्गृहाभिः**, लज्जाशील कुलीन स्त्रियों को सारे शरीर को ढाँपने वाला वस्त्र पहनना चाहिए, विशेषकर जब वे घर से बाहर हों। **सर्वकर्मीणोऽयं पुरुषः। क्रमतेऽस्य बुद्धिः समं सर्वेषु कृत्येषु**। क्रमते=अप्रतिबन्धेन प्रवर्तते। पत्त्रम्=वाहनम्। **सर्वपत्त्रं व्याप्नोति सर्वपत्त्रीणः सारथिः**, सारथि जो सभी वाहनों को चला

१. सर्वचर्मणः कृतः खखञौ (५।२।५)।
२. यथामुख-संमुखस्य दर्शनः खः (५।२।६)।
३. तत्सर्वादेः पथ्यङ्ग-कर्म-पत्त्र-पात्रं व्याप्नोति (५।२।७)।

सकता है। **सर्वपात्रीण ओदनः,** भात जो सारे बर्तन को व्याप्त करता है।

द्वितीयासमर्थ आप्रपद शब्द से प्राप्नोति (पहुँचता है) अर्थ में।[1] आप्रपदम् यहाँ अभिविधि में आङ् का 'प्रपद' के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है। पदस्याग्रं प्रपदम्। प्रारम्भः पदस्य (प्रादितत्पु०)। क्रियाविशेषण रूप कर्म में द्वितीयासमर्थ विभक्ति सुलभ है। **आप्रपदं यथा स्यात्तथा सर्वशरीरं प्राप्नोति आप्रपदीनः पटः।** जो वस्त्र शरीर पर धारण नहीं भी किया हुआ है उसे भी प्रपद(पादाग्र)तक पहुँचने योग्य होने से 'आप्रपदीन' कह सकते हैं।

ख—अनुपद, सर्वान्न, अयानय—इन द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिकों से बद्धा (बाँधी हुई), भक्षयति (खाता है), नेय (जो चलाया जाता है) अर्थों में[2]—अनुपदम्—यहाँ 'अनु' आयाम अर्थ में है अथवा सादृश्य में। यस्य चायामः (२।१।१६) से अव्ययीभाव है अथवा यथार्थ में जो अव्यय (यथा-भिन्न) उसका अव्ययं विभक्ति-समीप—(२।१।६) से 'पद' के साथ अव्ययीभाव है—**अनुपदं बद्धाऽनुपदीना उपानत्**=पादप्रमाणा, पाओं के माप का जूता। पर **पादुकाऽनुपदीना स्यात्** (वैजयन्ती)। यहाँ पादुका (खड़ाऊँ) और अनुपदीना पर्याय पढ़े हैं। सर्वान्न—**सर्वाणि अन्नानि भक्षयति इति सर्वान्नीनो भिक्षुः,** भिक्षु जो सब अन्नों को खा लेता है, जिसके लिए कुछ भी निषिद्ध नहीं। अथवा सरस, विरस, शीत, उष्ण जैसा भी अन्न मिले उसे जो खाता है उसे सर्वान्नीन कहते हैं। पासों की दक्षिण की ओर गति 'अय' है। बाईं ओर गति अनय है। 'अयानय' यह कर्मधारय समास है—अयश्चासावनयश्च अयानयः। शारों (पासों) का एक के प्रति जो प्रदक्षिण गमन (दाईं ओर जाना) है वही दूसरे के प्रति प्रसव्य गमन है। जब अपने पासे दक्षिण की ओर चलते हैं और दूसरे के बाईं ओर, तब ऐसे चलते हुए इनके जो स्थान उनका जिस गति-विशेष में दूसरे के पासों से अनाक्रमण रहता है उसे 'अयानय' कहते हैं यह परमार्थ है। **अयानयं नेयः=अयानयीनः शारः,** फलकशिरसि स्थित इत्यर्थः। द्यूतारम्भकाल में फलक पर जहाँ शार स्थापित किये जाते हैं उसे 'शिरस्' कहते हैं।

द्वितीयान्त परोवर, परम्पर, पुत्त्रपौत्त्र से 'अनुभवति' अर्थ में[3]। परावर

---

१. आप्रपदं प्राप्नोति (५।२।८)।

२. अनुपद-सर्वान्नायानयं बद्धा-भक्षयति-नेयेषु (५।२.९)।

३. परोवर-परम्पर-पुत्त्र-पौत्रमनुभवति (५।२।१०)।

के स्थान में परोवर पृषोदरादि होने से साधु है। ओत्व निपातन से है। 'परम्पर' यह 'पर परतर' के स्थान में शिष्ट सम्मत प्रयोग है। ये दोनों प्रत्यय संनियोग से ही साधु हैं। प्रबन्ध (अनुक्रम, सातत्य) अर्थ में 'परम्परा' स्वतन्त्र अव्युत्पन्न प्रकृत्यन्तर है। **परानवरांश्चानुभवन्ती स्त्री परोवरीणा,** वह स्त्री जिसने दूर भूत में हुए बन्धुओं को देखा है और अवरकाल में हुए बन्धुओं को भी। **परांश्च परतरांश्चानुभवन्मन्त्री परम्परीणः,** जिसने पूर्व राजाओं को देखा है और उनसे पूर्वतर राजाओं को भी। **लक्ष्मीं परम्परीणां त्वं पुत्रपौत्रीणतां नय**—भट्टि (५।१५)।

अवारपार, अवार, पार, पारावार, अत्यन्त, अनुकाम—इन द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिकों से 'गामी' अर्थ में[1]—**अवारस्य पारम् अवारपारम्। अवारपारं गामी=अवारपारीणः।** गमिष्यतीति गामी। आवश्यकार्थ में भविष्यत् में णिनि। बाहुलकात् आङ् के बिना भी णिनि। भविष्यदर्थ में कृत्प्रत्यय णिनि के योग में षष्ठी का निषेध होने से द्वितीया समर्थ विभक्ति हुई। **अवारं गामी अवारीणः। पारं गामी पारीणः। पारावारीणः।** अवारपारीण तथा पारावारीण में द्वन्द्व से भी प्रत्यय होता है। **अवारपारे पारावारे गामी। अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः**=भृशं गन्ता, बहुत जाने वाला। **अनुकामं गामी=अनुकामीनः**=यथेष्टं गन्ता। अनुकामम्—यह यथार्थ में जो अव्यय अनु उसका 'काम' के साथ समास है। यथार्थ यहाँ सादृश्य लिया जाता है।

सूत्र में समां समाम् यह वीप्सा में द्विरुक्ति है। सुबन्त समुदाय से प्रत्यय विधान किया है। विपूर्व जन् यहाँ गर्भधारण अर्थ में है, अतः समाम् यह अत्यन्त संयोग में द्वितीया है। पूर्वपद में सुप् का अलुक् होता है। **समां समां विजायत इति समांसमीना गौः**[2], गौ जो प्रतिवर्ष गर्भ धारण करती है अर्थात् बच्चा जनती है। दूसरे लोग यहाँ समायां समायाम् सप्तम्यन्त की द्विरुक्ति मानते हैं। उनके विचार में विपूर्व जन् का अर्थ गर्भ विमोचन अर्थात् प्रसव है। वे केवल पूर्वपद के 'य' का लोप करते हैं—**समायां समायां विजायते प्रसूत इति समांसमीना गौः।** हमारे विचार में विपूर्वक जन् का गर्भ धारण अर्थ अप्रसिद्ध है, गर्भविमोचन अर्थ अतिप्रसिद्ध है—**आविजनितोः संभवामेति स्त्रीणामिन्द्रदत्तो वरः।** हिन्दी में इसे ब्याना

---

१. अवार-पाराऽत्यन्ताऽनुकामं गामी (५।२।११)।

२. समां समां विजायते (५।२।१२)।

कहते हैं इससे भी इसी अर्थ की समर्थना होती है। पर हमें 'य' का लोप क्लिष्ट कल्पना मालूम देता है। आचार्य मुक्त संशय रूप से द्विरुक्त समा को द्वितीयान्त पढ़ते हैं। यहाँ वाक्य में (तद्धित आने से पूर्व) भी दोनों पदों में 'य' लोप विकल्प से होता है जिससे समां समां विजायते, समायां समायां विजायते दोनों तरह का वाक्य बन जाता है। यह वार्तिककार की कल्पना भी व्यर्थ है। वस्तुतः यहाँ विजन् गर्भधारणपूर्वक गर्भविमोचन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समां समां गर्भं धृत्वा विजायते ऐसी विवक्षा है।

'अद्यश्वीना' यह खप्रत्ययान्त निपातन किया जाता है जब आसन्न (समीपवर्ती) प्रसव अभिधेय हो।[1] 'विजायते' यह पूर्व सूत्र से अनुवृत्त है। अवष्टब्ध=अविदूर, समीप। **अद्यश्वीना गौः। अद्यश्वीना वडवा**, जो गौ, जो घोड़ी आजकल ब्याने वाली है। कोई लोग इस सूत्र में 'विजायते' की अनुवृत्ति नहीं करते हैं अद्यश्वीन को अविभक्तिक निर्देश मानते हैं—**अद्यश्वीनं मरणम्। अद्यश्वीनो वियोगः**, जो वियोग आजकल (निकट भविष्यत् में) होने वाला है। अद्य वा श्वो वा=अद्यश्वः।

ख—'आगवीन' यह ख प्रत्ययान्त निपातन किया है[2]। आङ्पूर्वक 'गो' से ख प्रत्यय उस नौकर को कहने के लिए निपातित किया है जिसे काम करने के बदले (भृति रूप में) गौ दी गई है और जिसे गौ के लौटाने तक अवश्य स्वामी का कार्य करना है—**आगवीनः कर्मकरः**।

'अनुगु' शब्द से 'अलंगामी' इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है[3]—**अनुगु अलं =पर्याप्तं गच्छतीत्यनुगवीनो गोपालकः**, जो गोप गौ के पीछे पीछे पर्याप्त जाता है उसे 'अनुगवीन' कहेंगे। 'अनुगु' यथार्थ (=पश्चात् के अर्थ) में अव्ययीभाव समास है। गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व हुआ।

यत्, ख—द्वितीयासमर्थ अध्वन् शब्द से 'अलंगामी' अर्थ में यत्, ख[4]—**अध्वानमलं गच्छति=अध्वन्यः**। ये चाभावकर्मणोः (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव। **अध्वनीनः**। आत्माध्वानौ खे (६।४।१६९) से प्रकृतिभाव।

---

१. अद्यश्वीनाऽवष्टब्धे (५।२।१३)।
२. आगवीनः (५।२।१४)।
३. अनुग्वलंगामी (५।२।१५)।
४. अध्वनो यत्खौ ((५।२।१६)।

यत्, ख, छ—अभ्यमित्र शब्द से 'अलंगामी' अर्थ में[४]—**अभ्यमित्रम् अमित्राभिमुखं सुष्ठु गच्छति अभ्यमित्र्यः। अभ्यमित्रीणः। अभ्यमित्रीयः,** जो शत्रु का डटकर सामना करता है। अभ्यमित्रम्—अव्ययीभाव है। लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (२।१।१४) से समास हुआ।

खञ्—गोष्ठ शब्द से भूतपूर्व गोष्ठ को कहने के लिए खञ्।[५] गो समूह जहाँ ठहरता है उस स्थान को गोष्ठ कहते। जो स्थान पहले गोष्ठ रहा, अब नहीं, उसे "गौष्ठीन' कहते हैं—**गौष्ठीनो देशः।** 'भूतपूर्व' अर्थ द्वारा गोष्ठ का विशेषण है।

षष्ठीसमर्थ अश्व शब्द से 'एकाहगमः' जो एक दिन में चला जाता है अर्थ में[६]—अश्वस्यैकाहगमोऽध्वा, जो रास्ता घोड़ा एक दिन में चलता है उसे **आश्वीनोऽध्वा** कहेंगे। 'अश्वस्य' यह कर्ता में षष्ठी है। एकं च तदहश्च= एकाहः (पुं०)। एकाहेन गम्यते इत्येकाहगमः। परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः (३।३।२०) से घञ् प्राप्त हुआ। निपातन से अप्। 'एकाहेन' में तृतीया अपवर्ग में है, अतः एकाहगमः यह सुप्सुपा समास है। कर्तृकरणे कृता बहुलम् से तृतीया समास है ऐसा न्यासकार का मत है। पर यह ग्राह्य नहीं कारण कि 'एकाहेन' में करण में तृतीया नहीं। **सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः** (ऐ० ब्रा० २।२।७)। **आश्वीनानि शतं पतित्वा** (=गत्वा)—काशिका।

शालीन और कौपीन खञ् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं, शालीन अधृष्ट अर्थ में और कौपीन अकार्य (पाप) अर्थ में।[७] शालाप्रवेशमर्हति, कूपपातमर्हति इन अर्थों में खञ् प्रत्यय और उत्तरपद-लोप निपातित किए हैं। **शालीनो जडः। शालीना कुलवधूः।** अप्रगल्भ होने से अन्यत्र जाने में असमर्थ, शाला में ही प्रवेश करने के योग्य। **कूपावतरणं कूपपातम्** (=**कूपे पातम्**) **अर्हति= कौपीनम्** अकार्यम्=पापम्। पाप का साधन अथवा पाप की तरह गोप्य होने से प्रजनन (लिङ्ग) को भी 'कौपीन' कहते हैं। महाभारत में प्रयोग भी है— **मयूर इव कौपीनं नृत्यं सन्दर्शयन्निव** (शां० ११४।१०)। लिङ्ग सम्बन्धी

---

१. अभ्यमित्राच्छ च (५।२।१७)।
२. गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे (५।२।१८)।
३. अश्वस्यैकाहगमः (५।२।१९)।
४. शालीन-कौपीने अधृष्टाकार्ययोः (५।२।२०)।

आच्छादन को भी 'कौपीन' कहते हैं—**कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी** (भर्तृ० ३।१०१)।

तृतीयासमर्थ व्रात शब्द से 'जीवति' अर्थ में।[1] शरीर को आयास देकर भार-वहनादि करके जो जीविका बनाते हैं ऐसे नाना जाति वाले अनियतवृत्ति वाले (=कभी एक व्यवसाय करने वाले कभी दूसरा) सङ्घ **व्रात** कहलाते हैं। उनके कर्म को भी 'व्रात' कहा है। उस व्रातकर्म द्वारा जो कोई (उन्हीं सङ्घों में से एक) जीता है उसे व्रातीन कहते हैं—**व्रातेन जीवति व्रातीनः।**

साप्तपदीन यह सख्य अर्थ में निपातन किया है।[2] तृतीयासमर्थ विभक्ति ही निपातित की है। **सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनं सख्यम्।** 'पद' से यहाँ सुप्तिङन्त-लक्षण पद भी लिया जाता है और पाद-क्रम भी। **सख्यं जनाः साप्तपदीनमाहुः** (काशिका)। उपचार से **साप्तपदीनः सखा, साप्तपदीनं मित्रम्** ऐसा भी प्रयोग होता है।

'हैयङ्गवीन' यह खञ्प्रत्ययान्त निपातन किया है।[3] ह्योगोदोह (कल का गोदुग्ध) को 'हियङ्गु' यह आदेश भी निपातन से है। विकार में प्रत्यय है—घृत **ह्योगोदोहस्य विकारः=हैयङ्गवीनम्।** यह ताजे मक्खन का नाम है, जिसे 'नवनीत' भी कहते हैं। कल के गोदुग्ध से बनी हुई उदश्वित् (छास) को नवनीतान्यत् हैयङ्गवीन नहीं कहते। **हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्** (रघु० १।४५)।

कुणप्, जाहच्—षष्ठीसमर्थ पील्वादि (पीलु आदि) तथा कर्णादि (कर्ण आदि) से क्रम से 'उसका पाक', 'उसका मूल' इन अर्थों में कुणप् (कुण) तथा जाहच् (जाह) प्रत्यय होते हैं[4]—**पीलूनां पाकः=पीलुकुणः। कर्कन्धूनां पाकः कर्कन्धुकुणः। कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्। अपि कर्णजाहं विनिवेशिताननः** (मालती० ५।८)। पील्वादि गण में शमी, करीर, कुवल, बदर, अश्वत्थ, खदिर पढ़े हैं। कर्णादिगण में अक्षि, नख, मुख, केश, पाद, गुल्फ, भ्रूभङ्ग, दन्त, ओष्ठ, अङ्गुष्ठ पढ़े हैं।

ति—मूल अर्थ में 'पक्ष' से[5]—**पक्षस्य मूलं पक्षतिः। पक्षतिः प्रतिपत्।**

---

१. व्रातेन जीवति (५।२।२१)।
२. साप्तपदीनं सख्यम् (५।२।२२)।
३. हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् (५।२।२३)।
४. तस्य पाक-मूले पील्वादि-कर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ (५।२।२४)।
५. पक्षात्तिः (५।२।२५)।

चुञ्चुप्, चणप्—तृतीयासमर्थ से 'वित्तः' (प्रसिद्ध) अर्थ में चुञ्चु, चण प्रत्यय होते हैं[1]—**विद्यया वित्तः=विद्याचुञ्चुः। विद्याचणः। अक्षरचुञ्चुः। अक्षरचणः।** अक्षरों के कारण प्रसिद्ध, सुन्दर लेख के निमित्त विश्रुत।

ना, नाञ्—वि, नञ् से 'ना', 'नाञ्' (ना) प्रत्यय पृथग्भाव में होते हैं[2]—**विना। नाना। नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा।**

शालच्, शङ्कटच्—क्रियाविशिष्ट साधनवाची वि उपसर्ग से स्वार्थ में[3]—**विगते शृङ्गे=विशाले शृङ्गे। विशङ्कटे शृङ्गे।** विगते=उठे हुए, बढ़े हुए। ऐसे शृङ्गों के योग से गौ को भी **विशालो गौः** (ऊँचे कद का बैल)। **विशंकटो गौः।** परमार्थतः ये गुण शब्द हैं, ज्यों त्यों व्युत्पत्ति की जाती है। प्रकृति और प्रत्ययार्थ कुछ भी नहीं।

सम्प्रोदश्च कटच् (५।२।२९) से लेकर इनच् पिटच् चिक चि च (५।२।३३) तकके सूत्रों तथा तत्सम्बद्ध वार्तिकों द्वारा व्युत्पत्ति मात्र में यत्न है। समुदाय ही अर्थवान् है। अवयव अनर्थक हैं। अतः इनका विवरण हमने नहीं किया है। किं च गोष्ठच् गोयुगच् षड्गवच् आदि प्रत्ययों की कल्पना भाषा के औपचारिक प्रयोगों की अवहेलना पर आधृत है, इसलिए भी अरुचिकर है।

त्यकन्—क्रम से आसन्न (समीप), आरूढ अर्थ में वर्तमान उप और अधि उपसर्गों से स्वार्थ में[4]—**पर्वतस्यासन्नमुपत्यका।** पर्वत के समीप की भूमि उपत्यका कहलाती है। **तस्यैवारूढम् अधित्यका,** उसी (पर्वत) की ऊपर की भूमि को अधित्यका कहते हैं। उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका—अमर। संज्ञाधिकार होने से आसन्न और आरूढ नियत विषय अर्थात् विषय-विशेष, पर्वत में नियत लिये जाते हैं। 'त्यकनश्च' इस निषेध से उपत्यका अधित्यका में 'क' से पूर्व 'अ' को इकार नहीं हुआ।

अठच्—सप्तमीसमर्थ 'कर्मन्' से 'घटः' (घटते चेष्टत इति) अर्थ में[5]—**कर्मणि घट इति कर्मठः।** टिलोपः। **कर्मठः पुरुषः,** कार्य में दक्ष अथवा श्रमी।

इतच्—प्रथमा-समर्थ तारका आदियों से 'अस्य' (षष्ठी) अर्थ में इतच्

---

१. तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ (५।२।२६)।
२. वि-नञ्भ्यां नानाञौ न सह (५।२।२७)।
३. वेः शालच्छङ्कटचौ (५।२।२८)।
४. उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः (५।२।३४)।
५. कर्मणि घटोऽठच् (५।२।३५)।

(इत) प्रत्यय होता है जब तारकादियों का 'संजात' विशेषण हो[1]—**तारकाः संजाता अस्य नभसः तारकितं नभः**, आकाश जिसमें तारे निकल आए हैं। **पुष्पाणि संजातान्यस्य वृक्षस्य इति पुष्पितो वृक्षः।** कुसुमितः। कोरकितः। मुकुलितः। **रोमाञ्चाः सञ्जाता अस्य रोमाञ्चितः।** स प्रहर्षेण रोमाञ्चित-कलेवरोऽभूत्। एवं **पुलका रोमोद्‌गमाः सञ्जाता अस्य पुलकितः। कण्टकित-गात्रः=कण्टका रोमोद्‌गमाः संजाता अस्येति कण्टकितम्।** कण्टकितं गात्रं यस्य स कण्टकितगात्रः। **प्रत्ययो विश्वासः संजातोऽस्येति प्रत्ययितः।** आप्तः प्रत्ययितस्त्रिषु (अमर)। **योगः संजातोऽस्येति योगितः।** शुनको भषकः श्वा स्यादलर्कस्तु स योगितः (अमर)। योग=विषयोग। **अभ्राणि संजातान्यस्येति अभ्रितमाकाशम्। पण्डा=बुद्धिः सञ्जाताऽस्य पण्डितः। व्याधिः संजातोऽस्य व्याधितः** (रुग्ण)। **बुभुक्षा संजातास्य बुभुक्षितः। पिपासा संजाताऽस्य पिपासितः** (प्यासा)। यद्यपि सन्नन्त भुज् तथा पा से निष्ठा (क्त) में रूप-सिद्धि सुलभ है, पर निष्ठा के कर्मवाची होने से कर्ता में बुभुक्षित व पिपासित का प्रयोग न हो सकेगा। बुभुक्षित ओदनः, पिपासितमुदकम्—कर्म में ही प्रयोग होगा। बुभुक्षितो देवदत्तः। पिपासितो देवदत्तः—कर्ता में न हो सकेगा। तारकादि आकृतिगण है।

द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्—प्रथमा-समर्थ से 'अस्य' (इसका) इस अर्थ में द्वयसच् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रथमा-समर्थ प्रमाणवाची हो[2]—**ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। जानुद्वयसम्। जानुदघ्नम्। जानुदघ्नं जलं विप्र न त्वयातीव दुस्तरम्।** प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम। इस भाष्य वचन के अनुसार जिससे ऊर्ध्वावस्थित (सीधे खड़े होकर) मापा जाता है, उस ऊरु, जानु आदि को ऊर्ध्वमान कहते हैं उसमें द्वयसच् और दघ्नच् होते हैं। मात्रच् तो प्रमाणमात्र में इष्ट है।

जानुमात्रम्। यहाँ भी। प्रस्थमात्रम्—यहाँ परिमाण में भी।

प्रत्ययलुक्—जो शब्द प्रमाण अर्थ में रूढ हैं उनसे उत्पन्न हुए मात्रच् का लुक् हो जाता है[3]—**शमः** (=शयः=हाथ) **प्रमाणमस्य शमः**, हाथ भर लम्बा। **दिष्टिः प्रमाणमस्य दिष्टिः। वितस्तिः प्रमाणमस्य वितस्तिः** (बारह

---

१. तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (५।२।३६)।
२. प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (५।२।३७)।
३. प्रमाणे लो वक्तव्यः (वा०)।

उंगल लम्बाई वाला)। फैलाए हुए हाथ के अंगूठे से लेकर कन्नो उंगली तक वितस्ति माप होता है। द्विगु से उत्पन्न हुए मात्रच् का नित्य लुक् होता है[1] —**द्विशमः। त्रिशमः। द्विवितस्तिः।** वार्तिक में 'नित्य' इसलिए ग्रहण किया है ताकि वक्ष्यमाण संशय विषयक मात्रच् जिसका श्रवण रहता है अर्थात् लुक् नहीं होता, उसका भी द्विगु से लुक् हो जाए। **द्वे दिष्टी स्यातां वा न वा, द्विदिष्टिः।**

डट्—पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदशः स्तोमः।[2] **पञ्चदशी स्तुतिः।** टित् होने से ङीप्।

डिनि—शन् अन्त, शत् अन्त संख्यावाचक प्रातिपदिकों से[3]—**पञ्चदश दिवसाः परिमाणमेषाम् इति पञ्चदशिनोऽर्धमासाः।** त्रिंशत्—**त्रिंशिनो मासाः** तीस दिन है परिमाण जिनका। प्रत्यय के डित् होने से टि का लोप।

विंशति से भी[4]—**विंशिनोऽङ्गिरसः,** अङ्गिरस् गोत्रज संख्या में बीस हैं। ति विंशतेर्डिति से 'ति' का लोप। फिर 'यस्येति च' से 'अ' का लोप।

मात्रच्—प्रमाण, परिमाण, तथा संख्या से परिच्छेद के संशयित होने पर मात्रच् प्रत्यय आता है और उसका लुक् नहीं होता।[5] **शमः प्रमाणमस्य स्याद्वा न वा, शममात्रम्,** इसकी हाथ भर लम्बाइ हो अथवा न हो, निश्चित नहीं। **दिष्टिमात्रम्।** परिमाण—**प्रस्थमात्रम्।** संख्या—**पञ्चमात्रम्। दश-मात्रा गावः,** गिनती में दस गौएँ हों या न हों।

द्वयसच्, मात्रच्—वतुप्प्रत्ययान्त से बहुलतया स्वार्थ में[6]—**तावदेव तावन्मात्रम्। यावदेव=यावन्मात्रम्। तावदेव=तावद्द्वयसम्। यावदेव यावद् द्वयसम्।**

अण्, द्वयसच् आदि—प्रथमान्त पुरुष, हस्तिन् से 'इसका' अर्थ में जब प्रमाण प्रथमान्त का विशेषण हो[7]—**पुरुषः प्रमाणमस्य खातस्य पौरुषम्**

---

१. द्विगोर्नित्यम् (वा०)।
२. डट् स्तोमे वक्तव्यः (वा०)।
३. शन् शतोर्डिनिर्वक्तव्यः (वा०)।
४. विंशतेश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
५. प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रज् वक्तव्यः (वा०)।
६. वत्वन्तात् स्वार्थे द्वयसज्-मात्रचौ बहुलम् (वा०)।
७. पुरुष-हस्तिभ्यामण् च (५।२।३८)।

(अण्) । **पुरुषद्वयसम् । पुरुषदघ्नम् ।** हस्ती प्रमाणमस्य खातस्य **हास्तिनं खातम् ।** इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव हुआ (अर्थात् नस्तद्धिते से टि लोप नहीं हुआ) । **हस्तिद्वयसम् । हस्तिदघ्नम् ।** द्विगु से तो प्रत्यय का नित्य लुक् होगा—**द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुषमुदकम् ।** यहाँ द्वयसच् तथा दघ्नच् का लुक् जानना चाहिए । ग्रहणवता प्रातिपदिकेन—से तदन्तविधि का निषेध होने से अण् की प्राप्ति ही नहीं । **द्विपुरुषा परिखा । द्विपुरुषी परिखा ।** पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् (४।१।२४) से विकल्प से ङीप् । **द्वौ हस्तिनौ प्रमाणमस्याः परिखाया द्विहस्तिनी परिखा । त्रिहस्तिनी ।** प्रत्यय का लुक् होने पर नान्त होने से ङीप् ।

वतुप्—प्रथमान्त यद्, तद्, एतद् से 'इसका' इस अर्थ में वतुप् (वत्) प्रत्यय होता है यदि प्रथमान्त का परिमाण उपाधि (=विशेषण) हो[1]—**तत् परिमाणमस्य तावत् । यत्परिमाणमस्य यावत् । एतत् परिमाणमस्य एतावत् ।** प्रमाण की अनुवृत्ति आ रही थी, फिर परिमाण ग्रहण क्यों किया ? प्रमाण और परिमाण में भेद होने से । प्रमाण=आयाम । परिमाण=चारों ओर से माप ।

घ—किम्, इदम् से वतुप् होता है और वतुप् के 'व' को घ (इय) आदेश होता है[2]—**कियत्** (किंपरिमाणमस्य) । **इदं परिमाणमस्य इयत् ।** इदंकिमोरीश्की (६।३।९०) से किम् को कि आदेश होता है और इदम् को ईश् (=ई) । 'कि' के 'इ' का तथा ई (श्) का 'यस्येति च' से लोप हो जाता है । इयत् शब्द प्रकृति का लोप हो जान से प्रत्ययमात्र ही अवशिष्ट रहता है । इस प्रकृतिलय और प्रत्ययमात्र की अवशिष्टता के सादृश्य को लेकर तत्त्ववेत्ता लोग एक अति विच्छित्तिकारी पद्य पढ़ते हैं । उसे हम यहाँ देते हैं—

उदितवति परस्मिन्प्रत्यये शास्त्रयोनौ
गतवति विलयं च प्राकृतेपि प्रपञ्चे ।
सपदि पदमुदीते केवलः प्रत्ययो यत्
तदियद् इति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि ॥

---

१. यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् (५।२।३९) ।
२. किमिदंभ्यां वो घः (५।२।४०) ।

अर्थात् जब परा कोटि के प्रत्यय(ज्ञान, प्रकृति से परे होने वाला शब्द) का उदय हो जाता है और प्रकृति (माया, प्रत्यय से पूर्व रखा हुआ शब्द) का यह सारा प्रपञ्च (विस्तार) विलीन (नष्ट) हो जाता है, तब सपदि (एकदम) ऐसा पद (वस्तु, सुप्तिङ्लक्षण शब्द) उत्पन्न होता है जो केवल (शुद्ध) प्रत्यय (ज्ञान, प्रकृति से परे शब्द) होता है, वह पद (इतना, इयत्) है इसे कौन विद्वान् हृदय से माप (जान) सकता है ?

डति, वतुप्—संख्या के परिच्छेद में वर्तमान प्रथमान्त किम् शब्द से 'इसका' इस अर्थ में डति (अति) और अनुवृत्त वतुप् होते हैं[1]—**का संख्या परिमाणमेषां ब्राह्मणानां कति ब्राह्मणाः**, कितने ब्राह्मण। डत्यन्त की षट् संज्ञा है और षट्-संज्ञको से जस् और शस् का लुक् हो जाता है। **कियन्तो ब्राह्मणाः** कितने ब्राह्मण। वतुप्। 'व' को घ (इय)।

तयप्—अवयव अर्थ में वर्तमान संख्यावाची प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'इसका' इस अर्थ में। अवयव अवयवी के सम्बन्धी होते हैं अत अवयवी प्रत्ययार्थ है[2]—**पञ्च अवयवा अस्य** (अवयविनः) **पञ्चतयम्। चत्वारोऽवयवा अस्य चतुष्टयम्।** चतुर् के रेफ को विसर्जनीय होकर स् होने पर ह्रस्वात्तादौ तद्धिते (८।३।१०१) से षत्व। स्त्रीत्व विवक्षा में टिड्ढाणञ् सूत्र में तयप् ग्रहण करने से ङीप्—**चतुष्टयी। दश अवयवा अस्य दशतयम्। दशतयी।** दशतय ऋग्वेदः।

अयच्—द्वि, त्रि से परे तयप् को विकल्प से अयच् (अय) आदेश होता है[3]—**द्वयम्। द्वितयम्।** द्वयम् में यस्येति च से 'द्वि' के इकार का लोप। **त्रयम्। त्रितयम्।** धर्मवृत्ति तयप्प्रत्ययान्त (अयच् प्रत्ययान्त भी) नपुंसलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है—**वर्णानां चतुष्टयम्। वर्णानां चतुष्टयी। वेदानां त्रयम्। वेदानां त्रयी। वेदानां त्रितयम्। वेदानां त्रितयी। पुरुषयो र्द्वयम्। पुरुषयो र्द्वयी।** समास से भी कह सकते हैं—**वर्णचतुष्टयम्। वर्णचतुष्टयी** इत्यादि। धर्मिवृत्ति तयप्प्रत्ययान्त (अयच्प्रत्ययान्त भी) वाच्य (अभिधेय) के लिङ्ग को लेते हैं—**त्रय्यः स्थितयः। त्रये लोकाः। त्रयाणि जगन्ति। द्वये प्राजापत्या**

---

१. किमः संख्यापरिमाणे डति च (५।२।४१)।
२. संख्याया अवयवे तयप् (५।२।४२)।
३. द्वि-त्रिभ्यां तयस्यायज्वा (५।२।४३)।

देवाश्चासुराश्च—दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, देवता तथा असुर। 'द्वये' यह प्रथमा बहु० में जस् परे रहते वैकल्पिक सर्वनाम संज्ञा होने से रूप है। पक्ष में **द्वयाः** होगा। अन्यत्र सर्वनाम संज्ञा न होने से द्वयानाम् (षष्ठी बहु०) रूप होगा।

उभ शब्द से परे आए हुए तयप् को नित्य अयच् आदेश होता है और वह आद्युदात्त होता है।[1] **उभयो मणिः**। उभौ पीतलोहिताववयवौ यस्य सः, जिसके लाल और पीले दो अवयव हैं। **उभये देवमनुष्याः**, दोनों देवता और मनुष्य।

ड—दशान्त (दशन् शब्दान्त) प्रथमासमर्थ से अस्मिन् (इसमें) इस अर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है, जब प्रथमासमर्थ के अर्थ को 'अधिक' कहने की विवक्षा हो[2]—**एकादश अधिका अस्मिञ्शते=एकादशं शतम्**=एक सौ ग्यारह। **द्वादशं शतम्**=एक सौ बारह। **द्वादश अधिका अस्मिन्सहस्रे द्वादशं सहस्रम्**=एक हजार बारह। जब प्रत्ययार्थ के साथ प्रकृत्यर्थ समानजातीय हो तभी यह (ड) प्रत्यय होता है। **एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन्कार्षापणशते एकादशं कार्षापणशतम्**। पर एकादश माषा अधिका अस्मिन्कार्षापणशते—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। **स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्** (छां० उप० ५।१६।७), वह एक सौ सोलह वर्ष जीया। प्रत्ययार्थ शत, सहस्र हो तभी यह प्रत्यय होता है। अतः एकादश अधिका अस्यां त्रिंशति—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। इस सारे विवरण को एक सङ्ग्रहश्लोक में संगृहीत किया है—

अधिके समानजाताविष्टं शतसहस्रयोः।
यस्य संख्या तदाधिक्ये डः कर्तव्यो मतो मम॥

ड—शदन्त और विंशति से 'तदस्मिन्नधिकम्' इस विषय में[3]—**त्रिंशद् अधिका अस्मिञ्शते=त्रिंशं शतम्**। एक सौ तीस। **एकत्रिंशं शतम्**। **चत्वारिंशं शतम्**। एक सौ चालीस। **एकचत्वारिंशं शतम्**। **विंशं शतम्**=एक सौ बीस। **एकविंशं शतम्**, एक सौ इक्कीस। प्रत्यय के डित् होने से 'ति' का लोप। तब यस्येति च से 'अ' का लोप।

---

१. उभादुदात्तो नित्यम् (५।२।४४)।
२. तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड् डः (५।२।४५)।
३. शदन्त-विंशतेश्च (५।२।४६)।

मयट्—संख्यावाची प्रथमासमर्थ से 'इस (निमेय) का' इस अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है जब प्रथमासमर्थ गुण (भाग) के निमान (मूल्य) को कहता हो।[1] भाग का विनिमय जिस मूल्य से होता है वह मूल्य भी भागरूप ही लिया जाता है। भाग में विधीयमान प्रत्यय प्रधानता के कारण भागवत् (भागवाले उदश्वित् आदि)को कहता है। अतः **द्विमयमुदश्वित्** यहाँ समानाधिकरणता होती है। **यवानां द्वौ भागौ निमानम्** (मूल्यम्) **अस्योदश्विद्भागस्य =द्विमयमुदश्विद् यवानाम्**।'यवानाम्'यह भागापेक्षया षष्ठी है। भागविशेष के बोध के लिए प्रकृत्यर्थ-विशेषण यवादि का प्रयोग किया जाता है। एक उदश्वित् भाग का यवों के दो भाग मूल्य हैं। सूत्र में 'गुणस्य' यहाँ एकत्व विवक्षित है, अतः द्वौ भागौ यवानां त्रय उदश्वितः यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। प्रत्ययार्थ से प्रकृत्यर्थ की अधिकता होने पर प्रत्यय इष्ट है। ऐसा ही उदाहरण दिया है। **त्रिमयी द्राक्षा गुडस्य,** गुड के तीन भाग द्राक्षा के एक भाग का मूल्य हैं। 'गुडस्य' यह भागापेक्षया षष्ठी है।

निमेय (क्रेय) में मयट् देखा जाता है अर्थात्—निमेय में वर्तमान संख्या से भी निमान में प्रत्यय देखा जाता है—**उदश्वितो द्वौ भागौ निमेयमस्य निमान-भूतस्य यवभागस्य=द्विमया यवा उदश्वितः,** उदश्वित् के दो भाग जिन यवों से क्रेतव्य हैं उनके मूल्य को **द्विमया यवा उदश्वितः** ऐसे कहेंगे।

डट्—संख्यावाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'पूरणः' (पूर्यतेऽनेन पूरणः) अर्थ में।[2] जिससे संख्या गिनती पूरी हो जाती है वह उस संख्या का 'पूरण' है। **एकादशानां पूरण एकादशः,** ग्यारहवाँ। **द्वादशः। त्रयोदशः। देवदत्तादय एते दश भवन्ति। यज्ञदत्तश्चैकादशः।** डट् डित् प्रत्यय है अतः 'टि' (अन्) का लोप हुआ। जिसके जुड़ जाने से दूसरी संख्या बन जाती है वह प्रत्ययार्थ है। इसलिए पञ्चानामुष्ट्रिकाणां पूरणो घटः—यहाँ प्रत्यय नहीं हो सकता। यह ठीक है कि पाँच उष्ट्रिकाओं का घट (घड़ा) 'पूरण' है उन्हें पूरा करता है, भरता है पर वह संख्या नहीं। घट के जुड़ने से उष्ट्रिकाओं की पञ्चत्व संख्या नहीं सम्पन्न होती, वे पहले से ही पाँच हैं।

संख्यावाची नकारान्त प्रातिपदिक जिससे पूर्व संख्यावाची पद न हो, से

---

१. संख्याया गुणस्य निमाने मयट् (५।२।४७)।

२. तस्य पूरणे डट् (५।२।४८)।

परे आए हुए डट् को मट् (म्) आगम होता है[1]—**पञ्चानां पूरणः=पञ्चमः । सप्तानां पूरणः सप्तमः ।** 'संख्या का पूरण' ऐसी विवक्षा होने पर भी संख्येयवाची से विग्रह किया जाता है । पर **विंशतेः पूरणः=विंशः** (बीसवाँ) यहाँ मट् आगम नहीं हुआ । संख्यादि होने से एकादशानां पूरण एकादशः, यहाँ संख्यावाची एक शब्द पूर्वपद है, अतः डट् को मट् आगम नहीं हुआ ।

षष्, कति, कतिपय, चतुर्—इनको डट् परे रहते थुक् (थ्) आगम होता है ।[2] **षष्ठः । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः ।** 'कतिपय' संख्या नहीं है अतः डट् की प्राप्ति नहीं थी । इस आगमविधान से डट् होता है यह ज्ञापित होता है ।

छ, यत्—चतुर् से 'तस्य पूरणः' अर्थ में छ, यत् प्रत्यय होते हैं और साथ ही चतुर् के आदि अक्षर (च) का लोप हो जाता है[3]—**तुरीय** (=चतुर्थ) । छ । **तुर्य** (=चतुर्थ) । यत् ।

बहु, पूग, गण, सङ्घ—इनसे डट् परे रहते इन्हें तिथुक् (तिथ्) आगम होता है ।[4] पूग तथा सङ्घ संख्यावाचक नहीं । इनसे डट् होता है इसमें यही आगमविधान ज्ञापक है । **बहूनां पूरणो बहुतिथः कालः ।** बहुगणवतुडति संख्या (१।१।२३) से बहु और गण की 'संख्या' संज्ञा विधान की है । **पूगतिथः । गणतिथः । सङ्घतिथः ।** रामायण में 'बहुतिथ' 'बहुवार' के अर्थ में आया है—**प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो** (२।२९।१४) । वतुप् प्रत्ययान्त से डट् को इथुक् (इथ्) आगम होता है—**तावतां पूरणः=तावतिथः ।**

तीय—'द्वि' से 'तस्य पूरणः' अर्थ में 'तीय' प्रत्यय होता है ।[5] डट् का अपवाद । **द्वयोः पूरणः=द्वितीयः ।**

'त्रि' से भी 'तीय' प्रत्यय और साथ ही 'त्रि' को सम्प्रसारण[6]—**त्रयाणां**

---

१. नान्तादसंख्यादेर्मट् (५।२।४९) ।
२. षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुक् (५।२।५१) ।
३. चतुरश्छ-यतावाद्यक्षर-लोपश्च (वा०) ।
४. बहु-पूग-गण-सङ्घस्य तिथुक् (५।२।५२) । वतोरिथुक् (५।२।५३) ।
५. द्वेस्तीयः (५।२।५४) ।
६. त्रेः सम्प्रसारणं च (५।२।५५) ।

पूरणः तृतीयः । यहाँ 'र्' को सम्प्रसारण ऋ और 'इ' को पूर्वरूप होने पर अङ्गावयव हल् 'त्' से परे सम्प्रसारण को दीर्घत्व की शङ्का होती है । पर दीर्घ विधि में 'अण्' की अनुवृत्ति है और अण् पूर्व णकार तक लिया जाता जाता है, उसमें 'ऋ' नहीं आता । अतः दीर्घ न हुआ ।

डट्—विंशति (२०) आदि लोकप्रसिद्ध संख्यावचनों से 'तस्य पूरणः' अर्थ में आए हुए डट् को (तमट्=तम्) आगम विकल्प से होता है[1]—**विंशतेः पूरणः=विंशतितमः** । तमट् आगम । **विंशः** (बीसवाँ) । डट् । **एकविंशतेः पूरण एकविंशतितमः** । **एकविंशः** (इक्कीसवाँ) । **त्रिंशतः पूरणः=त्रिंशत्तमः** । **त्रिंशः** । तीसवाँ । **एकत्रिंशतः पूरणः=एकत्रिंशत्तमः** । **एकत्रिंशः** । पञ्चाशत् —**पञ्चाशत्तमः** । **पञ्चाशः** (पचासवाँ) । प्रत्यय के डित् होने से टि (अत्) का लोप । **एकपञ्चाशत्तमः** । **एकपञ्चाशः** ।

शत आदि लौकिक संख्याओं से तथा मास, अर्धमास, संवत्सर—इनसे आये हुए डट् को नित्य तमट् (तम्) आगम होता है।[2] मास आदि संख्यावाची नहीं हैं इनसे इसी तमट्विधान से डट् होता है यह ज्ञापित होता है । **शतस्य पूरणः शततमः** । **सहस्रतमः** । **शतस्य रात्रीणां पूरणी रात्रिः शततमी** । **सहस्रतमी** । **लक्षस्य पूरणः=लक्षतमः** । **पौत्रप्रभृति लक्षतमम-प्यपत्यं गोत्रं भवति** । **मासस्य पूरणो दिवसः=मासतमः** । **अर्धमासस्य** (**पक्षस्य**) **पूरणो दिवसोऽर्धमासतमः** । **संवत्सरस्य पूरणो दिवसः संवत्सरतमः**, वर्ष का अन्तिम दिन ।

षष्टि(६०)से लेकर अगली (शत से पूर्व) संख्यायें जिनका संख्यावाचक पूर्वपद न हो, से परे आये हुए डट् को तमट् (तम्) आगम नित्य होता है[3]—**षष्टेः पूरणः=षष्टितमः** । पर **एकषष्टितमः** । **एकषष्टः** । **सप्ततेः पूरणः सप्ततितमः** । **एकसप्ततितमः** । **एकसप्ततः** । **नवतेः पूरणः = नवति-तमः** । पर **नवनवतितमः** । **नवनवतः** ।

छ—प्रातिपदिक से मत्वर्थ में छ (ईय) प्रत्यय होता है सूक्त अथवा सामन् अभिधेय होने पर ।[4] मत्वर्थ ग्रहण से प्रथमा समर्थ विभक्ति, प्रकृत्यर्थ विशेषण

१. विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् (५।२।५६) ।
२. नित्यं शतादि मासार्द्ध-मास-संवत्सराच्च (५।२।५७)।
३. षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः (५।२।५८) ।
४. मतौ छः सूक्त-साम्नोः (५।२।५९) ।

'अस्ति' तथा प्रत्ययार्थ 'अस्मिन्' का आक्षेप हो जाता है—**अच्छावाक-शब्दोऽस्मिन्सूक्तेऽस्ति अच्छावाकीयं सूक्तम् । मित्रावरुणशब्दोऽस्मिन्सूक्तेऽस्ति मित्रावरुणीयं सूक्तम् । यज्ञायज्ञशब्दोऽस्मिन्सामन्यस्ति यज्ञायज्ञीयं साम** (यज्ञा-यज्ञा वो अग्नये ऋ० ६।४८।१। साम० १।३५) । अच्छावाक आदि अनुकरण-शब्द हैं, इन का अनुकार्य स्वरूप ही अर्थ है, बाह्य कुछ अर्थ नहीं। अतः अनेक पदों से प्रत्यय आता है—**अस्यवामीयं सूक्तम्** । 'अस्य वामस्य' ये पद जिसमें हैं (ऋ० १।१६४) । **कयाशुभीयं सूक्तम्** । कया शुभा—ये पद जिसमें हैं (ऋ० १।१६५) । **नासदीयम्** । नासद् ये पद जिसमें हैं (ऋ० १०।१२९) ।

छ-लुक्—मत्वर्थ में आये हुए छ' प्रत्यय का विकल्प से लुक् हो जाता है, अध्याय अथवा अनुवाक अभिधेय होने पर ।[1] यही लुक्-विधान छ प्रत्यय विधि का ज्ञापक है, अध्याय व अनुवाक अर्थों में शास्त्रान्तर से विधान न होने से—**गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डोऽध्यायोऽनुवाको वा । गर्दभाण्डीय इति वा । दीर्घजीवितशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽस्ति दीर्घजीवितीयः ।** दीर्घजीवि-तीयमध्यायं व्याख्यास्याम इत्यादि वैद्यक ग्रन्थों में पढ़ा जाता है । अनुवाक साहचर्य से कई लोग 'अध्याय' से वैदिक अध्याय का ही ग्रहण करते हैं ।

अण्—विमुक्त आदि प्रातिपदकों से मत्वर्थ में अध्याय, अनुवाक अभिधेय होने पर[2]—**विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नध्याये ऽनुवाके वा वैमुक्तः । देवासुरशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वा दैवासुरः । इडाशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वा ऐडः ।**

वुन्—गोषद आदि प्रातिपदिकों से[3]—**गोषदशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वा गोषदकः । इषेत्वशब्दोऽस्मिन्नध्याये ऽनुवाके वा इषेत्वकः ।** मातरिश्वन् शब्द जिसमें है वह **'मातरिश्वक'** होता है । देवस्य त्वा—यह शब्द जिस अध्याय व अनुवाक में हैं वह **'देवस्यत्वक'** कहलाता है ।

सप्तमी समर्थ पथिन् शब्द से 'कुशल' अर्थ में[4]—**पथि कुशलः पथकः । पथक एष पथिकः,** यह यात्री मार्ग को खूब जानता है । अथवा मार्ग चलने में चतुर है ।

कन्—आकष (पाठान्तर आकर्ष) आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से कुशल

---

१. अध्यायाऽनुवाकयोर्लुक् (५।२।६०) । विकल्पेन लुगयमिष्यते ।
२. विमुक्तादिभ्योऽण् (५।२।६१) ।
३. गोषदादिभ्यो वुन् (५।२।६२) ।
४. तत्र कुशलः पथः (५।२।६३) ।

अर्थ में[1]—**आकषे कुशलः=आकषकः। आकर्षे कुशलः=आकर्षकः।** कस लगाने में चतुर। जो सुवर्ण आदि को कषोपल पर कस कर परीक्षा करने में कुशल है। त्सरुः=खड्गमुष्टिः। **त्सरुग्रहणे कुशलः त्सरुकः**, त्सरु के ग्रहण करने में कुशल। **जये कुशलः=जयकः। विचये गवेषणायां कुशलः=विचयकः। नये नीत्यां कुशलः=नयकः। शकुनिषु शकुनिग्रहणे कुशलः शकुनिकः।**

कन्—सप्तमीसमर्थ धन, हिरण्य से 'काम' (इच्छा, लोभ) इस अर्थ में[2]—**धने कामः=धनकः। सर्वस्य धनको भवति न च सर्वे धनिका भवन्ति। देहेऽपि निः स्पृहस्यास्य मुमुक्षोर्धनकः कुतः**, देह में भी इच्छारहित इस मुमुक्षु को धन की इच्छा कहाँ। **हिरण्ये कामः=हिरण्यकः। अहो हिरण्यको देवदत्तस्य वाणिजस्य।**

सप्तमीसमर्थ स्वाङ्गवाची शब्दों से 'प्रसितः' (बँधा हुआ, लगा हुआ) इस अर्थ में[3]—**केशेषु प्रसितः केशकः**=केशादिरचनायां प्रसक्तः, जो केशादि संवारने में लगा रहता है। **सम्प्रति बटवोपि नटवत् केशका भवन्ति।** स्वाङ्ग-समुदाय से भी यह प्रत्यय होता है—**केशनखकः। दन्तोष्ठकः।**

ठक्—सप्तमीसमर्थ उदर से 'प्रसित' अर्थ में[4]—**उदरे प्रसितः=औदरिकः**, जो खाने-पीने में लगा रहता है, पेटू। इसे 'आद्यून' भी कहते हैं। आद्यूनः स्याद् औदरिकः—अमर।

तृतीयासमर्थ 'सस्य' से 'परिजात' इस अर्थ में[5]—'सस्य' शब्द गुण का पर्याय है। 'परिजातः' में परि शब्द सर्वतोभाव का वाचक है। जो गुणों से युक्त हुआ उत्पन्न होता है जिसमें कुछ भी दोष नहीं उसे 'सस्यक' कहते हैं। **सस्येन परिजातः सस्यको मणिः।** आकरशुद्ध इत्यर्थः। **सस्यकः शालिः। सस्यकः साधुः।**

द्वितीयासमर्थ अंश शब्द से 'हारी' (अवश्यं हरति) अर्थ में[6]—**अंशम-**

---

१. आकर्षादिभ्यः कन् (५।२।६४)।
२. धन-हिरण्यात् कामे (५।२।६५)।
३. स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते (५।२।६६)।
४. उदराट्ठगाद्यूने (५।२।६७)।
५. सस्येन परिजातः (५।२।६८)।
६. अंशं हारी (५।२।६९)।

वश्यं हरति अंशको दायादः। पित्रादि के ऋक्थ में भागी। **अंशकः सुतः।**

पञ्चमीसमर्थ 'तन्त्र' से अचिरापहृतम् (अचिरमपहृतस्याऽस्य) जिसे खड्डी से उतारे थोड़ा ही समय हुआ है, इस अर्थ में[1]—**तन्त्रादचिरापहृतः पटः तन्त्रकः। तन्त्रकः प्रावारः।** नव, प्रत्यग्र को 'तन्त्रक' कहते हैं। तन्त्र=तन्तुवाय की बुनने की शलाका। अनाहतं निष्प्रवाणि तन्त्रकं च नवाम्बरे—अमर।

ब्राह्मणक और उष्णिका कन्प्रत्ययान्त निपातन किए जाते हैं संज्ञा विषय में[2]—**ब्राह्मणको देशः,** उस देश का नाम है जहाँ शस्त्रजीवी ब्राह्मण रहते हैं। **उष्णिका यवागूः।** अल्प अन्न वाली यवागू को उष्णिका कहते हैं। यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा—इस वचन में अमर उष्णिका को यवागू-सामान्य का पर्याय समझता है।

द्वितीयासमर्थ क्रियाविशेषण शीत तथा उष्ण से 'कारी' (अवश्यं करोतीति) 'करने वाला' अर्थ में[3]—**शीतं यथा स्यात्तथा करोति शीतकः,** अलस, जड़। **उष्णं करोति उष्णकः,** शीघ्रकारी, दक्ष। मन्दस्तुन्दपरिमृज आलस्यः शीतकोऽनुष्णः—अमर।

'अधिक'—यह कन् प्रत्ययान्त निपातन किया है।[4] अध्यारूढ के उत्तरपद (आरूढ) का लोप और कन् प्रत्यय का निपातन किया है—**अधिको द्रोणः खार्याम्।** यहाँ कर्ता में 'अध्यारूढ' शब्द है। अधिक के योग में 'यस्मादधिकम्—' से पञ्चमी, तदस्मिन्नधिकम्—से सप्तमी होती है। यहाँ सप्तमी हुई। **अधिका खारी द्रोणेन।** यहाँ अध्यारूढ शब्द कर्म में प्रयुक्त हुआ है। अधिका =अध्यारूढा। द्रोण खारी से अधिक है। यही पहले वाक्य का अर्थ है।

अनुक, अभिक और अभीक—ये कमिता (चाहने वाला, प्यार करने वाला) अर्थ में कन्प्रत्ययान्त निपातन किए हैं।[5] अनु आदि साधन (कारक) सहित क्रिया को कहते हैं। कन् कर्ता में है। **अनुकामयते अनुकः। अभिकामयते अभिकः। अभीकः** यहाँ दीर्घ भी होता है। तद्धित प्रत्यय के कर्तृ-

---

१. तन्त्रादचिरापहृते (५।२।७०)।
२. ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् (५।२।७१)।
३. शीतोष्णाभ्यां कारिणि (५।२।७२)।
४. अधिकम् (५।२।७३)।
५. अनुकाऽभिकाभीकः कमिता (५।२।७४)।

वाचक होने से कर्म अनुक्त रहा, अतः कर्म में द्वितीया होगी—**अनुको भार्याम्। अभिको दासीम्।**

तृतीयासमर्थ पार्श्व शब्द से अन्विच्छति (ढूँढता है, प्राप्त करना चाहता है) अर्थ में कन् (क) प्रत्यय होता है[1]। पार्श्व शब्द का अर्थ अनृजु, कुटिल उपाय है। **पार्श्वेनानृजुनोपायेन अर्थानन्विच्छति पार्श्वकः।** पार्श्वक कपटी को कहते हैं। **धनसङ्ग्रहे सत्वरः पार्श्वको भवति प्रायेण।**

तृतीया-समर्थ अयः शूल, दण्डाजिन शब्दों से अन्विच्छति अर्थ में क्रम से ठक् व ठञ् प्रत्यय होते हैं[2]। अयः शूल तीक्ष्ण उपाय, क्रूर व्यवहार को कहते हैं और दण्डाजिन दम्भ का नाम है। जब ढौंग के लिए दण्ड और अजिन (मृगचर्म) पहरकर ब्रह्मचारी का वेष बना लिया जाता है, तब दण्डाजिन दम्भार्थक होने से दम्भ का ही नाम हो जाता है। दम्भार्थ में उपचरित हो जाता है। **अयःशूलेन अन्विच्छत्यर्थान् आयःशूलिकः**, साहसी। **दण्डाजिनेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः**, दम्भी।

कन्—पूरणप्रत्ययान्त जो ग्रहण (ग्रहण का साधन) उससे स्वार्थ में[3]—**द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थग्रहणं द्वितीयकम्।** पूरणप्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है—**द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थग्रहणं द्विकम्। चतुर्थेन रूपेण ग्रन्थग्रहणं चतुर्थकम्। चतुष्कम्।** ग्रन्थ की चौथी आवृत्ति। यहाँ पक्ष में थुक् आगम सहित डट् का लुक् होता है। ग्रहण करने वाले देवदत्त आदि को कहने के लिए भी प्रत्यय होता है—**पञ्चको देवदत्तः।** इस अर्थ में पूरण प्रत्यय का नित्य लुक् होता है। देवदत्त पाँच आवृत्तियों से ग्रन्थ ग्रहण करता है।

प्रथमासमर्थ से 'इसका' इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है जब प्रथमा-समर्थ ग्रामणी (श्रेष्ठ, मुख्य) हो[4]—**देवदत्तो ग्रामणीरेषां ते देवदत्तकाः। अहं ग्रामणीरेषां ते मत्काः। त्वं ग्रामणीरेषां ते त्वत्काः।**

प्रथमासमर्थ 'शृङ्खल' शब्द से इस करभ का (करभ=उष्ट्र बालक) इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है जब प्रथमासमर्थ बन्धन हो[5]—**शृङ्खलं बन्धनमस्य**

---

१. पार्श्वेनान्विच्छति (५।२।७५)।
२. अयःशूल-दण्डाजिनाभ्यां ठक्-ठञौ (५।२।७६)।
३. तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा (५।२।७७)।
४. स एषां ग्रामणीः (५।२।७८)।
५. शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे (५।२।७९)।

करभस्य शृङ्खलकः करभः । शृङ्खल=काष्ठमय निगड़ जो ऊँट के बच्चे के पाओं में रस्सी से बाँधा जाता है ।

'उत्क' यह उन्मनस् (उत्सुक) अर्थ में कन् प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है[१]। **येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम्** (अमरोद्घाटन में क्षीरस्वामी)। ससाधन क्रियावचन जो उद् शब्द, उससे कन् प्रत्यय निपातित किया है । **उद्गतं मनोऽस्य उत्कः ।** मनस् साधन (कारक) है और गमन क्रिया है ।

पूरणप्रत्ययान्त कालवाची सप्तमीसमर्थ से तथा प्रयोजन (कारण)-वाची तृतीयासमर्थ से और प्रयोजन (फल)-वाची प्रथमासमर्थ से रोग अभिधेय होने पर[२]—**द्वितीयेऽह्नि भवो द्वितीयको ज्वरः**, दूसरे दिन होने वाला ज्वर। द्वितीय शब्द यद्यपि सामान्यवाची है जिस किसी दूसरे पदार्थ को कहता है तो भी अर्थ, प्रकरणादिवश तद्धितवृत्ति में वह कालपरक हो जाता है। **तृतीयेऽह्नि भवो ज्वरः=तृतीयकः ।** **चतुर्थेऽह्नि भवो ज्वरः=चतुर्थकः ।** प्रयोजन—**विषपुष्पैर्जनितो विषपुष्पको ज्वरः ।** प्रयोजन (फल, कार्य)—**उष्णं कार्यमस्य उष्णको ज्वरः**, जिस ज्वर से उष्णता गर्मी उत्पन्न होती है । **शीतं कार्यमस्य शीतको ज्वरः**, जिस ज्वर से ठंड लगती है, ज्वरित पुरुष काँपने लगता है, जैसे मलेरिया बुखार में होता है । उत्तरसूत्र से यहाँ संज्ञा का अपकर्ष (पीछे को खींचना) किया जाता है, जिससे प्रत्ययान्त संज्ञा होता है ।

प्रथमासमर्थ से 'इसमें' इस अर्थ में कन् होता है संज्ञाविषय में जब प्रथमासमर्थ जो 'अन्न' वह प्राय (बहुत, अधिक) होता है[३]—**गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्यां गुडापूपिका पौर्णमासी । तिलापूपिका पौर्णमासी ।**

इनि—वटकाः प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्यां वटकिनी पौर्णमासी ।[४]

अञ्—कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्यां कौल्माषी पौर्णमासी ।[५]

घन्—छन्दोऽधीते श्रोत्रियः ।[६] छन्दस् को श्रोत्र आदेश । अथवा 'छन्दोधीते' इस वाक्य के अर्थ में **'श्रोत्रिय'** यह पद निपातन किया है ।

---

१. उत्क उन्मनाः (५।२।८०) ।
२. काल-प्रयोजनाद्रोगे (५।२।८१) ।
३. तस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् (५।२।८२) ।
४. वटकेभ्य इनिर्वक्तव्यः (वा०) ।
५. कुल्माषादञ् (५।२।८३) ।
६. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते (५।२।८४) ।

इनि, ठन्--भुक्तोपाधिक द्वितीयान्त श्राद्ध शब्द से 'इसने' इस अर्थ में[1]--**श्राद्धम् अनेन भुक्तम् इति श्राद्धी** (इनि)। **श्राद्धिकः**। श्राद्ध शब्द एक शास्त्र-विहित कर्म का नाम है। जब वह उस कर्म के साधन भोज्य द्रव्य को कहता है तब उससे यह प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। **यथाऽश्रोत्रियः श्राद्धं न सतां भोक्तु-मर्हति** (कौ० अर्थ० १।१५।११)। जिस दिन किसी ने श्राद्ध खाया हो उस दिन के लिए वह श्राद्धी अथवा श्राद्धिक है, दूसरे दिन उसका यह व्यपदेश नहीं होगा।

इनि—क्रियाविशेषण 'पूर्व' से 'अनेन' (इसने) इस अर्थ में[1]। 'अनेन' यह कर्ता को कहता है। पर कर्ता क्रिया के बिना होता नहीं, अतः जिस किसी क्रिया का अध्याहार करके प्रत्यय विधान किया जाता है—**पूर्वं गतमनेन उक्तं श्रुतं पीतं भुक्तं वा पूर्वी**। **पूर्विणौ**। **पूर्विणः**। **कुशलोपाह्वाः श्रीराम-चन्द्रशास्त्रिणोऽत्र शास्त्रार्थे पूर्विणः। वयं समासेन तत्समर्थनां करिष्यामः**। कुशल उपनामक श्री रामचन्द्र शास्त्री यहाँ शास्त्रार्थ के विषय में पूर्व कह चुके हैं हम संक्षेप से उसका समर्थन करेंगे। **अपूर्वी भार्यया चार्थी** (रा० ३।१८।४)। **पूर्वमूढमनेन पूर्वी। न पूर्वी=अपूर्वी**।

इनि—पूर्वशब्दान्त प्रातिपदिक से भी अनेन (इसने) इस अर्थ में[3]—**पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम्**। जिस ने पहले चटाई बनाई है। कट कर्म के तद्धित प्रत्यय से अनुक्त होने से द्वितीया हुई।

इष्ट आदि प्रातिपदिकों से अनेन (इसने) इस अर्थ में[4]—**इष्टम् अनेन इति इष्टी**, जिसने यज्ञ किया है। **इष्टिनौ**। **इष्टिनः**। **इष्टी सर्वमखेषु। पूर्त्तम् अनेनेति पूर्त्ती श्राद्धे**। 'क्तस्येन्विषयस्य' से कर्म में सप्तमी। **पठिती शास्त्रे। आम्नाती वेदे**, जिसने वेद का अभ्यास किया है। **अधीतम् अनेनेति अधीती व्याकरणे। परिगणिती ज्योतिषि। सङ्कलिती कल्पे। अर्चिती गोविन्दे। मित्रेषूपकृती। नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्राव्यवस्थितः। अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृती** (भा० १२। ८६८६)॥

वेद में **परिपन्थिन्** तथा **परिपरिन्** शब्द इनि प्रत्ययान्त निपातन किये

---

१. श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ (५।२।८५)।
१. पूर्वादिनिः (५।२।८६)।
३. सपूर्वाच्च (५।२।८७)।
४. इष्टादिभ्यश्च (५।२।८८)।

हैं।[1] दोनों का अर्थ पर्यवस्थाता=विरोधी होता है। लोक में परिपन्थिन् शब्द का प्रयोग जो कवि लोग करते हैं वह असाधु ही है। परिपरिन् का प्रयोग तो लोक में नहीं देखा गया।

अनुपदिन्—यह अन्वेष्टा (ढूंढने वाला) इस अर्थ में निपातन किया है।[2] अनुपदम्=पदस्य पश्चात्। अव्ययीभाव। **अनुपदी गवाम्। अनुपदी उष्ट्राणाम्,** गौ के पद चिह्न के पीछे जाता हुआ गौओं को ढूंढने वाला। ऊँटों के पद चिह्न के पीछे जाता हुआ ऊँटों को ढूंढने वाला।

साक्षात् (अव्यय) से इनि प्रत्यय होता है जब द्रष्टा वाच्य हो[3]। सूत्र में इनि (इन्) प्रत्यय आने पर अव्ययानां भमात्रे टिलोपः इस वचन से टि—लोप (आत् का लोप)। **साक्षाद् द्रष्टा=साक्षी**। साक्षिणौ। साक्षिणः। संज्ञा ग्रहण अभिधेय-नियम के लिए है। सभी द्रष्टा को साक्षी नहीं कहते। तीन प्रत्यक्ष द्रष्टा होते हैं—जो ऋणादि देता है, जो ऋणादि लेता है और जो तीसरा उनके पास तटस्थ उनकी क्रिया को देखता है। यह जो तीसरा धनिक और अधमर्ण आदि से भिन्न है वह साक्षी कहलाता है, दूसरे दो नहीं।

घच्—'क्षेत्रिय' यह निपातन किया जाता है परक्षेत्रे चिकित्स्यः इस वाक्यार्थ में घच् प्रत्यय तथा पर शब्द का लोप निपातन किया है। परक्षेत्र शब्द से 'चिकित्स्य' इस अर्थ में—ऐसा भी कह सकते हैं[4]—**परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरम्**। परं च तत् क्षेत्रं चेति कर्मधारयः। **तत्र चिकित्स्यो व्याधिः क्षेत्रियः। क्षेत्रयं कुष्ठम्। क्षेत्रियं विषम्,** जो विष दूसरे के शरीर में संक्रान्त कर के ही दूर किया जा सकता है। यहाँ परक्षेत्रम्—यह षष्ठी समास है। कृत्य प्रत्यय शक्यार्थ में है। **क्षेत्रियाणि तृणानि,** जो घास सस्य के खेत में उगा हुआ नाश करने (उखाड़ने) योग्य है। **क्षेत्रियः पारदारिकः**। परक्षेत्रम्=परदाराः। तत्र चिकित्स्यो निग्रहीतव्यः, जो पर स्त्री पर आसक्त हुआ दण्ड से नष्ट किये जाने के योग्य है। यहाँ अर्हार्थ में कृत्य प्रत्यय है।

'इन्द्रिय' शब्द इन्द्र लिङ्ग आदि अर्थों में घच् प्रत्ययान्त निपातन किया

---

१. छन्दसि परिपन्थि-परिपरिणौ पर्यवस्थातरि (५।२।८९)।
२. अनुपद्यन्वेष्टा (५।२।९०)।
३. साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१)।
४. क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (५।२।९२)।

जाता है। 'इन्द्रिय' यह चक्षुस् आदि की रूढि (प्रसिद्ध संज्ञा) है[1]। अतः व्युत्पत्ति का कोई नियम नहीं। **इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गम् इन्द्रियम्**। आत्मा का चक्षुस् आदि करणों से अनुमान होता है, कारण कि करण बिना कर्ता के नहीं होता। **इन्द्रेण आत्मना दृष्टम् इन्द्रियम्**। यहाँ दृष्टम्=ज्ञातम्। कार्यकारण-सङ्घात को प्रस्तुत करके कहा गया है—'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्'। 'इदमदर्शम्' ऐसा कहा गया है। **इन्द्रेण आत्मना सृष्टम्=इन्द्रियम्**। आत्मा ने अपने शुभ अशुभ कर्मों के उपभोग के साधन-रूप में इन का सर्जन किया, अर्थात् शुभाशुभ कर्मद्वारा इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। **इन्द्रेण आत्मना जुष्टं सेवितम् इन्द्रियम्**। आत्मा इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है तत्तद्रूपादिज्ञान की प्राप्ति के लिये। **इन्द्रेण आत्मना विषयेभ्यो दत्तम् इन्द्रियम्**। सूत्र में 'इति' शब्द प्रकारपरक है। निर्दिशित प्रकारों के अतिरिक्त और भी प्रकार हो सकता है। **इन्द्रेण आत्मना दुर्जयम् इन्द्रियम्** (प्रक्रिया सर्वस्व)।

मत्वर्थीय प्रत्यय

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥ (श्लोकवार्तिक)

प्रातिपदिक से तद् अस्ति अस्य अस्मिन्वा (=वह इसके पास है अथवा इसमें है)इस अर्थ में मतुप्(मत्)आदि प्रत्यय आते हैं[1]। इन्हें मतुबर्थीय अथवा मत्वर्थीय कहते हैं। मतुप् आदि प्रत्यय 'वह धन आदि है जिसके पास' इस अर्थ में होते हैं, अर्थात् तच्छब्द-वाच्य धनादि की वर्तमान में सत्ता होने पर आते हैं, धनादि जिसके पास था अथवा जिसके पास होगा इस अर्थ में नहीं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मतुप् आदि प्रत्यय भूमन्[2] (बहुत्व), निन्दा[2], प्रशंसा[3] (स्तुति), नित्ययोग[4] (=अविनाभाव, नित्यसम्बन्ध), अतिशायन[5] (=अधिकता, प्रकर्ष), संसर्ग[6] (=संयोग)—इनमें से एक न एक के विषय में ही प्रायः आते हैं। क्रमशः उदाहरण—१ **गोमान्** (**बह्वो**

---

१. इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (५।२।९३)।
२. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४)

गावः सन्त्यस्य)। जिसके पास एक गौ है उसे गोमान् नहीं कह सकते। **द्वारवती** पुरी (द्वारिका), बहुत से दरवाजों वाली। यह सार्थक नाम है। **अस्तिमान्**=धनवान्। यहाँ 'अस्ति' तिङन्त प्रतिरूपक प्रातिपदिक है। २ **कुष्ठी** (कोहड़ी)। यहाँ इनि (इन्) प्रत्यय हुआ है। ३ **रूपवती कन्या** (=प्रशस्तं रूपम् अस्या अस्ति)। रुक्मपुङ्खाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता **हस्तवता** त्वया (भा० विराट० ३५।१८)। हस्तवता=दृढहस्तेन। प्रशस्त अर्थात् स्तुत्य, योग्य, दृढ़ हाथ वाले तूने। ४ **क्षीरिणो*** **वृक्षाः**(=नित्यं क्षीरमेषाम् अस्ति)। ५ **उदरिणी** सीमन्तिनी (=अतिशयितम् उदरम् अस्या अस्ति)=बढ़े हुए उदर वाली स्त्री। ६ **कुण्डली** (कान में कुण्डल पहने हुए)। **दण्डी** (=दण्ड संयोगोऽस्यास्ति)=हाथ में दण्ड लिए हुए। **छत्री**=सिर पर छाता धारण किए हुए। जिसके घर पर कुण्डल दण्ड और छाते पड़े हैं उसे दण्डी अथवा छत्री नहीं कह सकते। **नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती** (नित्ययज्ञोपवीत पहने हुए) बौ० ध० २।२।१॥ कभी-कभी ये प्रत्यय केवल अस्ति विवक्षा (भूमादि की प्रतीति न होने पर भी) में भी आते हैं—**अस्तिमानयं तथाऽपि न प्रतिददाति** (इसके पास धन है तो भी ऋण चुकाता नहीं)। **यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षति** (जौ वाले जल से यूप पर छींटे देता है)। **गन्धवती पृथिवी**। गन्ध की सत्तामात्र की विवक्षा है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि—

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

समानरूप मत्वर्थीय मत्वर्थीय प्रत्यय से परे नहीं आता है। विरूप तो आता है—दण्डिमती शाला। यहाँ मत्वर्थीय इनि से परे विरूप मतुप् आया है सरूप इनि नहीं। अर्थ है अनेक दण्डियों वाली शाला।

गुणवचनों से मतुप् का लुक् हो जाता है।[1] **शुक्लो गुणोऽस्यास्ति शुक्लः। कृष्णो गुणोऽस्यास्ति कृष्णः।**

मतुप् के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि मतुप् (मत्) के म् को व् हो जाता है[2] यदि प्रातिपदिक मकारान्त वा अकारान्त हो, अथवा यदि

---

*न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारिशप्लक्षपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः …॥ कोई पारिश के स्थान पर शिरीष पढ़ते हैं और कोई वेतस।

१. गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः।

२. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८।२।९)।

उपधा में म् वा अकार हो। उदाहरण—**किवान्। ज्ञानवान्। धनवान्। विद्यावान्। लक्ष्मीवान्। भास्वान्** (सूर्य)। परन्तु **भूमिमान्। यवमान्**—यहाँ म् को व् नहीं होता।

रस आदि शब्दों से मतुप् ही **प्रायः** आता है, अन्य मत्वर्थीय नहीं **आते**।[1] **रसवान् भक्षः। रूपवान् अग्निः। स्पर्शवान् वायुः।** गन्धवती पृथिवी। **स्नेहवत्य आपः।** कहीं-कहीं दूसरे मत्वर्थीय प्रत्यय भी आ जाते हैं—**उर्वशी वै रूपिण्यप्सरसाम्।** यहाँ इनि प्रत्यय आता है। **रूपिको दारकः।** यहाँ ठन् हुआ है। **स्पर्शिको वायुः** (भाष्य) यहाँ भी ठन् हुआ है।

इनि, ठन्—अदन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि (इन्) और ठन् (=इक) प्रत्यय आते हैं[2]—**दण्डी। दण्डिकः। छत्री। छत्रिकः। गतानुगतिको लोकः। गतस्यानुगतम् अनुगमनम् अस्त्यस्य इति गतानुगतिकः।** लकीर का फकीर। **ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः** (मनु० ६।२३)। बरसात में जहाँ मेंह बरस रहा है वहाँ आवरण-रहित होकर रहे। आकारान्त से तो यह प्रत्यय नहीं होंगे। मतुप् ही होगा—खट्वावान्। इनि ठन् के विषय में मतुप् भी आता है—दण्डवान्।

यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च यच्च स्थावरम् (ऐ० ब्रा० ५।३)। **प्राणाः** सन्त्यस्येति प्राणि। पतत्त्रे स्तोऽस्येति **पतत्त्रि**। **राजबीजी**=राजवंश्यः।

एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ।

एकाच् प्रातिपदिक[1] से, कृदन्तप्रातिपदिक[2] से, जातिवाचक[3] से और सप्तमी विभक्ति के अर्थ में इनि और ठन् नहीं होते, मतुप् होता है—**स्वम्** (धनम्) **अस्यास्ति=स्ववान्। कारकवान्। व्याघ्रवद् वनम्। दण्डा अस्यां सन्तीति दण्डवती शाला।** कहीं-कहीं इन से इनि ठन् होते भी हैं—**कार्यी** (कार्यमस्यास्ति)। **कार्यिकः। हार्यी** (हार्यं वाह्यं नेयं प्राप्यं वाऽस्यास्ति)। **तण्डुली। तण्डुलिकः।**

व्रीहि आदि शब्दों से इनि और ठन् प्रत्यय आते हैं[3]। व्रीहि आदि गणपठित हैं। इनसे अदन्त न होने से प्राप्ति नहीं थी। **व्रीही** (व्रीहयः सन्त्यस्य), जिसके पास धान्य है। **मायी** (=मायाऽस्यास्ति) छली, कपटी। **शिखी**

---

१. **रसादिभ्यश्च (५।२।९५)।**
२. **अत इनिठनौ (५।२।११५)।**
३. **व्रीह्यादिभ्यश्च (५।२।११६)।**

रथी शरी चासतली निषङ्गी
शङ्खी वृत्तः पताकी कवची किरीटी ।
स्त्री च अन्वी च विमाति पाथः
त्रिरस्वी वार्तः सृजि भिर वाजाः सिंतः ॥ भा० विराट० ५२

(=शिखा चूडाऽस्यास्ति)मयूर । शिखा ज्वालाऽस्यास्ति शिखी = अग्नि । **केकाऽस्त्यस्य केकी** (मयूर) । संज्ञाऽस्यास्ति **संज्ञी**)। **मेखली**(=मेखलाऽस्यास्ति) मेखला तडागी पहने हुए । **जटी** (=जटा अस्य सन्ति), जटावान् । **वीणिनो गाथकाः । बलाकिनो** बलाहकाः । कर्म अस्यास्ति इति **कर्मी** । चर्म अस्यास्ति इति **चर्मी** । दश (ग्रामाः) सन्त्यस्येति **दशी । दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च** (मनु० ७।११६) ।

ठन्—(=इक)—**व्रीहिकः । मायिकः । केशिकः । नाविकः** (=नौर् अस्यास्ति) । भिन्न-भिन्न प्रत्यय-विधियों के साथ-साथ मतुप् का भी विधान समझना चाहिये जब तक इसे प्रत्यय-नियम द्वारा रोका न जाय । अतः व्रीही, व्रीहिकः के साथ व्रीहिमान् रूप भी सुतराम् इष्ट है ।

अदन्त प्रातिपदिक से इनि, ठन् के अन्य उदाहरण—

आचार्यव्यतिरिक्ता गुरवोऽन्वक्स्थानिनः (   ) । अन्वक् पाश्चात्यं स्थानमस्ति एषाम् इति अन्वक्-स्थानिनः । **कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः**, क प्रत्यय की प्राप्ति के विषय में सर्वत्र सम्प्रसारण वाली धातुओं से 'ड' प्रत्यय होता है ('क' नहीं), (ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्यः) । **खड्गी बाणी शरासनी** । खड्गवाला, बाणों वाला, तथा धनुष् वाला । **साम्प्रतं चैव यत्कर्म तच्च क्षिप्रमकालिकम्** । (भा० विराट० २७।७) । नास्ति कालो विलम्बोऽस्येत्यकालिकम् । अकालिक=अविलम्बित, विलम्बासह, जिसमें विलम्ब होने से बिगाड़ होगा । यहाँ 'ठन्' हुआ है । **ईक्षणिका, विप्रश्निका**=दैवज्ञा । यहाँ भी ईक्षण, तथा विप्रश्न (=नाना प्रश्न) से ठन् हुआ है और स्त्री प्रत्यय टाप् । **आत्मनाऽप्याषाढी कृष्णाजिनी, वल्कली, अक्षवलयी मेखली, जटी च भूत्वा तपस्यतो जनयितुरेव जगामान्तिकम्** (हर्षचरित उच्छ्वास, पृ० १३८) । यहाँ सर्वत्र संसर्ग विषय में इनि हुआ है । आषाढ दण्ड अर्थात् ढाक के डंडे वाला (आषाढी), कृष्णमृगचर्म ओढ़े हुए, वक्कल पहने हुए, रुद्राक्षमाला धारण किए हुए, मेखला बाँधकर और जटा धारण कर वह तपस्या करते हुए अपने पिता के पास चला गया । **मलिनी**=स्त्रीधर्मिणी=रजस्वला । यहाँ मल से मत्वर्थीय इनि होकर स्त्री प्रत्यय ङीप् हुआ है । **धवलयज्ञोपवीतिनीं तनुमुद्वहन्** । यहाँ प्रशंसा अथवा नित्ययोग में इनि हुआ है । **पूर्वापरदिने** पक्षाविव स्तो यस्याः सा **पक्षिणी** रात्रिः । पक्ष—इनि । **विरमेत् पक्षिणीं रात्रिम्** (मनु० ४।९७) **नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः । अटन्ति राज-**

मार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः (रा० २।६७।२०) ।। यहाँ विषाणिनः में प्राशस्त्य में इनि हुआ है। विषाण हाथी दांत को कहते हैं। विषाणिनः= प्रशस्त दाँतों वाले। **कर्मान्तिकः**, समाप्ति पर्यन्त कर्म करने वाला सेवक। कर्मान्तोऽस्यास्ति। ठन्। **कालाक्षराणि वेद्यानि यस्य सन्ति स कालाक्षरिकः।** ठन्। जो लिखना पढ़ना सीख रहा है।

व्रीह्यादि होने से इनि (कहीं-कहीं ठन्) के उदाहरण—

गुर्विणी=गुरु गर्भोऽस्याः। गुरु से इनि। पादुके अस्य स्त इति **पादुकी,** खड़ाऊँ वाला। **सन्धिनी**=वृषभेणाक्रान्ता गौः, गौ जिस पर बैल चढ़ा हुआ है। **सन्धाऽस्त्यस्या इति सन्धिनी।** यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे······**छन्दोगं तु समाप्तिकम्।** (मनु० ३।१४५) ।। समाप्तिर् अस्यास्तीति **समाप्तिकः।** जिसने वेदाध्ययन समाप्त कर लिया है। **उपानही,** पादुकी। आप० ध० १।२।७।२ ।। **सभिकः**=सभाऽस्यास्तीति, द्यूतघर का मालिक जूआ करवाने वाला। यहाँ सभा से ठन् हुआ है। **मात्रिकः**=**मात्राऽस्यास्तीति।** ठन्। **कामली,** कामला =पीतरोग। **अन्तर्धिने वा शूद्राय** (आप० ध० १।१।३।४१)। अन्तर्धिर् अन्तर्धानमस्यास्तीति अन्तर्धी। **वनमाली**—वनमालाऽस्यास्तीति, कृष्ण। जराऽस्यास्ति जरी। नोपभोक्तुं **न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी** (हितोप० १।११३)।

द्वन्द्वसमास विषयक, उपताप (=रोग) विषयक, निन्द्यविषयक प्राणिस्थ-अर्थ-वाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है मतुप् नहीं[1]। द्वन्द्व—**चीरजटाजिनी** भरतः। **यस्मात्त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी** (रा० २।१०१।२)। **क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली** (रा० २।३२।२९)। **आगमापायिनोऽनित्याः** (गीता)। **संकोचविकासिनः कूर्मस्यावयवाः। कटक-वलयिनी। शङ्खनुपुरिणी।** उपताप—**कुष्ठी।** **किलासी** (किलास=सिध्म= झाईं)। **शूली कदन्नाशनात्।** **कुष्ठी श्वासी तमी कासी प्रमेही वातकुण्डली। ध्मायी प्लीह्यर्शसो गुल्मी भक्षयेयुर्विनाऽम्भसा** ।। काश्यप संहिता, कल्पस्थान, लशुन कल्प, श्लोक ६६)। **कामला पाण्डुरोगोऽस्यास्ति कामली।** गर्ह्य—**ककुदावर्ती** (कन्धे पर चक्र (भौंरी) वाला)। **काकतालुकी** (कौए की तरह तालु वाला)। परन्तु प्राणिस्थ न होने से पुष्पफलवान् वृक्षः यहाँ द्वन्द्व से इनि नहीं हुआ। प्राणिस्थ होने पर भी प्राण्यङ्ग से नहीं होता—पाणिपाद-

---

१. द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः (५।२।१२८)।

वती। अदन्त से ही यह 'इनि' का नियम है। चित्रकललाटिकावती (तिलक तथा ललाटस्थ भूषण वाली)। यहाँ मतुप् हुआ।

वर्ण से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है जब प्रकृति प्रत्यय-समुदाय का अर्थ ब्रह्मचारी हो[1]—**वर्णी**। इस अर्थ में मतुप् नहीं होता। अर्थान्तर में तो होता ही है—**वर्णवान् ब्राह्मणादिः। शूद्रस्त्ववर्णः**। किरातार्जुनीय में प्रयोग भी है—**स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ**।

वात और अतिसार (रोगवाचक)—इनसे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है और साथ ही इन्हें कुक् (क्) आगम होता है जो कित् होने से इनके अन्त में होता है[2]। यहाँ भी इनि प्रत्यय का नियम है, दूसरा मतुप् आदि प्रत्यय नहीं होता—**वातोऽस्यास्ति इति वातिकी** (जिसे वायु-रोग है)। **अतिसारकी** (=**अतिसारोऽस्यास्ति**) जिसे दस्त रोग है)। रोग-वाचक वात से इनि प्रत्यय का नियम है अन्यत्र मतुप् निर्बाध रूप से होगा—वातवती गुहा।

पूरण-प्रत्ययान्त से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है वय (अवस्था) की प्रतीति होने पर[3]—**पञ्चमो मासः संवत्सरो वाऽस्य पञ्चमी उष्ट्रः। दशमी**। पाँच महीने अथवा पाँच वर्ष की उम्र वाला ऊँट। यहाँ भी मतुप् नहीं होता।

धर्म, शील, वर्ण—अन्तवाले प्रातिपदिक से मत्वर्थ इनि प्रत्यय आता है।[4] **ब्राह्मणानां धर्मः=ब्राह्मणधर्मः, सोऽस्यास्ति ब्राह्मणधर्मी। ब्राह्मणशीली। ब्राह्मणवर्णी**।

सुख, दुःख, कृच्छ्र, हल, प्रणय—इनसे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है, मतुप् नहीं और ठन् भी नहीं।[5] **सुखी। दुःखी। कृच्छ्री** (कृच्छ्रं कष्टमस्यास्ति इति)। **हली** (हलोऽस्यास्ति इति)। **प्रणयी**। जातः सखे प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम्—यहाँ कालिदास का प्रणयवान् प्रयोग चिन्त्य है।

हस्त शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है, मतुप् नहीं, जब प्रकृति-

---

१. वर्णाद् ब्रह्मचारिणि (५।२।१३४)।
२. वातातिसाराभ्यां कुक् च (५।२।१२९)।
३. वयसि पूरणात् (५।२।१३०)।
४. धर्मशीलवर्णान्ताच्च (५।२।१३२)।
५. सुखादिभ्यश्च (५।२।१३१)।

प्रत्यय समुदाय से जाति का बोध हो[1]—हस्तः (=करः शुण्डाऽस्यास्ति इति **हस्ती गजः**। अन्यत्र हस्तवान् रहेगा।

पुष्कर आदि गण-पठित प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है यदि समुदाय से देश का बोध हो[2]—**पुष्कराणि कमलानि सन्ति अस्याम् इति पुष्करिणी** (वापी)। **पद्मिनी। कुमुदिनी। उत्पलिनी।**

इनि प्रकरण में बाहुपूर्वक बलान्त प्रातिपदिक तथा ऊरुपूर्वक बलान्त-प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिए ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—बाह्वोर्बलं बाहुबलम्, तदस्यास्ति **बाहुबली**। ऊर्वो-र्बलम् ऊरुबलम्, तदस्यास्ति **ऊरुबली** (जंघा बल वाला)।

सर्व पूर्वपद होने पर धनाद्यन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है[4]—सर्वाणि च तानि धनानि च=सर्वधनानि, तान्यस्य सन्ति=**सर्वधनी**। इसी प्रकार **सर्वबीजी। सर्वकेशी** नटः। न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थ-प्रतिपत्तिकरः इस वामन-वचन का यह वार्तिक अपवाद है। इसका अर्थ है—कर्मधारय समास करके उससे परे मत्वर्थीय नहीं करना चाहिए यदि ऐसा करने से जिस अर्थ का बोध होता है उसका बहुव्रीहि समास रूप एक वृत्ति से ही बोध हो सके। सर्वाः शक्तयोऽस्मिन् स **सर्वशक्तिः** ऐसा कहना ही उचित है। सर्वाः शक्तयः=सर्वशक्तयः (कर्मधारय)। ताः सन्त्यस्मिन् स **सर्वशक्ति-मान्** ऐसा कहना उचित नहीं।

अर्थ शब्द से जब इसका अर्थ असंनिहित(=अविद्यमान, पास में न होता हुआ) अर्थ हो तो इनि प्रत्यय होता है।[5] **असंनिहितार्थोऽस्यास्ति=अर्थी**। अन्यत्र मतुप् होगा—**अर्थवान्**=धनवान्, प्रयोजनवान्।

अर्थशब्दान्त प्रातिपदिक से भी इनि प्रत्यय का नियम है[6]—हिरण्येनार्थः =हिरण्यार्थः, सोऽस्यास्ति=**हिरण्यार्थी**, जिसे हिरण्य (सुवर्ण) चाहिए। इसी प्रकार **धान्यार्थी**।

---

१. हस्ताज्जातौ (५।२।१३३)।
२. पुष्करादिभ्यो देशे (५।२।१३५)।
३. इनिप्रकरणे बलाद्बाहूरुपूर्वपदादुपसंख्यानम्।
४. सर्वादेश्च (वा०)।
५. अर्थाच्चासंनिहिते (वा०)।
६. तदन्ताच्चेति वक्तव्यम्।

बल आदि प्रातिपदिकों से इनि प्रत्यय आता है, पक्ष में मतुप् भी आता है[1]—**बली । बलवान् । उत्साही । उत्साहवान् । आयामी । आयामवान्** (लम्बा) । **व्यायामी । व्यायामवान्** । इनसे ठन् नहीं होता ।

केश शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से 'व' प्रत्यय आता है[2]—**केशाः सन्त्यस्य केशवः । केशी । केशिकः । केशवान्**—ये रूप भी इनि, ठन्, मतुप् प्रत्ययों से बनेंगे ।

गाण्डी और अजग से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है संज्ञा विषय में[3] - **गाण्डीवं नामार्जुनस्य धनुः । अजगवं रुद्रस्य** । व प्रत्यय अन्यत्र भी देखने में आता है[4]—अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन्=**अर्णवः** (समुद्र) । यहाँ अर्णस् के 'स्' का लोपभी होता है । राज्यः केसरपङ्क्तयः सन्त्यस्य=**राजीवम्** (कमल) । मालम् उन्नतभूप्रदेशोऽस्यास्ति=**मालवः** (देशविशेष का नाम) । **मणिवः । हिरण्यवः** ।

रजस्, कृषि, आसुति, परिषद्—इनसे मत्वर्थ में वलच् (वल) प्रत्यय आता है[5] और वल परे रहते प्रातिपदिक के अन्त्य अण् (=अ इ उ) को दीर्घ हो जाता है[6]—**रजस्वला** (=ऋतुमती) । रजोऽस्मिन्ग्रामे विद्यते इस अर्थ में रजस्वलो ग्रामः—ऐसा नहीं कह सकते ऐसा काशिकाकार का कहना है । पर मनु० (६।७७) में 'रजस्वल' देह का विशेषण पढ़ा है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।७।११) में भी **रजस्वलो रक्तदन् सत्यवादी स्यादिति हि ब्राह्मणम्** ऐसा पाठ है । जहाँ रजस्वलः=मलिनगात्रः । महाभारत (७।१४५४, ९।१३७०) में भी 'रजस्वल', रजोवकीर्ण, धूलिधूसरित अर्थ में आया है । **कृषीवलः** (किसान) । **आसुतीवलः** (कलाल) । आसुति=शराब निकालना । **परिषद्वलो राजा** । सभा वाला, सभा का स्वामी ।

दन्त तथा शिखा शब्दों से मत्वर्थ में 'वलच्' प्रत्यय संज्ञा विषय में आता है[7]—**दन्तावलो** नाम कश्चित् । **दन्तावलो**=हस्ती । **शिखावलं** नाम नगरम् ।

भिन्नकुम्भान् रजस्वलान् (भा० शल्य०२४।३३)।

---

१. बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् (५।२।१३६) ।
२. केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (५।२।१०९) ।
३. गाण्डयजगात्संज्ञायाम् (५।२।११०) ।
४. वप्रकरणेऽन्येभ्योपि दृश्यत इति वक्तव्यम् । अर्णसो लोपश्च (वा०)।
५. रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच् (५।२।११२) ।
६. वले (६।३।११८) ।
७. दन्तशिखात्संज्ञायाम् (५।२।११३) ।

वलच् प्रत्यय अन्यत्र भी होता है—**भ्रातृवलः । पुत्रवलः । उत्साहवलः ।** परन्तु इनमें दीर्घ नहीं होता ।

द्यु और द्रु (शाखा) से मत्वर्थ में 'म' प्रत्यय होता है[1]—**द्युमः । द्रुमः ।** ये रूढि शब्द हैं । इनमें विकल्प से मतुप् नहीं होता ।

ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृङ्गिण, ऊर्जस्वल, गोमिन्, मलिन, मलीमस—ये मत्वर्थ में निपातन किए हैं ।[2] **ज्योत्स्ना**=चन्द्रप्रभा । **तमिस्रा**=तामसी रात्रि =अन्धेरी रात । स्त्रीत्व का नियम नहीं । तमिस्रं नभः (तमोमय आकाश) ऐसा भी प्रयोग होता है । शृङ्गे अस्य स्त इति **शृङ्गिणः** । इनच् प्रत्यय निपातित किया है । ऊर्ज शब्द अदन्त है उसे असुक् (अस्) आगम, विनि और वलच् प्रत्यय निपातन किए हैं—**ऊर्जस्वी । ऊर्जस्वलः ।** गो से मिनि प्रत्यय निपातन किया है—गावः सन्त्यस्येति **गोमी** । यह पूजावचन भी है जैसे **चन्द्रगोमी** यहाँ । 'मल' से इनच्, ईमसच् प्रत्यय निपातन किए हैं—**मलिनः । मलीमसः** । दोनों समानार्थक हैं ।

प्राणिस्थ-अङ्ग-वाची आकारान्त शब्द से मत्वर्थ में लच् (ल) विकल्प से होता है[3]—**चूडालः । चूडावान् । जङ्घालः । जङ्घावान् । कर्णिकालः । कर्णिकावान् ।** पर शिखावान् प्रदीपः । यहाँ शिखा प्राणिस्थ अङ्ग नहीं, अतः लच् नहीं हुआ ।

सिध्म आदि गणपठित प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में लच् विकल्प से आता है ।[4] सिध्मादियों के आकारान्त न होने से प्राप्ति नहीं थी—सिध्मम् अस्यास्ति=**सिध्मलः । सिध्मवान्** (किलासी, झाईं वाला) । **गडुलः । गडुमान्** (कुब्ज) । **हनुलः । हनुमान् । मांसलः । मांसवान् । पांसुलः । सक्तुलः । सक्थिलः । पर्शुलः । ग्रन्थिलः ।** सक्थि नपुं०=ऊरु=रान)—पांसु, सक्तु न तो आकारान्त हैं और न प्राणिस्थ अङ्ग हैं । **शीतलः । श्यामलः । पिङ्गलः । पित्तलः । पृथुलः । मृदुलः । मञ्जुलः । चटुलः । कपिलः**—इनमें शीत आदि शब्द भावप्रधान हैं—शीतं शैत्यम् अस्यास्तीति **शीतलः** । कपिः कपिवर्णोऽस्यास्ति=**कपिलः** ।

---

१. द्यु-द्रुभ्यां मः (५।२।१०८) ।
२. ज्योत्स्ना-तमिस्रा-शृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वल-गोमिन्-मलिन-मलीमसाः (५।२।११४) ।
३. प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् (५।२।९६) ।
४. सिध्मादिभ्यश्च (५।२।९७) ।

कण्डूलः (कण्डू: खर्जू: अस्यास्ति) । **यूकालः** । **मक्षिकालः** । यूका, मक्षिका आकारान्त तो हैं पर प्राणिस्थ अङ्ग नहीं । **विर्चाचकालः** (=पामन, गीली खुजली वाला) । **विपादिकालः** (विपादिका=बिवाई) । पार्ष्णि (एड़ी), धमनि (नाड़ी)--इनके अन्त्य 'इ' को दीर्घ भी होता है--**पार्ष्णीलः** । **धमनीलः** (निर्मांस, जिसकी नाड़ियाँ दीख रही हैं) । जटा, घटा, काल से लच् होता है जब निन्दा की प्रतीति हो—**जटालः** । **जटालोऽयञ्जनो मिथ्यातापसः** ।

वत्स, अंस से लच् प्रत्यय आता है जब समुदाय का क्रम से 'कामवान्' (इच्छावान्, स्नेहवान्, प्यार वाला), तथा 'बलवान्' अर्थ हो[1]—**वत्सलः पिता** । **वत्सला माता** । **वत्सलः स्वामी** । **अंसलः**=बलवान् । वत्स, अंस--ये वृत्ति विषय (तद्धित विषय) में स्वभाव से स्नेह और बल के वाचक हैं । लच् प्रत्ययान्त वत्सल, अंसल क्रम से स्नेहवान् और बलवान् को कहते हैं । इनमें वत्स (बच्चा), अंस (कन्धा) का अर्थ कुछ भी नहीं । अतः महावीरचरित (४।११) में **'हा मद्वत्सल वत्स रावण'** यह मातामह माल्यवान् की उक्ति संगत होती है ।

फेन शब्द से लच् तथा इलच् दोनों होते हैं[2]—**फेनिलं मूत्रम्** । **फेनलं मूत्रम्** । मतुप् तो निर्बाध होता है—**फेनवन्मूत्रम्** ।

लोमादि शब्दों से मत्वर्थ में 'श', पामन् आदि शब्दों से 'न' और पिच्छ आदि शब्दों से इलच् प्रत्यय होता है[3]—**लोमशः** (लोमानि सन्त्यस्य) । कपिः कपिवर्णोऽस्यास्ति **कपिशः** । **पामनः** (पाम अस्यास्ति) गीली खुजली वाला । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से न-लोप । **हेमनः** (हेम=स्वर्णम् अस्यास्ति) । **श्लेष्मणः** (श्लेष्मा अस्यास्ति) । **वलिनः** (वलयः सन्त्यस्य) । लक्ष्मीर् अस्यास्ति = **लक्ष्मणः** । यहाँ लक्ष्मी के ईकार को अकार भी हो जाता है । कल्याणमङ्गम् अस्या अस्तीति **अङ्गना** । **पिच्छिलः** (पिच्छमस्यास्ति) । **उरसिलः** (उरोऽस्यास्ति) चौड़ी छाती वाला । **पङ्किलः** (पङ्कोऽस्यास्ति) ।

प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा, वृत्ति—इनसे मत्वर्थ में 'ण' प्रत्यय आता है—**प्राज्ञः** प्रज्ञावान्) । **श्राद्धः** (श्रद्धावान्) । **श्रद्धावत् कर्म=श्राद्धम्** । (श्रद्धाऽस्मिन्न-

---

१. वत्सांसाभ्यां कामबले (५।२।९८) ।

२. फेनादिलच्च (५।२।९९, ।

३. लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः (५।२।१००) । अङ्गात् कल्याणे (ग० सू०) । लक्ष्म्या अच्च (ग० सू०) ।

४. प्रज्ञा-श्रद्धाऽर्चाभ्यो णः (५।२।१०१) । वृत्तेश्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।

स्तीति)। **आर्चः** (अर्चावान्)। **वार्तः** (वृत्तिरस्यास्ति)=स्वस्थः। विच्छिन्नस्य प्रतिविधानं वृत्तिः तत्त्वबोधिनी)। वार्तम्=तुच्छ। इन सब में प्रत्यय के णित् होने से आदि वृद्धि हुई है।

तपस्, सहस्र—इनसे मत्वर्थ में क्रम से विनि, इनि प्रत्यय होते हैं[1]—**तपस्वी। तपस्वी चाप्रमादी च ततः पापात्प्रमुच्यते** (बौ० ध० १।५।१०।३४)। तपस्वी=कृच्छ्र आदि व्रतों को करने वाला। **सहस्री** (सहस्रं मुद्रादयः) सन्त्यस्येति। 'सहस्र' से ठन् भी नहीं होता। **शतीच्छति (शती इच्छति) सहस्री स्यामिति।** जिसके पास सौ (मुद्रा आदि) हैं वह चाहता है मेरे पास हजार हों।

इनसे मत्वर्थ में अण् भी होता है[2]—**तापसः। साहस्रः।** उभयत्र आदि वृद्धि हुई है। स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् होगा।

अण् प्रकरण में ज्योत्स्ना आदि शब्दों से भी अण् होता है ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—**ज्यौत्स्नः** पक्षः (ज्योत्स्नाऽस्मिन्नस्ति)। **तामिस्रः। कौतपः।** दिन के अष्टम भाग को जब सूर्य मन्द होता है कुतप कहते हैं। कुतपः कालोऽस्यास्तीति कौतपः। सुधालेपोऽस्यास्तीति **सौधम्**, राजाओं के योग्य निवासस्थान। सूतिमासो वैजननः (अमर)। विजननं गर्भविमोचनं तद् अस्मिन्नस्तीति वैजननः।

सिकता, शर्करा (माधुर्य)—इनसे मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है[4]—**सैकतो घटः** (सिकता अस्मिन्सन्ति)। **शार्करं मधु**। (शर्करा=माधुर्यम् अस्मिन्नस्ति)।

सिकता, शर्करा (=कंकड़, पथरीली मिट्टी)—इनसे अण् आदि प्रत्यय का लुप्, इलच्, अण् तथा मतुप् होते हैं जब देश अभिधेय (विशेष्य) हो[5]—सिकता अस्मिन् देशे विद्यन्त इति **सिकता देशः। सिकतिलः। सैकतः। सिकतावान्।** शर्करा अस्मिन्सन्तीति **शर्करा देशः। शर्करिलः। शार्करः।**

---

१. तपःसहस्राभ्यां विनीनी (५।२।१०२)।
२. अण् च (५।२।१०३)।
३. अण् प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
४. सिकता-शर्कराभ्यां च (५।२।१०४)।
५. देशे लुबिलचौ च (५।२।१०५)।

शर्करावान् । लुप् होने पर लुप्तप्रत्यय के अर्थ में प्रकृति के लिङ्ग वचन होते हैं सो यहाँ सिकता देशः में सिकता (स्त्री० बहु०) के ही लिङ्ग वचन हुए हैं। शर्करा स्त्रीलिङ्ग है। शर्करा देशः यहाँ भी शर्करा स्त्री० बहु० में प्रयुक्त हुआ है।

दन्त शब्द से 'उन्नत दन्त वाला' इस अर्थ को कहने के लिए उरच् (उर) प्रत्यय आता है।[१] अजादि प्रत्यय परे होने से पूर्व 'दन्त' की 'भ' संज्ञा होने से 'अ' का लोप हो जाता है—उन्नता दन्ता अस्येति **दन्तुरः**।

ऊष (क्षारमृत्तिका), सुषि (पोल), मुष्क (अण्डकोष), मधु—इनसे मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है[२]—**ऊषरं क्षेत्रम्** (रेही वाला खेत)। **सुषिरो वंशः** (पोला बाँस)। **मुष्करो बलीवर्दः**। **मधुरो गुडः**। ऊषोऽस्मिन्घटे विद्यते इत्यादि में प्रत्यय नहीं होता। मत्वर्थ प्रकरण के आदिम सूत्र में 'इति' शब्द अगले सब सूत्रों में अभिधेय का नियम करने के लिए अनुवृत्त होता है। 'मधु' से यहाँ रसना-ग्राह्य मधुर रस (माधुर्य) का ग्रहण है, न कि मधु (माक्षिक) का।

रप्रकरण में ख, मुख, कुञ्ज—इनसे भी 'र' प्रत्यय आता है ऐसा वार्तिककार कहते हैं[३]—खम् महत् कण्ठविवरम् अस्यास्ति इति **खरः** (गधा)। मुखमस्यास्ति सर्वस्मिन्वक्तव्ये इति **मुखरः** (जो बात-बात में बोलता रहता है)। कुञ्ज=हाथी का हनु=जबड़ा। कुञ्जाव् अस्य स्त इति **कुञ्जरः** (हाथी)।

नग (वृक्ष), पांसु (धूलि), पाण्डु से भी 'र' प्रत्यय होता है[४]—**नगरम्** (नगा वृक्षाः सन्त्यस्मिन्)। **पांसुरम्** (धूलियुक्त)। **पाण्डुरम्** (पाण्डु वर्ण वाला)। कच्छू (स्त्री०) से भी 'र' प्रत्यय आता है और साथ ही इसे ह्रस्व हो जाता है—**कच्छुरः पुरुषः** (पामनः)। 'कच्छू' गीली खुजली का नाम है।

तुन्द (जठर, तोंद) आदि शब्दों से मत्वर्थ में इलच् प्रत्यय होता है। इनि, ठन् और मतुप् भी होते हैं[५]—**तुन्दिलः** (बढ़े हुए पेट वाला)। **तुन्दी**।

---

१. दन्त उन्नत उरच् (५।२।१०६)।
२. ऊष-सुषि-मुष्क-मधो रः (५।२।१०७)।
३. रप्रकरणे ख-मुख-कुञ्जेभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
४. नग-पांसु-पाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वा०)। कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च (वा०)।
५. तुन्दादिभ्य इलच्च (५।२।११७)।

तुन्दिकः । **तुन्दवान्** । **उदरिलः** । **उदरी** । **उदरिकः** । **उदरवान्** । **पिचण्डिलः** । (पिचण्ड=कुक्षि) । **पिचण्डी** । **पिचण्डिकः** । **पिचण्डवान्** । स्वाङ्ग की वृद्धि में भी इलच् आदि प्रत्यय होते हैं—विवृद्धौ पादावस्य **पादिलः** । **पादी** । **पादिकः** । **पादवान्** । विवृद्धौ महान्तौ कर्णावस्य **कर्णिलः** । **कर्णी** । **कर्णिकः** । **कर्णवान्** ।

एकशब्दपूर्वक तथा गोशब्दपूर्वक प्रातिपदिक से नित्य ठञ् (=इक) प्रत्यय आता है[1]—एकशतमस्यास्ति **ऐकशतिकः** । (एक सौ एक जिसके पास है) । एकसहस्रमस्यास्ति **ऐकसहस्रिकः** (एक हजार एक जिसके पास है) । गोशतमस्यास्ति **गौशतिकः** (सौ गौएँ जिसके पास हैं) । **गौसहस्रिकः** । यहाँ सर्वत्र ठञ् के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई है । अदन्त प्रातिपदिक से ही यह विधि है । एकविंशतिरस्यास्ति । यहाँ ठञ् प्रत्यय नहीं होगा । नित्यग्रहण से एकशत गोशत आदि से मतुप् नहीं होता । किन्हीं का एकद्रव्यवत्त्वात् (एकद्रव्य-वाला होने से) यह प्रयोग असाधु ही जानना चाहिए । अथवा एकेन द्रव्य-वत्त्वात् ऐसा विग्रह करके समाधान करना चाहिए ।

रूप शब्द से जब वह आहत रूप (आहत=आहनन से निष्पन्न) अथवा प्रशस्त रूप हो, मत्वर्थ में यप् (य) प्रत्यय आता है ।[2] प्रत्यय आद्युदात्त होता है, पर यहाँ अनुदात्त इष्ट है, इसलिए पित् पढ़ा है । आहतं रूपमस्य **रूप्यो दीनारः** । **रूप्यं कार्षापणम्** । प्रशस्तं रूपमस्य **रूप्यः पुरुषः** । निघातिकाताड-नादिना दीनारादिषु यद्रूपमुत्पद्यते तदाहतमुच्यते (काशिका) ।

यप् प्रकरण में अन्य प्रातिपदिकों से भी यप् आता है ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—**हिम्याः पर्वताः** (हिम्याः=बहुहिमाः) । **गुण्या ब्राह्मणाः** (उत्तम-गुणयुक्त ब्राह्मण) । हिम से मतुप् भी होता है—**हिमवन्तः पर्वताः** । गुण से इनि भी होता है—**गुणिनः सत्पुरुषाः** ।

अस्-अन्त, माया, मेधा, स्रज्—इनसे मत्वर्थ में विनि (विन्) प्रत्यय आता है[4]—**यशस्वी** । **पयस्वी** । **तेजस्वी** । **वर्चस्वी** । **आगस्वी** (अपराधी) ।

---

१. एक-गोपूर्वाद् ठञ् नित्यम् (५।२।११८) ।
२. रूपादाहत-प्रशंसयोर्यप् (५।२।१२०) ।
३. यप्प्रकरणेऽन्येभ्योपि दृश्यत इति वक्तव्यम् (वा०) ।
४. अस्माया-मेधा-स्रजो विनिः (५।२।१२१) ।

नक्षन्ति रुद्रा अवसा नमस्विनम् (=प्रणतम्) (ऋ० १।६६।२)। नक्षन्ति=व्याप्नुवन्ति=पहुँचते हैं। **मायावी**। **मेधावी** (मेधा= धारणावती बुद्धिः)। **स्रग्विन्**—प्रथमा एक० स्रग्वी। पुष्पमाला पहने हुए। यहाँ सर्वत्र मतुप् का समुच्चय होने से यशस्वान्, पयस्वान् इत्यादि रूप भी होंगे। परन्तु **सरस्वान्** (समुद्र), **सरस्वती**—यहाँ विनि नहीं होता। माया शब्द व्रीहिआदियों में पढ़ा है, अतः इससे इनि और ठन् भी होंगे—**मायी**। **मायिकः**।

आमय (=रोग) से वेद में और लोक में विनि प्रत्यय होता है और 'आमय' के 'अ' को दीर्घ हो जाता है[1]—**आमयावी** (रोगी)।

शृङ्ग, वृन्द—इनसे आरकन् (आरक) प्रत्यय होता है[2]—शृङ्गमस्यास्ति = **शृङ्गारकः**(शृङ्गी, सींग वाला)। वृन्दमस्यास्ति=**वृन्दारकः**(देवता,श्रेष्ठ)।

फल, बर्ह (=मयूरपिच्छ=मोर का पंख)—इनसे मत्वर्थ में इनच् (इन) प्रत्यय होता है[3]—**फलिनो वृक्षः**। मतुप् और इनि भी होते हैं—**फलवान् वृक्षः**। **फली वृक्षः**। बर्हं पिच्छमस्यास्ति=**बर्हिणः** (मोर)। **बर्हिणौ**। **बर्हिणाः**। इनि भी होता है—बर्ही (मोर)। बर्हिणौ। बर्हिणः।

हृदय शब्द से मत्वर्थ में चालु (आलु) प्रत्यय विकल्प से आता है[4]—**हृदयालुः**। पक्ष में इनि, ठन् होकर हृदयी, हृदयिकः भी होंगे। मतुप् तो सर्वत्र समुच्चित रहता है—अतः हृदयवान् रूप भी होगा।

शीत, उष्ण, तृप्र से चालु (आलु) प्रत्यय आता है 'शीत आदि को नहीं सहता है' इस अर्थ में[5]—शीतं न सहते—**शीतालुः** (सर्दी से तंग आया हुआ)। उष्णं न सहते=**उष्णालुः** (गरमी से घबराया हुआ)। **उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी** (विक्रमोर्वशी), गरमी से घबराया हुआ मोर वृक्ष के मूल की कयारी में बैठता है। तृप्रः पुरोडाशः, तं न सहते (तृप्रं दुःखं तन्न सहते इति माधवः)=**तृप्रालुः**। तन्न सहते इसका सोऽसोढोऽस्यास्ति—इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिए, अन्यथा मत्वर्थता की प्रतीति न होने से इस विधि को मतुप्प्रकरण में रखना संगत न होगा।

---

१. सर्वत्रामयस्योपसंख्यानम् (वा०)।

२ शृङ्ग-वृन्दाभ्यामारकन् वक्तव्यः (वा०)।

३. फल-बर्हाभ्यामिनज् वक्तव्यः (वा०)।

४. हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम् (वा०)।

५. शीतोष्ण-तृप्रेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुज् वक्तव्यः (वा०)।

'हिम' से चेलु (एलु) प्रत्यय आता है[1]—हिम को नहीं सहता **हिमेलुः** ।

बल शब्द से भी उपर्युक्त अर्थ में 'ऊल' प्रत्यय आता है[2]—बलं न सहते =**बलूलः** (शक्ति के सामने झुक जाने वाला) ।

'वात' से इसी अर्थ में तथा समूह अर्थ में 'ऊल' प्रत्यय आता है[3]—**वातं न सहते=वातूलः** (वातविकाराधीन, बाउला) । **वातानां समूहः=वातूलः** ।

पर्वन्, मरुत् से मत्वर्थ में तप् (त) प्रत्यय होता है ।[4] कोई इसे तन् (नित्) पढ़ते हैं । स्वर में भेद होगा । **पर्ववान् पर्वतः** (पहाड़) । पर्वत को पर्वत इसलिए कहते हैं कि इसमें पर्व तहें होती हैं, पर्वाणि सन्त्यस्य । **मरुतो देवाः सन्त्यस्य मरुत्त इन्द्रः । मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे** (ऐ० ब्रा० ८।२१।१४) ।

ऊर्णा शब्द से मत्वर्थ में 'युस्' प्रत्यय होता है ।[5] ऊर्णाऽस्य विद्यत **ऊर्णायुः**, मेषकम्बल, मेष=भेड़ के लोमों से बना हुआ कम्बल । युस् में स् (इत्) इसलिए पढ़ा है ताकि पूर्व की पद-संज्ञा हो, यकारादि प्रत्यय परे होने से 'भ' संज्ञा न हो । 'भ' संज्ञा होने पर ऊर्णा के 'आ' का लोप हो जाता । आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।२।३६) में 'ऊर्णायुः' भेड़ के अर्थ में पढ़ा है ।

वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि (ग्मिन्) प्रत्यय होता है ।[6] यहाँ प्रत्यय के आदि 'ग्' की इत्संज्ञा नहीं होती कारण कि ग्मिन् तद्धित प्रत्यय है ।[7] अतः वाच् के 'च्' को कुत्व होकर वाग्ग्मिन् (प्र० एक० वाग्ग्मी) रूप सिद्ध होगा जिसमें दो गकार सुनेंगे । प्रशस्ता वागस्यास्ति=**वाग्ग्मी** । ललित मधुर तथाल्पाक्षरों से बहुत से अर्थ का बोध कराना यही वाणी का प्राशस्त्य (प्रशंसा, प्रकर्ष) है । **मितं मनोहारि वचो हि वाग्ग्मिता** ।

पर 'बहुत कुत्सित बोलने वाला' इस अर्थ में 'वाच्' से आलच् (आल)

---

१. तन्न सहत इति हिमाच्चेलुः (वा०) ।
२. बलाच्चोलच् (वा०) ।
३. वातात्समूहे च (वा०) ।
४. तप् पर्व-मरुद्भ्यां वक्तव्यः (वा०) ।
५. ऊर्णाया युस् (५।२।१२३) ।
६. वाचो ग्मिनिः (५।२।१२४) ।
७. लशक्वतद्धिते (१।३।८) ।

और आटच् (आट) प्रत्यय आते हैं[1]—**वाचालः । वाचाटः ।** स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्—अमर ।

स्वामिन् शब्द ईश्वर, मालिक, प्रभु, वशी अर्थ में आमिन् प्रत्ययान्त निपातन किया है[2]—**स्वमस्यास्ति**=ऐश्वर्यमस्यास्ति=स्वामी । धन अथवा ज्ञाति-वाचक 'स्व' शब्द से तो मतुप् होगा—**स्ववान्=धनवान् ।**

अर्शस् (बवासीर के मस्से) आदि शब्दों से मत्वर्थ में अच् (अ) प्रत्यय आता है[3]—**अर्शांसि सन्त्यस्य अर्शसः** (बवासीर का रोगी) । पलितानि सन्त्यस्य **पलितं** शिरः (जरा के कारण सफेद बालों वाला सिर) । न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः (मनु० २।१५६) । उरोऽस्यास्ति **उरसः** (=उरस्वान्, महोरस्कः, चौड़ी छाती वाला) । पापम् अस्यास्ति **पापः । पापं पापाः कथयथ कथं शौर्यराशेः पितुर्मे** (वेणी० ३।६) । **पापेन मृत्युना गृहीतोस्मि** (मालविका) । पद्मम् अस्या अस्तीति **पद्मा** (लक्ष्मी) । कमलमस्या अस्तीति **कमला** (लक्ष्मी) । न्युब्जः पृष्ठवक्रत्वकारी रोगोऽस्यास्ति **न्युब्जः**= जो रोग से कुबड़ा हो गया है । भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः (७।३।६१) से 'न्युब्ज' रोग अर्थ में निपातन किया है । मृगाणां तृष्णा मृगतृष्णा । मृग-तृष्णास्त्यस्यां **मृगतृष्णा**=मरुमरीचिका । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः (१।२।४२) । यहाँ समानाधिकरणे (पदे) स्तोऽस्येति समानाधिकरणः । अच् प्रत्यय हुआ है । **बभूवुस्तिमिरा निशाः** (भा० ६।२३७६) । तिमिराः= तिमिरवत्यः । तिमिरमस्त्यासां तिमिराः । बलमस्यास्ति **बलो राजा** । पृषद् =बिन्दुः । **तद्वान् पृषतः**=मृगः । आलस्यम् अस्यास्ति **आलस्यः** । आलस्यः शीतकोऽलसोऽनुष्णः—अमर । हीन स्वाङ्ग से भी—**काणं चक्षुरस्यास्ति काणः** । खञ्जः पादोऽस्यास्ति **खञ्जः**, लंगड़ा । क्षेमोऽस्त्यस्येति **क्षेमः । कृताः क्षेमाश्च दण्डकाः** (रा० ३।३७।१३) । **कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः** (भा० ३।४८८)। जहाँ कहीं भी अभिन्नरूप शब्द से उस अर्थ वाले को कहा जाता है वहाँ सर्वत्र अर्श आदि होने से अच् हुआ है ऐसा समझना चाहिए ।

कम् (अव्यय, जल), शम् (सुख)—इनसे मत्वर्थ में ब, भ, युस्, ति, तु,

---

१. अलजाटचौ बहुभाषिणि (५।२।१२५) । कुत्सित इति वक्तव्यम् (वा०) ।

२. स्वामिन्नैश्वर्ये (५।२।१२६) ।

३. अर्शआदिभ्योऽच् (५।२।१२७)

त यस् प्रत्यय होते हैं[1]—**कम्बः । शम्बः । कम्भः । शम्भः । कंयुः । शंयुः ।** पद-संज्ञा होने से अनुस्वार हुआ । **कन्तिः । शन्तिः ।** पद संज्ञा होने पर सवर्ण हुआ । **कन्तुः । शन्तुः । कन्तः शन्तः । कंयः । शंयः ।**

तुन्दि (बढ़ी हुई नाभि), वलि (स्त्री०), वटि—इनसे मत्वर्थ में 'भ' प्रत्यय आता है[2]—तुन्दिर्वृद्धा नाभिः, साऽस्यास्ति **तुन्दिभः । वलिभः । वलिमान् ।** झुरियों वाला । **वटिभः ।** वलि शब्द पामादिगण में भी पढ़ा है अतः 'न' प्रत्यय से '**वलिनः**' रूप भी होगा ।

अहम् (सुबन्तप्रतिरूपक निपात), तथा शुभम् (अव्यय) से मत्वर्थ में युस् (यु) प्रत्यय होता है[3]-- **अहंयुः=अहंकारवान् । शुभंयुः=शुभान्वितः ।**

आसन्दीवत्, अष्ठीवत, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती—ये मतु-बन्त संज्ञा विषय में निपातन किए हैं ।[4] **आसन्दीवान्नाम** ग्रामः । संज्ञा न हो तो आसनवान् कहना होगा । इम आसनवन्त उपाध्यायाः, इमे चाव्यवहितायां भूमौ स्थिताः शिष्याः । **अष्ठीवान्**=जानु, घुटना । जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम् (अमर) । अन्यत्र अस्थिमान् (हड्डी वाला) । अष्ठीवान् ऋषि-विशेष का नाम भी है । **चक्रीवान्नाम** राजा । चक्रीवान् गर्दभ को भी कहते हैं । चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः—अमर । अन्यत्र चक्रवान् शकटः, पहियों वाला छकड़ा । **कक्षीवान्** नाम ऋषिः । जिसके अपत्य को 'काक्षीवत' कहते हैं। **कक्ष्यावान्** बलीवर्दः, बैल जो कक्ष्या (छाती के नीचे चर्म का पट्टा) वाला है । **रुमण्वान्नाम पर्वतः** । उदयन के सेनापति का भी नाम । अन्यत्र लवणवान् आकरः, नमक की खान । **चर्मण्वती** नाम नदी । अन्यत्र चर्मवती । चर्मवती चर्मकारस्य शाला ।

'उदन्वत्' यह समुद्र अर्थ में निपातन किया है[5]—**उदन्वान्=समुद्रः ।** **उपर्येव ज्ञानोदन्वतः प्लवसे,** तुम ज्ञानरूपी समुद्र के ऊपर ही तैर रहे हो । अन्यत्र उदकवान् घटः=जल-पूर्ण घड़ा ।

---

१. कंशंभ्यां ब-भ-युस्-ति-तु-त-यसः (५।२।१२८) ।
२. तुन्दि-वलि-वटेर्भः (५।२।१३९) ।
३. अहं-शुभमोर्युस् (५।२।१४०) ।
४. आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्-कक्षीवद्-रुमण्वच्-चर्मण्वती (८।२।१२) ।
५. उदन्वान् उदधौ (८।२।१३) ।

'राजन्वत्'—यह 'अच्छे राज वाला' इस अर्थ में निपातन किया है।[1] राजन्वान् देशः=सुराजा (बहुव्रीहि)। राजन्वती भूः=सुराज्ञी। **राजन्वती-माहुरनेन भूमिम्** (रघु० ६।२२)। **न चेदर्थयमानानां वचनं तु करिष्यसि। ध्रुवं द्रक्ष्यसि संक्रान्ता देशाद्राजन्वतः प्रजाः** (बृ० श्लो० सं० २।६)।

यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय समाप्त हुए।

प्रयोगमाला

१. नैशिकोऽयं ब्रह्मचारी वर्चोभूयस्तया प्रजागरकृशोऽपि न तथा लक्ष्यते।

रात भर पढ़ने वाला यह ब्रह्मचारी वर्चस्वी होने से जागने से कृश नहीं दीखता।

२. पङ्किलः पन्था इति यतामायतां च पौनः पुनिकानि भवन्ति स्खलनानि।

रास्ता कीचड़वाला है, इसलिये आने जाने वाले बार-बार गिरते पड़ते हैं।

३. सायम्प्रातिको विहारः परमं भेषजं भेषजानाम्।

प्रातः सायं सैर दवाइयों की दवा है।

४. अयं वातकी, अयं चातिसारकी। एकः स्थूलः, अपरश्च कृशः।

इसे वात का प्रकोप है, इसे दस्त आ रहे हैं। अतः एक मोटा है, दूसरा दुबला।

५. धनिकस्यापि देवदत्तस्य धनकः। अहो गर्धः।

देवदत्त धनी है, तो भी इसे धन की इच्छा है। कितना लालच है।

६. पथिक एष पथको न भवति।

यह यात्री मार्ग कुशल नहीं है।

७. हरिद्वारे कुम्भमहोत्सवे महन्मानुष्यकमालोक्य एकाभिसन्धयः संहता हिन्दव इति भ्रमन्त्यागन्तवः।

हरिद्वार में कुम्भमहोत्सव पर महान् जनसमूह को देखकर हिन्दू एकमत तथा संघटित हैं ऐसी बाहिर से आने वालों को भ्रान्ति होती है।

८. इदं धैनुकम्। इदं चाधेनवम्। उभयस्य कृते साधारणीयं गवादनी।

यह दूध देने वाली गौओं का समूह है, और यह उनका जो दूध नहीं दे रहीं। दोनों के लिए यह साँझी चरागाह है।

---

१. राजन्वान् सौराज्ये (८।२।१४)।

९. याहीति जन्यामवदत् कुमारी (रघु०)।
कुमारी ने माता की सखी को कहा—चलिये।

१०. इदं चक्षुष्यमञ्जनं कुतः कियताऽर्घेणापि ?
यह आँखों को लाभप्रद सुरमा तूने कहाँ से कितने मूल्य से लिया ?

११. इम ऋषभा इमे च ऋषभतराः।
ये छकड़ा खींचने वाले बैल हैं और ये खींचने में मन्द शक्ति वाले हैं।

१२. द्रव्यमियं कन्यका कस्य धन्यस्य दुहिता ?
यह होनहार लड़की किसकी पुत्री है ?

१३. अयं कर्कः। अयं च कार्कीकः।
यह सफेद घोड़ा है, यह उस जैसा है।

१४. पश्य, अयं लोहितकः कोपेन। एनं मोपक्रमीः।
देखो, यह क्रोध से लाल हो रहा है। इसके पास मत जाओ।

१५. सस्थक एष मणिर्बृहत्को लक्ष्यते।
यह बहुगुणयुक्त रत्न प्रभा से बड़ा मालूम हो रहा है।

१६. बह्वजानन्नपि देवदत्तो बहु जल्पतकि।
देवदत्त बहुत न जानता हुआ भी बहुत बोलता है।

१७. इहैव विरमतु सखी, परस्तादवगम्यत एव।
मेरी सखी आप यहीं ठहर जायें। अगला वृत्तान्त समझ में आ रहा है।

१८. अयमाम्नाती वेदे इति महानस्य समादरो लोके।
इसने वेदाभ्यास किया है इस कारण इसका लोक में बहुत आदर है।

१९. इमेऽत्र पूर्विणः, सम्प्रति पर्यायो नो भोजनस्य।
ये पहले भोजन कर चुके हैं। अब हमारे भोजन की बारी है।

२०. उत्कमुत्कूजन्ति कोकिलाः।
कोयलें उत्सुकता से कूजती हैं।

२१. शीतकोऽयञ्जनः कदा नु गन्ता कर्मणोऽन्तम् ?
यह सुस्त मनुष्य कब कर्म को समाप्त करेगा।

२२. कर्मण्यं शरीरमिति प्रायः प्रस्मरन्ति वयःस्थाः।
व्यायाम से शरीर की शोभा होती है इसे युवक प्रायः भूल जाते हैं।

२३. षण्मास्यः षाण्मास्यः षाण्मासिको वाऽयं शिशुः। शब्दभेदः, नार्थभेदः।

यह बच्चा छः महीने का है इसे तीन शब्दों—षण्मास्य, षाण्मास्य षाण्मासिक से कह सकते हैं।

२४. देवदत्तो मे प्रातिवेश्यो न भवति यद्याप्यारातीयः।

देवदत्त मेरा अनन्तर गृहवासी नहीं, यद्यपि पड़ोसी है।

२५. पुरा स्त्रैणान्यभूवन्युद्धानीति काप्यनुदात्तता मनुष्यशीलस्य।

पहले स्त्री के लिए युद्ध हुए—यह मनुष्य स्वभाव की बहुत बड़ी नीचता है।

२६. आमुष्यायणः स्वस्य कुलस्य मर्यादां रक्षतीति प्रियं नः।

उसके पौत्रादि अपने कुल की मर्यादा की रक्षा कर रहे हैं, इससे हमें खुशी है।

२७. इमे कौरवाः। इमे कौरव्याः। इमे कुरवः। इमे च कौरवकाः। को विशेषः।

ये कौरव हैं, ये कौरव्य हैं, ये 'कुरवः' हैं, ये कौरवक हैं। अर्थ में क्या भेद है?

२८. काषायौ गर्दभस्य कर्णौ, हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ (काशिका)

गधे के कान मानो गेरू से रंगे हुए हैं, कुक्कुड़ के चरण मानो हल्दी से रंगे हुए हैं।

२९. सूतस् तन्त्रकः पटः क्रेयः, क्रय्यस्तु नास्ति। यश्च क्रय्यः स दुरुतः।

(हमें) अच्छी बुनतका नया वस्त्र खरीदना है, पर क्रय के लिए प्रसारित नहीं। जो प्रसारित है वह अच्छा बुना नहीं।

३०. अयं प्रथमवैयाकरणः, कार्यमस्य साचिव्यमस्माभिः।

इसने अभी-अभी व्याकरण पढ़ना शुरू किया है हमें इसकी सहायता करनी चाहिए।

३१. अयं न केवलं पौराणिक ऐतिहासिकोपि।

यह न केवल पुराण जानता है, इतिहास को भी जानता है।

३२. अयं मीमांसको भवत्ययं च मीमांसनः। को विशेषः?

यह मीमांसक है और यह मीमांसन[1] (=विचारशील)। क्या भेद है?

---

१. यहाँ अनुदात्तेतश्च हलादेः (३।२।१४९) से ताच्छील्य अर्थ में कृत प्रत्यय युच् हुआ है। मीमांसकः में मीमांसामधीते वेद वा इस अर्थ में वुन् (अक) प्रत्यय हुआ है।

३३. नाव्या गभीरा इमा आपो न सुप्रतराः ।

यह गहरा जल नौ से पार किया जा सकता है, तैर कर नहीं ।

३४. पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात् (आयुर्वेद) ।

पथ्य भोजन करने वाला व्यायाम करने वाला स्त्रियों के विषय में जितेन्द्रिय पुरुष रोगी नहीं होता ।

३५. प्रातिजनीनो विश्वमित्रः कस्य न नमस्यः ।

प्रत्येक का हित करने वाला विश्वमित्र किस से वन्दनीय नहीं ।

३६. एदंयुगीनाः केचनाचाराः परम्परीणा नेत्येव न प्रत्याख्यानमर्हन्ति ।

इस युग के योग्य कई एक आचार परम्परा प्राप्त नहीं हैं इतने से ही उनका प्रत्याख्यान युक्त नहीं ।

३७. कालिकमेतयोर्वैरं नाद्यापि शमं याति ।

इन दोनों का पुराना वैर अब भी शान्त नहीं होता ।

३८. निसर्गशालीनः स्त्रीजनः (मालविका) ।

स्त्रियाँ स्वभाव से लज्जाशील (अधृष्ट) होती हैं ।

३९. पार्श्वेनानृजुनोपायेन येऽर्थान् अन्विच्छन्ति ते पार्श्वका इत्युच्यन्ते ।

जो कुटिल उपाय से अपने इष्ट पदार्थों को प्राप्त करना चाहते हैं वे 'पार्श्वक' कहलाते हैं ।

४०. वासन्त्योऽतिमुक्तलताः, ग्रैष्म्यश्च पाटलाः ।

अतिमुक्त वसन्त में खिलती है और पाटल (=गुलाब) ग्रीष्म ऋतु में ।

४१. यन्मर्कटा अर्कमुपतिष्ठन्ति तदेषां कापेयं केवलम् ।

बन्दर जो सूर्योपस्थान करते हैं वह इनका केवल बन्दरपना है ।

४२. यदीदानीं वर्षति, सामयिकीयं वृष्टि र्बहूपकरिष्यति कृषेः ।

यदि अब वृष्टि हो जाए तो समय पर होने वाली यह वृष्टि खेती के लिए बहुत अच्छी होगी ।

४३. अयं केशकः, अयं च केशिकः । को विशेषः ।

केशक और केशिक में क्या भेद है ?

४४. अयं नागरः, अयं नागरकः, अयं च नागरेयकः । को विशेषः ।

नागर, नागरक, नागरेयक—इनमे क्या भेद है ?

४५. शौवस्तिकं प्रस्थानमुद्दिश्य ससंरम्भं सम्भाराः क्रियन्ताम् ।

कल होने वाले प्रस्थान के लिए पूरे जोश से तैयारी की जाए ।

४६. देवदत्तो वावदूकस्य इति वावदूकः । सोऽयमस्य पित्र्यो गुणः ।

देवदत्त वावदूक का पुत्र है अतः (स्वयम् भी) बहुत बोलता है । यह गुण उसमें उसके पिता से आया है ।

स्वार्थिक तद्धित

प्राग्दिशीय अव्यय तद्धित

दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः (५।३।२७) इस सूत्र से पूर्व जो प्रत्यय विधान किए गए हैं वे प्राग्दिशीय कहलाते हैं । इनकी विभक्ति संज्ञा की गई है ।[1] ये प्रत्यय किम्, द्वि आदि वर्जित सर्वनाम तथा संख्याशब्द बहु से होते हैं ।[2] सर्वादिगण में किम् शब्द के द्वयादि के अन्तर्गत होने से पर्युदास हो जाता, अतः इसे पृथक् पढ़ दिया है । तसिल् आदि ये नौ प्रत्यय हैं । ये प्रत्यय स्वार्थिक हैं । कारण कि इनका अर्थ-निर्देश नहीं किया और जो अनिर्दिष्टार्थ प्रत्यय होते हैं वे स्वार्थ में होते हैं । महाविभाषा से ये विकल्प से होते हैं । पञ्चम अध्याय तृतीयपाद के प्रारम्भ से पञ्चम अध्याय चतुर्थ पाद की परिसमाप्ति तक विहित तद्धित प्रत्यय सभी स्वार्थिक हैं ।

तसिल्—पञ्चम्यन्त किम्, सर्वनाम, बहु से तसिल् (तस्) प्रत्यय होता है[3]—कुतः(कहाँ से) । किम् ङस्—तस् इस तद्धितान्त शब्दरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होने से सुपो धातु० (२।४।७१) से अन्तर्वर्तिनी विभक्ति (ङस्) का लुक् होने पर विभक्तिसंज्ञक तस् परे रहते किमः कः (७।२।१०३) से किम् को 'क' आदेश प्राप्त था, पर कु तिहोः (७।२।१०४) से 'कु' आदेश हुआ । और 'कुतः' यह रूप निष्पन्न हुआ । पक्ष में 'कस्मात्' भी रहेगा । यद्—यतः । यहाँ तस् की विभक्तिसंज्ञा होने से त्यदादीनामः (७।२।१०२) से द् को 'अ' हुआ । यतः=यस्मात् । तद्—ततः । ततः =तस्मात् । एतद्—तस् = अतः । एतद् के स्थान में अन् आदेश होता है प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर ।[4] अन् के न् का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से लोप हो

---

१. प्राग्दिशो विभक्तिः (५।३।१) ।
२. किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः (५।३।२) ।
३. पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७) ।
४. एतदोऽन् (५।३।५) ।

जाता है। इदम्—तस्—इतः। इदम् के स्थान में इश् (इ) सर्वादेश होता है प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर।[1] इतः=अस्मात्। अदस्—अमुतः। विभक्ति संज्ञक प्रत्यय तस् परे होने पर अकार अन्तादेश हो जाने से 'अद' के द् को म् और 'अ' को 'उ'। अदसोऽसेर्दादु दो मः (८।२।८०)। बहु—बहुतः=बहोः।

प्रति के योग में पञ्चम्यन्त से जो तसि विधान किया है और जो अपादान अर्थ में, वह यदि किम्, सर्वनाम, तथा बहु से हो तो उसे भी तसिल् आदेश होता है[2]। यह आदेश केवल स्वरार्थ है। तसिल् लित् है, अतः प्रत्यय से पूर्व अच् उदात्त होगा।

परि, अभि—**परितः। अभितः**[3]। वार्तिककार के अनुसार इनसे तसिल् तभी होता है जब इनका अर्थ क्रम से सर्व और उभय (दोनों) हो[4]—परितः=सर्वतः। अभितः=उभयतः। इस अर्थ-नियमन से बहुत से शिष्ट प्रयोगों के साथ विरोध पड़ता है। **ततो राजाऽब्रवीद् वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम्** (रा० १।११।४)। **पम्पा नामाभितो वापी** (रा० ३।७५।५७)। **तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रसूतिकालमभितो भवन्ति** (चरक शरीर० ८।३६)। **श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ** (भा० विराट० ३८।५)। यहाँ सर्वत्र अभितः समीप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

त्रल्—सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम, बहु से[5]—**कुत्र** (=कस्मिन्)। 'कु तिहोः' से किम् को 'कु'। **यत्र। तत्र। अत्र**। (=एतस्मिन्)। एतद् को अन्। अन्य—**अन्यत्र। बहुत्र** (=बहुषु)। अदस्—त्र=**अमुत्र** (=अमुष्मिन्)।

ह—सप्तम्यन्त इदम् से ह[6]। इदम् को इश् (इ) इह=अस्मिन्।

अत्—सप्तम्यन्त किम् से विकल्प से अत् होता है।[7] अत् (अ) परे होने पर किम् को 'क्व' आदेश होता है[8]। क्व अ=क्व। 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ।

---

१. इदम इश् (५।३।३)।
२. तसेश्च (५।३।८)।
३. पर्यभिभ्यां च (५।३।९)।
४. सर्वोभयार्थाभ्यामेव (वा०)।
५. सप्तम्यास्त्रल् (५।३।१०)।
६. इदमो हः (५।३।११)।
७. किमोऽत् (५।३।१२)।
८. क्वाति (७।२।१०५)।

दा—सप्तम्यन्त सर्व, एक, अन्य, किम्, यद्, तद् से कालवाची होने पर[1]—**सर्वदा** (सर्वस्मिन् काले)। दा परे होने पर 'सर्व' को विकल्प से 'स' आदेश होता है[2]—**सदा**। **एकदा** (एकस्मिन् काले)। **अन्यदा** (अन्यस्मिन् काले)। **कदा** (कस्मिन् काले)। **यदा** (यस्मिन् काले)। **तदा** (तस्मिन् काले)। 'दा' त्रल् का अपवाद है। देश वाच्य होने पर त्रल् ही होगा—**सर्वत्र** (सर्वस्मिन् देशे) इत्यादि।

र्हिल्—सप्तम्यन्त इदम् से कालवाची होने पर[3]—**एतर्हि** (अस्मिन् काले)। यहाँ रकारादि प्रत्यय परे होने पर 'इदम्' को 'एत' आदेश होता है। कालवाची इदम् से '**अधुना**' शब्द भी निपातन किया है।[4]

दानीम्—सप्तम्यन्त इदम् से[5]—**इदानीम्**। विभक्तिसंज्ञक प्राग्दिशीय दानीम् परे होने पर इदम् को इश् (इ)।

र्हिल्—सप्तम्यन्त अनद्यतन कालवाची किम्, सर्वनाम से विकल्प से र्हिल् होता है पक्ष में दा[6]—**कर्हि**। **कदा**। **यर्हि**। **यदा**। **तदा**। **कर्हि गन्तासि**। **कदा गन्तासि**। रेफादि थकारादि प्रत्यय परे होने पर एतद् को भी क्रम से एत, इत् आदेश होते हैं[7]—**एतर्हि** (एतस्मिन्काले)।

थाल्—प्रकारार्थक यद्, तद्, सर्व से[8]—**येन प्रकारेण=यथा**। **तथा**। **सर्वथा**।

थमु—प्रकारार्थक इदम्, तथा किम् से[9]—**अनेन प्रकारेण इत्थम्**। थकारादि प्रत्यय परे होने पर इदम् को इत् आदेश होता है। **केन**

---

१. सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा (५।३।१५)।
२. सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (५।३।६)।
३. इदमो र्हिल् (५।३।१६)।
४. अधुना (५।३।१७)।
५. दानीं च (५।३।१८)।
६. अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् (५।३।२१)।
७. एतदोऽश् (५।३।५)। यहाँ एतदः। अश्। ऐसा योगविभाग करके पूर्वसूत्र 'रथोः' की अनुवृत्ति लाकर 'एतद एतेतौ रथोः' ऐसा सूत्र बनाया जाता है।
८. प्रकारवचने थाल् (५।३।२३)।
९. इदमस्थमुः (५।३।२४)। किमश्च (५।३।२५)।

प्रकारेण कथम्। प्राग्दिशीय विभक्ति संज्ञक थमु प्रत्यय परे होने पर किम् को 'क'।

तसिल्-त्रल्—पञ्चम्यन्त तथा सप्तम्यन्त से अन्यत्र भी तसिल् त्रल् देखे जाते हैं[1]। ये भवत्, दीर्घायुस्, आयुष्मत्, देवानां प्रियः आदि के योग में ही होते हैं—**ततो भवान्। ततो दीर्घायुः। तत आयुष्मान्। ततो देवानां प्रियः**—यहाँ प्रथमान्त से तसिल् हुआ है। ततो भवान्=स भवान्। ऐसे ही द्वितीयान्तादि से भी होता है—**ततो भवन्तम्** (=तं भवन्तम्)। ततो भवता। ततो भवते। ततो भवतः। (=तस्माद् भवतः)। **ततो भवतः** (=तस्य भवतः)। **ततो भवति। तत्र भवान्** (स भवान्)। **तत्र भवन्तम्** (=तं भवन्तम्)। **तत्र भवता। तत्र भवते। तत्र भवतः।** (=तस्माद् भवतः)। तत्र भवतः (=तस्य भवतः)। **तत्र भवति।** ऐसे ही दीर्घायुस् आदि के योग में उदाहरण होंगे। **अत्र भवान्** ऐसा प्रयोग भी एष भवान् के स्थान में नाटकादि में देखा जाता है।

वृत्तिकार के अनुसार पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न विभक्ति से तसिल्, त्रल् तभी होते हैं जब भवत् आदि (जो यहाँ परिगणित हैं) के साथ योग हो। पर जहाँ इनके साथ योग नहीं है वहाँ भी देखे जाते हैं—**अन्यत्रापि शूद्राद् बहुपशोर्हीनकर्मणः** (गौ० ध० २।६।२५)। यहाँ त्रल् पञ्चम्यन्त से हुआ है। अन्यत्र=अन्यस्मात्। **प्रायः पित्तलमम्लमन्यत्र दाडिमामलकात्** (चरक सूत्र० २७।४)। यहाँ त्रल् प्रथमान्त से हुआ है। अन्यत्र=अन्यत्।

सद्यस्, परुत्, परारि, ऐषमस्, परेद्यवि, अद्य, पूर्वेद्युस्, अन्येद्युस्, अन्यतरेद्युस्, अपरेद्युस्, अधरेद्युस्, उभयेद्युस्, उत्तरेद्युः—ये निपातन किए हैं[2]। **समानेऽहनि सद्यः,** एक ही दिन में, युगवत्। **पूर्वस्मिन् संवत्सरे परुत्** (गत वर्ष में)। **पूर्वतरे संवत्सरे परारि,** गत वर्ष से पहले वर्ष में। **ऐषमस्—अस्मिन्संवत्सरे ऐषमः,** इस वर्ष। **परस्मिन्नहनि परेद्यवि। अस्मिन्नहनि अद्य। पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्युः। अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः,** दूसरे दिन। **अन्यतरस्मिन्नहनि अन्यतरेद्युः,** दो में से किसी एक दिन। **अधरस्मिन्नहनि अधरेद्युः,** परसों। **उभयोरह्नोर् उभयेद्युः,** दोनों दिन। **उत्तरस्मिन्नहनि उत्तरेद्युः,** अगले दिन।

---

१. इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते (५।३।१४)।

२. सद्यः-परुत्-परार्यैषमः-परेद्यव्यद्य-पूर्वेद्युर् अन्येद्युर्-अन्तरेद्युर् इतरेद्युर्-अपरेद्युर् अधरेद्युर् उभयेद्युर् उत्तरेद्युः (५।३।२२)।

प्राग्दिशीय प्रत्ययान्त सभी अव्यय हैं। इनके अव्ययत्व का विधायक शास्त्र है तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३८)। जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रातिपदिक से सारी विभक्ति (तीनों वचन) नहीं उत्पन्न होती वह अव्यय है। पञ्चम्यन्तादि से विहित तसिल् आदि स्वार्थ में विहित किये गये हैं। पञ्चमी विभक्ति का जो अर्थ है वही उनका अर्थ है। तद्धितान्त होने से वह शब्दरूप प्रातिपदिक बन जाता है। ऐसे प्रातिपदिक के अर्थ को कहने के लिए प्रथमा विभक्ति का एकवचन ही आ सकता है और वह भी औत्सर्गिक (संख्या को न कहता हुआ)। पद बनाए बिना प्रयोग नहीं हो सकता, यद्यपि अव्यय संज्ञा होने से सुप् का लुक् हो जाता है।

प्राग्दिशीय-व्यतिरिक्त स्वार्थिक अव्यय तद्धित

अस्ताति—दिशाअर्थ में रूढ दिशा, देश, काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त तथा प्रथमान्त पूर्व आदि से स्वार्थ में अस्ताति (अस्तात्) प्रत्यय होता है। पूर्व, अधर, अवर—इनको अस्ताति प्रत्यय तथा असि (अस्) प्रत्यय परे होने पर पुर्, अध्, अव् आदेश होते हैं[1]—**पूर्वस्यां दिशि पूर्वस्मिन्देशे पूर्वस्मिन्काले वसति पुरस्ताद् वसति। पूर्वस्या दिशः, पूर्वस्माद् देशात् पूर्वस्मात् कालाद् आगतः पुरस्ताद् आगतः। उत् पुरस्तात् सूर्य एति**(ऋ० १।१९१।८)। **पूर्वस्यां रमणीयं पुरस्ताद् रमणीयम्। अस्य गेहकस्य पुरस्ताद् रमणीयानि राजसदनानि**, इस छोटे से घर के पूर्व में रमणीय राजमहल हैं। **पुरस्तादागता इमे समुदाचारा न सहसाऽवहेलनीयाः**, पूर्व काल से आए हुए(=परम्पराप्राप्त) ये आचार अवहेलना के योग्य नहीं। **पुरस्ताद् भागोऽस्याः कथाया न तथा रुच्यो यथा पर्यन्तः। अधस्ताद् भूमितलाव्यवहितेऽगारेऽयं वसति। अधस्तादस्य निकाय्यस्यागतो नोपरिष्टात्**, इस घर के नीचे से आया है, ऊपर से नहीं। **नाभेरधस्तादमेध्यमिति ह विज्ञायते**, नाभि का निचला भाग अपवित्र होता है ऐसा माना जाता है। **स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्** (ऋ० १०। १२९।५)। यहाँ सप्तम्यन्त अवर से अस्ताति हुआ है। **आनूपोऽयं प्रदेशः, तस्मादवस्तात् कुट्टिमस्याप्युद्गच्छन्त्युदबिन्दवः**, यह जलप्राय प्रदेश है, अतः पक्के फर्श के नीचे से भी जल की बूंदें निकल आती हैं। **कामं सुभगमिदं हर्म्यम्,**

---

१. दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देश-कालेष्वस्तातिः (५।३।२७)।

अवस्तात्स्वस्य स्वल्पाकाशम्, यह ठीक है कि यह भवन सुन्दर है, पर इसका निचला हिस्सा थोड़ा खुला हैं। पर शब्द से भी दिक् शब्द होने से अस्ताति होता है—**कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्** (मालविका)। यहाँ सप्तम्यन्त पर शब्द से प्रत्यय हुआ है। **परस्तादवगम्यत एव**(शकुन्तला)। यहाँ प्रथमान्त पर शब्द से प्रत्यय हुआ है। परस्तात्=परवृत्तान्तः। **न खलु साधुसेवितोयं पन्था येनासि प्रवृत्तः। निहन्त्येष परस्तात्** (हर्ष० प्र० उ०)। यहाँ परस्तात् परलोकम् ऐसा अर्थ नहीं कर सकते। द्वितीयान्त से अस्ताति होता ही नहीं। अतः सप्तम्यन्त से ही मानकर परस्तात् परस्मिल्लोके निहन्ति पातयति ऐसा अर्थ करना होगा।

अतसुच्—दक्षिण, उत्तर शब्दों से अस्ताति के अर्थ में अतसुच् (अतस्) होता है, अस्ताति नहीं[1]—**दक्षिणतो वसति** (दक्षिणस्यां वसति)। 'दक्षिणा' के भसंज्ञा होने से 'आ' का लोप। **दक्षिणत आगतः** (दक्षिणस्या आगतः)। दक्षिणतो रमणीयम्। इसी प्रकार उत्तरतो वसति इत्यादि। **सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः।**

पर, अवर से विकल्प से अस्ताति अर्थ में[2]—**परतो रमणीयम्**=परं रमणीयम्। परतो वसति=परस्यां दिशि वसति। **परत आगतः**=परस्या दिशः। **अवरतः**। पक्ष में अस्ताति होने पर परस्तात् अवस्तात् रूप होंगे।

प्रत्यय-लुक्—क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् जो दिक् शब्द से अस्ताति प्रत्यय का लुक् हो जाता है[3]—**प्राग् वसति**=प्राच्यां दिशि वसति। प्राची से तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर स्त्रीप्रत्यय ङीप् का भी लुक् हो जाता है। **प्राग्रमणीयम्**। प्राचीदिक् प्राङ् देशः कालो वा रमणीयः ऐसा अर्थ है।

उपरि, उपरिष्टात्—ये अस्ताति अर्थ में निपातित किए हैं।[4]

पश्चात्—यह भी अस्ताति के अर्थ में निपातित किया है।[5] 'अपर' को 'पश्च' आदेश, तथा आति प्रत्यय।

---

१. दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् (५।३।२८)।
२. विभाषा परावराभ्याम् (५।३।२९)।
३. अञ्चेर्लुक् (५।३।३०)।
४. उपर्युपरिष्टात् (५।३।३१)।
५. पश्चात् (५।३।३२)।

अपर को तब भी 'पश्च' आदेश होता है और आति प्रत्यय होता है जब उस का पूर्वपद दिग्वाची हो [1] **दक्षिणपश्चात् । उत्तरपश्चात् ।**

जब दिग्वाची पूर्वपद हो और 'अर्ध' उत्तरपद हो तब भी अपर को पश्च-भाव होता है[2] —**दक्षिणपश्चार्द्धः । उत्तरपश्चार्द्धः ।**

पूर्वपद के बिना भी अर्द्ध उत्तरपद होने पर यही कार्य होता है [3] — **पश्चार्द्धः ।**

आति—उत्तर, अधर, दक्षिण से अस्ताति अर्थ में [4] **उत्तराद् वसति । उत्तराद् आगतः । उत्तराद् रमणीयम् ।** इसी प्रकार अधराद् वसति इत्यादि जानो ।

एनप्—उत्तर, अधर, दक्षिण—इन दिग्वाची शब्दों से विकल्प से 'एन' प्रत्यय होता है जब अवधि से अवधिमान् अदूर (समीप) हो । पक्ष में आति । पञ्चम्यन्त से यह प्रत्यय नहीं होता ।[5] **उत्तरेण वसति । उत्तराद् वसति । तन्तुवायगृहानुत्तरेण तुन्नवायगृहाः,** जुलाहों के धरों के समीप उत्तर दिशा में दर्जियों के घर हैं । **उत्तरेणेमं ग्रामं न तथा रमणीयं यथा दक्षिणेन,** इस ग्राम के समीप उत्तरवर्ती प्रदेश इतना रमणीय नहीं जितना दक्षिणवर्ती । **अधरेण । अधरात् ।**

कुछ वृत्तिकार यहाँ उत्तरादि की अनुवृत्ति नहीं करते । दिक् शब्दमात्र से एनप् मानते हैं —**पूर्वेण ग्रामम् । अपरेण ग्रामम् ।** ग्राम के निकट पश्चिम की ओर । **अग्रेणाहवनीयं ब्रह्मयजमानौ प्रपद्येते । जघनेनाहवनीयमित्येके** (बौ० ध० १।७।१५।२१–२२) ।

आच्—दक्षिण—इस अपञ्चम्यन्त दिग्वाची शब्द से अस्ताति के अर्थ में [6]—**दक्षिणा वसति** (दक्षिणस्यां वसति) । दक्षिण की ओर निकट ही रहता है । **नगराद् दक्षिणा वहति वाहिनी,** नगर के दक्षिण की ओर समीप में नदी बहती है ।

---

१. दिक्पूर्वपदस्यापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः (वा०) ।
२. अर्धोत्तरपदस्य दिक्पूर्वपदस्य पश्चभावो वक्तव्यः (वा०) ।
३. विनापि पूर्वपदेन पश्चभावो वक्तव्यः (वा०) ।
४. उत्तराधर-दक्षिणादातिः (५।३।३४) ।
५. एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः (५।३।३५) ।
६. दक्षिणादाच् (५।३।३६) ।

आहि-आच्—दक्षिण से, जब यह पञ्चम्यन्त न हो 'आहि' प्रत्यय होता है और आच् भी, जब अवधि से अवधिमान् दूर हों[1]—**काश्मीरेभ्यो दक्षिणाहि दक्षिणा वा वसंस्त्वं कथं तत्रत्यान्वृत्तान्तानशेषानञ्जसा वेत्थ**, तुम कश्मीर से दूर दक्षिण दिशा में रहते हुए वहाँ के सभी वृत्तान्तों को ठीक-ठीक कैसे जानते हो ? पूर्वसूत्र से आच् अवधि से अवधिमान् के अदूर होने पर विधान किया था, अब 'दूर' होने पर भी इसकी अभ्यनुज्ञा की है।

उत्तर से आहि, आच्—ये दोनों अस्ताति के अर्थ में अवधि से अवधिमान् के दूर होने पर आते हैं, पञ्चम्यन्त से नहीं[2]—**समुद्राद् उत्तराहि** (**उत्तरा** वा) **वसन्तो वयं नाद्यापि वेलावृद्धिं दृष्टवन्तः।**

असि—पूर्व, अधर, अवर—सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त, प्रथमान्त दिग्वाची शब्दों से असि (अस्) अस्ताति अर्थ में होता है और इन्हें क्रम से पुर्, अध्, अव् आदेश होते हैं[3]—**पुरः। अधः। अवः।**

अस्ताति—पूर्व, अधर, अवर से अस्ताति प्रत्यय भी होता है और अस्ताति परे होने पर इन्हें क्रम से पुर्, अध्, अव् आदेश होते हैं[4]—**पुरस्तात्। अधस्तात्। अवस्तात्। आदित्यः पुरस्तादुदेति पश्चादस्तमेति**, सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है और पश्चिम में अस्त होता है। पर अस्ताति परे होने पर अवर को अव् आदेश विकल्प से होता है—**अवस्ताद् वसति। अवरस्ताद् वसति।** सामान्य-विहित अस्ताति प्रत्यय का विशेष विहित असि प्रत्यय से बाध नहीं होता।

धा—प्रकार अर्थ में वर्तमान संख्यावाची शब्दों से स्वार्थ में।[5] सूत्र में विधा का अर्थ प्रकार है। क्रिया के प्रकार में वर्तमान संख्यावाची शब्द से यह प्रत्यय आता है। **एकधा भुङ्क्ते। द्विधा याति प्राञ्जलं च कुटिलं च।**

द्रव्य के विचाल (=संख्यान्तरापादन, एक का अनेक करना, अनेक का एक करना) गम्यमान होने पर संख्यावाची से स्वार्थ में[6]—**पदानि पञ्चधा**

---

१. आहि च दूरे (५।३।३७)।
२. उत्तराच्च (५।३।३८)।
३. पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५।३।३९)।
४. अस्ताति च (५।३।४०)।
५. संख्याया विधार्थे धा (५।३।४२)।
६. अधिकरण-विचाले च (५।३।४३)।

विभजन्ति वैयाकरणाः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यं विभज्यते । नवधाऽऽथर्वणो वेदः । एकं राशिं पञ्चधा कुरु, एक राशि को पाँच राशियाँ बना दो । **अनेकम् एकं कुरु एकधा कुरु ।**

ध्यमुञ्—एक शब्द से परे आए हुए 'धा' को विकल्प से ध्यमुञ् (ध्यम्) आदेश होता है[1]—**पञ्चेमांस् तण्डुलराशीनैकध्यं कुरु । एकधा कुरु । ऐकध्यं भुङ्क्ते । एकधा भुङ्क्ते ।** विधार्थ में विहित धा को भी यह आदेश होता है ।

धमुञ्—द्वि, त्रि से विहित धा को विकल्प से धमुञ् (धम्) आदेश होता है ।[2] यह आदेश ऊपर कहे दोनों अर्थों में होता है—**द्विधा । द्वैधम् । त्रिधा । त्रैधम् ।** प्रत्यय के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई ।

ड—धमुञन्त से स्वार्थ में 'ड' देखा जाता है[3]—**पथि द्वैधानि संश्रयन्ते,** दो विभागों में विभक्त हो जाते हैं । **पथि त्रैधानि संश्रयन्ते ।** भेद, विरोध अर्थ में भी द्वैध का प्रयोग होता है—**श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ** (मनु० २।१४।९) । **अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः** (भा० विराट० ४७।७) । द्विप्रकारता में, अर्थात् कोटिद्वय के बराबर उपस्थित होने पर । **द्वैधीभावः स्वबलस्य द्विधा करणम्**—यह याज्ञ० (१।३४७) पर मिताक्षरा का वचन है । यहाँ द्विधाऽर्थक द्वैध से च्वि हुआ है । डित् (ड) परे होने पर अ-भसंज्ञक के भी 'टि' का लोप हो जाता है । डप्रत्ययान्त अव्यय नहीं होता ।

द्वि-त्रि-सम्बन्धी धा प्रत्यय को विकल्प से एधाच् (एधा) आदेश होता है[4]—**द्वेधा । द्वैधम् । द्विधा । त्रेधा । त्रैधम् । त्रिधा ।**

आम्—किम्, एकारान्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्यय से परे विहित जो घ प्रत्यय (=तरप्, तमप्) तदन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में आम् प्रत्यय होता है, यदि द्रव्य का प्रकर्ष गम्यमान न हो अर्थात् जब गुण, क्रिया के प्रकर्ष की प्रतीति हो[5]—**किन्तराम् । किन्तमाम् । अयं किं जानाति । अयं किन्तराम्, अयं च किन्तमाम् । पूर्वाह्णेतराम् । पूर्वाह्णेतमाम् । एष पूर्वाह्णे स्नाति, एष पूर्वाह्णेतराम्, एष च पूर्वाह्णेतमाम्,** यह पूर्वाह्ण में स्नान करता है, यह पूर्वाह्ण

---

१. एकाद्धो ध्यमुञ् अन्यतरस्याम् (५।३।४४) ।
२. द्वित्र्योश्च धमुञ् (५।३।४५) ।
३. धमुञन्तात्स्वार्थे ड-दर्शनम् (वा०) ।
४. एधाच्च (५।३।४६) ।
५. किमेत्तिङ-अव्यय-घादाम्वद्रव्य प्रकर्षे (५।४।११) ।

में स्नान करता है। यह पूर्वाह्ण में बहुत जल्दी स्नान करता है। **पचति। पचतितराम्,** अच्छा पकाता है। **पचतितमाम्** बहुत अच्छा पकाता है। **अयं प्रातर्जागर्ति। अयं प्रातस्तराम्। अयं च प्रातस्तमाम्।** यह सवेरे जागता है। यह बहुत सवेरे जागता है। यह बहुत ही सवेरे जागता है। **अयमुच्चैरा-क्रोशति। अयमुच्चैस्तरामाक्रोशति। अयं चोच्चैस्तमाम्।** यह ऊँचे चिल्लाता है। यह बहुत ऊँचे चिल्लाता है। यह बहुत ही ऊँचे चिल्लाता है।

कृत्वसुच्—क्रियाऽभ्यावृत्ति गणन (क्रिया की आवृत्ति की गिनती) में वर्तमान संख्यावाची शब्दों से स्वार्थ में कृत्वसुच् (कृत्वस्)[1]—**देवदत्तो दिनस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते तथापि न तृप्यति। अहो अस्यौदरिकत्वम्,** देवदत्त दिन में पाँच बार खाता है, तो भी तृप्त नहीं होता। कितना पेटू है। **पञ्चकृत्वः**= पञ्चवारान्। क्रियामात्र की गिनती में प्रत्यय नहीं होता—**पञ्च पाकाः। दश पाकाः।**

सुच् (स्)—द्वि, त्रि, चतुर् से क्रियाभ्यावृत्तिगणन में सुच् (स्) होता है[2]—**द्विर्भुङ्क्ते। त्रिःस्नाति। चतुष्पिबति।** सुच् कृत्वसुच् का अपवाद है।

एक को क्रिया-गणन अर्थ में सकृत् आदेश होता है और सुच् प्रत्यय होता है।[3] **सकृद् भुङ्क्ते।** सुच् (स्) का संयोगान्त होने से लोप हो जाता है।

धा—'बहु' से धा प्रत्यय विकल्प से आता है यदि क्रिया की आवृत्तियों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर हो[4]—**बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते,** दिन में बहुत बार थोड़ा-थोड़ा समय छोड़कर खाता है। पक्ष में यथाप्राप्त कृत्वसुच् होता है—**बहुकृत्वो दिवसस्य भुङ्क्ते।** बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते, यहाँ भोजन क्रिया की आवृत्तियों के विप्रकृष्ट होने से धा नहीं हुआ।

शस्—कर्मादिकारकाभिधायी बहु, अल्प तथा इनके पर्यायों से स्वार्थ में विकल्प से[5]—बहूनि ददाति। **बहुशो ददाति।** अल्पं ददाति। **अल्पशो ददाति।** बहुभ्यो **बहुभिर्ददाति। बहुशो ददाति।** अल्पेन ददाति। **अल्पशो ददाति।**

---

१. संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (५।४।१७)।
२. द्वि-त्रि-चतुर्भ्यः सुच् (५।४।१८)।
३. एकस्य सकृच्च (५।४।१९)।
४. विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले (५।४।२०)।
५. बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् (५।४।४२)।

ददाति। **बहुशो ददाति।** अल्पाय ददाति। **अल्पशो ददाति।** एवं अवशिष्ट कारकों के अभिधायक बहु० अल्प आदि से भी शस् होता है। बहूनां स्वामी। यहाँ कारक न होने से शस् नहीं होता। पर्यायों से भी शस् होता है—**भूरिशो ददाति। स्तोकशो ददाति।** बहु, अल्पादि से यह शस् मङ्गल अमङ्गल विषय में ही होता है। **बहुशो ददातीत्याभ्युदयिकेषु कर्मसु। अल्पशो ददातीत्यनिष्टेषु।**

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः (२।१।३८) में शस् की प्राप्ति नहीं थी। समसन क्रिया के प्रति कर्म होने पर भी अमङ्गल विषय न होने से 'अल्प' से 'शस्' प्रत्यय प्राप्त नहीं था। सो यह यहाँ सूत्र में निपातित किया है।

शस्—संख्यावाची प्रातिपदिकों से तथा कार्षापण आदि परिमाणविशेषवाची शब्दों से (जो तद्धितवृत्ति में एकत्व को कहते हैं) वीप्सा द्योत्य होने पर विकल्प से शस् आता है[1]—**द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विशो ददाति। त्रिशो ददाति। कार्षापणं ददाति, कार्षापणशः,** एक-एक कार्षापण देता है। **माषशो ददाति,** एक-एक मासा देता है। घटं घटं ददाति—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि वीप्सा होने पर भी घट न तो संख्यावाची है और न एकार्थक परिमाणवाची। द्वयोर्द्वयोः स्वामी। यहाँ कारक न होने से शस् नहीं होता।

तसि—प्रति (कर्मप्रवचनीय) के योग में जो पञ्चमी तदन्त से स्वार्थ में विकल्प से[2]—**प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति। प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति।** प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है। **अभिमन्युरर्जुनतः प्रति। अभिमन्युरर्जुनात् प्रति।**

तसिप्रकरण में 'आदि' आदि शब्दों से भी तसि होता है ऐसा वार्तिककार उपसंख्यान करते हैं[3]। यह तसि सार्वविभक्तिक है, सभी विभक्तियों के अर्थ में आता है। **आदौ। आदितः। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्** (१।२।३२)। यहाँ सूत्र में आदितः में सप्तम्यर्थ में तसि हुआ है। ऐसे ही **स्त्रीपुंयोगेऽभिवादतोऽनियमम्** (गौ० ध० १।६।६)। में अभिवादतः=अभिवादे। **न च नो हृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित्** (भा० सभा० १५।२१)। पुरुषतः=पुरुषेषु। सप्तम्यर्थ में तसि। **उपायतो महाञ्शूरो महामायाविशारदः** (रा०

---

१. संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् (५।४।४३)।

२. प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः (५।४।४४)।

३. तसिप्रकरण आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।

३।३६।१६) । यहाँ भी उपायतः=उपायेषु । सप्तम्यर्थ में तसि । **यत् प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्** (मालती १) । अर्थतः=अर्थे । सप्तम्यन्त में तसि । **वृत्तमिदमादित आन्तं श्रोतुमिच्छामि** । यहाँ आदितः (=आङ् आदितः) में पञ्चम्यर्थ में तसि हुआ है । **मध्यतः । पार्श्वतः । यस्य येनास्ति सम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः । अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥** (मी० श्लो० वा०) । अर्थतः=अर्थे । **यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्** (भाष्य) । यहाँ प्रत्ययतः में पञ्चमी अर्थ में तसि हुआ है । **यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि** (शाकुन्तल) । नामतः=नाम्ना । तृतीयार्थ में तसि । **क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोर्थः प्रदर्शितः । प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः ॥** प्रयोगतः=प्रयोगैः । तृतीयार्थ में तसि । **वित्तेन क्षीणो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः** (   ) । यहाँ भी तृतीयार्थ में तसि हुआ है । **अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्** (२।४।५) । इस पाणिनि सूत्र में अध्ययनतः यहाँ निमित्त-तृतीयान्त से तसि हुआ है । **विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः । वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः** (मनु० २।१५५) ॥ ऐसे ही यहाँ । **शिक्षितोस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ** (भा० विराट० ४५।१८) । तीर्थतः=तीर्थेन=गुरुणा । कर्तृ-तृतीयान्त से तसि हुआ है । **रात्रौ वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्** (मनु० ४।७३) । यहाँ 'दूर' से द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी विभक्तियों में से किसी एक विभक्ति के स्थान में 'तसि' समझा जा सकता है । **वृक्षास्तूभयतः स्मृताः** (मनु० १।४७) । उभयतः=उभयरूपाः । प्रथमान्त से तसि । **कुलधर्मो दक्षिणतश्चूडा वासिष्ठानाम्** (   ) । दक्षिणतः=दक्षिणस्मिन्भागे । सप्तम्यन्त से तसि । **स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि**—यहाँ प्रकृतितः=प्रकृतेः । षष्ठयन्त से तसि हुआ । अर्थ है—स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के लिङ्ग व वचन को छोड़ भी देते हैं । इसी प्रकार **गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति**—यहाँ 'आश्रयतः' में षष्ठयर्थ में 'तसि' हुआ है । **तद्दणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः** (मनु० ८।१०७) । सर्वतः=सर्वस्य (ऋणस्य) ।

अपादान में जो पञ्चमी उससे तसि, जब उस का हा (त्यागना) और रुह् (उगना) के साथ सम्बन्ध न हो[1]—**ग्रामाद् आगच्छति । ग्रामत**

---

१. अपादाने चाहीय-रुहोः (५।४।४५) ।

आगच्छति । दुर्जनाद् बिभेति सुजनः । दुर्जनतो बिभेति सुजनः । अध्ययनात् पराजयते (पढ़ने से उकता जाता है) । **अध्ययनतः पराजयते । गोमयाद् वृश्चिको जायते । गोमयतो वृश्चिको जायते । अटव्या अटवीमटति । अटवीतोऽटवीमटति ।** एक जंगल से दूसरे जंगल को घूम जाता है । पर सार्थाद् हीयते, काफिले से जुदा हो जाता है । यहाँ 'हा' के साथ सम्बन्ध होने से पञ्चमी 'से' तसि नहीं हुआ । पर्वताद् अवरोहति—यहाँ रुह् के साथ सम्बन्ध होने से तसि नहीं हुआ ।

अतिग्रह-अव्यथन-क्षेप-विषयक जो तृतीया तदन्त से विकल्प से तसि होता है, जब वह तृतीया कर्ता में नहीं हुई है ।[1] अतिग्रह=औरों को छोड़कर किसी एक को चुनना । अव्यथन=न हिलना । न विचलित होना । क्षेप=निन्दा । **वृत्तेन (वृत्ततः) अतिगृह्यते जनोऽविज्ञोऽपि ।** न बहुत जानता हुआ भी सुवृत्त के कारण चुना जाता है । **चरित्रेण चरित्रतो ऽतिगृह्यतेऽधनोपि । कष्टमापन्नोपि वृत्तेन वृत्ततो न व्यथते सुधीरः । चरित्रेण चरित्रतः क्षिप्तः किं जीवति किंपचानः,** कंजूस चरित्र के निमित्त निन्दित हुआ बुरी तरह जीता है ।

तसि—हा धातु के साथ तथा 'पाप' के साथ जिस का योग है तद्वाची शब्द से कर्तृ-भिन्न-कारक में जो तृतीया तदन्त से विकल्प से तसि प्रत्यय होता है[2]—**वृत्तेन हीयते । वृत्ततो हीयते ।** हेतु अथवा करण में तृतीया । **वृत्तेन वृत्ततो वा पापः । मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा ।** यहाँ स्वरतः, वर्णतः में करणतृतीयान्त से तसि हुआ है ।

व्याश्रय (=नानापक्षसमाश्रय) गम्यमान होने पर षष्ठ्यन्त से विकल्प से[3]—**देवा अर्जुनतोऽभवन् ।** देवा अर्जुनस्य पक्षेऽभवन् । तसि प्रत्यय होने पर उसी से पक्ष का अर्थ अवगत होने से वाक्य में पक्ष शब्द का प्रयोग नहीं होता । **आदित्याः कर्णतोऽभवन् ।**

रोगवाची शब्द से जो षष्ठी तदन्त से विकल्प से तसि होता है अपनयन=प्रतीकार अर्थ की प्रतीति होने पर[4]—**प्रवाहिकातः कुरु,** संग्रहणी का इलाजकर । पक्षे प्रवाहिकायाः कुरु ऐसा भी कहेंगे । **विचर्चिकातः कुरु ।**

---

१. अतिग्रहाऽव्यथन-क्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः (५।४।४६) ।
२. हीयमान-पापयोगाच्च (५।४।४७) ।
३. षष्ठ्या व्याश्रये (५।४।४८) ।
४. रोगाच्चापनयने (५।४।४९) ।

पाँ का प्रतीकार कर। कृ धातु का यहाँ चिकित्सा अर्थ है। (करोतिना सर्वधात्वार्थानुवादः क्रियते' इस शीर्षक के निबन्ध को हमारी कृति **प्रस्तावतरङ्गिणी** में पढ़ें)।

च्वि—कारण का, जो अभी विकाररूप में अपरिणत है अपने विकाररूप से जन्म अभूततद्भाव होता है। केवल न होकर होने को अभूततद्भाव नहीं कहते। इसी लिये तो तद् शब्द का ग्रहण किया है। अभूतस्य तदात्मना भावः =अभूततद्भावः। कार्य कारण का अभेद विवक्षित है। अभूततद्भाव के गम्यमान होने पर सम्पद्यते (बनता है, होता है) का कर्ता जो प्रातिपदिक उससे च्वि प्रत्यय होता है, कृ,भू,अस् के साथ योग होने पर[1]। 'सम्पद्यते के कर्ता' से प्रत्यय होता है' इसका तात्पर्य यह है कि विकार वाचक प्रातिपदिक से च्वि आता है, प्रकृतिवाचक से नहीं—**अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्ली करोति। मलिनं शुक्ली करोति। शुक्ली भवति। शुक्ली स्यात्। घटी करोति मृदम्। घटी भवति मृद्। घटी स्यान्मृत्।** यहाँ सर्वत्र विकार= अवस्थान्तर को प्राप्त हो रही प्रकृति के वाचक विकार शब्द से स्वार्थ में च्वि हुआ है। 'च्वि' का सर्वापहारी लोप हो जाता है। अस्य च्वौ (७।४।३२) से प्रातिपदिकान्त 'अ' को 'ई' होता है। ऊर्यादि-च्वि-डाचश्च (१।४।६१)से 'च्वि' निपात संज्ञक है। अव्यय होने से इससे परे सुप् का लुक् हो जाता है। **अशुचिः शुचिः सम्पद्यते। तं करोति मनुष्य आत्मानं स्नानेन। शुची करोति। शुची भवति। शुची स्यात्।** यहाँ च्वौ च(७।४।२६)से 'इ' को दीर्घ। एवं **अगुरुः गुरुः सम्पद्यते। तं करोति गुरू करोति। माणवक उपनेतारं गुरू करोति।** यहाँ उ को दीर्घ। **अपिता सन्ननाथस्य पिता सम्पद्यते। तं पित्री करोत्यनाथः। पित्री भवति।** यहाँ ऋ को रीङ् आदेश होता है च्वि परे रहते। शुक्ली करोति इत्यादि में शुक्ली आदि च्व्यन्त पृथक् पद हैं, लोक में तिङन्त के साथ समास न होने से। पर शुक्लीकृतः। शुक्लीकृत्य। शुक्लीकर्तुम् इत्यादि समस्त पद हैं। अत एव 'च्वि' की गति संज्ञा की है। अतः ये गति तत्पुरुष समास हैं। 'शुक्लीकृत्य' में क्त्वा को ल्यप् आदेश हुआ है।

'सम्पद्यते' का कर्ता जो विकृति वाचक प्रातिपदिक उस से च्वि विधान किया है। इस लिये अदेवगृहे देवगृहे सम्पद्यते–यहाँ देवगृह से 'च्वि' नहीं हाता,

१. कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य–कर्तरि च्विः (५।४।५०)। अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् (वा०)।

कारण कि देवगृह 'सम्पत्ति' का अधिकरण है, कर्ता नहीं। कर्ता तो वृक्षादि (अनुक्त) पदार्थ है। आजकल सूत्रार्थ को ठीक-ठीक न जानते हुए कुछ लोग (पण्डित तथा अपण्डित) अनेकत्र स्थितो लोक एकत्र सम्पद्यते इस अर्थ में एकत्रीकृत:, एकत्रीभूत: पदों का प्रयोग करते देखे जाते हैं। व्याकरण के अध्येता को इनका विषवत् परिहार करना चाहिये। एकत्रीकृत: आदि में च्वि का प्रसङ्ग नहीं। अप्रसक्त च्वि लाकर 'अस्य च्वौ' की प्रवृत्ति करके 'अ' को 'ई' करना भी प्रामादिक है। च्व्यन्त अव्यय होता है और 'ई' अनव्यय को होता है। अत: ऐसा प्रयोग सुतमाम् हेय है।

च्वि के अन्य उदाहरण—

अगार्ग्यो गार्ग्यः सम्पद्यते। गार्गी भवति। क्यच्व्योश्च (६।४।१५२)। से च्वि परे रहते आपत्य (अपत्यार्थक) यकार का लोप होजाता है। **अस्वं स्वं सम्पद्यमानं करोति स्वी करोति,** जो अपना नहीं उसे अपना बनालेता है। **द्रव्यमप्यस्य स्वी करिष्यामि**(यो०भा० २।३३)=आत्मसात्करिष्यामि, मैं इसके धन को अपने अधिकार में ले लूंगा। **दुग्धं दधी भवति। मृद् घटी भवति। अपटः पटः सम्पद्यते। पटी भवन्ति तन्तवः। अत्वं त्वं सम्पद्यते इति त्वद्भवति। अनहम् अहं सम्पद्यत इति मद् भवति। अमहान् महान्भूतश्चन्द्रमा महद्भूतश्चन्द्रमाः। अनपत्ये संस्थिते राजनि तद्वंशजं राजीकुर्वन्ति प्रकृतयः।** राजा के निःसन्तान मरने पर प्रजाएँ उसके वंशज को राजा बनाती हैं। च्वि प्रत्यय परे रहते पूर्व की स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) से पद संज्ञा होने से 'नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य' से न् का लोप होता है। नलोप: सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति (८।२।२) इस सूत्र के नियमार्थ होने से अस्य च्वौ (७।४।३२) की दृष्टि में नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) यह शास्त्र सिद्ध ही है। अत: 'राज' के 'अ' को 'ई' हो गया। **अनुन्मुख उन्मुखः सम्पद्यते। तं करोति उन्मुखी करोति। उन्मुखी भवति। उन्मुखी स्यात्।** उन्नतं मुखमस्य= उन्मुखः। इस मूलार्थ में मेघदूत का प्रयोग है—अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किं स्विदित्युन्मुखीभिः। सज्ज (तैयार), उत्सुक आदि अर्थ भी हैं।

अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस् से पूर्वसूत्र से विहित अभूत

तद्भाव में च्वि प्रत्यय होने पर अन्त्य स् का लोप हो जाता है[1]—अरुस् (नपुं०) घाव का नाम है। **अनरुर् अरुः सम्पद्यते। तत् करोति अरूकरोति,** घाव बनाता है। 'स्' का लोप होने पर 'अरु' के 'उ' को दीर्घ। अनुन्मना उन्मनाः सम्पद्यते। तं करोति **उन्मनी करोति। प्रियेण विप्रयोगो जन-मुन्मनी करोति।** प्यारे से वियोग पुरुष को व्याकुल कर देता है। **उत्सव इति गन्तुमुन्मनी भवामः।** यहाँ उन्मनस्=उत्सुक। **अस्मद्विना मा भृशमुन्मनी भूः** (किरात ३।३९)। उन्मनस्=अशान्त, अधीर, व्याकुल। उद्गते चक्षुषी यस्य स उच्चक्षुः। **नभोमध्यगतं सूर्यं द्रष्टुमुच्चक्षू भवति। शुचा परीतः सचेता अपि विचेती भवति।** विगतं रहो विविक्तमस्या विरहाः। **अविरहा विरहाः सम्पद्यते। तां करोति विरही करोति। सैन्यचक्रं विरही करोत्यरण्यानीम्,** सेनादल जंगल को एकान्तरहित बना देता है, अर्थात् जनाकीर्ण कर देता है। विगतं रजोऽस्य विरजाः। **अपां प्रोक्षणेन विरजी करोति पन्थानम्। ध्यानेन विरजी भवन्ति मुनयः,** मुनि लोग ध्यान मे रजो-गुण रहित हो जाते हैं।

सातिँ, च्वि—अभूततद्भाव में कृ, भू अस्ति के योग में 'सम्पत्ति' के कर्ता से विकल्प से साति (सात्) प्रत्यय आता है और च्वि भी कृत्स्नता की प्रतीति होने पर, अर्थात् जब सम्पूर्ण का परिणाम अभिप्रेत हो[2]—**अग्निसाद् भवति गृहमग्निशमकानां कालेऽसन्निधेः,** घर सारा जल जाता है आग बुझाने वालों के समय पर न पहुँचने से। पक्ष में अग्नी भवति इत्यादि। **वर्षासु लवणपिण्ड-मुदकसाद्भवति। उदकी भवति।** बरसात में सारा लवण-पिण्ड पानी बन जाता है।

सम्पद् धातु के योग में भी अभिविधि (अनेक व्यक्तियों का एकदेश में विकार) गम्यमान होने पर[3]—**अस्यां सेनायां सर्वं शस्त्रमग्निसात् सम्पद्यते (भवति)। अग्नी भवति।** इस सेना में सभी शस्त्रों को आग लग रही है। **सर्वाणि संवसथसदनानि नक्तमग्निसात्कुर्वन्त्याततायिनः,** रात के समय अत्या-चारी लोग ग्राम के सभी घरों को जला देते हैं। यहाँ हरेक घर के कुछ अवयवों को जलाना अभिप्रेत है।

---

१. अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च (५।४।५१)।
२. विभाषा साति कार्त्स्न्ये (५।४।५२)।
३. अभिविधौ सम्पदा च (५।४।५३)।

साति—स्वामि-विशेष-वाची प्रातिपदिकों से 'स्वामी के आयत्त, इस अर्थ को कहने के लिए कृ, भू, अस् के तथा सम्पद् के योग में साति प्रत्यय होता है[1]—**अनपत्ये उपरते नृपतौ तद्रिक्थं ज्ञातिसाद् भवति। ज्ञातिसात्सम्पद्यते। अनपत्ये मृते वाणिजे तद्रिक्थं राजसात्सम्पद्यते। राजसाद् भवति। कुतश्चिल्लब्धं निधिं राजसात्कुर्वन्त्यमात्याः। भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम्** (रघु० ११।८६)।

त्रा, साति—जब देय पदार्थ को स्वामी के अधीन करना, उसके अधीन होना विवक्षित हो तो कृ, भू, अस् तथा सम्पद् के योग में तद्वाचक शब्द से 'त्रा' प्रत्यय होता है और साति भी[2]—**ब्राह्मणेभ्यो देयं गवादिकं तेभ्यः समर्प्य तदधीनं करोति—ब्राह्मणत्रा करोति गवादिकम्। ब्राह्मणसात्करोति गवादिकम्। ब्राह्मणत्रा सम्पद्यते। ब्राह्मणसात्सम्पद्यते।** त्रान्त का स्वर् आदि गण में पाठ होना चाहिए जिससे इससे उत्पन्न हुए 'सु' का लुक् हो जाए।

त्रा—द्वितीयान्त तथा सप्तम्यन्त देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य से स्वार्थ में बहुलतया त्रा प्रत्यय होता है[3]—**देवान् गच्छति। देवत्रा गच्छति। देवत्रा गच्छन्ति देवयजः। देवेषु वसति। देवत्रा वसति। देवत्रा वसति स्वर्यातः सुकृती।** ऐसे ही मनुष्य आदि के त्रा प्रत्ययान्त रूप जानो। बहुल ग्रहण से देव आदि से अन्यत्र भी त्रा होता है–**बहुत्रा जीवतो मनः** (ऋ० १०।१६४।२), जीते हुए का बहुत चीजों में मन जाता है।

डाच्—जिस ध्वनि में अकारादि वर्ण व्यक्त (=विशेषेण स्पष्ट) नहीं होते वह अव्यक्त होती है। अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से डाच् प्रत्यय होता है जब वह अनुकरण द्व्यजवरार्द्ध हो, अर्थात् जब डाच् की विवक्षा होते ही उसे द्विर्वचन करने पर उसका आधा कम से कम द्व्यच्क (द्व्यक्षर) रहे और जब उससे परे 'इति' न हो। यह डाच् कृ, भू, अस् के योग में होता है[4]—पटत्-पटत् डाच् करोति। **पटपटा करोति।** यहाँ डाच् की विवक्षा होते ही पटत् को द्वित्व हो गया। डाचि बहुलं द्वे भवतः। द्वित्व होने पर इसका आधा द्व्यच्क है। द्व्यच् अवरम् अर्धं यस्य तदनुकरणं द्व्यजवरार्धम्। अवर=

१. तदधीनवचने (५।४।५४)।
२. देये त्रा च (५।४।५५)।
३. देव-मनुष्य-पुरुष-पुरु-मर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् (५।४।५६)।
४. अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच् (५।४।५७)।

अपकृष्ट, सुष्ठु न्यून, कम से कम। पटत्–पटत् डाच् इस अवस्था में 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' इस वार्तिक से पटत् आम्रेडित परे होने पर पूर्व पटत् के त् और आम्रेडित के प् के स्थान में पररूप एकादेश पकार हो जाता है। डाच् परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होने से टि (अत्) का लोप हो जाता है, जिस से पटपटा करोति रूप सिद्ध हो जाता है। डाच् की गति संज्ञा है अतः डाजन्त से क्त्वा को ल्यप् होकर **पटपटाकृत्य** रूप होगा। **पटपटा भवति। पटपटा स्यात्।** अत् करोति—यहाँ डाच् करने पर द्विर्वचन होने पर आधा द्व्यक्षर नहीं बनता, अतः डाच् होता ही नहीं। कम से कम द्व्यच्क कहने से त्र्यच्क से भी डाच् निर्बाध होगा —खरटत्—खरटत्—डाच् करोति=**खरटखरटा करोति।** इति परे होने पर डाच् नहीं होगा—पटत् इति करोति **पटिति करोति।** अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ (६।१।९८) से यहाँ अत् और इ—दोनों के स्थान में पररूप 'इ' होता है।

द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज—इन से कृ के योग में डाच् प्रत्यय होता है कर्षण अभिधेय होने पर[1]। कृ यहाँ कर्षण का वाचक है—**द्वितीया करोति क्षेत्रम्। तृतीया करोति क्षेत्रम्।** दूसरी बार तीसरी बार खेत में हल चलाता है। **शम्बा करोति क्षेत्रम्।** अनुलोमं कृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रतिलोमं कृषति, पहले सीधे ठीक दिशा में हल चलाकर फिर उलटा हल चलाता है। **बीजा करोति क्षेत्रम्,** बीज बोते-बोते हल चलाता है। सूत्र में केवल 'कृ' का ग्रहण होने से भू अस् के योग में यह डाच् नहीं होता।

गुणान्त संख्यावाची शब्द से कर्षण अभिधेय होने पर कृ के योग में[2] —**द्विगुणं विलेखनं (कर्षणं) करोति क्षेत्रस्य=द्विगुणा करोति क्षेत्रम्।** खेत में दो बार हल चलाता है। **त्रिगुणा करोति क्षेत्रम्।**

कर्तव्य कर्म के अवसर का आ जाना 'समय' कहलाता है। उसकी यापना=अतिक्रमण। समय शब्द से यापना अर्थ की प्रतीति होने पर डाच् होता है कृ के योग में[3]—**समया करोति**=समयं यापयति=कालक्षेपं करोति =अद्यानवसर इत्युक्त्वा कालं गमयति, टाल मटोल करता है। **ऋणं विगणय्येत्युक्तः समया करोति ऋणिकः।**

---

१. कृञो द्वितीय-तृतीय-शम्ब बीजात्कृषौ (५।४।५८)।
२. संख्यायाश्च गुणान्तायाः (५।४।५९)।
३. समयाच्च यापनायाम् (५।४।६०)।

सपत्त्र, निष्पत्त्र शब्दों से कृ के योग में अतिव्यथन (अति पीडन) की प्रतीति होने पर[1]—**सपत्त्रा करोति मृगं व्याधः**, शिकारी पक्ष-सहित बाण को मृग के शरीर में प्रविष्ट करता है। शरपुङ्ख में लगे हुए पंख को पत्त्र कहा है। **निष्पत्त्रा करोति मृगं व्याधः**, शिकारी पक्ष-सहित बाण को मृग के शरीर से पार कर देता है। ऐसा अर्थ न होने पर सपत्त्रं वृक्षं करोति जलसेचकः। निष्पत्त्रं भूमितलं करोति भूमिशोधकः—यहाँ डाच् नहीं होता।

निष्कोषण अर्थ में वर्तमान निष्कुल शब्द से डाच् होता है कृ के योग में[2]—**निष्कुला करोति पशून् वधकः**, कसाब पशुओं की अन्तडियों को बाहिर निकालता है=पशून् निष्कुष्णाति। निर्गतं कुलं समूहोऽवयवानां यस्मात् स निष्कुलः। ऐसा अर्थ न होने पर निष्कुलान् करोति शत्रून्, शत्रुओं को वंशहीन कर देता है—यहाँ डाच् नहीं होता।

सुख, प्रिय से, जब ये आनुलोम्य अर्थ में प्रयुक्त हों, कृ के योग में।[3] आराध्य=सेव्य स्वामी आदि के अनुकूल व्यवहार को 'आनुलोम्य' कहा है - **सुखा करोति स्वामिनं सेवकः**, सेवक अनुकूल व्यवहार से स्वामी को सुख देता है। **प्रिया करोति मातरं वत्सः**, बच्चा माता को अनुकूल व्यवहार से प्रसन्न करता है।

दुःख शब्द से प्रातिलोम्य (प्रतिकूलता स्वामी आदि के चित्त को पीड़ित करना) गम्यमान होने पर कृ के योग में[4]—**दुःखा करोति स्वामिनं भृत्यः**, नौकर प्रतिकूल व्यवहार से स्वामी को पीड़ित करता है। पूर्व सूत्र में और इसमें आनुलोम्य और प्रातिलोम्य प्राणी का धर्म है। अतः सुखं प्रियं वा करोत्यौषधपानम्। दुःखं करोति कदन्नं भुक्तम् (निकम्मा अन्न खाया हुआ) पीड़ा देता है—यहाँ डाच् नहीं होता। सुख दुःख देना तो उभयत्र समान है।

शूल शब्द से पाक विषय में कृ के योग में[5]—**शूला करोति मांसम्**, शूले पचति। पाक विषय से अन्यत्र शूलं करोति दग्धमन्नमशितम्, जला हुआ अन्न खाया हुआ पीड़ा करता है—यहाँ डाच् नहीं होता।

---

१. सपत्त्र-निष्पत्त्रादतिव्यथने (५।४।६१)।
२. निष्कुलान्निष्कोषणे (५।४।६२)।
३. सुख-प्रियादानुलोम्ये (५।४।६३)।
४. दुःखात्प्रातिलोम्ये (५।४।६४)।
५. शूलात्पाके (५।४।६५)।

अशपथवाची सत्य शब्द से कृ के योग में[1]—**सत्या करोति भाण्डं वणिक्**, बनिया मैंने इस रत्नादि द्रव्य का खरीदना है यह पक्का करता है, देय मूल्य का कुछ अंश देकर रत्नादि द्रव्य को अपनी ओर कर लेता है।

मद्र तथा भद्र शब्दों से मङ्गलविषयक मुण्डन अर्थ में[2]—**मङ्गलं मुण्डनं करोति मद्रा करोति। भद्रा करोति नापितः कुमारम्।**

यहाँ अव्यय तद्धित समाप्त हुए।

प्रागिवीय अनव्यय तद्धित—

इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६) इससे पूर्व-विहित तद्धितों को 'प्रगिवीय' कहा है।

पाशप्—याप्य (=कुत्सित) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में पाशप् (पाश) प्रत्यय होता है।[3] स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृतिगत विशेष के द्योतक होते हैं। **कुत्सितो वैयाकरणः=वैयाकरणपाशः। कुत्सितो याज्ञिकः=याज्ञिकपाशः। कुत्सितो भिषक्=भिषक्पाशः। त्यजेद् दूराद् भिषक्पाशान् पाशान्** वैवस्वतानिव (अष्टाङ्ग० ३।४०।७६)। याप्य शब्द का मूलार्थ गमयितव्य, प्रस्थापयितव्य, बहिष्कार्य है। **मिथ्यावचने याप्यो दण्ड्यश्च साक्षी** (गौ० ध० २।४।२३)। यहाँ स्पष्ट ही 'बहिष्कार्य' अर्थ है जिसे टीकाकार हरदत्त मिश्र स्वीकार करता है। इसका कुत्सित, निन्दित अर्थ कैसे हुआ इसके लिए हमारी कृति प्रस्तावतरङ्गिणी में 'पदार्थविकासः' नाम का निबन्ध पढ़ें।

अन्—पूरणार्थक जो तीय प्रत्यय तदन्त, भाग में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में[4]—द्वितीयो भागः। **द्वितीयः**। तृतीयो भागः। **तृतीयः**। अन् विधान स्वर के लिए है। अन् नित् है। अतः प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होगा। वेद की तरह लोक में भी सस्वर उच्चारण होता था।

अन्—एकादश से पूर्व की संख्याओं के वाचक, भाग अर्थ में प्रयुक्त पूरणप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में[5]—**पञ्चमः। सप्तमः। नवमः।** यह अन् विधि भी स्वर के लिए है। वेद में यह विधि नहीं होती। लोक में भी सस्वर उच्चारण होता था—यह विधान इसका ज्ञापक है।

---

१. सत्यादशपथे (५।४।६६)।
२. मद्रात्परिवापणे (५।४।६७)। भद्राच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
३. याप्ये पाशप् (५।३।४७)।
४. पूरणाद् भागे तीयादन् (५।३।४८)।
५. प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि (५।३।४९)।

ञ, अन्—षष्ठ, अष्टम से पूर्व-निर्दिष्ट अर्थ में ञ होता है और अन् भी[1]—षाष्ठो भागः। (ञ)। षष्ठो भागः (अन्)। आष्टमो भागः (ञ)। अष्टमो भागः (अन्)।

कन्, प्रत्यय-लुक्—यदि भाग मान (माप) हो तो षष्ठ से कन् और यदि भाग पशु का अंग हो तो अष्टम से ञ् अथवा अन् का लुक्।[2] सूत्र में चकार पढ़ने से यथाप्राप्त ञ तथा अन् भी रहते हैं—षष्ठको भागो मानम्। अष्टमो भागः पश्वङ्गम्। षाष्ठः। षष्ठः। आष्टमः। अष्टमः। ञ और अन् भी होंगे।

आकिनिच्, कन्—असहाय (अकेला)। तद्वाची एक शब्द से स्वार्थ में आकिनिच् (आकिन्) और कन् प्रत्यय होते हैं[3]। इनका पाक्षिक लोप भी होता है—एकाकी (प्र० एक०)। एककः। एकः।

चरट्—पूर्वं भूतः=भूतपूर्वः। यह शब्द अतिक्रान्त को कहता है। जो पहले था अब नहीं। भूतपूर्वत्व विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में चरट्[4]। ट् स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् के लिए है—आढ्यो भूतपूर्वः=आढ्यचरः, जो पहले धनी था। आढ्यचरा अनाढ्या भृशं दुःखं वेदयन्ते, दरिद्र जो पहले धनी थे बहुत दुःख अनुभव करते हैं। पङ्गुः पर्वतमारुक्षद् इति न दृष्टचरं श्रुतचरं वा, लंगड़ा पर्वत पर चढ़ गया यह न तो पहले देखा था और न सुना था। नैषा श्रुतचरी वार्ता, यह बात पहले कभी सुनी न थी।

रूप्य, चरट्—षष्ठ्यन्त से भूतपूर्व अर्थ में रूप्य प्रत्यय होता है और चरट् (चर) भी[5]—देवदत्तस्य भूतपूर्वं गृहम्=देवदत्तरूप्यम्। देवदत्तचरम्। यत्सम्प्रति यज्ञदत्तस्य स्वं भवति तद् देवदत्तरूप्यं (देवदत्तचरम्) आसीन्निकेतनम्, जो घर इस समय यज्ञदत्त का धन है वह पहले देवदत्त का था। अयं गौर्देवदत्तेन यज्ञदत्ताय विक्रीत इतीदानीं तस्य न भवति। कामं देवदत्तरूप्यो देवदत्तचरो वाऽभूत्। यह बैल देवदत्त ने यज्ञदत्त के पास बेच दिया है, अतः अब यह इसका नहीं। हाँ पहले देवदत्त का था।

---

१. षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च (५।३।५०)।
२. मान-पश्वङ्गयोः कन्लुकौ च (५।३।५१)।
३. एकादाकिनिच्चासहाये (५।३।५२)।
४. भूतपूर्वे चरट् (५।३।५३)।
५. षष्ठ्या रूप्य च (५।३।५४)।

पुनः पुनर्भृशं वा सदार्तरूपः (भा० कर्ण० ९२।१५)। आर्तरूप आर्ततर इत्यर्थः।

रूपप्—प्रशंसा विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से रूपप् (रूप) प्रत्यय होता है स्वार्थ में[1]। प्रशंसा से यहाँ प्रकृत्यर्थ की परिपूर्णता अभिप्रेत है, स्तुति नहीं। **प्रशस्तः पटुः=पटुरूपः। पटुरूपोऽयं छात्रः सकृच्छ्रुतं गृह्णाति चिरं च धारयति,** यह छात्र पूर्णरूप से चतुर है, एक बार (गुरुमुख से) सुने हुए को ग्रहण कर लेता है और चिर तक स्मरण रखता है। प्रशस्तो वैयाकरणः=**वैयाकरणरूपः। अयं वैयाकरणरूपो यः साधु व्याकरोति शब्दान् साधीयश्च तान्प्रयुङ्क्ते,** यह बहुत बढ़िया वैयाकरण है जो शब्दों को ठीक-ठीक प्रकृत्यादि विभाग द्वारा विश्लेषण करता है और बहुत अच्छी तरह इन्हें प्रयुक्त करता है। **वृषलरूपोऽयं यः पलाण्डुना सुरां पिबति,** यह बढ़िया (पूरा-पूरा) शूद्र है जो प्याज के साथ सुरा पीता है। **चौररूपोऽयं योऽक्ष्णोरप्यञ्जनं हरति।** यह बहुत ही चालाक चोर है जो आँखों के अञ्जन को भी चुरा लेता है। तिङन्त से भी—**इयं किं पचति, इयं च पचतिरूपम्। विनीता हीयं पाकक्रियायाम्।** यह कुछ नहीं पकाती, यह तो अच्छा पकाती है, क्योंकि यह पाक क्रिया में शिक्षित है। **पचतिरूपम्। पचतोरूपम्। पचन्तिरूपम्।** यहाँ तद्धित प्रत्ययान्त से द्विवचन, बहुवचन नहीं होते, एकवचन ही होता है, कारण कि आख्यात क्रिया-प्रधान होता है और क्रिया (पाक आदि) एक ही होती है करने वाले चाहे अनेक हों। एकवचन तो औत्सर्गिक है। नपुंसक-लिङ्गता लोक में ऐसा प्रयोग होने से है।

कल्पप्, देश्य, देशीयर्—पदार्थों की परिपूर्णता समाप्ति है, उसमें कुछ कमी हो तो उसे ईषदसमाप्ति कहेंगे। ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से कल्पप् (कल्प), देश्य, देशीयर् (देशीय) प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं[2]—**ईषदसमाप्तः पटुः=पटुकल्पः,** जो पूरा चतुर नहीं। **पटुदेश्यः। पटुदेशीयः। पटुना बटुना यथेदं सुकरं न तथा पटुकल्पेन। सुकुमारकल्पोऽयं वेतसः, न तु सुकुमारः,** यह बैंत कुछ मुलायम है, पूरी तरह से मुलायम नहीं। **अयं सम्प्रति पञ्चवर्षदेश्यः (पञ्चवर्षदेशीयः), न तु पञ्चवर्षः।** पञ्च वर्षाणि भूतः पञ्चवर्षः। चित्तवति नित्यम् (५।१।८९) से तमधीष्टो भृतो भूतो भावी (५।१।८०) से 'भूत' अर्थ में आए हुए ठञ् का लुक्

१. प्रशंसायां रूपप् (५।३।६६)।

२. ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (५।३।६७)।

हो जाता है । **ईषदसमाप्तः पञ्चवर्षः=पञ्चवर्षदेश्यः । पञ्चवर्षदेशीयः । पञ्चवर्षकल्पः । गुडकल्पा द्राक्षा । तैलकल्पा प्रसन्ना** (=सुरा)—यहाँ अभिधेय का जो लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग) है वही कल्पप् प्रत्ययान्त का होता है । ऐसा ही देश्य, देशीयर् के विषय में जानो ।

बहुच्—ईषदसमाप्ति (किञ्चिन्न्यूनता) विशिष्ट अर्थ में वर्तमान सुबन्त से बहुच् (बहु) प्रत्यय स्वार्थ में होता है और वह सुबन्त से पूर्व होता है ।[1] प्रत्यय परे हुआ करता है, यह उसका अपवाद है । सूत्र में विभाषा ग्रहण से पक्ष में कल्पप् आदि भी होते हैं । **ईषदसमाप्तः पटुः=बहुपटुः**, कुछ कम चतुर । **बहगुडो द्राक्षा ।** द्राक्षा गुड से कुछ कम होती है । **ईषदसमाप्तो गुडः =बहुगुडः ।** जो बहुच् प्रत्यय की प्रकृति है उसका जो लिङ्ग और वचन प्रत्यय आने से पूर्व होता है वही प्रत्यय आने के पीछे भी । **याचको नाम लघु र्बहुतृणं नरः । ईषदसमाप्तं तृणं=बहुतृणम् ।** माँगने वाला हलका तिनके से कुछ कम होता है ।

जातीयर्—'प्रकार' सामान्य को भिन्न करने वाले विशेष का नाम है । प्रकारविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में जातीयर् (जातीय) प्रत्यय होता है ।[2] थाल् प्रत्यय केवल प्रकार अर्थ में होता है और जातीयर् प्रकारवान् अर्थ में यह इन दोनों का विषय-भेद है । **पटुप्रकारः=पटुजातीयः । मृदुप्रकारः=मृदुजातीयः ।** पटुत्वविशिष्टः, मृदुत्वविशिष्ट इत्यर्थः । **बालिश-जातीयो ह्येष जेतुकामः पराजयं न सहते** (कौट० अर्थ० ३।२०।७५) ।

आतिशायनिक अनव्यय तद्धित—

तमप्, इष्ठन्—अतिशायन=प्रकर्ष, अभिभव । अतिशय-विशिष्ट अर्थ वाले सुबन्त (तथा तिङन्त) से स्वार्थ में तमप् (तम) तथा इष्ठन् (इष्ठ) प्रत्यय होते हैं ।[3] दो में से एक का अतिशय द्योतन करने के लिए आगे तरप्, तथा ईयसुन् प्रत्यय कहेंगे, सो तमप् तथा इष्ठन् बहुतों में से एक के अतिशय द्योतन में आते हैं । सूत्र में 'अतिशायन' प्रकृत्यर्थ का विशेषण है अर्थात् जिस सुबन्त (तथा तिङन्त) से प्रत्यय करना है उसका विशेषण है । प्रकृष्ट शुक्ल आदि

---

१. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु (५।३।६८) ।
२. प्रकारवचने जातीयर् (५।३।६९) ।
३. अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) ।

शब्दों के अर्थ में प्रवृत्त हुए शुक्लादि शब्दों से प्रत्यय विधान किया जा रहा है। **सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषाम् अतिशयेनाढ्य आढ्यतमः। दर्शनीयतमः। सुकुमारतमः। कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा।** सर्वे इमे पटवः, अयमेषामतिशयेन पटुः, **पटिष्ठः।** लघुः—**लघिष्ठः।** गुरुः—**गरिष्ठः।** आशुः—**आशिष्ठः। सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषामतिशयेन पचति पचतितमाम्। जल्पतितमाम्।** तरबन्त से क्रियाप्रकर्ष में स्वार्थ में आम् प्रत्यय भी होता है। इष्ठन् का यहाँ उदाहरण नहीं दिया गया, कारण की इष्टन् गुणवाचक प्रातिपदिक से ही आता है।

द्वित्व के वाचक शब्द के उपपद (उपोच्चारित) होने पर, तथा विभज्य, विभक्तव्य अर्थ के उपपद होने पर अतिशय विशिष्ट स्वार्थवाची शब्द से तथा भेद-प्रयोजक-धर्मवाचक शब्द से तरप् (तर) तथा ईयसुन् (ईयस) स्वार्थिक प्रत्यय होते हैं।[1] **द्वाविमौ पटू। अयमनयोः पटुतरः। पटीयान्।** यहाँ 'अनयोः' यह दो को कहने वाला उपपद है, पास में उच्चारित पद है। एक की अपेक्षा दूसरे के पटुत्व के अतिशय का द्योतक 'पटु' शब्द है, इससे तरप् ईयसुन् हुए हैं। इसी तरह **द्वाविमावाढ्यौ, अयमनयोरतिशयेनाढ्य आढ्यतरः। दर्शनीयतरः। सुकुमारतरः। द्वाविमावल्पाच्चौ। अयमनयोर् अल्पाच्तरः। अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतरः,** मुझमें और देवदत्त में देवदत्त अधिक रूपवान् है। अस्माकम् में अस्मदो द्वयोश्च (१।२।५९) से एकत्व में बहुवचन है। अतः द्विवचन ही उपपद है। निर्धारण में षष्ठी है। **देवदत्तयज्ञदत्तौ जल्पतः। देवदत्तस्तु जल्पतितराम्।**

विभज्य (विभक्तव्य) उपपद होने पर भी—**माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः (पटीयांसः)।** यहाँ पाटलिपुत्रक (पाटलिपुत्र के लोग)—यह विभज्य उपपद है। इन लोगों को माथुर (मथुरा-निवासी) लोगों से भिन्न करना है। 'आढ्य' भेद-प्रयोजक-धर्मवाची शब्द है। इस से प्रत्यय हुआ। इसी तरह दूसरे उदाहरण में जानें। **स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव** (विक्रमोर्व० ४।१५)। यहाँ 'स्वार्थ' विभक्तव्य उपपद है। भेदप्रयोजक धर्मवाचक 'गुरु' है, इससे प्रत्यय हुआ।

दन्तोष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः। पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतरौ।

---

१. द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुनौ (५।३।५७)।

यहाँ समाहार द्वन्द्व दन्तोष्ठ में दन्त और ओष्ठ अभेदैकत्व संख्या के बोधक हैं। वृत्ति का स्वभाव ही ऐसा है कि उस में वर्तिपदार्थ अपनी-अपनी संख्या को छोड़कर अभेदरूप एकत्व के बोधक होते हैं। दांत चाहे बत्तीस हैं और ओष्ठ दो हैं तो भी 'दन्तोष्ठ' से दांत एक पदार्थ, ओष्ठ एक पदार्थ इन दोनों का समाहार ऐसा बोध होता है। अतः 'दन्तोष्ठ' दो का वाचक ही रहा। अतः प्रत्यय निर्बाध हुआ। ऐसे ही 'पाणिपादस्य' के विषय में जानें। 'दन्तोष्ठस्य' तथा 'पाणिपादस्य' में निर्धारण में षष्ठी हुई है। **परुद्द भवान्पटुरासीद् ऐषमस्तु पटुतरः**, गत वर्ष आप पटु थे, इस वर्ष उससे अधिक पटु हैं। यहाँ एक ही धर्मी (द्रव्य) में तत्कालस्थत्व (उस काल का होना) रूप धर्म-भेद द्वारा भेद का अध्यारोप करके दो देवदत्तादि कल्पित करके प्रतियोगी की अपेक्षा में तरप् न्याय्य ही है।

प्रकर्ष प्रत्ययान्त से दूसरा प्रकर्ष–प्रत्यय नहीं होता—युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम् ऐसा नहीं कह सकते।

सूत्र में 'विभज्य' यह निपातन किया है। 'विभाज्य' होना चाहिये था। **बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति**—इस परिभाषा के अनुसार लोक में 'विभज्य' का ही प्रयोग होना चाहिये।

अजादि (अच् आदि) प्रत्यय ईयस्,इष्ठन् गुणवाचक सुबन्त से आते हैं, किसी और से नहीं[1]। ऐसा ही उदाहरणों में स्पष्ट है। **पाचकतरः। पाचकतमः।** यहाँ ईयसुन्, इष्ठन् नहीं आ सकते। पाचक क्रियाशब्द है, गुणशब्द नहीं। **गौरयः शकटं वहति। गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च। गौरियं या समां समां विजायते। गोतरेयं या समां समां विजायते स्त्रीवत्सा च।** यह गोपदार्थ द्रव्य है। अतः यहाँ भी ईयसुन् नहीं हो सकता।

तृ लोप[2]—इष्ठन्, ईयसुन् तथा इमनिच् परे रहते तृ (तृच्, तृन्) का लोप हो जाता है—कर्तृ-इष्ठन्=करिष्ठ। **आसुतिं करिष्ठः।** आसुतिं सुरासन्धानमतिशयेन कर्ता (सर्वापेक्षया)। इयं दोग्ध्री गौः। **इयं दोहीयसी।** टि-लोप[3]—इष्ठन्, ईयसुन् तथा इमनिच् परे होने पर भ-संज्ञक के टि-भाग

१. अजादी गुणवचनादेव (५।३।५८)।
२. तुरिष्ठेमेयःसु (६।४।१५४)।
३. टेः (६।४।१५५)।

का लोप होता है—**पटिष्ठ । पटीयस् । पटिमन्** (=पटुता) । 'पटु' में 'उ' 'टि' है । महत्—**महीयस । महिष्ठ ।** टि=अत् का लोप । दोहीयसी रूप की सिद्धि इस प्रकार समझनी चाहिए—भस्याढे तद्धिते (वा०) से प्रत्यय की विवक्षा में ही पुंवद्भाव हो जाने से ङीप् की निवृत्ति हो जाने पर दोग्धृ के 'तृ' का लोप हो जाता है । तब निमित्त न रहने से घत्व (ह को घ), जश्त्व (घ को ग) भी निवृत्त हो जाते हैं । दोह् तृ ङीप् ईयसुन्—इस अलौकिक विग्रह में तो घत्व-जश्त्व के निमित्त तृ का विनाश होने वाला है यह देखकर पहले से ही घत्व-जश्त्व नहीं किया जाता—**अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ।**

प्रशस्य के स्थान में अजादि (ईयसुन्, इष्ठन्) प्रत्यय परे रहते 'श्र' आदेश हो जाता है[1]।

अजादि प्रत्यय परे रहते एकाच् (एक अच् वाली) प्रकृति (=अङ्ग) प्रकृत्या (प्रकृति भाव से) रहती है[2]—**श्रेयस् । श्रेयान्** (प्र० ए०) । स्त्री०—**श्रेयसी । श्रेष्ठः । श्रेष्ठा ।**

प्रशस्य को 'ज्य' आदेश भी होता है अजादि प्रत्यय परे रहते[3]। एकाच् होने से 'ज्य' प्रकृति-भाव से रहता है—**ज्येष्ठ ।** 'प्रशस्य' यद्यपि गुणवाचक नहीं, तो भी आदेश-विधान-सामर्थ्य से इससे ईयस् और इष्ठ आते हैं ।

ज्य से परे ईयसुन् के 'ई' के स्थान में 'आ' आदेश होता है[4]—ज्य ईयस् =ज्य आयस् । प्रकृतिभाव होने से 'ज्य' के 'अ' का लोप नहीं होता—**ज्यायस् ।** ज्यायान् । ज्यायांसी । ज्यायांसः ।

'वृद्ध' के स्थान में भी 'ज्य' आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर[5]—ज्य—ईयस्=ज्य आयस्=**ज्यायस् । ज्येष्ठ । उभाविमौ वृद्धौ । अयमनयोरतिशयेन वृद्धः, ज्यायान् । सर्व इमे वृद्धाः । अयमेषामतिशयेन वृद्धः । ज्येष्ठः ।** 'वृद्ध' को वर्ष आदेश भी कहेंगे, वह भी वचनसामर्थ्य से पक्ष में होगा—**वर्षीयस् । वर्षिष्ठ ।**

अन्तिक (=समीप) तथा बाढ (=बहुत) को क्रम से नेद और साध

---

१. प्रशस्यस्य श्रः (५।३।६०) ।
२. प्रकृत्यैकाच् (६।४।१६३) ।
३. ज्य च (५।३।६१) ।
४. ज्यादादीयसः (६।४।१६०) ।
५. वृद्धस्य च (५।३।६२) ।

आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे होने पर[१]—**सर्वाणीमान्यन्तिकानि । इदमेषामतिशयेनान्तिकम्, नेदिष्ठम् । उभे इमे अन्तिके । इदमनयोरतिशयेनान्तिकम्, नेदीयः । सर्वे इमे बाढमधीयते । अयमेषामतिशयेन=साधिष्ठमधीते । अयमनयोः साधीयोऽधीते** । यह दोनों में से अधिक अच्छा पढ़ता है । साधु शब्द से भी ईयस्, इष्ठ करने पर टिलोप होने पर साधीयस्, साधिष्ठ रूप होते हैं ।

युवन्, अल्प को ईयस्, इष्ठ परे रहते विकल्प से कन् आदेश होता है[२]—युवन्—**कनीयस्** । अल्प—**अल्पीयस्** । **कनीयस्** । कन् के अभाव में युवन् से **यवीयस्** रूप होगा । इस में आगे कहे जा रहे सूत्र से यण् से लेकर परले भाग का लोप (अर्थात् वन् का लोप) और 'यण्' से पूर्व 'उ' को गुण । यो ईयस् =यवीयस् । 'यो' के एकाच् होने से प्रकृतिभाव हुआ, टिलोप नहीं हुआ ।

स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र—इन के यण् से लेकर परले भाग का (प्रकृत में ल, र, वन्, व, र का) लोप होजाता है और यण् से पूर्व को गुण अजादि प्रत्यय परे रहते[३]—स्थूल—ईयस्=स्थो ईयस्=**स्थवीयस्** । **स्थविष्ठ** । दूर—ईयस्=दो ईयस्= **दवीयस्** । **दविष्ठ** । युवन्—ईयस्=यो ईयस्= **यवीयस्** । **यविष्ठ** । ह्रस्व—ईयस्=ह्रस् ईयस्=**ह्रसीयस्** । **ह्रसिष्ठ** । क्षिप्र—ईयस्=क्षिप् ईयस् । **क्षेपीयस्** । **क्षेपिष्ठ** (=शीघ्रतम) । क्षुद्र—ईयस् =क्षुद् ईयस्=**क्षोदीयस्** । **क्षोदिष्ठ** ।

प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक—इनको क्रम से प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप, द्राघि, वृन्द—ये आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे रहते[४]—**प्रेयस्** । **प्रेष्ठ** । **स्थेयस्** । **स्थेष्ठ** । **स्फेयस्** । **स्फेष्ठ** (अधिकतम) । **वरीयस्** । **वरिष्ठ** । (सबसे अधिक विस्तार वाला, सबसे अधिक चौड़ा) । **बंहीयस्** । **बंहिष्ठ** । यहाँ टि 'इ' का लोप होता है । **गरीयस्** । **गरिष्ठ** । **वर्षीयस्** । **वर्षिष्ठ** । **त्रपीयस्** । **त्रपिष्ठ** (शीघ्रतम ?) ।

---

१. अन्तिकबाढयो र्नेदसाधौ (५।३।६३) ।

२. युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् (५।३।६४) ।

३. स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः (६।४।१५६) ।

४. प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्बंहि गर्वर्षि-त्रब-द्राघि-वृन्दाः (६।४।१५७) ।

दीर्घ—**द्राघीयस्** । **द्राघिष्ठ** । **वृन्दीयस्** । **वृन्दिष्ठ** (श्रेष्ठ) । वृन्दारकः सुरे पुंसि मनोज्ञश्रेष्ठयोस्त्रिषु (मेदिनी) ।

'बहु' से परे आए हुए ईयस् के 'ई' का लोप और बहु को भू आदेश होता है[1]—**भूयस्** ।

इष्ठ परे रहते बहु को भू आदेश और इष्ठ को यिट् (य् जो टित् होने से आदि में) होता है[2]—**भूयिष्ठ** । अभिरूपभूयिष्ठा परिषद्, सभा जो विद्वानों से भरपूर है ।

हलादि लघु ऋ को र् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर[3]—पृथु—**प्रथीयस्** । **प्रथिष्ठ** । मृदु—**म्रदीयस्** । **म्रदिष्ठ** । दृढ—**द्रढीयस्** । **द्रढिष्ठ** । कृश—**क्रशीयस्** । **क्रशिष्ठ** । पर 'ऋजु' से **ऋजीयस्** । **ऋजिष्ठ** । हलादि न होने से ऋ को र् नहीं हुआ ।

ईयस्, इष्ठ परे होने पर विनि (विन्) तथा मतुप् का लुक् हो जाता है[4]—स्रगस्यास्ति स्रग्वी (पुष्पमाला धारण किए हुए) । **अयमनयोर् अतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान्** । **अयमेषामतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः** । सर्व इमे त्वग्वन्तः । अयमेषामतिशयेन त्वचिष्ठः । अयमनयोस्त्वचीयान् । **अयमनयोरतिशयेन धनवान् धनीयान्** । **अयमेषामतिशयेन धनवान् धनिष्ठः** । जववत् (=वेगवान्)—**जवीयस्** । **जविष्ठ** । अजादि न होने से तरप्, तमप् परे रहते लुक् नहीं होगा—धनवत्—**धनवत्तरः** । **धनवत्तमः** । स्रग्विन्—**स्रग्वितरः** । **स्रग्वितमः** । प्रत्यय से पूर्व प्रकृति भाग की पद संज्ञा होने से नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से 'न्' का लोप हुआ है । स्रजीयान् त्वचीयान् आदि में विनि और मतुप् का लुक् होने पर पदत्व का भङ्ग हो जाने से कुत्व चला जाता है ।

प्रयोगमाला

१. **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (ऐ० ब्रा०)** ।
वायु सबसे अधिक वेगवाला देवता है ।

---

१. बहोर्लोपो भू च बहोः (६।४।१५८) ।
२. इष्ठस्य यिट् च (६।४।१५९) ।
३. र ऋतो हलादेर्लघोः (६।४।१६१) ।
४. विन्मतोर्लुक् (५।३।६५) ।

२. दवीयान्नो गन्तव्यो ग्रामः, अल्पशेषमहः । ऋजीयांसं मार्गमादिश ।

वह ग्राम जहाँ हमने पहुँचना है बहुत दूर है, दिन थोड़ा सा बाकी रह गया है, अतः सीधा मार्ग बताइए ।

३. देवदत्तो यज्ञदत्ताद् वयसा कनीयान् विद्यया तु ज्यायान् ।

देवदत्त वय में यज्ञदत्त से छोटा है, पर विद्या में बड़ा है ।

४. कनीयसा मूल्येन क्रीणीते, महीयसा च विक्रीणीते ।

थोड़े दामों से खरीदता है और बड़े दामों पर बेचता है ।

५. निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति । (श० ब्रा० १।५।२।२०)

निश्चय ही स्पष्ट रूप से कहा हुआ (अर्थात् स्वीकार किया हुआ) पाप छोटा हो जाता है ।

६. अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् (क० उ०)

परमाणु से भी सूक्ष्म और बड़े से बड़ा आत्मा इस प्राणी की हृदय-रूपी गुफा में छिपा हुआ है ।

७. अनेजदेकं मनसो जवीयः (ईश उ० ४) ।

वह ब्रह्मतत्त्व एक है, निःस्पन्द है और मन से भी अधिक वेग वाला है ।

८. नेदीयसी ते परीक्षाऽऽब्दिकी, त्वं चाद्याप्यध्ययने उदास्से । तन्नेष्टम् ।

तेरी वार्षिक परीक्षा समीपतर आ गई है, और तू अब भी पढ़ने में चित्त नहीं लगा रहा, यह अच्छा नहीं ।

९. ग्रीष्म इति द्राघीयांसो वासराः, ह्रसीयस्यश्च क्षपाः ।

गरमी की रुत है, इसलिए दिन पहले से अधिक लम्बे हो गये हैं और रातें छोटी हो गई हैं ।

१०. स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव (विक्रमोर्व० ४।१५) ।

सत्पुरुषों को अपने प्रयोजन की अपेक्षा मित्रों के प्रयोजन की सिद्धि अधिक महत्त्ववाली है ।

११. स क्रशीयान् संवृत्तः, मन्ये विप्रोषितस्य सुतस्य चिन्ता तमाचामतीव ।

वह (पहले से) अधिक कृश हो गया है, ऐसा लगता है कि विदेश में गए हुए पुत्र की चिन्ता उसे खाय जा रही है ।

१२. समानश्रेणीकानां सतीर्थ्यानां स्थविष्ठो देवदत्तो मृदतमश्च ।

एक श्रेणी के, एक-गुरु से पढ़ने वाले छात्रों में देवदत्त सबसे मोटा है और सबसे अधिक मूर्ख भी।

१३. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतेव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। (कठोप०)

श्रेय और है प्रेय और है। इनका जुदा जुदा प्रयोजन है। ये पुरुष को बाँधते हैं।

१४. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद् यदुत्तरम्॥ (मनु० २।१३६)।

धन, बन्धु, वय, कर्म तथा पाँचवीं विद्या—इनमें जो-जो आगे-आगे पढ़ा है वह-वह अधिक महत्त्व वाला है।

१५. स प्रातस्तरां जागर्ति प्राह्णेतरां च भुङ्क्ते।

वह बहुत सवेरे उठता है और पूर्वाह्ण में जल्दी खा लेता है।

१६. वरीयोऽस्मत्सदनाङ्गनम्, शक्यं नामेह सुखं खेलितुम्।

हमारे घर का आँगन बहुत चौड़ा है, यहाँ हम सुखपूर्वक खेल सकते हैं।

१७. मृदुः परिभूयते। मृदुतरश्च परिभूयतेतराम्।

जो नरम होता है उसका तिरस्कार होता है और जो ज्यादा नरम होता है उसका ज्यादा तिरस्कार होता है।

१८. अश्वः पशूनामाशिष्ठः (श० ब्रा० १३।१।२।७)।

घोड़ा पशुओं में सबसे अधिक शीघ्रगामी है।

१९. मित्रं हि बन्धुतमं नराणाम्।

मित्र मनुष्यों का सबसे बढ़िया बन्धु है।

२०. द्वे अपि भगिन्यौ विदुष्यौ। इयं विदुषितरा।

दोनों बहिनें विदुषी हैं पर यह अधिक विदुषी है।

२१. अध्वर्युर्वै श्रेयान् पापीयान् प्रतिप्रस्थाता भवति (का० सं० २७।५)।

अध्वर्यु-नामक ऋत्विक् उत्कृष्ट होता है और प्रतिप्रस्थातृ-नामक उससे अपकृष्ट होता है।

२२. श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति (मनु० ९।१८४)।

बढ़िया के अभाव में घटिया जायदाद का अधिकारी होता है।

२३. न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः (गीता)।

२५. भविष्यद्धि भूयो भूतात् (तै० सं० ५।१।६।४५)। अतीत काल की अपेक्षा अनतीत आनेवाला काल (अपरिमित होने से) बड़ा है।

हम नहीं जानते कि हमारे लिए कौन-सी बात बड़ी होगी, हम उन्हें जीतें या वे हमें जीतें।

२४. शाल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते (श० ब्रा० १३।२।७।४)। शाल्मलि (संबल) सब वृक्षों से अधिक बढ़ता है।

यहाँ आतिशायनिक तद्धित समाप्त हुए।

आतिशयिक-व्यतिरिक्त प्रागिवीय अनव्यय तद्धित

इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६) सूत्र से पहले-पहले 'क' प्रत्यय अधिकृत जानें।[1] 'क' तिङन्तों से नहीं होता, अकच् (अक्) प्रत्यय होता है। प्रागिवीय प्रत्यय भी स्वार्थ में होते हैं।

अकच्—अव्ययों तथा सर्वनामों से प्रागिवीय अर्थों में अकच् (अक्) प्रत्यय होता है और यह प्रकृति के टि-भाग से पूर्व होता है।[2] 'क' का अपवाद है—**सर्वके**=सर्वे। **विश्वके**=विश्वे। स्वार्थ में प्रत्यय है। सर्वनाम संज्ञा बनी रहती है। **सर्वकः**। **सर्वकौ**। **सर्वके**। **सर्वकस्मै**। **विश्वकस्मै**। **सर्वकेषाम्**। **विश्वकेषाम्**। **उच्चकैः**=उच्चैः। **नीचकैः**=नीचैः। यहाँ अव्यय से स्वार्थिक अकच् हुआ। टि-भाग (ऐस्) से पूर्व अक् हुआ। तिङन्त से—**पचतकि**। कुत्सित ढंग से पकाता है। **जल्पतकि**। कुत्सित ढंग से बोलता है। पचत् अक् इ=पचतकि। जल्पत् अक् इ=जल्पतकि। अकच् कहीं प्रातिपदिक की टि से पूर्व होता है, कहीं सुबन्त की टि से। **युष्मकाभिः**। **अस्मकाभिः**। **युष्मकासु**। **अस्मकासु**। **युवकयोः**। **आवकयोः**—इनमें प्रातिपदिक की टि से पूर्व।

काम्—अकच्प्रकरण में तूष्णीम् से काम् प्रत्यय हो ऐसा वार्तिक है।[3] यह काम् मित् होने से अन्त्य अच् से परे होता है। **तूष्णीमेव तूष्णीकाम्**। जैसे तूष्णीम् अव्यय है वैसे ही तूष्णीकाम् भी। **किमिति तूष्णीकामास्से, कथय यत्ते कथ्यमस्ति**। तुम चुप क्यों बैठे हो? कहो जो तुमने कहना है।

---

१. प्रागिवात् कः (५।३।७०)।

२. अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः (५।३।७१)।

३. अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः (वा०)।

क—शील द्योत्य होने पर तूष्णीम् से 'क' प्रत्यय होता है और साथ ही तूष्णीम् के 'म्' का लोप हो जाता है[1]—**तूष्णींशीलः तूष्णीकः**।

अज्ञातत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से और तिङन्त से भी स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होता है।[2] स्वरूप से ज्ञात होने पर जब कोई पदार्थ विशेष रूप से अज्ञात होता है तब यह प्रत्यय-विधि जाननी चाहिए—यह घोड़ा किसका है इस प्रकार स्व-स्वामि-सम्बन्ध के अज्ञात होने पर 'अश्व' से प्रत्यय होता है—**अश्वकः। गर्दभकः। उष्ट्रकः।**

क—'कुत्सित' निन्दित को कहते हैं।[3] कुत्सितत्व द्योत्य होने पर प्रातिपदिक से यथाविहित क प्रत्यय होता है—**कुत्सितोऽश्वः=अश्वकः। गर्दभकः। उष्ट्रकः।**

कुत्सार्थ में संज्ञा होने पर कन्[4]—**शूद्रको नाम कश्चित्। धारको नाम कश्चित्।** यह 'क' का अपवाद है। स्वर-भेद के लिये प्रत्यय भेद किया है।

दयाभाव से दूसरे को अनुगृहीत करना 'अनुकम्पा' होती है। अनुकम्पा द्योत्य होने पर प्रातिपदिक से यथाविहित 'क' होता है[5]—**पुत्रकः। वत्सकः। दुर्बलकः। बुभुक्षितकः। अनुकम्पितः पुत्रः=पुत्रकः।** तिङन्त से—**स्वपितकि।** बेचारा सो रहा है। तिङन्त से सर्वत्र अकच् होता है।

साम दान आदि उपायों को नीति कहा है। नीति की प्रतीति होने पर अनुकम्पाविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित 'क' प्रत्यय होता है[6]—**हन्त ते धानकाः। हन्त ते तिलकाः।** ये धाने=भूने हुए जौ लीजिये। ये तिल लीजिये। अनुकम्पा करता हुआ दान से प्रसन्न करता है। यद्यपि पुत्र आदि ही साक्षात् अनुकम्पायुक्त हैं तो भी उनके द्वारा धानादि का भी अनुकम्पा से सम्बन्ध है, अतः उनसे प्रत्यय हुआ। **एहकि। अद्धकि।** आइये, खाइये ऐसा अनुकम्पा से कहता है।

---

१. शीले को मलोपश्च (वा०)।
२. अज्ञाते (५।३।७३)।
३. कुत्सिते (५।३।७४)।
४. संज्ञायां कन् (५।३।७५)।
५. अनुकम्पायाम् (५।३।७६)।
६. नीतौ च तद्युक्तात् (५।३।७७)।

ठच्,क—अनुकम्पा तथा नीति के गम्यमान होने पर बह्वच् प्रातिपदिक जो मनुष्य का नाम, से ठच् विकल्प से होता है, पक्ष में यथाप्राप्त 'क'[१]—**अनुकम्पितो देवदत्तः=देविकः**। यहाँ ठच् परे होने पर (और अजादि प्रत्यय परे होने पर भी) प्रकृति के द्वितीय अच् से परले भाग का लोप हो जाता है[२]। सो यहाँ 'दत्त' भाग का लोप हुआ है। पक्ष में 'क' होकर '**देवदत्तक**' रूप होगा। **अनुकम्पितो यज्ञदत्तः=यज्ञिकः**। पक्ष में **यज्ञदत्तक** रूप होगा। **अनुकम्पितो वायुदत्तो वायुकः**। यहाँ द्वितीय अच् (वायु का उ) से परले भाग का ठ अवस्था में ही लोप हो जाता है। तब उगन्त होने से ठ को क हो जाता है। इसी तरह **पितृदत्तः। पितृकः**।

घन्,इलच्—बह्वच् मनुष्यनाम से घन् (इय) तथा इलच् (इल) प्रत्यय भी पूर्वोक्त विषय में होते हैं[३]। अजादि प्रत्यय होने से इन से पूर्व प्रकृति के द्वितीय अच् से परले भाग का लोप हो जाता है। **अनुकम्पितो देवदत्तः=देवियः** (घन्)। देविलः (इलच्)। **देविकः**(ठच्)। **देवदत्तकः** (क)। इसी विषय में चतुर्थ अच् से परले भाग का लोप होता है[४]—**अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तः=बृहस्पतिकः। बृहस्पतियः। बृहस्पतिलः**।

अनजादि (जो अजादि नहीं) प्रत्यय परे रहते विकल्प से लोप होता है[५]—**देवदत्तकः। देवकः** (क प्रत्यय)। **यज्ञदत्तकः। यज्ञकः**।

पूर्वपद का लोप होता है ठ, अजादि अथवा अनजादि प्रत्यय परे रहते—**देवदत्तकः। दत्तिकः** (ठच्)। **दत्तिलः** (इलच्)। **दत्तियः। दत्तकः**। प्रत्यय के विना भी पूर्वपद अथवा उत्तरपद का लोप विकल्प से होता है[६]—**देवदत्तो दत्तः, देव इति वा। सत्यभामा। भामा सत्या इति वा**। उवर्णान्त से इल के स्थान में ल भी[७]—**भानुदत्तो भानुलः। वसुदत्तो वसुलः**।

---

१. बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा (५।३।७८)।
२. ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः (५।३।८३)।
३. घनिलचौ च (५।३।७९)।
४. चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्यः (वा०)।
५. अनजादौ च विभाषा (वा०)।
६. विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः (वा)।
७. उवर्णाल्ल इलस्य च (वा०)।

यदि बह्वच् मनुष्यनाम में द्वितीय अच् सन्ध्यक्षर हो तो उसका तथा उससे परले भाग का लोप होता है[1]—**कहोडः । कहिकः ।**

यदि पूर्वपद एकाक्षर (एकाच्) हो तो उत्तरपद का लोप होता है[2]—**वागाशीः । वाचि आशीर्यस्य । वाचिकः (ठच्) । वागाशीर्दत्तः । वाचिकः । षडङ्गुलिदत्तः । षडिकः ।** यहाँ सूत्र के अनुसार द्वितीय अच् (अङ्गुलि का 'अ') से परे 'ङ्गुलिदत्त' भाग का लोप होता है, उपसंख्यान (=वार्तिक) के अनुसार एकाक्षर पूर्वपद से परे उत्तरपद का नहीं। सो इस रूप में कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

जाति शब्द जो मनुष्य का नाम (बह्वच् हो अथवा न हो) हो उससे पूर्वोक्त विषय में कन् प्रत्यय होता है[3]—**व्याघ्रकः । सिंहकः । शरभकः ।**

क—अल्प शब्द परिमाण के अपचय को कहता है। अल्प=थोड़ा। अल्प महत् का प्रतियोगी है। अल्पत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में यथाविहित क आदि प्रत्यय होते हैं[4]—**अल्पं तैलं तैलकम् । नीचकैः,** थोड़ा नीचे। अकच्। **उच्चकैः,** थोड़ा ऊँचा। अकच्। **पचतकि,** अल्पं पचति, थोड़ा पकाता है। **जल्पतकि,** अल्पं जल्पति, थोड़ा बोलता है।

ह्रस्व शब्द दीर्घ का प्रतियोगी है। ह्रस्वत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित क प्रत्यय होता है[5]—**ह्रस्वो वृक्षः=वृक्षकः । ह्रस्वः स्तम्भः=स्तम्भकः,** छोटा खम्भा।

कन्—ह्रस्वत्व के हेतु जो संज्ञा, उसकी प्रतीति होने पर प्रातिपदिक से कन्[6]—**वंशकः । दण्डकः । वेणुकः ।**

र—ह्रस्वत्व के द्योत्य होने पर कुटी, शमी, शुण्डा से 'र' प्रत्यय होता है[7]—**ह्रस्वा कुटी कुटीरः । ह्रस्वा शमी शमीरः । ह्रस्वा शुण्डा शुण्डारः ।**

---

१. द्वितीयं सन्ध्यक्षरं चेत्तदादेर्लोपो वक्तव्यः (वा०)।
२. एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः (वा०)।
३. जातिनाम्नः कन् (५।३।८१)।
४. अल्पे (५।३।८५)।
५. ह्रस्वे (५।३।८६)।
६. संज्ञायां कन् (५।३।८७)।

७. कुटी-शमी-शुण्डाभ्यो रः (५।३।८८)।

स्वार्थिक प्रत्यय होते हुए भी कुटीर आदि पुँल्लिग होते हैं। लिङ्ग के लोकाश्रित होने से।

डुपच् (प)[1]—**ह्रस्वा कुतूः कुतुपः।** कुतूः कृत्तेः (=चर्मणः) स्नेहपात्रं सैवाल्पा कुतुपः पुमान् (अमर)। कुतुपं चर्ममयं स्नेहभाजनमुच्यते ऐसा काशिका वृत्ति में मुद्रित पाठ है। इसमें कुतुप नपुं० लिंग में पढ़ा है। कुतू=कुप्पा। कुतुप=कुप्पी।

ष्टरच् (तर)—ह्रस्वत्व द्योत्य होने पर कासू (छोटा भाला), गोणी (=आवपन) से[2]—**ह्रस्वा कासूः=कासूतरी।** टित् होने से ङीप्। **ह्रस्वा गोणी=गोणीतरी।**

वत्स, उक्षन् (बैल), अश्व, ऋषभ (बैल)—इनसे 'तनुत्व' के द्योत्य होने पर। जिस गुण के होने से द्रव्य को विशेष नाम से कहा जाता है, उस गुण के तनुत्व के द्योतन में प्रत्यय विधान किया है।[3] वत्स आदि की अपनी-अपनी तनुता (तनुत्व) है। **वत्सतर। उक्षतर। अश्वतर। ऋषभतर।** वत्स प्रथमवय होता है, अर्थात् वत्स बच्चे को कहते हैं, उस का तनुत्व द्वितीय वय प्राप्ति है, अर्थात् वत्सतर=जवान का नाम हैं। **महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव** (रघु० ३।३२)। जवान बैल को उक्षा कहते हैं उसका तनुत्व (कम होना) तृतीय वय की प्राप्ति है, अर्थात् उक्षतर बूढ़े बैल को कहते हैं। अश्व अश्व द्वारा अश्वा (घोड़ी) से उत्पन्न हुए को कहते हैं। उस का तनुत्व अन्य पितृकता (अश्व से भिन्न गर्दभ द्वारा जन्म) है। इस प्रकार उत्पन्न हुए को अश्वतर कहेंगे। ऋषभ, अनड्वान् छकड़ा खींचने वाले, बोझा ढोने वाले बैल का नाम है। उसका तनुत्व बोझा ढोने में मन्द शक्ति (असामर्थ्य) का होना है। अतः भारवहन में असमर्थ बैल को ऋषभतर कहते हैं।

डतरच् (तर)—किम्, यद्, तद्—इन प्रातिपदिकों से दो में से एक के निर्धारण अर्थ के द्योत्य होने पर[4]। यह प्रत्यय निर्धार्यमाण-वाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में होता है। जाति, क्रिया, गुण, संज्ञा के निमित्त से समुदाय में से एकदेश (अवयव, अंश) का पृथक् करना ही निर्धारण है। **कतरो**

---

१. कुत्वा डुपच् (५।३।८९)।

२. कासू-गोणीभ्यां ष्टरच् (५।३।९०)।

३. वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे (५।३।९१)।

४. किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् (५।३।९२)।

भवतोः कठः, आप दोनों में से कौन कठ है। कठ चरणवाची शब्द है, और चरण (शाखाध्येता) की इस शास्त्र में जाति संज्ञा की है। **कतरो भवतोः कारकः** (क्रिया करने वाला)। **कतरो भवतोः पटुः**। पटुत्व गुण के कारण एक को दो में से जुदा किया जा रहा है। **कतरो भवतोर्देवदत्तः**। इसी प्रकार **यतरो भवतोः कारकः**। **यतरो भवतोः पटुः**। **यतरो भवतोर्देवदत्तः, ततर आगच्छतु** इत्यादि। महाविभाषा से यहाँ निर्धारण विषय में प्रत्यय नहीं भी होता—**को भवतोर्देवदत्तः स आगच्छतु**।

डतमच्—बहुतों में से एक के निर्धारण के द्योत्य होने पर जाति-परिप्रश्न के विषय में वर्तमान किम्, यद्, तद् से विकल्प से डतमच् (तम)[1]—**कतमो भवतां कठः**।

यहाँ जातिप्रश्न द्वारा निर्धारण किया जा रहा है। **यतमो भवतां कठः ततम आगच्छतु**। सूत्र में वा ग्रहण अकच् के लिए है, ताकि किम् (सर्वनाम) से अकच् भी हो सके—**यको भवतां कठः, सक आगच्छतु**। प्रत्यय-विकल्प के लिए महाविभाषा की अनुवृत्ति आ रही है। **को भवतां कठः। यो भवतां कठः स आगच्छतु**। सूत्र में 'जाति-परिप्रश्न' किम् का ही विशेषण है, यद्, तद् का नहीं, ऐसा होना संभव ही नहीं। जातिपरिप्रश्ने—यह समाहार द्वन्द्व है—जातिश्च परिप्रश्नश्च जातिपरिप्रश्नम्, तस्मिन्। षष्ठीसमास नहीं।

डतर-डतम—पूर्वदेश-वर्ती आचार्यों के मत में एक शब्द से भी डतरच्, डतमच् अपने विषय में होते हैं।[2] जातिपरिप्रश्न को अनुवृत्ति इस सूत्र में नहीं। यह सामान्यतः विधान है। **एकतरो भवतो र्देवदत्तः। एकतमो भवतां देवदत्तः**। अन्यतर, अन्यतम अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, डतरच्, डतमच् का शास्त्र द्वारा विधान न होने से।

कन्—अवक्षेपण=जिससे निन्दा की जाती है। अवक्षेपण अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से[3]—**व्याकरणकेन नाम गर्वितोसि**, कुत्सित(तुच्छ)व्याकरण

---

१. वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् (५।३।९३)।
२. एकाच्च प्राचाम् (५।३।९४)।

३. अवक्षेपणे कन् (५।३।९५)।

से तू गर्वित हो गया है। **याज्ञिक्येन नाम गर्वितोऽसि**, कुत्सित (=तुच्छ) याजकता से तू गर्वित हो गया है।

यहाँ प्रगिवीय प्रत्यय समाप्त हुए।

इवार्थीय स्वार्थिक तद्धित

कन्—इवार्थ=सादृश्य। इवार्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में कन् होता है यदि इवार्थ (सादृश्य) प्रतिकृति (चित्र-रूप) हो[3]—**अश्व इव प्रतिकृतिः=अश्वकः। उष्ट्रकः। गर्दभकः**। केवल सादृश्य में प्रत्यय नहीं होगा—**गौरिव गवयः**। गवय गौ की प्रतिकृति नहीं। तृण, चर्म, काष्ठादि से निर्मित मूर्ति को प्रतिकृति कहते हैं।

इवार्थ की प्रतीति होने पर प्रतिकृति न भी हो तो भी कन् प्रत्यय हो जाता है यदि प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय संज्ञा हो[4]—**अश्व इवायम् अश्वकः**। अश्व सदृश होने से जिसका यह नाम है। **कूपकास्तु विदारकाः** (अमर)। नदी के सूख जाने पर जो जल के निमित्त गढ़े बनाये जाते हैं उन्हें कूपक कहते हैं। **कूपा इव कूपकाः**। यहाँ सादृश्य मात्र है। वह सादृश्य प्रतिकृति (प्रतिमा) नहीं। **ऊर्मिरिव ऊर्मिका**, अङ्गुलीयक, अँगूठी। अलकाश्चूर्णकुन्तलाः। **ते ललाटे भ्रमरकाः** (अमर)। **भ्रमरा इव भ्रमरकाः**। 'भ्रमरक' उन बालों का नाम है जो मस्तक पर भौंरों के सदृश प्रतीत होते हैं। **उष्ट्रिका। उष्ट्र इव**। स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग। ऊँट के आकार वाला मिट्टी का पात्र। **मरीचिरिव मरीचिका। मरुमरीचिका**=मृग-तृष्णा। **पादूरिव पादुका**, खड़ाऊँ। यहाँ के ऽणः (७।४।१३) से ह्रस्व। टाप्। **चक्रमिव परिवर्तनात् चक्रकम्। अभ्रमिव अभ्रकम्**, अबरक। **विहङ्ग इव विहङ्गिका**, भारयष्टिः। बैंहगी। **फलमिव फलकम्**। अष्टापदं शारिफलम् (अमर)। यहाँ स्वार्थिक कन् नहीं किया।

प्रत्यय-लुप्—संज्ञा में विहित कन् का लुप् हो जाता है यदि लुबन्त का अभिधेय मनुष्य हो[5]—चञ्चा=तृणपुरुष, तिनकों से बनाया हुआ पुरुष। **चञ्चेव मनुष्यः=चञ्चा**। लुप् होने पर प्रकृति के लिङ्ग वचन होते हैं, अतः स्त्रीलिङ्ग एकवचन हुआ। **वध्रिकेव मनुष्यः=वध्रिका**।

---

१. इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६)।

२. संज्ञायां च (५।३।९७)।

३. लुम्मनुष्ये (५।३।९८)।

जीविका के लिए जिन मूर्तियों को देवलकादि लोगों के दर्शन के लिए लिए फिरते हैं और जो बेची नहीं जातीं उनके वाचक प्रातिपदिक से प्राप्त प्रत्यय का लुप् हो जाता है।[1] **वासुदेव इव प्रतिकृतिः=वासुदेवः। शिवः। स्कन्दः। विष्णुः।** यदि मूर्तियाँ पण्य (बिकाऊ) होंगी तो प्रत्यय का लुप् नहीं होगा—हस्तिकान् विक्रीणीते। केवल यहीं नहीं। जीविका के लिए शिल्पी लोग जिन देवमूर्तियों को बेचते हैं वहाँ भी प्रत्यय का लुप् नहीं होता—**वासुदेवकः। रामकः। सीतिका।** लक्ष्मणकः। इस विषय में एक प्रसिद्ध पद्य पढ़ा जाता है, उसे देते हैं—**रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक्। अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक्॥**

देवपथ आदि प्रातिपदिकों से प्रत्यय का लुप्[2]—**देवपथ इव प्रतिकृतिः=देवपथः।** देवपथ तीर्थविशेष का नाम है। **हंसपथ इव प्रतिकृतिः=हंसपथः। शतपथः। राजपथः। वारिपथः। जलपथः।** देवपथादि आकृतिगण है। सूत्र में आदि शब्द प्रकार अर्थ में है। उक्तार्थ को निम्नस्थ सङ्ग्रहश्लोक में संगृहीत किया है—

अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च।
इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु॥

चित्रकर्मध्वजेषु—यहाँ चित्रकर्म=आलेख्य। आलेख्यगत तथा ध्वजगत प्रतिकृतियों का ग्रहण अभिप्रेत है। **अर्जुनः। दुर्योधनः। कपिः। गरुडः।** जैसे **कपिध्वजोऽर्जुनः। गरुडध्वजः कृष्णः।** यह सब देवपथादि के आकृतिगण होने से सिद्ध है।

ढञ्—वस्ति (दृतिविकार) से इवार्थ द्योत्य होने पर, प्रतिकृति हो चाहे न हो[3]—**वस्तिरिव वास्तेयः।** स्त्रीत्व विवक्षा में **वास्तेयी।**

यहाँ से आगे इवार्थमात्र में प्रत्यय विधान किए जाएँगे, प्रतिकृति हो अथवा न हो।

ढ—शिला शब्द से इवार्थ द्योत्य होने पर[4]—**शिलेव शिलेयम्** (शिलाजतु, सिलाजीत)। पूर्वसूत्र से विहित ढञ् भी इष्ट है—**शैलेयम्।**

---

१. जीविकार्थे चापण्ये (५।३।९९)।
२. देवपथादिभ्यश्च (५।३।१००)।
३. वस्तेर्ढञ् (५।३।१०१)।
४. शिलाया ढः (५।३।१०२)।

यत्—शाखा आदि शब्दों से इवार्थ में[1]—**शाखेव शाख्यः । मुखमिव मुख्यः । जघनमिव जघन्यः । शृङ्गमिव शृङ्ग्यः । शरणमिव शरण्यः ।** शरीरायासजीवी व्याधादिर् **व्रातः, स इव व्रात्यः । सोम इव सोम्यः ।** व्रात और सोम गण पठित नहीं, पर प्रकारान्तर से व्रात्य तथा सोम्य की सिद्धि दुर्लभ है ।

द्रु शब्द से इवार्थ द्योत्य होने पर भव्य (होनहार) वाच्य होने पर यत् प्रत्यय निपातन किया है[2]—**द्रुरिव द्रव्यम् ।** द्रव्य भव्यार्थ में नपुं० ही होता है जैसे वैशेषिकों के पृथिव्यादि द्रव्य के अर्थ में—**तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः** (उ० रा० च०) । **द्रव्यमियं ब्राह्मणी** (=अभिप्रेतानामर्थानां पात्रभूता इत्यर्थः) । **क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्** (कौ० अ०) । द्रव्यं भव्ये गुणाश्रये (अमर) ।

छ—कुशाग्र प्रातिपदिक से इवार्थ द्योत्य होने पर[3]—**कुशाग्रमिव सूक्ष्मत्वात् कुशाग्रीया बुद्धिः ।**

इवार्थ-विषयक समास से दूसरे (समास से बहिर्भूत) इवार्थ में छ प्रत्यय होता है ।[4]काकतालीयम् । अर्थ है—आकस्मिक, विस्मयावह वृत्त आदि । यह अर्थ इस प्रकार प्राप्त होता है—दैवयोग से अचानक कौए का आना हुआ और ताल गिरा । अन्यत्र देवदत्त का आना और डाकुओं का उससे समागम (मेल) होना । यह समागम काकताल समागम-सदृश है । यह एक समासगत इवार्थ है । जिस प्रकार सहसा ताल के गिरने से कौए का वध हो जाता है ठीक उसी प्रकार डाकुओं के उपनिपात (समागम) से देवदत्त का वध हो जाता है, सो यह वध ताल-पात से कौए के वध के सदृश है । सो यह दूसरा इवार्थ है । इसमें छ प्रत्यय हुआ है । शस्त्रीश्यामा आदि में अवयव शस्त्री के इवार्थक होने पर समास को इवार्थविषयक मानने पर भी इवार्थ के एक ही होने से और उसके भी समास से उक्त होने से अपर इवार्थ में विधीयमान छ-प्रत्यय का प्रसङ्ग ही नहीं । **काकतालीयो देवदत्तस्य वधः** (दीक्षित) । दूसरे उदाहरण —**अजाकृपाणीय । अन्धकवर्तकीय** हैं । चलती हुई बकरी के ऊपर सहसा

---

१. शाखादिभ्यो यत् (५।३।१०३) ।
२. द्रव्यं च भव्ये (५।३।१०४) ।
३. कुशाग्राच्छः (५।३।१०५) ।

४. समासाच्च तद्विषयात् (५।३।१०६) ।

कृपाण के गिरने से जैसे उसका वध हो जाता है, वैसे ही अकस्मात् घटित, विस्मयकारी। जैसे अन्धे के हाथ में बटेर आ जाए जिसका उसे स्वप्न भी नहीं, वैसे अतर्कितोपनत (अचिन्तितोपस्थित) अर्थ अन्धकवर्तकीय कहा जाता है। **अहो नु खलु भोः, तदेतत् काकतालीयं नाम** (मालती०)।

ग्रहाणां चरितं स्वप्नोऽनिमित्तौत्पातिकं तथा।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति ॥ (वेणी० २।१४)

इस उदाहरण में 'काकतालीय' का क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है।

यहाँ जो समास काकताल, अजाकृपाण, अन्धकवर्तक हुए हैं इनका वाक्य में स्वतन्त्रतया (बिना छ प्रत्यय के) प्रयोग नहीं होता। ये सब सुप्सुपा समास हैं।

अण्—शर्करा आदि से इवार्थ में[1]—**शर्करेव शार्करम्। कपालिकेव कापालिकम्। सिकतेव सैकतम्।** स्वार्थिक प्रत्यय अपनी प्रकृति के लिङ्ग को छोड़ भी देते हैं, अतः यहाँ नपुंसक हुआ, जो लोक में देखा जाता है। **पुण्डरीकमिव पौण्डरीकम्। शतपत्रमिव शातपत्रम्।**

ठक्—अङ्गुलि आदि से इवार्थ में[2]—**अङ्गुलिरिव आङ्गुलिकः। कपिरिव कापिकः। उदश्वित्** (नपुं०) **इव औदश्वित्कम्। कुलिशमिव कौलिशिकम्।**

ठच्—'एकशाला' से इवार्थ में विकल्प से[3]—**एकशालेव एकशालिकः।** ठच्। **ऐकशालिकः।** ठक्।

ईकक् (ईक)—कर्क (स्फेद घोड़ा), लोहित से इवार्थ में[4]—**कर्कः शुक्लोऽश्वः, तेन सदृशः कार्कीकः।** प्रत्यय के कित् होने से आदि वृद्धि। **लौहितीकः स्फटिकः,** काच जो स्वयम् तो लोहित (लाल) नहीं है पर उपाश्रय के लोहित होने से वैसा प्रतीत हो रहा है, जैसे जपापुष्पों के ऊपर रखा हुआ काच।

यहाँ इवार्थीय स्वार्थिक तद्धित समाप्त हुए।

अन्य अनन्वय स्वार्थिक तद्धित

नाना जातियोंवाले तथा अनियत जीविकावाले अर्थकामप्रधान सङ्घों

---

१. शर्करादिभ्योऽण् (५।३।१०७)।
२. अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् (५।३।१०८)।
३. एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् (५।३।१०९)।
४. कर्क-लोहितादीकक् (५।३।११०)।

को 'पूग' कहते हैं। पूग-वाची प्रातिपदिक जिसका पूर्वपद 'ग्रामणी' न हो, से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है[1]—लोहध्वज—**लौहध्वज्यः**। शिबि—**शैब्य**। चातक—**चातक्य**। बहुवचन में ञ्यादयस्तद्राजाः (५।३।११९) से 'ञ्य' की 'तद्राज' संज्ञा होने से 'तद्राजस्य—' (२।४।६२) से प्रत्यय का लुक् हो जाता है—**लौहध्वज्यः**। **लौहध्वज्यौ**। **लोहध्वजाः**। **शैब्यः**। **शैब्यौ**। **शिबयः**। **चातक्यः**। **चातक्यौ**। **चातकाः**।

वुन्—संख्यादि पादशब्दान्त तथा शतशब्दान्त प्रातिपदिक से वीप्सा के द्योत्य होने पर वुन् (अक) प्रत्यय आता है और साथ ही प्रातिपदिक के अन्त्य (अ) का लोप हो जाता है।[2] वीप्सा के तद्धित-द्वारा द्योत्य होने से वीप्सा में द्विर्वचन नहीं होता यद्यपि 'वीप्सा' प्रकृति (पादान्त शतान्त प्रातिपदिक) की उपाधि है तो भी वुन् (तद्धित) से द्योतित होने से तद्धितार्थ ही है। **द्वौ द्वौ पादौ ददाति=द्विपदिकां ददाति**, दो-दो भाग देता है। वुन्-संनियोग से विहित अन्त्य लोप (प्रकृत में 'अ' का लोप) अनैमित्तिक है। तद्धितार्थ में समास होने पर 'द्विपाद्' इस स्थिति में पादः पत् (६।४।१३०) से पाद् को पद् आदेश हो जाता है। इस विधि की कर्तव्यता में 'अ' लोप के अनैमित्तिक होने से अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।२।५७) से स्थानिवद्भाव नहीं होता। **द्वे द्वे शते ददाति=द्विशतिकां ददाति**। वुन्प्रत्ययान्त स्वभाव से ही स्त्रीलिङ्ग होता है।

सूत्र में जो पाद और शत का ग्रहण है वह निष्प्रयोजन है, अन्यत्र भी प्रत्यय देखा जाता है—**द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति=द्विमोदकिकां ददाति**। पर द्वौ द्वौ माषौ ददाति, यहाँ प्रत्यय नहीं होता, व्यवहार न होने से (अनभिधानात्)।

दण्ड (जुर्माना), तथा व्यवसर्ग (दान, समर्पण) के गम्यमान होने पर संख्यादि पादशतान्त प्रातिपदिक से वीप्सा के अभाव में[3]—**द्वौ पादौ दण्डितः =द्विपदिकां दण्डितः**। **द्वौ पादौ व्यवसृजति=द्विपदिकां व्यवसृजति** (= ददाति)। **द्वे शते दण्डितः=द्विशतिकां दण्डितः**। **द्वे शते व्यवसृजति=द्विशतिकां व्यवसृजति**।

---

१. पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् (५।३।११२)।

२. पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च (५।४।१)।

३. दण्ड-व्यवसर्गयोश्च (५।४।२)।

कन्—प्रकार नाम भेद का है और सादृश्य का भी। स्थूल आदि शब्दों से प्रकार के द्योतन के लिये।[1] स्थूल आदि प्रकारवान् प्रकारवाची शब्द हैं। **स्थूलप्रकारः स्थूलकः**, स्थूलसदृश अथवा एक प्रकार का स्थूल, स्थूल-भेद। **अणुप्रकारः=अणुकः। माषप्रकारो माषकः।**

चञ्चत् और बृहत् से भी प्रकार द्योत्य होने पर[2]—**चञ्चत्प्रकारः चञ्चत्कः**। चञ्च् कम्पाद्यर्थक धातु है। **चञ्चत्को मणिः**, जो मणि न हिलता हुआ अथवा न उछलता हुआ भी निकलती हुई किरणों के कारण हिलता हुआ अथवा उछलता हुआ प्रतीत होता है उसे 'चञ्चत्क' कहते हैं। **बृहत्को मणिः**, जो मणि वैसे तो बड़ा नहीं है पर प्रभूत प्रभा के कारण बड़ा लगता है उसे 'बृहत्क' कहते हैं।

कृष्णप्रकारास्तिलाः **कृष्णकाः**[3]। एक प्रकार के काले तिल। **यवसदृशा** व्रीहयः=**यवकाः**[4]। पाद्य, काल, अवदात (शुद्ध) से सुरा वाच्य होने पर[5]—**पाद्यिका। कालिका। अवदातिका।** ये सब सुरा के भेद हैं। **गोमूत्रप्रकारं गोमूत्रवर्णमाच्छादनं गोमूत्रकम्**[6]। **सुरावर्णोऽहिः=सुरकः**[7], सुरा के रंग वाला साँप। केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्व। **जीर्णप्रकारा जीर्णकल्पाः शालयः=जीर्णकाः**[8]। **कुमारीपुत्त्रप्रकारः=कुमारीपुत्त्रकः। कुमारप्रकारः=कुमारकः। श्वशुरप्रकारः=श्वशुरकः।**

अत्यन्तगति=पूरी पूरी व्याप्ति। अनत्यन्तगति, जो पूरी-पूरी व्याप्ति नहीं। अनत्यन्त गति की प्रतीति होने पर क्तान्त से कन्[9]—**भिन्नकम्। छिन्नकम्।** अर्थात् जिस भेद्य, छेद्य पदार्थ की भेदन छेदन क्रिया से पूरी-पूरी

---

१. स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् (५।४।३)।
२. चञ्चद्-बृहतोरुपसंख्यानम् (वा०)।
३. कृष्ण तिलेषु (ग० सू०)।
४. यव व्रीहिषु (ग० सू०)।
५. पाद्य-कालाऽवदाताः सुरायाम् (ग० सू०)।
६. गोमूत्र आच्छादने (ग० सू०)।
७. सुराया अहौ (ग० सू०)।
८. जीर्ण शालिषु (ग० सू०)।
९. अनत्यन्तगतौ क्तात् (५।४।४)।

व्याप्ति नहीं हुई, अर्थात् जो थोड़ा सा फाड़ा गया है अथवा काटा गया है उसे, भिन्नक, छिन्नक कहेंगे।

प्रत्ययनिषेध——सामि अर्ध अर्थ में अव्यय है। सामि अथवा सामि के पर्यायवाची उपपद होने पर क्तान्त से कन् प्रत्यय नहीं होता[1]——**सामिकृतम्। अर्धकृतम्। नेमकृतम्** (आधा किया हुआ)। सामिवाची के उपपद होने पर उसी से अनत्यन्तगति कह दी गई है तो उस अवस्था में कन् की प्राप्ति न होने से प्रतिषेध व्यर्थ है, तो प्रतिषेध क्यों किया? ऐसा समझिए कि यह निषेध पूर्वसूत्र से प्राप्त कन् का नहीं, किन्तु अत्यन्त स्वार्थिक कन् का है। पर अत्यन्त स्वार्थिक कन् किस शास्त्र से विहित हुआ? यही निषेध ज्ञापक है कि अत्यन्त स्वार्थिक कन् भी होता है। इसी से भगवान् भाष्यकार के **एवं हि सूत्रमभिन्नतरकं भवति। एतर्हि बहुतरकं व्याप्यते** इत्यादि वाक्यों में अभिन्नतरकम् और बहुतरकम् प्रयोग उपपन्न होते हैं। **मक्षा एव मक्षिका। युवोर्हि मक्षा पर्यश्विना मधु** (ऋ० १०।४०।६)। यहाँ भी स्वार्थिक कन् हुआ। स्वार्थिक कन् का साहित्य में भूरि प्रयोग है।

बृहती शब्द जब आच्छादन को कहे तब उससे स्वार्थ में[2]——**बृहतिका।**

केऽणः से ह्रस्व। टाप्। **बृहतिका**=चादर। **द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा** (अमर)।

ख——अषडक्ष, आशितंगु, अलंकर्मन्, अलंपुरुष - इनसे तथा अध्युत्तरपद वाले प्रातिपदिक से स्वार्थ में[3]—अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्य इति बहुव्रीहिः। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् (५।४।११३) से षच् (अ) समासान्त होता है। अषडक्ष—ख। **अषडक्षीणो मन्त्रः**, ऐसी मन्त्रणा जिसका तीसरा साक्षी नहीं, अर्थात् जो दो के बीच में ही हुई। यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः। **आशिता गावोऽस्मिन्नरण्ये आशितंगवीनमरण्यम्**, जिस जंगल में गौओं ने चारा खाया अथवा खाकर तृप्त हुईं उसे 'आशितंगवीन' कहते हैं। यहाँ निपातन से पूर्वपद को मुम् (म्) आगम भी होता है। ओर्गुणः (६।४।१४६) से गुण हुआ। **त्रिष्वाशितंगवीनं तद् गावो यत्राशिताः पुरा** (अमर)।

---

१. न सामिवचने (५।४।५)।

२. बृहत्या आच्छादने (५।४।६)।

३. अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः (५।४।७)।

अलंपुरुष, अलंकर्मन्—ये तत्पुरुष समास हैं । **अलं पुरुषाय अलंपुरुषीणः । अलं कर्मण इत्यलंकर्मीणः ।** अधि उत्तरपदवाले सप्तमीसमास से भी—**राजाधीनम् । दैवाधीनम् ।** राज्ञि अधि । दैवेऽधि । ख प्रत्यय स्वार्थिक होने पर भी नित्य है । इसके बिना केवल अषडक्ष, अलंपुरुष, अलंकर्मन्, राजाधि, दैवाधि आदि का प्रयोग नहीं होगा । उत्तरसूत्र में विभाषा ग्रहण करने से हम जानते हैं कि यह ख-प्रत्यय विधि नित्य है ।

तद्धित प्रत्ययों के अधिकारसूत्र समर्थानां प्रथमाद् वा में 'वा' शब्द विकल्प से तद्धित प्रत्यय विधि होती है इसलिए पढ़ा है जैसा कि हमने इस प्रकरण के प्रारम्भ में दिखाया है । इस विकल्प को महाविभाषा कहते हैं । स्वार्थिक प्रत्यय सभी विभाषा प्रवृत्त नहीं होते, जहाँ प्रत्यय के बिना प्रकृति-मात्र से प्रत्ययान्त का अर्थ प्रतीत नहीं होता वहाँ नित्य भी । बृहती कहने से बृहतिका (चादर) का अर्थ प्रतीत नहीं होता । अतः स्वार्थिक कन् यहाँ नित्य होता है । पर कतरो भवतोर्देवदत्तः का जो अर्थ है वह 'को भवतोर्देवदत्तः' कहने से भी बुद्धिस्थ हो जाता है । अतः स्वार्थिक डतर (और डतम भी) अत्यन्त स्वार्थिक होने से वैभाषिक है । स्वार्थिक प्रत्यय जो नित्य माने गए हैं वे ऐसे परिगणित किए गए हैं—

तमप्, इष्ठन्, तरप्, ईयसुन्, रूपप्, कल्पप्, देश्य, देशीयर्, बहुच्, जातीयर्, अकच्, क, र, ड्डुपच्, ष्टरच्, डतरच् ।

पूग-तथा-आयुधजीविसङ्घ-विषयक—ञ्य, ञ्युट्, टेण्यण्, छ, अण्, अञ्, यञ् ।

आमु (आम्), ठक्, अञ्, अण्, कृत्वसुच्, सुच्, धा ।

कन्, ख, छ, समासान्त प्रत्यय ।

पाशप् आदि प्रत्यय जो इस परिगणन से बहिर्भूत रह गए हैं वे भी नित्य ही मानने होंगे कारण कि वैयाकरणपाशः (निन्दित वैयाकरण, जो अपने विषय को बहुत कम जानता है) कहने से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसकी केवल वैयाकरणः (प्रकृतिमात्र) से नहीं होती ।

ऊपर परिगणित प्रत्ययों में तरप्, तमप्, ईयस् और इष्ठन् भी हैं । परन्तु वैदिक एवं लौकिक व्यवहार में यह अनित्य माने गए हैं और हमारे विचार में इनकी अनित्यता न्याय्य ही है, कारण कि इनके बिना भी वैसे ही परापेक्षया प्रकर्ष व अतिशय की प्रतीति होती है जैसे इनके होने पर—

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् (ऋ० १०।८६।११)। मैंने सुना है कि इन्द्राणी (इन्द्र-पत्नी) इन स्त्रियों में अतिशय सुन्दरी है। **भगवतो मघवतोऽपि भाग्यवन्तमात्मानमजीगणत्** (दशकु० पृ० १८२), उसने अपने को भगवान् इन्द्र से भी अधिक भाग्यवान् समझा। **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति** (उ० रा० चरित २।७)। यहाँ कठोराणि=कठोरतराणि और मृदूनि=मृदुतराणि। **अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः** (याज्ञ० २।२१)। यहाँ स्पष्ट ही बलवद् 'बलीयः' के अर्थ का बोधक है। अतः ईयसुन् नहीं किया। भाष्य तथा वृत्ति में इन्हें क्योंकर नित्य माना गया है यह चिन्तनीय है।

समासान्त प्रत्यय जिन्हें यहाँ नित्य कहा गया है वे भी अनित्य हैं यह षपूर्व-हन्-धृतराज्ञामणि इत्यादि सूत्रों से ज्ञापित होता है।

अञ्च्यन्त प्रातिपदिक से विकल्प से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय होता है जब अञ्च्यन्त स्त्रीलिङ्ग दिग्वाची न हो[1]। प्राच्, प्रत्यच्, उदच् आदि दिक्-शब्द क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च्यन्त प्रातिपदिक हैं। इन से 'दिक् शब्देभ्यः—(५।३ २७) से आये हुए स्वार्थिक अस्ताति प्रत्यय का अञ्चेर्लुक् (५।३।३०) से लुक् हो जाता है। तद्धित प्रत्यय के लुक् होजाने पर भी प्रत्ययलक्षण से तद्धितान्त होने से तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३८) से अव्यय-संज्ञा होने पर कुत्व होने पर **प्राक्, प्रत्यक्, उदक्** आदि रूप होते हैं इस विषय में हम पहले अञ्चेर्लुक् सूत्र की व्याख्या में कह चुके हैं। अब सूत्रकार का यह कहना है कि जब अञ्च्यन्त स्त्रीलिङ्ग होकर दिशा का वाचक न हो तो इस से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय विकल्प से होता है—**प्राचीन। प्रतीचीन। उदीचीन** आदि। ख (ईन) प्रत्यय परे पूर्व की भसंज्ञा होने से अकार का लोप, पूर्व को दीर्घ आदि कार्य होते हैं। स्त्रीलिङ्ग दिग्वाची से 'ख' नहीं होगा—**प्राची दिक्। उदीची दिक्।** स्त्रीलिङ्ग होने पर भी यदि दिग्वाची न होगा तो 'ख' प्रत्यय निर्बाध होगा—**प्राचीना ब्राह्मणी। अवाचीना शिखा।** प्राच् यहाँ देश निमित्त से अथवा काल निमित्त से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ ब्राह्मणी को कह रह रहा है, दिग्वाची नहीं है, अतः प्रतिषेध का प्रसङ्ग नहीं। अञ्च्यन्त से कहा 'अस्ताति' का लुक् लिङ्गविशिष्ट परिभाषा (प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिक

---

१. विभाषाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम् (५।४।८)।

का भी ग्रहण होता है) से प्राची आदि से भी होगा। लुक् होने पर लुक् तद्धितलुकि' (१।२।४९) से स्त्री प्रत्यय का लुक् हो जाता है। तब तद्धितश्चासर्व० से अव्यय होने से स्त्रीत्वाभाव में ख-प्रत्यय हो जाता है। ख प्रत्यय के हो जाने पर प्राचीन आदि प्रातिपदिक स्वभाव से नपुंसकलिङ्ग होते हैं—**प्राचीनं दिग्रमणीयम्**। स्त्रीप्रत्ययान्त से अस्ताति का लुक् होकर जो ख-प्रत्ययान्त प्राचीन आदि शब्द हैं वे दिग्वाची न होते हुए भी नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं—**प्राचीनं ग्रामः कालो वा** (प्रक्रियासर्वस्व)। जहाँ महाविभाषा से'अस्ताति' आया ही नहीं (प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः इत्यादि में) वहाँ इस सूत्र से अस्त्रीलिङ्ग दिग्वाची प्राच् आदि से स्वार्थिक ख प्रत्यय होगा। एवंव्युत्पन्न प्राचीन आदि शब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त होंगे—**प्राचीनो ग्रामः। प्राचीनं नगरम्। प्राचीना ग्रामटिका।**

छ—जातिशब्दान्त प्रातिपदिक जो द्रव्यवाची हो, से स्वार्थ में[1]—**ब्राह्मणजातीयः। क्षत्रियजातीयः। वैश्यजातीयः।** प्रत्ययान्त से भी ब्राह्मणादि का ही बोध होता है। सूत्र में 'बन्धु' शब्द द्रव्यवाची है। बध्यते स्मिञ्जातिरिति बन्धु द्रव्यम्। 'ब्राह्मणजातीय' आदि में ब्राह्मणादि भावप्रधान निर्देश हैं—**ब्राह्मणत्वं जातिरस्येत्यादि** विग्रह होगा। द्रव्य वाच्य न होगा तो प्रत्यय नहीं होगा—ब्राह्मणजातिः शोभना।

स्थानान्त प्रातिपदिक से विभाषा छ प्रत्यय होता है यदि स्थान शब्द का अर्थ सस्थान=तुल्य हो[2]—**पित्रा तुल्यः पितृस्थानीयः। पितृस्थानः। मातृस्थानीयः। मातृस्थानः। राजस्थानीयः। राजस्थानः।**

ठक्—'अनुगादिन्' से स्वार्थे नित्य ठक् होता है।[3] अनुगादिन् (इसी सूत्र में निपातन से णिनि) का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। **अनुगादिकः।**

अञ्—कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् (३।३।४३) से धातुमात्र से कर्मव्यतिहार (परस्परकरण) अर्थ में जो णच् प्रत्यय विधान किया गया है तदन्त से स्वार्थ में अञ् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में होता है।[4] यद्यपि णच् प्रत्यय स्त्री-

---

१. जात्यन्ताच्छ बन्धुनि (५।४।९)।

२. स्थानान्ताद् विभाषा सस्थानेनेति चेत् (५।४।१०)।

३. अनुगादिनष्ठक् (५।४।१३)।

४. णचः स्त्रियामञ् (५।४।१४)।

लिङ्ग में ही विधान किया गया है, तो भी यहाँ फिर प्रत्ययविधान में 'स्त्रियाम्' ऐसा कहा गया है। ऐसा क्यों किया गया है? इसलिए कि स्वार्थिक प्रत्यय कभी-कभी अपनी प्रकृति के लिङ्ग और वचन को छोड़ भी देते हैं। अञ् तो स्त्रीलिङ्ग से अन्यत्र होगा नहीं—**व्यावक्रोशी। व्यावहासी।**

अण्—अभिविधौ भावे इनुण् (३।३।४४) से धातुमात्र से व्याप्ति-विशिष्ट भाव वाच्य होने पर इनुण् प्रत्यय का विधान किया है। इनुण् प्रत्ययान्त से स्वार्थ में अण्[1]—**सांराविणम्** (व्यापक शोर)। **सांकूटिनम्।**

विसरतीति विसारी। विसारिन् शब्द से स्वार्थ में अण् होता है जब प्रत्ययान्त का अभिधेय (अर्थ) मत्स्य हो[2]—**वैसारिणो मत्स्यः।** इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव। विसारिन् का इस अर्थ में स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। मत्स्य अर्थ से अन्यत्र **विसारी देवदत्तः।**

मयट्—प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्, जो बहुत सा तैयार किया गया है। प्रकृतोपाधिक अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में[3]—**अन्नं प्रकृतम् अन्नमयम्। अपूपमयम्।** दूसरे वृत्तिकार इस प्रकार सूत्रार्थ कहते हैं—प्रकृतमित्युच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम्, जिसके विषय में कहा जाता है कि उसमें अमुक पदार्थ बहुत साधा गया है। उस-उस पदार्थ के वाचक प्रथमान्त शब्द से प्रकृतवचन (यज्ञादि) के अभिधेय होने पर मयट् प्रत्यय स्वार्थ में होता है—**अन्नं प्रकृतमस्मिन्नन्नमयो यज्ञः। अपूपं प्रकृतम् अस्मिन्पर्वणि महोत्सवे अपूपमयं पर्व। वटकः प्रकृतोऽस्यां यात्रायाम् इति वटकमयी यात्रा।** प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीत्व विवक्षा मे ङीप्।

यदि प्रकृत बहुत हों तो तद्वाची शब्दों से समूह अर्थ में विहित प्रत्यय आते हैं और अव्यवहितपूर्व मयट् भी[4]—**मोदकाः प्रकृताः प्राचुर्येण प्रस्तुताः= मौदकिकम्। मोदकमयम्। शाष्कुलिकम्। शष्कुलिमयम्। मोदकाः प्रकृताः प्राचुर्येण प्रस्तुता अस्मिन्यज्ञे मौदकिकः। मोदकमयः। शष्कुलयः प्रकृताः प्राचुर्येण प्रस्तुता अस्मिन् यज्ञे शाष्कुलिको यज्ञः। शष्कुलिमयः।** समूह अर्थ में अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् (४।२।४७) से अचेतन पदार्थों के समूह को कहने के

---

१. अणिनुणः (५।४।१५)।
२. विसारिणो मत्स्ये (५।४।१६)।
३. तत्प्रकृतवचने मयट् (५।४।२१)।
४. समूहवच्च बहुषु (५।४।२२)।

लिए ठक् प्रत्यय विधान किया है। उसका यहाँ अतिदेश किया है।

ञ्यः—अनन्त, आवसथ, इतिह, भेषज—इनसे स्वार्थ में[1]—**अनन्त एव आनन्त्यम्। आवसथ एव आवसथ्यम्। एत्य वसत्यत्रावसथः**, अतिथि-गृह, यात्रियों का निवासस्थान। इतिह—यह निपात समुदाय 'उपदेशपरम्परा' अर्थ में रूढ है। **इतिह एव ऐतिह्यम्। भेषजमेव भैषज्यम्।** महाभाषा से प्रत्यय का विकल्प है। अनन्त आदि भी स्वतन्त्रतया प्रयुक्त होते हैं।

यत्—देवताशब्दान्त चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से तादर्थ्य में यत् प्रत्यय होता है।[2] सूत्र में तादर्थ्य=तदर्थ। स्वार्थ में ष्यञ्। इसमें तच्छब्द प्रकृत्यर्थ का परामर्शक है। **अग्निदेवतायै इदम् अग्निदेवत्यं हविः। पितृदेवत्यम्। वायुदेवत्यम्।** अग्निश्चासौ देवता च=अग्निदेवता (कर्मधारय)।

चतुर्थ्यन्त पाद व अर्घ शब्द से तादर्थ्य में[3]—**पादार्थमुदकं पाद्यम्। पाद्यं पादाय वारिणि** (अमर)। अर्घः पूजाविधिः। **अर्घाय इदम् अर्घ्यम्।** तदर्थं द्रव्यमित्यर्थः। पूजाविधि के ये अङ्ग हैं—**आपः क्षीरं कुशाग्रं च दधि सर्पिः सतण्डुलम्। यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः॥**

सूत्र में 'च' शब्द अधिक विधान करने के लिए है। इससे नव एव नव्यः। यहाँ भी यत् होता है। यद्यपि यह यत् प्रायः छन्दस् (वेद)। में ही देखा जाता है पर लोक में भी इसका प्रचुर प्रयोग है।

त्नप्, तनप्, ख—'नव' को नू आदेश होता है और साथ ही इससे त्नप्, तनप् तथा ख प्रत्यय होते हैं[4]—**नूत्न। नूतन। नवीन।** वेद में तो 'नू' नये अर्थ में स्वतन्त्रा प्रकृति देखी जाती है—**नू च पुरा च सदनं रयीणाम्** (ऋ० १।९६।७)। **अद्याचिन्नू चित् तदपो नदीनाम्** (　　　)।

पुराण अर्थ में वर्तमान 'प्र' शब्द से 'न' प्रत्यय होता है, पूर्व कहे हुए त्नप्, तनप्, ख प्रत्यय भी होते हैं[5]—**प्रण** (पुराना,प्राचीन)। **प्रत्न। प्रतन। प्रीण।**

---

१. अनन्तावसथेतिह-भेषजाञ् ञ्यः (५।४।२३)।
२. देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् (५।४।२४)।
३. पादार्घाभ्यां च (५।४।२५)।
४. नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनप्खाश्च प्रत्ययाः (वा०)।
५. नश्च पुराणे प्रात् (वा०)।

धेय—भाग, रूप, नामन्—इनसे स्वार्थ में[१]—भागधेय। **भाग एव भागधेयः। भागधेयः करो बलिः। दैवं दिष्टं भागधेयम्** (अमर)। दैव अर्थ में स्वार्थिक प्रत्यय ने प्रकृति के लिङ्ग को नहीं लिया। **रूपमेव रूपधेयम्। नाम एव नामधेयम्।**

अञ्—आग्नीध्र तथा साधारण से[२]। **आग्नीध्रम्। आग्नीध्री। साधारणम्। साधारणी।** अञन्त होने से स्त्रीत्व में ङीप्। ये प्रत्यय विकल्प से होते हैं। अतः अञ् के अभाव में स्त्रीलिङ्ग में **आग्नीध्रा शाला। साधारणा भूः**, साँझी भूमि।

ञ्य—अतिथये इदम् आतिथ्यम्[३]।

तल्—'देव' से स्वार्थ में[४]—**देव एव देवता**। तलन्त स्त्रीलिङ्ग होता है। अतः टाप् हुआ। वेद में देवता देवत्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—**ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम्** (ऋ० १०।२४।६) **येन देवा देवतामग्र आयन्** (अथर्व० ३।२२।३)। **बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि** (ऋ० १०।९८।१)।

क—अविरेव आविकः।[५]

कन्—याव आदि शब्दों से स्वार्थ में[६]—**याव एव यावकः**। जौं का भोजन। लाख। **मणिरेव मणिकः। उष्णकः**, उष्ण ऋतु, ग्रीष्म। **शीतकः**[७] शीत ऋतु, हेमन्त। **लूनकः**[८] पशुः। **वियातकः**[९] पशुः। अन्यत्र लूनो देवदत्तः। वियातो देवदत्तः। वियात=धृष्ट। **अणुकः**[१०]=निपुणः। अणुः=सूक्ष्मः। **पुत्रकः** =कृत्रिमः पुत्रः, दूसरे का पुत्र जो गोद ले लिया गया। **स्नातकः**[११]

---

१. भाग-रूप-नामभ्यो धेयः (वा०)।
२. आग्नीध्र-साधारणादञ् (वा०)।
३. अतिथेर्ञ्यः (५।४।२६)।
४. देवात्तल् (५।४।२७)।
५. अवेः कः (५।४।२८)।
६. यावादिभ्यः कन् (५।४।२९)।
७. ऋतावुष्णशीते (ग० सू०)।
८. पशौ लून वियाते (ग० सू०)।
९. अणु निपुणे (ग० सू०)।
१०. पुत्र कृत्रिमे (ग० सू०)।
११. स्नात वेदसमाप्तौ (ग० सू०)।

वेदसमाप्ति पर जिसने स्नान किया है, जो वेद समाप्त करके गुरुकुल से समावृत्त (लौटा) हुआ है। **शून्यक**[1] रिक्त। तुच्छ। अन्यत्र शून्य। शून्यं नभः। शून्यः प्रत्ययः। **तनुकम्**[2] सूत्रम्, सूक्ष्मतन्तुः। **श्रेय एव श्रेयस्कम्**। कुमारियों के खिलौनों के नामों से भी स्वार्थ में—**कन्दुकम्**।[3]

लोहित शब्द से जब प्रत्ययान्त मणि का नाम हो[4]—**लोहितको मणिः। शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः** (अमर)।

लोहित शब्द जब अनित्य (अचिरस्थायी) वर्ण को कहे तब उस से स्वार्थ में[5]—**लोहितकः कोपेन,** क्रोध के मारे लाल। **लोहितकः पीडनेन,** पीड़ा दिया जाने से जो लाल हो गया है। यह लौहित्य तब तक ही है जब तक क्रोध शान्त नहीं होता और जब तक पीड़न विरत नहीं होता। रंग के नित्य होने पर कन् नहीं होगा—लोहितो गौः। लोहितं रुधिरम्। जब तक गुणाश्रय द्रव्य गौ तथा रुधिर अवस्थित हैं तब तक लौहित्य रहेगा, यही यहाँ वर्ण की नित्यता है।

कन् प्रत्ययान्त लोहित (लोहितक) का स्त्रीलिङ्ग में क्या रूप होगा इस विषय में वार्तिककार वार्तिक पढ़ते हैं—**लोहिताल्लिङ्गबाधनं वा वक्तव्यम्** अर्थात् लोहित शब्द से लिङ्ग-निमित्त प्रत्यय को बाध करके पहले स्वार्थिक कन् हो जाए यह भी एक पक्ष है। पक्षान्तर में लिङ्ग के अन्तरङ्ग होने से प्रथम लिंग के द्योतन के लिए स्त्रीप्रत्यय हो जाने पर पश्चात् स्वार्थिक कन् होगा—**लोहितिका कोपेन**। यहाँ पहले कन् हुआ, पश्चात् टाप्। **लोहिनिका कोपेन**। यहाँ पहले स्त्रीप्रत्यय हुआ। लोहित वर्णवाची अनुदात्तान्त है। इससे वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः (४।१।३९) से स्त्रीप्रत्यय ङीप् और साथ ही लोहित के 'त' को न। पीछे कन् आने पर लोहिनी—क इस अवस्था में केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्व, और कन्नन्त से टाप्। लोहिनिका।

वस्तुतः इस वार्तिक की कुछ भी अपेक्षा नहीं। तद्धित प्रत्यय-विधि में दो पक्ष हैं। एक तो प्रातिपदिक से तद्धितोत्पत्ति होती है (प्रतिपद विधान-

---

१. शून्य रिक्ते (ग० सू०)।
२. तनु सूत्रे (ग० सू०)।
३. कुमारीक्रीडनकानि च (ग० सू०)।
४. लोहितान्मणौ (५।४।३०)।
५. वर्णे चानित्ये (५।४।३१)।

मात्र से आत्वादता बन जाती है—यह भी)। इस पक्ष के अनुसार प्रथम तद्धित कन् हो जाएगा, जिससे लोहितिका रूप सिद्ध हो जाएगा। दूसरा पक्ष —सुबन्त से तद्धित होते हैं (निरवकाश होने से कोई विधि अपवाद बनती है अन्यथा नहीं—यह भी)। सुप् आने से पहले स्त्रीप्रत्यय ङीप् होगा। स्वार्थिक कन् तो पुँल्लिङ्ग में सावकाश है, इससे यह अपवाद नहीं।

जो लाख आदि से रंगा हुआ होने से लाल वर्ण को कहता है उससे भी कन् प्रत्यय स्वार्थ में होता है[1]—**लोहितकः। लोहितकः कम्बलः। सर्वे चैव रथोदाराः सर्वे लोहितकध्वजाः** (भा० उ० १७१।१४)। स्त्रीलिङ्ग में यहाँ भी **लोहितिका शाटी। लोहिनिका शाटी**—दो रूप होंगे।

काल शब्द से जब कालापन अनित्य हो अथवा रंगने से बना हो[2]—**कालकं मुखं वैलक्ष्येण**, लज्जा-वश काला मुँह। **कालकः पटः। कालिका शाटी**। काली साड़ी।

ठक्—विनय आदि शब्दों से स्वार्थ में[3]—**विनय एव वैनयिकः। अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया** (मनु० ७।६५)। **समय एव सामयिकः। उपाय एव औपयिकः**। उपाय के 'आ' को ह्रस्व भी होता है। औपयिक का प्रयोग 'युक्त' अर्थ में बहुत देखा जाता है। अमर कोष में भी इसे युक्त का पर्याय पढ़ा है—**युक्तमौपयिकम्** इति। **मित्रमौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता। ...त्वया...**(रा० ५।२१।१९)। **अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः** (रा० ५।२१।१७)। **एकवेणी अधः शय्या ध्यानं मलिनमम्बरम्। अस्थानेप्युपवासश्च नैतान्यौपयिकानि ते** (रा० ५।२०।८)॥ **समयाचार एव सामयाचारिकः। सामयाचारिकेष्वभिविनीतः।** (गौ० ध० सू० १।८।११)। **अकस्मादेव आकस्मिकम्**। अकस्माद् (दकारान्त) से ठक् हुआ, अतः 'ठ' को 'इक' हुआ है, 'क' नहीं। अव्यय होने से टि-लोप। **अत्यय एव आत्ययिकः। साम्प्रतमेव साम्प्रतिकम्**, न्यास के अनुसार आकृतिगण होने से। ऐसा होने से **विवाह एव वैवाहिकः, उत्पात एव औत्पातिकः**—यहाँ भी ठक् होता है। **पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु**(रा० १।७१।२४)। **तानेवौत्पातिकान्रामः सह भ्रात्रा**

---

१. रक्ते (५।४।३२)।

२. कालाच्च (५।४।३३)।

३. विनयादिभ्यष्ठक् (५।४।३४)।

ददर्श ह (रा० ३।२४।१)। **परमार्थ एव पारमार्थिकः। पारमार्थिकविनयदुर्विभाव्यो निपुणबुद्धिग्राह्यो महानहंकारग्रन्थिः** (महा० च० २)।

सन्दिष्टार्थक वाणी के अर्थ में वर्तमान वाच् शब्द से स्वार्थ में[1]—**वाचिकम्=व्याहृतार्था=सन्दिष्टार्था** वाक्, वह वाक् जिसका अर्थ सन्देशहर के प्रति कह दिया गया है। **निर्धारितेर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्** (माघ २।७०)। **यदिदं नृपतेर्वाचिकं तच्छ्रद्दधे श्रद्धेयो हि सः।**

अण्—सन्देश वाक् से युक्त जो कर्म तद्वाचक कर्मन् प्रातिपदिक से[2]—**कर्मैव कार्मणम्।** अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव। वाचिक को सुन करके तदनुसार जो कर्म किया जाता है वह 'कार्मण' होता है। कोषकार तो इसे मूलकर्म (मन्त्र-तन्त्रादियोजन) के अर्थ में पढ़ते हैं—**मूलकर्म तु कार्मणम्** (अमर)। प्रक्रियासर्वस्वकार इसे इस प्रकार संगत करते हैं—तच्च (=वाचिकेन युक्तं कर्म) वशीकरणमूलं भवतीति लक्षणया वशीकरणमूलं कर्म कार्मणमुच्यते।

ओषधि शब्द से जब यह जातिवाचक न हो, स्वार्थ में अण्[3]—**औषधं** पिबति। नाना ओषधियों के संमिश्रण से जो भेषज तैयार की जाती है उसे औषध कहते हैं। संकर होने से जाति नहीं।

प्रज्ञ आदि शब्दों से स्वार्थ में[4]—प्रज्ञ एव प्रज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। पर प्रज्ञाऽस्त्यस्या इति प्राज्ञा। मत्वर्थीय ण। उससे टाप्। **वणिगेव वाणिजः। चोर एव चौरः। मन एव मानसम्। वय एव वायसः।** वयस् नपुं० है। वायस पुं० है। स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के लिंग को छोड़ भी देते हैं। **देवता एव दैवतः। दैवतम्। मरुद् एव मारुतः। शत्रुरेव शात्रवः। पिशाच एव पैशाचः। रक्ष एव राक्षसः।** रक्षस् नपुं० है। **क्रुङ् एव क्रौञ्चः। कृष्ण एव कार्ष्णः** (कृष्णमृग)। विदत्, विद्वस्—ये दोनों गणपठित हैं। **विदन्नेव वैदतः। विद्वानेव वैदुषः।** भसंज्ञा होने से सम्प्रसारण। **बन्धुरेव बान्धवः। श्रोत्रमेव श्रौत्रम्** (=कर्ण)। **मित्रमेव मैत्रः।** प्रज्ञादि आकृतिगण है। इससे गणपठितों से अन्यत्र भी स्वार्थिक अण् देखा जाता है—**विकृतमेव वैकृतम्। द्विता**

---

१. वाचो व्याहृतार्थायाम् (५।४।३५)।
२. तद्युक्तात्कर्मणोऽण् (५।४।३६)।
३. ओषधेरजातौ (५।४।३७)।
४. प्रज्ञादिभ्यश्च (५।४।३८)।

एव द्वैतम् । **प्रतिभा एव प्रातिभम्** । **अनुष्टुब् एव आनुष्टुभम्** । अनुष्टुप् स्त्री० है । **गायत्र्येव गायत्रम्** । **चरित्रमेव चारित्रम्** । **चेलमेव चैलम्** । **कुतुकमेव कौतुकम्** । **कुतूहलमेव कौतूहलम्** । **सम्प्रत्येव साम्प्रतम्** । सम्प्रति अव्यय न्याय्य अर्थ का वाचक है । इसमें **अनाप्तः(=अपर्याप्तः, न्यूनः)चतूरात्रोऽतिरिक्तः षड्रात्रोऽथवा एष सम्प्रति यज्ञो यत्पञ्चरात्रः** यह ब्राह्मण वचन प्रमाण है । **केवर्त एव कैवर्तः**, धीवर, मत्स्यग्राही । के जले वर्तो वर्तनमस्य इति केवर्तः । वाजसनेयी संहिता (३०।१६) में केवर्त मत्स्यग्राही के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । क्षीरस्वामी आदि अमर के टीकाकार मत्स्य अर्थ में केवर्त शब्द की कल्पना करते हैं और उससे तस्येदम् अर्थ में अण् करते हैं । व्युत्पत्तिमात्र का आश्रय एक दुर्बल आश्रय है । **कर एव कारः**, वणिक्, पशुपाल, तथा कर्षकों से राजग्राह्य भागवाची 'कार' का प्रयोग सूत्रकार स्वयम् करते हैं—कारनाम्नि च प्राचां हलादौ (६।३।१०) । **ऊधस्यमेव औधस्यम्** । औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुम् (रघु० २।६६) । **प्रतिवेश्य एव प्रातिवेश्यः** (पड़ोसी) । वेशो वेश्म । प्रतिवेश इति स्ववेश्माभिमुखं स्ववेश्मपार्श्वस्थं चोच्यते—मिताक्षरा (२।२६३) । **प्रविश्य लङ्कां कौशलं ब्रूहि मैथिलीम्** (रा० ६।११२।२३) । **कुशलमेव कौशलम्** । **स्त्रीरजः पुष्पमार्तवम्** (अमर) । **ऋतुरेव आर्तवम्** । **विधेय एव वैधेयः** (मूर्ख) । विधेय अधीन, आयत्त को कहते हैं । स्वार्थिक अणन्त की मूर्ख में लक्षणा हो गई । **चर एव चारः** । राजानश्चारचक्षुषः ।

तिकन्—मृद् शब्द से स्वार्थ में[1]—**मृद् एव मृत्तिका** ।

स, स्न—प्रशंसा-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान मृद् से स, स्न प्रत्यय होते हैं ।[2] रूपप् प्रत्यय का अपवाद । **प्रशस्ता मृद् मृत्सा** । **मृत्स्ना** । ये प्रत्यय नित्य हैं ।

कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्ति र्बलीयसी

जहाँ कृत् प्रत्यय का आश्रयण करने से भी व्युत्पत्ति हो सकती है और तद्धितप्रत्यय का आश्रयण करने से भी, वहाँ तद्धित-प्रत्यय का आश्रयण करना चाहिए, कारण कि तद्धितवृत्ति कृद्वृत्ति से बलवती है ऐसा भाष्य है । महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः (माघ० १।१७) । यहाँ अर्थनमर्थोऽभिलाषः, तद्वन्तः ऐसा अभीष्ट अर्थ मत्वर्थीय इनि मानकर होता है । कृत्प्रत्यय णिनि मानने पर तो अवश्यम् अभ्यर्थयितारः, याचितारः ऐसा अनिष्ट अर्थ होगा ।

---

१. मृदस्तिकन् (५।४।३९) ।

२. स-स्नौ प्रशंसायाम् (५।४।४०) ।

अव्यविकन्यायः

तद्धित प्रत्यय-विषयक यह न्याय वाचनिक है। अवेर्मांसम्, भेड़ का मांस। अवि=भेड़। स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर अविक (=भेड़) शब्द भी निष्पन्न होता है। यहाँ प्रत्यय (अण्) तो अविक शब्द से हुआ है, पर विग्रह में 'अवि' शब्द ही आता है। अन्यत्र भी जहाँ कहीं ऐसा हो वहाँ अव्यविक न्याय प्रवृत्त हुआ है ऐसा समझना चाहिए। ऐसा क्यों होता है उसका शब्द-स्वाभाव्य ही एक मात्र उत्तर है। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। यहाँ प्रत्यय 'मृदङ्ग' से होता है। विग्रह 'मृदङ्गवादन' से। विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणः। यहाँ विश्रवस् शब्द विग्रह में आता है और विश्रवण शब्द से प्रत्यय आता है। गिरौ भवं गैरिकम्। यहाँ प्रत्यय गिरिक शब्द से होता है और विग्रह गिरि शब्द से। 'गिरिक' में 'कन्' स्वार्थ में है।

अचामादेरचो वृद्धया उपधा-लक्षणा वृद्धिर्बाध्यते

जहाँ ञित्, णित्, कित् प्रत्यय के कारण अङ्ग के अचों में से आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होती हो और साथ ही उपधा-भूत 'अ' को भी, वहाँ उपधा-लक्षणा वृद्धि का बाध हो जाता है अर्थात् अचों में से आदि अच् की वृद्धि उसे रोक देती है—जगत इदं जागतम्।

भावप्रधानो निर्देशः

कुछ स्थलों में भाव-वाचक प्रत्यय के न होते हुए भी भाव का बोध होता है ऐसे प्रयोगों को **भावप्रधान निर्देश** कहते हैं। सूत्रकार का अपना प्रयोग है—द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२)। यहाँ द्वित्व और एकत्व अर्थ में 'द्वि' तथा 'एक' का प्रयोग हुआ है। ऐसा ही रामायण के सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम् (१।१।५०) इस पद्य में 'सहाय' शब्द भावप्रधान निर्देश है। सहाय=साहाय्य, साहायक।

जात्यन्ताच्छ बन्धुनि (५।४।९)। ब्राह्मणत्वं जातिर् अस्येति ब्राह्मण-जातिः। स एव ब्राह्मणजातीयः। यहाँ विग्रह में वृत्तिकार ने 'ब्राह्मणत्व' भावप्रत्ययान्त का प्रयोग किया है और तद्धित वृत्ति में 'ब्राह्मण' शब्द। इससे स्पष्ट है कि यह भावप्रधान निर्देश है।

कौमारापूर्ववचने (४।२।१३) सूत्र में 'अपूर्ववचने' में 'अपूर्व' अपूर्वत्व अर्थ

में भावप्रधान-निर्देश है। कौमार शब्द स्त्री के अपूर्वत्व की विवक्षा में निपातन किया है।

प्रमाणभूत आचार्यः। यहाँ प्रमाणं प्रामाण्यं भूतः प्राप्तः ऐसा अर्थ है। सो प्रमाण भावप्रधान निर्देश है। भू प्राप्तावात्मनेपदी का क्तान्तरूप—भूत।

दृष्टलोकपरावरः (रा० २।६।२२)। यहाँ पर=परत्व। अवर=अवरत्व। परत्व=प्राशस्त्य। अवरत्व=अप्राशस्त्य। सो यहाँ पर तथा अवर भावप्रधान निर्देश हैं।

सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्हं पुत्रः (शाङ्खायनश्रौत १५।१७।२२)। यहाँ कृपण=कार्पण्य=शोक। अतः यह भी भावप्रधान-निर्देश है। दुहिता कृपणं परम् (मनु० ४।१८५)। यहाँ भी परं कृपणम् का अर्थ परं कार्पण्यम् है।

दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः (रा० ४।४०।७१)। यहाँ निपुणेन=नैपुण्येन। इसी प्रकार 'न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुर् अवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।' (भाग० पु० १।३।३७) यहाँ भी।

न हि दुर्योधनो राजन् मधुरेण प्रदास्यति (भा० उद्योग० ४।१)। यहाँ मधुरेण=माधुर्येण। सो यह भी भावप्रधान निर्देश है।

स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि

यह शब्द-स्वाभाव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। चाहिए तो यह था कि स्वार्थिक प्रत्यय जो प्रकृति के अर्थ का द्योतन मात्र करते हैं वे प्रकृति के लिङ्ग वचन को ही लें, परन्तु भाषा में युक्तायुक्तत्व विचार सर्वत्र प्रयोगों की निष्पत्ति में कारण नहीं बनता। अतः हम देखते हैं कि देव पुंल्लिङ्ग है पर देवता (स्वार्थ में तल्) स्त्री० और दैवत (स्वार्थ में अण्) पुंल्लिङ्ग और नपुं० भी। रक्षस् नपुं० है पर राक्षस (स्वार्थ में अण्) पुं० है। वयस् (पक्षी) नपुंसक है पर वायस (स्वार्थ में अण्) पुं० है। वाच् स्त्री० है पर वाचिक (=सन्देश-वाक्) नपुं०। प्रतिभा स्त्री० है, पर प्रातिभ स्वार्थ-अण्णन्त नपुं० है। गायत्री (छन्दोविशेष) स्त्री० है, पर स्वार्थिक अण् प्रत्ययान्त गायत्र नपुं० है। ऐसे ही अनुष्टुभ् स्त्री० है, पर आनुष्टुभ नपुं० है। मित्र नपुं० है पर स्वार्थ में अण् आने पर मैत्र विशेष्यलिङ्गानुसारी है—मैत्रः पुरुषः, सर्वस्य मित्रभूतः। कुटी स्त्री० है, पर कुटीर (छोटी कुटिया) पुं० है। शुण्डा (सूंड)

स्त्री० है पर शुण्डार (छोटी सूँड) पुँ० है। कहीं-कहीं स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के लिङ्ग को छोड़कर विशेष्य के लिङ्ग को लेते हैं—गुडकल्पा द्राक्षा। गुड (प्रकृति) पुं० है, पर स्वार्थिक प्रत्यय कल्पप् आने पर गुडकल्पा द्राक्षा (विशेष्य) के लिङ्‌ग को लेता है। शर्कराकल्पो गुडः, यहाँ अभिधेय गुड के लिङ्‌ग का उपादान हुआ है। बहुच् प्रत्यय जो ईषद् असमाप्ति का द्योतक है और जो प्रकृति से पूर्व आता है उसके होने पर तो न्यायप्राप्त प्रकृति का ही लिङ्‌ग होता है—बहुगुडो द्राक्षा। बहुतैलं प्रसन्ना (=सुरा)। बहुपयो यवागूः। लघुर्बहुतृणं नरः। काशिका में 'बहुगुडा द्राक्षा' ऐसा पाठ है वह भाष्य विरुद्ध है।

प्रयोगमाला

१. **इदमुदश्वित्। इदं चौदश्वित्कम्। अम्मयत्वात्।**

यह छास है, यह छास सी है, जल-प्रचुर होने से।

२. **नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।**

अयोग्य को दी हुई कोई शिक्षा फलवाली नहीं होती।

३. **केचिच्छय्यात उज्जिहाना एव फाण्टं पिबन्ति।**

कोई लोग शय्या से उठते ही चाय पीते हैं।

४. **पाद्यमस्मै दीयतां पांसुलाय पथिकाय** (पादौ निर्णेक्ष्यतीति)।

इस रेणुरूषित यात्री को पाओं धोने के लिए जल दिया जाय।

५. **व्यावहासी कलहाय भवति व्यावक्रोशी च विग्रहाय।**

परस्पर हँसी से झगड़ा हो जाता है, परस्पर निन्दा से लड़ाई हो जाती है।

६. **अलोहितोऽप्ययं स्फटिक उपाश्रयवशाल्लोहित इति प्रतीयत इति लौहितीक इत्युच्यते।**

यह बिलौर लाल नहीं है पर आधार के लाल होने से लाल प्रतीत हो रहा है, अतः इसे 'लौहितीक' कहते हैं।

७. **इयं कुतूः। अयं च कुतुपः। को विशेषः।**

८. **अयं बुभुक्षितकः पिपासितकश्च। देये अस्मै पानभोजने।**

यह बेचारा भूखा और प्यासा है। इसे भोजन और पानी दीजिए।

९. **इमे वर्णवन्तः। इमे वर्णिनः। इमे च विवर्णाः। गुणकर्मशो विभागः।**

ये ब्राह्मण आदि वर्ण वाले हैं। ये ब्रह्मचारी हैं। ये वर्णहीन चण्डाल आदि हैं। गुण कर्मों से विभाग (किया गया) है।

१०. द्वौ हि मासस्य पक्षौ ज्यौत्स्नश्च तामिस्रश्च।

महीने के दो पक्ष है, एक शुक्ल, दूसरा कृष्ण।

११. सर्वो निःस्वः स्ववान् भवितुमीहते। स्वायत्ता हि लोकयात्रा।

हर कोई निर्धन धनवान् होना चाहता है, कारण कि लोकयात्र धन के अधीन है।

१२. कण्डूलमस्य शिरः। लिक्षाक्रान्ता अस्य कचाः स्युः।

इसके सिर में खुजली हो रही है,हो सकता है इसके बाल लीखों से भरे हों।

१३. उदक्याऽमेध्या भवतीत्यस्याः पृथक् पानभोजने कल्प्येते असंसर्गश्च।

रजस्वला अपवित्र होती है अतः इसका पान और भोजन जुदा किया जाता है और इसे छूना भी नहीं होता।

१४. नाम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः (श्रीमद्भागवत)।

तीर्थ जल का विकार मात्र नहीं हैं, देवता मिट्टी व पत्थर के बने हुए नहीं हैं।

१५. निरुक्ते नैघण्टुक-नैगम-दैवतानीति त्रीणि काण्डानि भवन्ति।

१६. व्याकरणचन्द्रोदये नामाख्यातिकं विशेषतो दृश्यम्।

व्याकरणचन्द्रोदय में नामों और आख्यातों का व्याख्यानग्रन्थ विशेष द्रष्टव्य है।

१७. सामुद्रका मनुष्या उच्यन्ते न तु सामुद्राः। तत्कस्मात्।

समुद्र-समीपवासी लोगों को सामुद्रक कहते हैं, सामुद्र नहीं। ऐसा क्यों।

१८. देवदत्तो द्वैप्यः। यज्ञदत्तो द्वैपकः। कोऽर्थे विशेषः।

१९. सांवत्सरो याग इत्यत्र किं दुष्यति।

संवत्सर (=वर्ष) में होने वाले यज्ञ को 'सांवत्सर' कहने में क्या दोष है।

२०. कालशेयं तक्रमुदश्विन्मथितं चेति त्रेधा विपरिणमते।

मटकी में मन्थन के लिये डाला हुआ दही तक्र, छास, मठा इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है।

२१. अभोज्यान्नो हि वार्धुषिकः स्मृतः।

ब्याज पर रुपया देने वाले (सूदखोर) का अन्न ग्रहण करने योग्य नहीं होता ऐसी स्मृति है।

२२. अयमधार्मिकः । अयं चार्धार्मिकः । को विशेषः ।

यह अधार्मिक है और यह आधार्मिक । अर्थ में क्या भेद है ।

२३. प्रतीहारो हि दण्डिको भवति न दाण्डिकः ।

द्वारपाल को दण्डिक कह सकते हैं, दाण्डिक नहीं ।

२४. उभावपि भ्रातरौ कथकौ । ज्यायांस्तु काथिकः ।

दोनों भाई कथक है, पर बड़ा भाई कथा में चतुर है ।

२५. चोरचौरयोः को विशेषः । चोरिकाचौरिकयोश्च कः ।

२६. अवश्यम्भाविनोऽपि सान्तापिका भवन्तीष्टै विप्रयोगाः ।

अपने प्यारों से वियोग यद्यपि अवश्य होना है, तो भी दुःख देता है ।

२७. वास्त्रयुग्मिकं शरीरमिति न प्रतियन्ति नेपथ्यप्रियाः साम्प्रतिका लोकाः ।

वस्त्र-युगल से शरीर की शोभा होती है इसमें आज कल के वेष-प्रिय लोग विश्वास नहीं करते ।

२८. द्विवर्षीणो व्याधिः । द्विवार्षिकः । द्विवर्ष इति त्रेधा व्यपदेशः । स उपपाद्यः ।

२९. केचित्क्रौशशतिका आचार्याः केचिच्च यौजनशतिकाः ।

कई एक आचार्य सौ कोस से अभिगमनीय होते हैं और कोई चार सौ कोस से ।

३०. काली निशेति पिच्छिले पथ्यसकृदस्खलाम ।

रात अन्धेरी थी अतः हम कीचड़ वाले मार्ग में अनेक बार लड़ खड़ाये ।

३१. अयं चिरं शीतकेन ज्वरेण बाधितोऽभूदिति शीतकः संवृत्तः ।

यह देरतक मलेरिया से पीड़ित रहा, अतः कार्य करने में मन्द हो गया है ।

३२. आङ्गलेषु सर्वे पुत्त्राः पितुरंशका न भवन्ति ।

अंग्रेजों में सभी पुत्त्र पिता की जायदाद के भागी नहीं होते ।

३३. येऽन्तरशुचयो लोकवञ्चनार्थं शौचादि सेवन्ते ते दाण्डाजिनिकाः ।

जो अन्दर से अपवित्र लोग दूसरों को ठगने के लिये शौच आदि का सेवन करते हैं वे दम्भी होते हैं ।

३४. यस्य परिशुद्ध आगमः स सर्वधनी धन्यो नरः ।

जिस को निर्दोष शास्त्र-ज्ञान प्राप्त है, उसके पास सब धन है, वह भाग्यवान् पुरुष है ।

३५. हरिदीक्षितनागेशयोः शैष्योपाध्यायिकात एव बह्वेतयोर्विषये शक्यमध्यवसातुम् ।

हरिदीक्षित और नागेश के गुरुशिष्य-सम्बन्ध से ही इन के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता है।

३६. शाकलकमाम्नायमाश्रित्य प्रवृत्ता कात्यायनकृता सर्वानुक्रमणी बहु वेद्यं वेदयति ।

शाकलशाखा के ऋग्वेद का आश्रय करके प्रवृत्त हुई कात्यायनमुनि की कृति सर्वानुक्रमणी बहुत कुछ जानने योग्य बताती है।

३७. प्रायेणापूपिका वैश्याः पायसिकाश्च विप्राः ।

प्रायः वैश्य पूओं के प्यारे होते हैं और ब्राह्मण क्षीर (खीर) के।

३८. यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥

देवता जिस का विनाश चाहते हैं, उसकी बुद्धि को हरलेते हैं, तब वह निचली बातों को देखने लगता है।

३९. अयं श्वाशुरिः । अयं च श्वशुर्यः । को विशेषः ।

यह श्वशुर-नामक पुरुष का पुत्र है। यह ससुर का पुत्र है। यही भेद है।

४०. पाराशर्यो भगवान् व्यास इत्युच्यते । न चासौ पराशरस्य गोत्रापत्यम् । तत्कस्मात् ।

भगवान् व्यास को पाराशर्य (पराशर का गोत्रापत्य=पौत्र) कहते हैं। पर वे तो पराशर का अनन्तरापत्य (पुत्र हैं)। ऐसा व्यवहार क्यों है ?

४१. क्रोडी करोति प्रथमं यदा जातमनित्यता ।
धात्रीव जननी पश्चात्तदा शोकस्य कः क्रमः ॥ (नागानन्द)

जब अनित्यता धाया की तरह नवजात बच्चे को प्रथम गोद में लेती है और माता पीछे, तो शोक का क्या अवसर है।

४२. इयं शस्त्रिकल्पा । शक्यमनयाऽपि शाकं कर्तितुम् ।

यह छुरी कुछ अच्छी है। इससे भी शाक काटा जा सकता है।

४३. पच्छो गायत्रीं शंसति ।

गायत्री को एक-एक पाद करके उच्चारण करता है।

४४. स्वयं रथिक उपाध्यायश्च पदिकः । अहो गर्ह्यमेतत् ।

आप (शिष्य) रथ से जाता है और गुरु जी पैदल जा रहे हैं। यह कितना गर्हणीय (=निन्द्य) है।

४५. भीष्मे त्रैशब्द्यं श्रूयते—गाङ्गो गाङ्गेयो गाङ्गायनिरिति। तत् कस्मात्।

भीष्म जो गङ्गा का पुत्र है, उसे तीन शब्दों से कहा जाता है—गाङ्ग, गाङ्गेय, गाङ्गायनि। यह क्योंकर।

४६. विमातुरपत्यं वैमात्रो भवति वैमात्रेयो वेति वैयाकरणवद् ब्रूहि।

सौतेली माता के पुत्र को 'वैमात्र' कहना चाहिये अथवा 'वैमात्रेय'। इस का उत्तर ऐसा दो जैसा व्याकरण जानने वाला दे।

४७. ये भगवति श्राद्धाः प्रणताश्च ते पूतपापाः स्वर्गाय राध्यन्ति।

जो भगवान् में श्रद्धा रखते हैं और उसके भक्त हैं वे निष्पाप होकर स्वर्ग प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।

४८. 'दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः' (शाकुन्तल ४.८५) इति श्लोकचरणे किं दुष्यति।

दर्भ की बनी हुई कुटिया की छत को सोकर जागा हुआ मोर छोड़ रहा है। इस अर्थ वाले श्लोक-चरण में व्याकरण-सम्बन्धी क्या स्खलन है।

४९. यो हि कौलटिनेय इति वक्तव्ये कौलटेर इति ब्रूयात्स पापभाक् स्यात्।

कौलटिनेय=कुलटा (भिक्षुकी) का पुत्र। कौलटेर=कुलटा=घर-घर घूमने वाली व्यभिचारिणी स्त्री का पुत्र।

५०. धर्मे स्मृतयः प्रमाणं वेदास्तु प्रमाणतराः।

इति तद्धितप्रकरणं समाप्तम्।

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये कृत्तद्धित-निरूपणो द्वितीयः खण्डः पूर्तिमगात्।

शुभं भूयादध्यायकानामध्यापकानां च।

परिशोधन व परिवर्धन

पृ०	२२०	पं० २६	कोऽथ	के स्थान पर	कोर्थे	यह पढ़ें
,,	२७७	,, ४	कोभारः	,,	कौमारः	,,
,,	२८२	,, १६	मानव्यम्	,,	माराव्यम	,,
,,	३३४	,, २३	मौदगः	,,	मौद्गः	,,
,,	३६२	,, ११	बह्वचाः	,,	बह्वृचाः	,,
,,	३८५	,,	वर्प	,,	वर्ष	,,
,,	३८८	,, ७	कार्यं व	,,	कार्यं वा	,,
,,	३९०	,, ३०	(५।१।१०८)	,,	(५।१।१०९)	,,
,,	३९९	,, ९	ओचिती	,,	औचिती	,,
,,	४०१	,, ९	आध्वर्यवभ्	,,	आध्वर्यवम्	,,
,,	४४६	,, ३	यद्याप्यारातीयः	,,	यद्यप्यारातीयः	,,

पृ० ३९ पं० ९ में **'ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्'** (अथर्व० १४।२।७३), जो पितर लोग वधू को देखने के लिए इस वरयात्रा में आए हैं। यहाँ भी वधू कर्म के उपपद होने पर भविष्यत् अर्थ में दृश् से अण् हुआ है। इतना अधिक पढ़ें।

पृ० ७६ पर दिए हुए निष्ठान्त शक् के विषय में सौनाग मत के उदाहरण के रूप में—**शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम्** (भा० उ० २०।७)। **शक्तैर्न शकितास्त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम्** (भा० आदि० १८०।१२)। **निग्रहीतुं तदा वीर न चैव शकितास्त्वया** (भा० आदि० २०२।२)। इतना अधिक पढ़िए।

पृ० २०० पर विद् प्राप्त करना—वित्त्वा। विदित्वा के आगे **'वेदित्वा'**। रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) सूत्र से गुण विकल्प। यह अधिक पढ़ें।

पृ० २०४ पर 'उस पर आचरण करता है' इस पङ्क्ति के अन्त में **क्राथं क्राथं** (क्रथं क्रथं) **पशून् स्वं श्रेयोऽपवृङ्क्ते वधकहतकः**, पशुओं को मार-मार कर अभागा कसाब अपने कल्याण का नाश करता है, इतना अधिक पढ़ें। और (८) चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् (६।४।९३) यह टिप्पण भी।

पृ० २६५ पं० ४ में राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम् इस वार्तिक के अनुसार यदि अपत्य क्षत्रिय हो तो यत् प्रत्यय होता है। शूद्रा आदि से उत्पन्न हो तो अण् होकर **'राजनः'** ऐसा रूप होगा। जिसमें अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव होता है—इतना अधिक पढ़ें।

पृ० २७१, पं० १५ में विशम्प—**वैशम्पायन** (भगवान् व्यास के शिष्यों में अन्यतम), इतना अधिक पढ़ें।

